LUGHAT-UL-QURAN

DICTIONARY OF QURAN



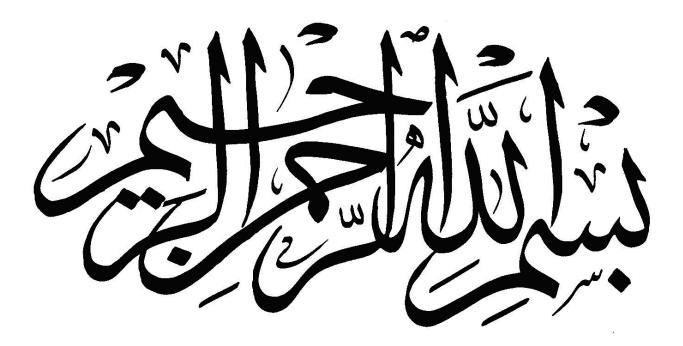
VOLUME II

Ebook edition

Originally compiled in Urdu by Allama Ghulam Ahmad Parwez

Edited/Translated by: Sheraz Akhtar - Quranic Education Society Norway

www.qes.no



ALL RIGHTS RESERVED.

No part of this publication may be reproduced, stored in a retrieval system, or transmitted, in any form or by any means, electronic, mechanical, photocopying, recording, or otherwise, without the prior written permission of the publisher and/or editor, expect in case of reviewers eho may quote brief passages in a review.

Author: Ghulam Ahmad Parwez

Translator and editor: Sheraz Akhtar

Published by: Quranic Education Society, Oslo - Norway

In association with Tolu-e-Islam Trust, Lahore - Pakistan

Copyright © 2015

| II 4 C1 | *1 ~ | | N | | |
|---------|--|----------|---------------------|-----------|-----------------------------------|
| H-A-Sh | 5 ح أ ش | H-F-Ze | 44 ح ف ظ | Kh-R-B | 92 خرب |
| H-B-B | 5 ح ب ب | H-F-F | 45 ح ف ف | Kh-R-J | 92 خرج |
| H-B-R | 7ح ب ر | H-F-Y/W | 45 ح ف ی۔و | Kh-R-D-L | 93 خر دل |
| H-B-S | 7ح ب س | H-Q-B | 46 ح ق ب | Kh-R-R | 93 خرر |
| H-B-Te | 8ح ب ط | H-Q-F | 46 ح ق ف | Kh-R-Sd | 94 خ ر ص |
| H-B-K | 9 ح ب ک | H-Q-Q | 46 ح ق ق | Kh-R-T-M | 96 خرتم |
| H-B-L | 9 ح ب ل | H-K-M | 49 ح ک م | Kh-R-Q | 96 خرق |
| H-T-M | 10 ح ت م | H-L-F | 55 ح ل ف | Kh-Z-N | 96 خزن |
| Hatta | ے 10 حَتَّى | H-L-Q | 55 ح ل ق | Kh-Z-Y | 97 خزى |
| H-Th-Th | 11 ح ث ث | H-L-L | しして55 | Kh-S-A | 98 خ س ء |
| H-J-B | 11 ح ج ب | H-L-M | 57ح ل م | Kh-S-R | 98 خ س ر |
| H-J-J | | H-L-Y | ۶۶ ح ل ی | Kh-S-F | 99 خ س ف |
| | こここで、12 12 | | | | |
| H-J-R | 13 | H-M-A | 58ح م أ | Kh-Sh-B | 99 خش ب ۱۵۱ خشر |
| H-J-Z | 14 ح ج ز | H-M-D | 59 ح م ^د | Kh-Sh-Ain | 101 خ ش ع |
| H-D-B | 14ح د ب | H-M-R | 61ح م ر | Kh-Sh-Y | 101 خ ش ی |
| H-D-Th | 14 ح د ث | H-M-L | 62 ح م ل | Kh-Sd-Sd | 102. خ ص ص |
| H-D-D | 15 כנ | H-M-M | 63 ········· うちち | Kh-Sd-F | 104 خ ص ف |
| H-D-Q | 16 ح د ق | H-M-Y | 65ح م ی | Kh-Sd-M | 104 خ ص م |
| H-Dh-R | 16 ح ذ ر | H-N-Th | 65ح ن ٹ | Kh-Zd-Zd | 105. خ ض ض |
| H-R-B | 17 حرب | H-N-J-R | 67حن جر | Kh-Zd-R | 105 خ ض ر |
| H-R-Th | 18 حرث | H-N-Dh | 67 ح ن ذ | Kh-Zd-Ain | 105 خ ض ع |
| H-R-J | 18 حرج | H-N-F | 67 ح ن ف | Kh-Te-Ain | 107 خط آ |
| H-R-D | 19 | H-N-K | ع - 69 ح ن ک | Kh-Te-B | 108 خطب |
| H-R-R | ישט 19 | H-N-N | وہ 69 | Kh-Te-Te | 108 خ ط ط |
| H-R-S | وسع ر س | H-W-B | و ب 71 ح و ب | Kh-Te-F | 109 خ ط ف |
| H-R-Sd | 20 ــــــــــــــــــــــــــــــــــــ | H-W-T | ۲۱ع و ب 71 ح و ت | Kh-Te-W | 109 خ طو 109 خ طو |
| H-R-Zd | | H-W-J | - | | 109 ع ا ر 110 خفت |
| | 21حرض 12حدف | | 71 ح و ج | Kh-F-T | |
| H-R-F | 21حرف م | H-W-Dh | 72ع و ذ ح | Kh-F-Zd | 110 خ ف ض |
| H-R-Q | 22حرق | H-W-R | 72 ح و ر | Kh-F-F | 110 خفف |
| H-R-K | 22ح رک | H-W-T | 73 ح و ط | Kh-F-Y | 112 خ ف ی |
| H-R-M | 23 ح ر م | H-W-L | 74 ح ول | Kh-L-D | 112 بخ ل د |
| H-R-Y | 29 ح رى | H-W-W | 75 ح و و | Kh-L-Sd | 114 خ ل ص |
| H-Z-B | 29ح ز ب | H-W-Y | 75 ح و ې | Kh-L-Te | 115 خ ل ط |
| H-Z-N | 30 ح ز ن | Hais | 77 | Kh-L-Ain | 115 خ ل ع |
| H-S-B | 31ح س ب | H-Y-D | 77ح ی د | Kh-L-F | 116 خلف |
| H-S-D | 32ح س د | H-Y-R | 77 ح ى ر | Kh-L-Q | 118 خلق |
| H-S-R | 32ع س ر | H-Y-Z | 78 ح ی ز | Kh-L-L | 120 خ ل ل |
| H-S-S | 33 ح س س | H-Y-Sd | 78 ح ی ص | Kh-L-W | 120 خ ل و |
| H-S-M | 33 ح س م | H-Y-Zd | 78 ح ی ض | Kh-M-D | 121 خ م د |
| H-S-N | 34 ح س ن | H-Y-F | 80ع ی ف | Kh-M-R | 121 خ م ر |
| H-Sh-R | ، د سبب کی | H-Y-Q | 80ح ی ق | Kh-M-S | 122 خ م س |
| H-Sd-B | 37ع ص ب | H-Y-N | 80 ح ی ن | Kh-M-Sd | 122 خ م ص |
| H-Sd-D | ۶٬۰۰۰٬۰۰۰ م ب 37 ح ص د | H-Y-Y | 80 ع ی ی | Kh-M-Te | 122 ع م س 122 خ م ط |
| | | | - | | |
| H-Sd-R | 38حصر | Kh-B-A | 83خب ء 29 | Kh-N-Z-R | 123 خنزر 122 - خنزر |
| H-Sd-Sd | 38ح ص ص | Kh-B-T | 83 خ ب ت | Kh-N-S | 123 خ ن س |
| H-Sd-L | 39ح ص ل | Kh-B-S | 83خبث | Kh-N-Q | 124 خنق |
| H-Sd-N | 39 ح ص ن | Kh-B-R | 84 خ ب ر | Kh-W-R | 124 خور |
| H-Sd-Y | 40 ح ص ی | Kh-B-Z | 84 خ ب ز | Kh-W-Zd | 124 خ و ض |
| H-Zd-R | 41ح ض ر | Kh-B-Te | 86 خ ب ط | Kh-W-F | 125 خ و ف |
| H-Zd-Zd | 41ح ض ض | Kh-B-L | 86 خ ب ل | Kh-W-L | 125 خ و ل |
| H-Te-B | 42حطب | Kh-B-W | 86 خ ب و | Kh-W-N | 126 خون |
| H-Te-Te | 42 حطط | Kh-T-R | 87 خ ت ر | Kh-W-Y | 127 خ و ى |
| H-Te-M | 42ع ط م | Kh-T-M | 87 خ ت م | Kh-Y-B | 128 خ ی ب |
| H-Ze-R | 43 ح ظ ر | Kh-D-D | 88 خ د د | Kh-Y-R | 128 خ ى ر |
| H-Ze-Ze | 43ع ظظ | Kh-D-Ain | 90 خ د ع | Kh-Y-Te | 129 خ ي ط |
| H-F-D | 43ح ف د | Kh-D-N | 91 خ د ن | Kh-Y-L | ر <u>د</u> ا خ ی ل 130 خ ی ل |
| H-F-R | د،ع 44 ح ف ر | Kh-Dh-L | 91 | Kh-Y-M | 130 خ ی م |
| | J (| | | | |

| D-A-B | 132د ء ب | Dh-R-W | 182 ذر و | R-Te-B | 232ر طب |
|-----------------|--|----------------|-------------------------|------------------|----------------------|
| Dawood | 132داۇد | Dh-Ain-N | 182ذعن | R-Ain-B | 233رعب |
| D-B-B | 133د ب ب | Dh-Q-N | 182 ذ ق ن | R-Ain-D | 233 رعد |
| D-B-R | 134د ب ر | Dh-K-R | 183 ذک ر | R-Ain-N | 234رعن |
| D-Th-R | 135د ٹ ر | Dh-K-W | 185 ذک و | R-Ain-Y | 234رع ي |
| D-H-R | 136د ح ر | Dh-L-L | 185ذ ل ل | R-Gh-B | 235رغَب |
| D-H-Zd | 136دحض | Dh-M-M | 186 ذمم | R-Gh-D | 236رغد |
| D-H-W/Y | 138د ح و /ی | Dh-N-B | 188 ذ ن ب | R-Gh-M | 237 رغ م |
| D-Kh-R | 138دخر | Dh-H-B | 189 ذ ہ ب | R-F-T | 237ر ف ت |
| D-Kh-L | 139دخل | Dh-He-L | 190 ذ ه ل | R-F-Th | 237رفث |
| D-Kh-N | 139د خ ن | Dh-W | 192 | R-F-D | 238 رف د |
| D-R-A | 140 | Dhulqarnain | 192 ذو القرنين | R-F-Ain | 238 ر ف ع |
| D-R-J | 140 | Dh-W-D | 192 | R-F-F | 239 ر ف ف |
| D-R-R | 141در ر | Dh-W-Q | 193ذوق | R-F-Q | روي ر فق 239 ر فق |
| D-R-S | 141در س 142در س | Dh-Y-Ain | 193 ذى ع | R-Q-B | روع رف ب 240 رق ب |
| D-R-S D-R-K | 142 ــــــــــــــــــــــــــــــــــــ | | 195 و کا ع 194 ر أ س | | 240 رق ب 241 رق د |
| | | R-A-S | | R-Q-D | |
| Darham | 143درېم | R-A-F | 194ر أف 105 | R-Q-Q | 241 رقق |
| D-R-Y | 145درى | R-A-Y | 195ر أى | R-Q-M | 243ر ق م |
| D-S-R | 145د س ر | R-B-B | 197 ر ب ب | R-Q-W | 243 رق و |
| D-S-S/W | 146د س س/و | Rubba (letter) | 199رُبَّ (حرف) | R-Q-Y | 243رقى |
| D-Ain-Ain | 147دعع | R-B-H | 199 ر ب ح | R-K-B | 244ر ک ب |
| D-Ain-W | 147دع و | R-B-Sd | 199ر ب ص | R-K-D | 245ر ک د |
| D-F-A | 153د ف ء | R-B-Te | 199ر ب ط | R-K-Z | 245 ر ک ز |
| D-F-Ain | 153دف ع | R-B-Ain | 200ر ب ع | R-K-S | 245 ر ک س |
| D-F-Q | 153دفق | R-B-W | 200 ر ب و | R-K-Zd | 246 ر ک ض |
| D-K-K | 154د ک ک | R-T-Ain | 202ر ت ع | R-K-Ain | 247ر ک ع |
| D-L-K | 154د ل ک | R-T-Q | 204 ر ت ق | R-K-M | 247 ر ک م |
| D-L-L | 156دلل | R-T-L | 204 ر ت ل | R-K-N | 248 رک ن |
| D-L-W/Y | 156 د ل و /ي | R-J-J | 204 くうう | R-M-H | 248 ر م ح |
| D-M-D-M | 158دم د م | R-J-Z | 204 رج ز | R-M-D | 248 ر م د |
| D-M-R | 158دمر | R-J-S | 205 ر ج س | R-M-Z | 249 ر م ز |
| D-M-Ain | 158د م ع | R-J-Ain | 206ر ج ع | R-M-Zd | 250 ر م ض |
| D-M-Gh | 160د م غ | R-J-F | 210 ر ج ف | R-M-M | 250 ر م م |
| D-M-W/Y | 160د م و /ی | R-J-L | 212 ر ج ل | R-M-N | 250 ر م ن |
| D-N-R | 160دن ر | R-J-M | 212 ر ج م | R-M-Y | 252 ر م ی |
| D-N-W | 160د ن و | R-J-W | 213 ر ج و | R-W-H | 253 ر و ح |
| D-H-R | 162د هر | R-H-B | 214ر ح ب | R-W-D | 256ر و د |
| D-H-Q | 163 د ه ق | R-H-Q | 214 ر ح ق | R-W-Ain | 256 ر و ع |
| D-H-M | 165د ه م | R-H-L | 214 ر ح ل | Rom | 257 ر و م |
| D-H-N | 165د هن | R-H-M | 216ر ح م | R-He-B | 257ر ھب |
| D-H-W/Y | 166د ه و /ي | R-Kh-W | 219 ر خ و | R-He-Th | 258ر هط |
| D-W-R | 166د و ر | R-D-A | 219ر د أ | R-He-Q | 258ر ەق |
| D-W-L | 167د و ل | R-D-D | 219 ر د د | R-He-N | 259 رەن |
| D-W-M | 167د و م | R-D-F | 222 ر د ف | R-He-W | 260 ر ہو |
| D-W-N | 168د و ن | R-D-M | 222ر د م | R-W-Zd | 260 ر و ض |
| D-Y-N | 169د ی ن | R-D-Y | 222 ر د ی | R-W-Gh | 260ر و غ |
| Dh-A | 173 يا الم | R-Dh-L | 223ر ذ ل | R-Y-B | 262ریب |
| Dhalkifli | 173ذَالْكِفْلِ 173 | R-Z-Q | 223ر ز ق | R-Y-Sh | 262ر ی ش |
| Dhanon | 7/1 175ذالنُوْن | R-S-Kh | 224 ر س خ | R-Y-Ain | 264ر ی ع |
| Dhaab | 175ذأب | R-S-S | 225 ر س س | R-Y-N | 264 ـــــر ى ن |
| Dhado Dh-A-M | 175ذأم | R-S-L | 225 ر س ل | Z-B-D | 265زبد |
| Dh-B-B | 175ذب ب | R-S-W | 225ر س و 227 | Z-B-R | 265زبر |
| Dh-B-H | 175 د ب ح 176 | R-Sh-D | 227ر ش د 228 ر ش د | Z-B-N | 203ر بر |
| Dh-Kh-R | 178 ^ت ب ع 179 ذخر | R-Sd-D | 228ر ص د | Z-J-J | 206ر ب ن 266ز ج ج |
| Dh-R-A | 179 ذر أ | R-Sd-Sd | 228ر ص ص | Z-J-J Z-J-R | 200زجر 266 |
| Dh-R-R | 180 - در ر | R-Zd-Ain | 229 ـــر ص ع | Z-J-W | 268 ز ج و |
| Dh-R-Ain | 181 درع | R-Zd-Y | 229ر ص ع 230رض ی | Z-J-W Z-H-Z-H | 268 ز ح ز ح |
| | ا ا ا ا ا ا ا ا ا ا ا ا ا ا ا ا ا ا ا | 11-2-4-1 | 250 | L-11-L-11 | ر ب ر ب L |

| | • • • | | 1 | 0 | 6 |
|----------------|--|----------------|------------------------|---------------------|------------------------------------|
| Z-H-F | 268زحف | S-H-L | 315 س ح ل | S-M-K | 352 س م ک |
| Z-Kh-R-F | 269ز خ ر ف | S-Kh-R | 315 س خ ر | S-M-M | 353 س م م |
| Z-R-B | 269زرب | S-Kh-Te | 316 س خ ط | S-M-N | 353 س م ن |
| Z-R-Ain | 269 ز ر ع | S-D-D | 317 س د د | S-M-W | 354 س م و |
| Z-R-Q | 271 ز ر ق | S-D-R | 317 س د ر | S-N-B-L | 355. س ن ب ل |
| Z-R-Y | 271 ز ر ی | S-D-S | 318س د س | S-N-D | 356 س ن د |
| Z-Ain-M | 271 زعم | S-D-Y | 319س د ی | S-N-D-S | 356. س ن د س |
| Z-F-R | 272ز ف ر | S-R-B | 319 س رب | S-N-M | 356 س ن م |
| Z-F-F | 272ز ف ف | S-R-B-L | 320 . س ر ب ل | S-N-N | 357 س ن ن |
| Z-Q-M | 274 زق م | S-R-J | 320 س ر ج | S-N-He | 358س ن ہ |
| Zikriya | 274 زكريا | S-R-H | 321 س ر ح | S-N-W | 359 س ن و |
| Z-K-W | ۲۹ <u>م</u> رید 276زک و | S-R-D | 321س رد | S-N-Y | رعوی س ن ی |
| Z-L-F | 278 ز ل ف | S-R-D-Q | 321 س ر د ق | S-He-R | 360 ش ہ ر |
| Z-L-Q | 278 ز ل ق | S-R-R | 323 س ر ر | S-He-L | 360 يى در |
| | 278۔ ر ۵ی 278۔ز ل ل | | | | |
| Z-L-L | | S-R-Ain | 324 س ر ع | S-He-M | 360 س ہ م |
| Z-L-M | 279ز ل م | S-R-F | 324 س ر ف توج | S-He-W | 361 س ہ و 12 د |
| Z-M-R | 279زمر | S-R-Q | 325 س ر ق | S-W-A | 361 س و أ |
| Z-M-L | 280 ز م ل | S-R-M-D | 325 س ر م د | Suw'a | 362 سُوَاعٌ |
| Z-M-He-R | 281زم هر | S-R-Y/W | 326س ر ي/و | S-W-D | 362 س و د |
| Zanjabeel | 281 زنجبيل | S-Te-H | 326 س ط ح | S-W-R | 363 س و ر |
| Z-N-M | 281 ز ن م | S-Te-R | 326 س ط ر | S-W-Te | 365س و ط |
| Z-N-Y | 283ز ن ی | S-Te-W | 327 س ط و | S-W(Y)-Ain | 365س و (ی) ع |
| Z-He-D | 283ز ەد | S-Ain-D | 329 س ع د | S-W-Gh | 367 س و غ |
| Z-He-R | 284 ز ەر | S-Ain-R | 329 س غ ر | Sauf | 367 سَوْفَ |
| Z-He-Q | 284 ز ەق | S-Ain-Y | 330 س ع ی | S-W-Q | 367س و ق |
| Z-W-J | 286ز و ج | S-Gh-B | 331 س غ ب | S-W-L | 369 س و ل |
| Z-W-D | 287ز و د | S-F-H | 331 س ف ح | S-W-M | 369 س و م |
| Z-W-R | 287 ز و ر | S-F-R | 332 س ف ر | S-W-Y | 370 س و ی |
| Z-W-L | 288زول | S-F-Ain | 333 س ف ع | S-Y-B | 371 س ی ب |
| Z-W-L Z-Y-T | 288زىن | S-F-K | 333 س ف ک | S-Y-H | 372س ی ح |
| Z-1-1 Z-Y-D | 288زی د | S-F-L | 333 س ف ل 333 س ف ل | S-Y-R | 372 س ی ر |
| Z-Y-Gh | • | | 335 س ف ن 335 س ف ن | | |
| | 289 ز ی غ | S-F-N | | S-Y-L | 373 س ی ل 272 |
| Z-Y-L | 290 ز ى ل | S-F-H | 335 س ف ه | Seen | 373 سين |
| Z-Y-N | 290زىن مەم | S-Q-R | 336 س ق ر | Sh-A-M | 374 ش أ م |
| Seen | 293 س | S-Q-Te | 336 س ق ط | Sh-A-N | 374 ش أ ن |
| S-A-L | 293 س أِل | S-Q-F | 336 س ق ف | Sh-B-H | 375 ش ب ہ |
| S-A-M | 294 س أ م | S-Q-M | 337 س ق م | Sh-T-T | 375 ش ت ت |
| Saba | 294 سبأ | S-Q-Y | 337 س ق ی | Sh-T-W | 376 ش ت و |
| S-B-B | 295 س ب ب | S-K-B | 339 س ک ب | Sh-J-R | 376ش ج ر |
| S-B-T | 295 س ب ت | S-K-T | 339 س ک ت | Sh-H-H | 377 ش ح ح |
| S-B-H | 296س ب ح | S-K-R | 339 س ک ر | Sh-H-M | 377 ش ح م |
| S-B-Te | 298 س ب ط | S-K-N | 340 س ک ن | Sh-Kh-Sd | 378 ش خ ص |
| S-B-Ain | 298س ب ع | S-L-B | 342 س ل ب | Sh-H-N | 378 ش ح ن |
| S-B-Gh | 299 س ب غَ | S-L-H | 343 س ل ح | Sh-D-D | 378 ش د د |
| S-B-Q | 301 س ب ق | S-L-Kh | 343 س ل خ | Sh-R-B | 379ش ر ب |
| S-B-L | 302 س ب ل | S-L-S-L | 343 س ل س ل | Sh-R-H | 379 ش ر ح |
| S-T-T | 304 ــــــــــــــــــــــــــــــــــــ | S-L-Te | 344 س ل ط | Sh-R-D | و 380 ش ر د |
| S-T-R | 304 س ت ر | S-L-F | 345 س ل ف | Sh-R-Dh-M | 380 ش ر ذ م |
| S-J-D | 305 س ج د | S-L-Q | 345 س ل ق | Sh-R-R | 380 ش ر ر |
| S-J-R | 309 س ج ر | S-L-Q S-L-K | 34 <i>5 س</i> ل ک | Sh-R-Te | 380 ش ر ط 382 ش ر ط |
| S-J-K S-J-L | 309عن ج ل 309 س ج ل | S-L-K S-L-L | 346 س ل ك 346 س ل ل | Sh-R-Te Sh-R-Ain | 382 ش ر ک ے 382ش ر ع |
| | - | | | | |
| S-J-N | 310س ج ن | S-L-M | 347 س ل م | Sh-R-Q | 384 ش ر ق |
| S-J-W | 310 س ج و 212 مىلى جىل | S-L-W | 349 س ل و 250 س ل و | Sh-R-K | 385 ش ر ک |
| S-H-B | 312س ح ب | Suleman | 350 سليمانً | Sh-R-Y | 386 ش ر ی |
| S-H-Te | 312س ح ت | S-M-D | 350 س م د | Sh-Te-A | 387 ش ط أ |
| S-H-R | 313س ح ر | S-M-R | 351 س م ر | Sh-Te-R | 387 ش ط ر |
| S-H-Q | 314 س ح ق | S-M-Ain | 351 س م ع | Sh-Te-Te | 387 ش ط ط |
| | | | | | |

| Sh-Te-N | 388 ش ط ن |
|-----------|--------------|
| Sh-Ain-B | 389 ش ع ب |
| Sh-Ain-R | 390 ش غ ر |
| Sh-Ain-L | 392 ش غ ل |
| Shoaib | 392 شعيب |
| Sh-Gh-F | 393ش ع ف |
| Sh-Gh-L | 393 ش غ ل |
| Sh-F-Ain | 394ش ف ع |
| Sh-F-Q | 397 ش ف ق |
| Sh-F-H | 397 ش ف ہ |
| Sh-F-W | 398 ش ف و |
| Sh-F-Y | 398 ش ف ي |
| Sh-Q-Q | 398 ش ق ق |
| Sh-Q-W(Y) | 399ش ق و(ى) |
| Sh-K-R | 400 ش ک ر |
| Sh-K-S | 402 ش ک س |
| Sh-K-K | 402 ش ک ک |
| Sh-K-L | 403 ش ک ل |
| Sh-K-W(Y) | 404ش ک و (ی) |
| Sh-M-T | 404 ش م ت |
| Sh-M-Kh | 404 ش م خ |
| Sh-M-Z | 405 ش م ز |
| Sh-M-S | 405 ش م س |
| Sh-M-L | 406 ش م ل |
| Sh-N-A | 406ثن ن أ |
| Sh-He-B | 407 ش ہ ب |
| Sh-He-D | 407ش ہ د |
| Sh-He-R | 408 ش ہ ر |
| Sh-He-Q | 409ش ہ ق |
| Sh-He-W | 409 ش ہ و |
| Sh-W-B | 410 ش و ب |
| Sh-W-R | 410 ش و ر |
| Sh-W-Ze | 411ش و ظ |
| Sh-W-K | 411ش و ک |
| Sh-W-Y | 411ش و ي |
| Sh-Y-A | 412 ش ی أ |
| Sh-Y-B | 415ش ی ب |
| Sh-Y-Kh | 415 ش ی خ |
| Sh-Y-D | 416 ش ی د |
| Sh-Y-Ain | 416 ش ی ع |
| | |

(*al-hashiyaa*): edge/border (of cloth etc.) ألْحَاذَشِيَة (al-hashiyaa): edge/border (of cloth etc.)

"خَسْوَةُ الْنَاسِ" (*hashwatun naas*): lowly people (i.e. those who are kept on the periphery). From this it came to mean distance.

تَحَاشَ بِنَّهِ" (*hasha lillah*): Allah is very far from him, or I seek Allah's protection.

(al-hashiyaa) also mean people who live under someone's protection {T}.

The Quran says:

| 12:31 | they said Allah is without any blemish or fault (he is flawless) | وَقُلْنَ حَاشَ لِلَّهِ | | |
|-----------|--|------------------------|--|--|
| This is u | This is used for evention i.e. to be event of any fault or blemish \mathcal{R} | | | |

This is used for exemption, i.e. to be exempt of any fault or blemish $\{R\}$.

| H-B-B | ح ب ب | |
|-------|-------|--|
|-------|-------|--|

Muheet says ''أَلْحُبُّ' (al-hoob) or ''أَلْمَحَبَّمُ'' (al-muhabbah) has five meanings:

- Whiteness and cleanliness. Hence, "حَبَبُ الْأَسْنَانِ" (*hababul asnaan*) means "the sparkle of teeth".
- To rise or to be high, to appear "حَبَابُ الْمَائِن" (*hubaabul ma'a*) has come from it and it means a water bubble.
- For something to be stable in its place. Hence, "حَبَّ الْبَعِيْرُ وَ أَحَبَّ (*habbal bayeero wa ahab*) means "the camel sat down so adamantly that it did not get up after that".
- 4) For something to be pure or its real element, like "حَبَّةُ ٱلْقَلْبِ" (habbatul qalb): pureness of heart.
- 5) To protect someone, to hold.

This is why "حُبُّ الْمَاءِ" (*hubbul ma'a*) is a canter or skin tank in which water can be preserved. (*habbur rajul*) means the man stopped.

"أَحَبَّ الزَّرْغُ" (*ahabbaz zara*), the fields were sowed, that is, the results of their development began to appear *{M*}.

Raghib says "أَلْمَحَبَّة" (al-muhabbah) means to want something which is found to be good and beneficial. This has three aspects.

- One is for pleasure like a man loves a woman.
- Second is to like or want material things which are beneficial in some way.
- Third is to love figurative matters as scholars like each other because of the knowledge they have.

Sometimes love is also said to mean intent, but love has more of force and strength than intent $\{R\}$. "(istahabba): liked him//her,

(istahabba alaih): preferred him over another. (12:107) السُتَحَبَّهُ عَلَيْهِ

Ibn Faris says "أَلْحُبُ" (*al-hoob*) and "أَلْحَبَّةُ" (*al-muhabba*) mean to think someone is essential. The basic meanings of this root are essentiality and stability. That is to think that something is essential and to stay with it with steadfastness.

The Quran has used the word "خُبُ" (*hoob*) as against "كُرْةَ" (*kurhun*). Here it means liking, as in 49:7 or 2:216. These meanings need no explanation, but where ever love for Allah is mentioned, it needs to be clarified.

Surah *Al-Baqrah* says:

| 2.165 | and there are people who consider other forces to be Allah's contemporaries and love those forces as they love Allah although those who have <i>Imaan</i> (those who | وَمِنَ النَّاسِ مَنْ يَتَخِذُ مِنْ دُوْنِ اللَّهِ أَنْدَادَاً يُحِبُّوْ نَهُمْ كَحُبِّ اللَّهِ وَالَّذِيْنَ أَمَنُوْا أَشَدُ جُبًا لِلَّهِ |
|-------|--|---|
| | trust), love Allah in much greater degree: | |
| | | |

This is the general translation of this verse.

Surah Aal-e-Imran says:

| 3:30 3:31 | Tell them if you love Allah then follow me; Allah will love you too, and pardon your sins: and Allah is most merciful and protector. Tell them to obey God and his messengers, but if they turn away from this, then (be warned) that | قُلْ اِنْ كُنْتُمْ تُحِبُّوْنَ اللَّهَ فَاتَّبِعُوْ نِيْ يُحْبِّبْكُمُ اللَّهُ وَيَغْفِرْ لَكُمْ ذُنُوْبَكُمْ وَ اللَّهُ عَفُوْرٌ رَحِيْمٌ قُلْ اَطِيْعُوْا للَّهَ وَالرَّسُوْلَ فَاِنْ تَوَلَّوْا فَإِنَّ اللَّهَ لَا يُحِبُ الْكَافِرِيْنَ |
|--------------|---|--|
| | Allah does not like the deniers. | |

This is the traditional translation.

These verses are quoted as proof for the love for and by Allah's and the edifice of *tasawwuf* (Mysticism/Sufism) is built upon it. This love is so great that its height is deemed to merge with His personae. This whole concept is born due to taking love to mean as we human beings take it to mean.

A relationship of this kind with God is not Quranic. As far as God's personae are concerned, it is beyond our comprehension, and Therefore, there is no question of love as one would love a beloved (even if it's one's child). To love an unseen body in this manner is psychologically impossible. This was the difficulty which compelled Man to believe in God's incarnation in human form or to make statues of Him. Everything will be clear if we recall the meanings of love given in the beginning.

"خُبْ" (*hoob*) means "to be steadfast". Therefore, loving Allah would mean to be stable and unwavering about Allah's orders and to follow them steadfastly, to be resolute about them and not waver over them. The verses above are testifying to these meaning.

See verse 2:165 of surah *Baqrah* which says "those who consider others to be powerful, and follow their laws and decisions as well". Therefore, here love of Allah means following His laws.

Surah *Aal-e-Imran's* verse 3:30:31 explains this: here "إِنْ كُنْتُمْ تُحِبُّوْنَ اللَّهِ" (*inn kuntum tuhibboonillaha*) has been expostulated by أطِيْعُوْا اللَّهُ" (*atiullah*) which is to obey Allah.

As against it "تَوَ لَّوْ (*tuwallau*) has been used. This word further clarifies the meaning. As such, in these verses love of Allah means following His orders, which come under a centralized system, which is formed for establishing His laws.

Surah *Al-Maidah's* verse 5:54-55 supports this. In these verses, it has been said to the believers that if anyone among them turns his back from this way of life, then he should well understand that Allah's way of life is not dependent upon him. He must not think that if he leaves this way of life, then there will be nobody to take care of it.

Allah will replace them with people who are "يُحِبُّهُمْ" (*yuhibbohum*) and "يُحِبُّونُنَ" (*yuhibbunahu*), i.e. those who love Allah. Allah will also love them. This means that they will be very soft with their own and liable to dominate others. They will struggle continuously and will not be deterred by any detractor or condemner.

The next verse says:

| 5:55 Allah, the messenger and the believers are your friends | إِنَّمَا وَلِيُّكُمُ اللَّهُ وَرَسُوْلُهُ وَالَّذِيْنَ أَمَنُوْا |
|--|--|
|--|--|

This makes it clear that by "love" here means to be close to someone, as a friend. Ahead the *Mominen* are told not to befriend the deniers in 5:57. This too makes it clear of what 'to love Allah' means, which is to follow His laws. Now as far as Allah loving Man is concerned, one needs to recall the other meaning of the word i.e. to protect, to hold, to elicit strong capabilities, or acts to produce results. Thus, Allah's love would mean the appearance of all those results that are inevitable to obeying His laws. This is the true meaning of Man loving Allah and vice versa. This is also the meaning of being Allah's *wali* (friend) or Allah being Man's *wali*. See heading (*W-L-Y*).

"حَبَّ" (*hub*) also means grain, cereal and crop, as used in 55:12 (*habba*): singular of grain as used in 2:261.

- "أَلْحِبْرُ" (*al-hibr*) means ink.
- أَلْمِحْبَرَةُ (al-mihbarah) means inkpot.
- "الْحِبْرِيَّ (al-hibri) means one who sells ink.

"أجبَر (*al-hibr*) is the knowledge of authors, especially a Jewish scholar $\{T\}$.

"خبال" (ahbaar) is the plural form as used in 5:44.

"الْحِبْر" (al-hibr) means beauty and its glow.

"أَلْحَبْرُ" (al-habr) means pleasure, bliss, and happiness.

"خَبْرَة" (habrah) is complete bliss and comfort, abundance of luxury.

"أَلْحَبْرَةَ" (al-habra) means music in heaven or jannat, good song.

The Quran says:

| 30:15 | So they shall be delighted in the gardens | فَهُمْ فِيْ رَوْضَةٍ <mark>يُحْبَرُوْنَ</mark> |
|-------|---|---|
| 43:70 | Enter the jannah delightfully, you and your spouses | ٱدْخُلُوْ الْجُنَّةَ ٱنْتُمْ وَ ٱزْوَاجُكُمْ ^{تُ} خْبَرُوْنَ |

Zajaj says the dictionary says that "أَحَبْرَةُ" (al-habra) means a good song $\{T\}$. Actually it encompasses all the aspects of happiness and pleasure, whether they are with the blissfulness of sight or sound, masterpieces of art or music.

Ibn Faris says it means such signs which highlight the beauty of a thing.

"حَبَّرَ الْخَطَّوَ الشِعَرَ" (*habbaral khatta wash-sheyr*): he polished the letter and the verse, and made it beautiful.

"تَحَبَّرَ الرَّجُلُ" (tahabbarar rajul): the man became handsome and beautified {M}.

"تَوْبٌ حَبِيْرٌ" (*taubun habeer*): good, new cloth.

"أَلْيَحْبُوُرُ (al-yahboor): a man with a delicate body {T}.

Raghib says that "أَلْجِبْلُ" (al-hibr) means a very good and beautiful sign.

"أَحْبُرُ" (*al-habao*) means a scholar, because his knowledge has an effect on people and his better signs and steps are followed.

The Quran enunciates the appreciation of every beautiful thing in the universe and stresses enjoying it (its beauty), with the condition that Man stays within the limits set by God and does not transgress.

A heavenly society is the one in which art and music are cause for delight in their respective places, and since all the time Allah's limits are kept in view, they are not the cause of ill effects.

The Quran has mentioned every aspect of beauty and adornment in the context of heavenly life, but life turns heavenly only when Allah's laws are implemented and followed.

H-B-S ح ب س

"أَلْحَبْسُ" (*al-habs*): to stop, to imprison.

"أَحْتَبَسَهُ" (*ihtabasahu*): stopped him.

"فَأَحتَبَسَ (fa ahtabus): Thus, he stopped.

"الْمَحْبَسَ" (*al-mahbus*): the eating pot of animals *{T*}. It also means a ring which is put on the fingers *{M}*. "حَبَسَمُ عَنْرُ" (*habasahu unhu*): to stop someone from (doing) something.

"حَبَسَمُ عَلَيْمِ" (habasahu alaihi) means to devote {M}.

The Quran says:

| 5:106 | (you should) stop those two witnesses | تَحْبِسُوْ نَهُمَا |
|-------|---------------------------------------|--------------------|
|-------|---------------------------------------|--------------------|

"أَلْحَبَطُ" (*al-habat*): the scar that remains even after the wound has healed.

(*al-habaat*): an animal disease in which the stomach swells and the animal dise

Zamkhashri and Ibnul Atheer say that "حَبِطَتِ الدَّابَةُ حَبَطَ" (habetatin da'abbatin habata) means an animal overeating upon reaching a very good grazing land but not being able to digest the food it has eaten. Hence, this makes its stomach swell and it dies {T, M}.

Ibn Faris says its basic meanings are to be proven false; pain and sorrow.

Quran has used the terms "حَبْطِ أَعْمَال" (*habatey aamaal*) (the futility of actions) rather being meaningful, as in 2:217.

If whatever an animal eats gets well digested, it becomes a part of the body and adds to the animal's health due to which it becomes strong and plump. But if its fodder is not digested, then its stomach swells, and it seems like the animal is fattening. But in fact it is a sign that the animal will die. Similarly human beings do a lot of things which appear very good to him, and he expects very good results from those acts, but they are actually the cause of his annihilation.

The Quran calls this "خَبْطِ أَعْمَال" (*habtey aamaal*) that is, not getting the good results that one expected those acts to produce. The fact is that only such acts can produce good results as which are committed under the right system of Allah's orders. If this is not so, then all Man's efforts go waste, and the result is nothing but destruction.

| 2:217 | whose efforts go waste in this world and also in | أولِيكَ حَبَطَتْ أعْمَالْهُمْ فِي الدُّنْيَاوَالْاخِرَة |
|-------|--|---|
| 2.217 | the Hereafter: | أوليك تحبطك أعماهم فيي الدلياوالا تحره |

Their efforts only leave traces, there are no results, Thus, good deeds are not those which we think are so, but the criterion for good and bad deeds is the Book of Allah. The deeds which according to Him are not good can never produce good results no matter how good they may appear to us. No matter how good our intentions are, in the universal balance, decisions are not made according to our likes or dislikes, but according to the unchanging values of Allah. That is why the Quran has not only pontificated the good deeds but also mentioned what results they will produce, so that we can judge whether we are traversing the right path or not. If our deeds are not producing the results mentioned by the Quran, then we must understand that our deeds are not according to the Quran. If we do not keep taking stock and continue in our self-deception, then all our deeds will go waste.

| | Thus, their deeds did not produce any result; and | |
|--------|---|--|
| 18:105 | on the day of the judgment, we will not even | فَحَبِطَتْ أَعْمَالْهُمْ فَلَا نُقِيْمُ لَهُمْ يَوْمَ الْقِيٰمَة وَزْناً |
| | ready the scales (to weigh their deeds) | |

We must ponder over many of our deeds that are going to waste, and we never stop to think why this is happening, although Allah's Book (the ever true criterion of deeds) is with us.

As mentioned earlier, *Ibn Faris* has said the basic meanings of the root are not only to go to waste, but also pain and sorrow.

That means that the deeds will not only go waste, but also be cause for pain and sorrow. That is, deeds which were supposed to produce good results have been so wasted.

"أَلْحَبْكَ" (*al-habak*): to secure tightly. "أَحْبْكَةُ" (*al-habakah*): the place where a belt is tied, i.e. the waist. "تَحَبُّكَ تَحَبُّكَ تَحَبُّكَ" (*tahabbaka tahheboka*): tied the *azaar* (belt) on his waist "أَلْحُبْكُ مِنَ السَّمَاءِ" (*al-hubkah*): a rope which is tied to the waist. "أَحْبُكُ مِنَ السَّمَاءِ" (*al-hoboka minas sama-ee*): the path of the stars (orbits). "مُخْبُكُ الرَّمْلِ"

Fara'a says "حَبْكٌ" (*hubk*) means for something to twist and bend or break. As such, "الْحُبُكُ مِنَ الشَّعْرِ" (*al-hobok mina-sha'ar*) also means curly hair which grow twisted with split ends. "الْحَبْكُ" (*al-habka*) means to cut and cutting of the neck *{T, R, M}*.

The Quran says:

| 51:7 | the sky with pathways (or orbits): | والسَّمَاءِ ذاتِ الحُبُكِ |
|------|------------------------------------|---------------------------|

And if it is taken to mean strength, then the verse would mean such high atmosphere where each body moves in its orbit and doesn't move away from its orbit. As such "(al-hibaak) is that bunch of wooden pieces which are bound tightly together so none of the pieces moves from its place $\{T\}$, and if it is taken to mean break, then it would mean the atmosphere with celestial bodies in which they are orbiting after originally breaking away from their source (meteors).

Ibn Faris says the basic meanings include something's continuity, longevity and strength. Thus, verse 51:7 would mean such height (atmosphere) which has long or big orbits for the celestial bodies.

H-B-L ح ب ل

"أَحَبْلُ" (*al-habl*): something to tie with, a rope. The plural is "أَحَبْلُ" (*hibaal*). "حَبَلُ" (*hablah*): tied him with a rope {*T*}.

Surah *Taha* says "جِبَالَبُمُ" (*hibalohum*) in 20:66, which means ropes. "الْحَبْلُ» (*al-habl*) also means pact, responsibility, and security.

Surah Aal-e-Imran says:

Here Taj-ul-Uroos says that "حَبْلُ" (habal) means 'pact'.

The author of *Kitabil Ashqaq* also supports this meaning.

Ibn Faris says its basic meaning is the longevity of anything.

Raghib says anything through which one reaches another thing is "حَبْلُ اللهِ" (habal), Thus, "حَبْلُ اللهُ

(hablullah) means the thing which takes you to Allah i.e. the Noble Quran.

Abu Ubaid says "أَلا عِتِصَامُ بِحَبْلِ اللهِ" (al-etesaamiu bihablil lah) means following the Quran.

Ibn Masood has also taken "حَبْلُ الله" (hablullah) to mean the Quran.

Ibn Arfah says that at one place in the Quran it says:

| 3:111 | Allah's responsibility or the responsibility given by the people. | اِلَّابِحَبْلٍ مِنَ اللَّهِ وَ حَبْلٍ مِنَ النَّاسِ |
|-------|---|--|
|-------|---|--|

As such in 3:102 "حَبْلُ اللَّهِ" (*hablillah*) means responsibility towards Allah {*T*}.

But whatever we take the word to mean, rope or the means, responsibility or pact. It is all the same, our relationship or link is through the Quran. This is the rope that has come to us from Him and which binds us together. The next part of the verse says "زَلَا تَقَرَّقُوْنَ (*wala tafarraqu*) (i.e. do not be dissected), and beyond that the *momineen* have been told to stay as one group or party. See 3:103 and 3:109.

Thus, "حَبْلُ اللهِ" (habalillah) means the collective system which is based on the Quran and whose purpose is unity of the nation and following of Allah's laws.

| The Quran says about Allah: | The | Quran | says | about | Allah |
|-----------------------------|-----|-------|------|-------|-------|
|-----------------------------|-----|-------|------|-------|-------|

| 50:16 | We are closer to Man than his <i>hablul vareed</i> . | وَنَحْنُ أَقْرَبُ الَيْهِ مِنْ حَبْلِ الْوَرِيْدِ |
|-------|--|---|
|-------|--|---|

Fara'a says that "الْوَرِيْدِ" (hablil) and "الْوَرِيْدِ" (al-vareed) has the same meaning and that is of lifeline {T}.

This nearness of God to Man has been explained in the first part of the verse by saying:

| 50:16 | We are even familiar with his breath | وَنَعْلَمُ مَاتُوَسْوِسُ بِهِ نَفْسُهُ |
|-------|--------------------------------------|--|
|-------|--------------------------------------|--|

The reference is the knowledge of Allah who is All Knowing and on which the wheel of nature depends, and no human deed, not even a passing thought, is outside His Knowledge.

| 50:17 | There is a guard (watchman) on every human deed. | مَايَلْفِظُ مَنْ قَوْلٍ الأَلَدَيْهِ رَقِيْبٌ عَتِيْدٌ |
|-------|--|--|
|-------|--|--|

This is how god is closer than one's lifeline.

H-T-M ح ت م

"حَتَّمَهُ و حَتَّمَ بَكَذَا" (hatmahu way hatama bekaza), "يَحْتِمْ" (behtim), "حَتَّمَهُ و حَتَّمَ بَكَذَا" something

"حَتَمَ عَلَيْهِ الأَمْرَ" (hatama alaihil amr): something was made compulsory for him

(al-haatim): one who decides, one who makes a decision to be compulsory on someone {T, M}

The Quran says:

| ن حَتْمَا مَقْضِيًّا This has been decided by your Sustainer. |
|---|
|---|

Ibn Faris says that this word has no root but a mutation where (*ta*) has been changed out by (*kaaf*). He claims that "حَمَّر (hatam) in fact was "حَكَمَ" (hakam) which means to decide.

| | Hatta | حَدَّى | |
|-----------|--|--------|---|
| ا) "حتّى" | <i>hatta</i>) is used in the following meanings: | | |
| 30:91 | they said we will continue doing this, until Moosa doesn't return to us | سی | قَالُوْا لَنْ نَبْرَحَ عَلَيْهِ عَاكِفِيْنَ حَتَّى يَرْجِعَ الَيْنَا مُوْ |

Sometimes it means 'so that', as some say it means in this verse

| 2:217 | And these people will continue fighting you so that if they may, they will force you to | وَلَا يَزَالُوْنَ يُقَاتِلُوْنَكُمْ حَتَّى يَرُدُوْكُمْ عَنْ دِيْنِكُمْ إِنِ اسْتَطَاعُوْا |
|-------|---|--|
| 2.217 | revert from your way of life | ود يونون يت دور م ملي يودو م مل ويد ما دو الملك مو |

This means that their purpose is of fighting you....

Moosa doesn't return to us

Sometimes it also means the same as "y'' (*illa*) which means "rather", as quoted by both *Taj-ul-Uroos* and *Muheet* with reference to *Ibn Maalik* in the verse that means:

It is not largesse to give much from riches that are more than necessary, but rather to give even if you have little.

Sometimes it is also used to mean "and", as in:

| 47:4 | So when you come against the deniers, then behead them (kill them) and when you everythelm (conquer) | لَيْسَ العَطَاءُ مِنِ الْفُضُوْلِ سَمَاحَةً |
|------|---|---|
| | them (kill them), and when you overwhelm (conquer) them | حَتَّى بَخُوْدَ وَ مَا لَدَيْكَ قَلِيْلُ |

No doubt that "حَتّْى" (*hatta*) here may mean until, but 'and' also gives the requisite meaning.

| G | :4 :- | | | 1 | 4 - 11 - 1 | |
|-----------|-------|------|---------|-------|------------|-----|
| Sometimes | 1t 1S | usea | only to | begin | taiking, | as: |

| 27:18 | however, when they came to the valley of the <i>namal</i> | فَاِذَالَقِيْنُمُ الَّذِيْنَ كَفَرُوْ فَضَرْبَ الرُّقَابِ حَتَّى اِذَا أَثْخُنْتُوْهُمْ |
|-------|---|---|

Here "تَعْلَى" (*hatta*) is starting a completely new topic which has no connection with the previous talk.

ح ٹ ٹ H-Th-Th

"حَدَّ" (*hassa*), "حَدَّ" (*yuhusso*), دَحَدً" (*hassan*): to hurry, to continuously ask to hurry up.

"حَقَّمُ عَلَيْهِ" (hassahu alai): to instigate

"الْحَثِيْنَ" (al-haseeso): speedy, swift in one's work {T, M}.

The Quran says about night and day:

| 7:54 | the day follows the night very swiftly | بَطْلُبُهُ حَثِيْناً |
|------|--|----------------------|
|------|--|----------------------|

Hariri with reference to *Khalil* has written that "حَنَّ (*hassun*) and "حَنَّ (*hazzun*) are alternate words. The only difference is that "حَتْ (*hassun*) means to ask to make haste and to instigate, while "حَتْ (*hazzun*) means to persuade and ask to make haste $\{T, M\}$.

H-J-B حجب

"نَيَحْجِبُ" (*hajab*), "نَيَحْجِبُ" (*yahjeeb*): to cover, to hide. "الْحِجَابُ" (*al-hijaab*): the thing that is used as a veil {*T*}.

| 7:76 there will be veil between the two | وَبَيْنَهُمَا حِجَابٌ |
|---|-----------------------|
|---|-----------------------|

But *Raghib* writes that it means an obstruction that obstructs one thing from getting to another: This means that punishment meted out to those in the state of *Jahannum* will not reach those who are in the state of *Jannah*. And the dwellers of *Jahannum* will not be able to partake of the pleasures of *Jannah*. Here it means to deprive.

Surah *At-Tatfeef* says:

| 83:15 | They will be deprived of Allah's blessing | s during |
|-------|---|--|
| 83.13 | this time. (due to their (bad) deeds) | اِنَّهُمْ عَنْ رَبِّمِ يَوْمَءٍذٍ لَمَحْجُوْبُوْنَ |

Nawab Siddiq Hasan Khan has written that words in which " ζ " (*hah*) and " ζ " (*jeem*) comes together, indicate to the meaning of stopping or negating.

'' ٱلْحَاجِبُ مِنَ السَّمْسِ وَالْقَمَرِ' (*al-haajib minash shamsi wal qamar*): the corner of the sun or moon which appears first *{T*}.

"أَلْحَجُ" (al-hajj): to intend, to decide.

تَجَجْتُ فُلاناً" (hajajto fulanan): I intended for it.

"أَلْحِجَّة (al-hijjah): one year {T, M}.

"حِجَّخ" (*hijaj*) is the plural form.

Some scholars say that it means to decide about some respectable thing or to decide with a majority $\{T, M\}$. This is why intending to head for *Mecca* has been called " \overleftarrow{a} " (*hajj*).

| _ | Surah A | <i>I-Qasas</i> says: | |
|---|---------|----------------------|------------------------|
| | 28:27 | eight years | تمنی جنجج تمنی جنجج |

"أَلْحَجُ" (*al-hajj*) also means to prevent.

تَحَجَّمُ عَنِ الشَّيْءِ" (*hajjahu unish shaiyi*): stopped him from (doing) it. "أَلْمُحَاجَرُ (*muhajjah*) has been lead to mean "to quarrel" {*T*, *M*}.

Each one of the quarrelling party tries to stop the other from his intentions.

The Ouran says:

| 3:19 | if they stop you from what you intend | فَإِنْ حَاجُوْكَ |
|------|---------------------------------------|------------------|
| | | |

Also see 6:81.

َ (*hujjah*): reasoning.

Muheet says that reasoning is called "نَبْنَةٌ (*bayyenah*) because it makes the thing clear and distinct and تُحَجَّة (*hujjah*) leads to victory over the opponent.

In surah *Anaam*, the Quranic reasoning and orders are called "أَلْحُجَّةُ الْبَالِغَة" (*al-hujjatul baalegha*) in 6:150.

For the pilgrimage at *Kaaba* the word "حَجَّ" (*hajj*) is used in 2:196. In 3:96, the same thing has been called "حَجُّ الْبَيْتِ" (*hijj-ul-bait*). (*itajjo*) is one who performs "حَجَّ (*hajj*).

"خَجَ" (*hajj*) is the universal gathering of the Islamic world, and is held in the center of this nation, so that solutions to their collective problems are sought in the light of the Quran. In this way this nation is able to see the benefits with their own eyes.

| 22:28 so that they see what is to their benefits in material (physical) form | لِيَشْهَدُ وْا مَنَافِعَ لَهُمْ |
|--|---------------------------------|
|--|---------------------------------|

For the establishment of a system, centralized gatherings are very important. It is interesting to note that the Quran gave a system of consultation, as stated in 42:38, and a gathering so that when the world was in the grip of kingships and when the world thought that they were "God's gift to Mankind' and when it thought that the kings had the Divine right.

From the local congregation of prayers to the universal congregation of *Hajj*, the purpose is to establish the Quranic system and solve problems for mankind. For more details see heading *Qibla*.

"حَجَر (*hajar*): stone.

(*hijaar*) is the plural form. "حِجَارَةٌ (*hijaar*) is the plural form.

أَلْحِجْرُ" (*al-hajr*): "أَلْحِجْرُ" (*al-hijr*) "أَلْحِجْرُ" (*al-hijr*) "أَلْحِجْرُ" (*al-hijr*) "أَلْحَجْرُ"

جَبْر اَمَحْجُوْر اً" (hijran mahjoora) as used in 25:54 means something that stops, a stopper, a barricade.

"حُجْرَة" (hajra): a camels' enclosure, a room. "حُجْرَاة" (hujraat) is its plural.

(al-hijr): the intellect that prevents man (from doing something harmful). 89:5 "ألْحِجْنُ"

Nawab Siddiq Hasan Khan writes that words in which "z" (*hah*) and "z" (*jeem*) appear together give the meaning of preventing from, or stopping from something.

"جَبْر" (*hijr*) was also the name of the dwellings of the nation *Samood*, because these dwellings were carved out in mountains.

"خَنْجَرَةً" (*hanjarah*): the throat. Its plural form is "جَنْاجِرُ" (*hanajir*) as used in 40:18, 33:10. "حَجَرٌ" (*hajar*): gold and silver, and a very aware and clever man as well.

Quran says about "أَلْنَارَ" (an-naar):

| 2:25 Its fuel is humans and stones | وَقُوْدُ هَا النَّاسُ وَا لْحِجَارَةُ |
|------------------------------------|--|
|------------------------------------|--|

Raghib says it means people who are so adamant or whose hearts are as hard as stone. About the same people it is said a little further ahead:

| 2:74 | Then your hearts (attitudes) hardened, so they became hard as stones or even harder. | ثْمَّ قَسَتْ قُلُوبُكُم مِّن بَعْدِ ذَلِكَ فَهِيَ كَالْحِجَارَةِ أَوْ أَشَدُّ |
|------|--|---|
| | (or that their development capabilities had stopped) | قَسْوَةً |

"أَلْحِجَارَةُ" (*an-naas*) could also mean the commoners who follow the elite of the society, and "أَلْحِجَارَةُ" (*al-hijarah*) means those clever people who as leaders make the simple folks follow them. That is, those who traverse the wrong path, the leaders and their followers both, will go to state of *Jahannum*. This is supported by other verses of the Quran, like 14:21, 33:67. If it is taken to mean gold and silver, then it would mean capital worship which gives birth to a hellish society. Surah *Tauba* says that if people keep collecting gold and silver (wealth) and do not use it for the welfare of humanity, then that gold and silver will be heated in the fire of *Jahannum* and be branded on their foreheads and backs. (9:34-35).

As such, the fuel of *Jahannum* is the capitalists and their wealth which they do not use for the benefit of mankind but for their own personal gains. On the other hand, if in 2:25 the meaning of "اللَّالُ" (*an-naar*) is taken to mean battle (see heading N-W-R), and then "الْحِجَارَة" (*al-hijarah*) would mean the stoning which in those days was done against the opponents (as in 105:4). That would mean that since you do not decide on the basis of knowledge and intellect, then it would mean battle, which is waged by Man and inflamed by the stones which are thrown against the opponents. This can mean battle between the *Momins* and the opponents or between the opponents themselves. (See 6:65, 6:130, 27:82-83). The supporters of Allah's laws have to go to in war in order to eradicate war from this world once for all.

Surah *Al-Anaam* says "حِجْرٌ لَا يَطْعَمُهُا" (*hijrunbla yatamoja*) in 6:139, which means forbidden, which is not permitted ordinarily to eat.

"حُجُوْرٌ (hujoor) means to protect. "حُجُوْرٌ (hijr) means 'lap'.

"يَحْجَزَهُ" (hajazah), "يَحْجُزُهُ" (yah-jozuhu), "حَجَازَةً" (hajazah) means to stop, to prevent.

"خَجْزَ الْبَعِيْرَ" (*haja-zal bayeer*) means to make a camel sit and tie its lower legs with a rope and tie its waist with the same rope so that it cannot move and its wound on its back can be treated.

(*al-hijaaz*) is the rope with which the camel is Thus, bound.

"جَجَانَ" (*hijaaz*) is called so, because this place is situated between *Najaf* and *Tuhama* and is serves as a barrier. {T, R, M}

"أَلْحَجْزُ" (al-hajzo) means to build an obstruction or border between two things {L}.

Ibn Faris says it basically means to be an obstruction or barrier.

The Quran says "حَاجِزِيْنَ" (*haajizan*) in 27:61. At another place it says "حَاجِزِيْنَ" (*haajizeen*) in 69:47. These words mean to prevent or stop from something.

Nawab Siddiq Hasan Khan writes that words in which "z" (*hah*) and "z" (*jeem*) appear together give the meaning of preventing from, or stopping from something.

H-D-B ح د ب

"أَحْدَبُ" (al-hadab) means the stomach and chest, to cave in, and the hunch on the back to jut out.

تَحَدِبَ يَحْدَبُ حَدَبً" (*hadiba yah-dabun hadaba*) means to be a hunch back.

"أَلْحَدَبُ" (al-hadab) means high land, plateau, and the hard and high part of land {M}.

Ibn Faris says it basically means to be high or lofty.

The Quran says about *Yajjoj Majooj*:

| 21:96 they will jump out very fast from the plateau | وَهُمْ مَنْ كُلِّ حَدَابٍ يَّنْسِلُوْنَ |
|---|---|
|---|---|

For details see the word *Yajooj* in the heading (*A-J-J*).

حدث H-D-Th

"ألْحِدِيْتُ" (*al-hadees*): is the opposite of ancient, something new.

Ibn Faris says it basically means to come into existence from oblivion.

جَوَادِتُ" (hawadis) means new events that keep coming to the fore, or keep happening.

تحديثُ السِّنَ (hadisus-sin) means young man.

"أَحْدَنَّه" (ahdasa): he did something (which was never done before).

"أَحْدَاتٌ (ahdaas): to bring into existence.

"ٱلْمُحَدَثُ" (al-muhaddas): honest and truthful man

"أَلْمُحَدِّتٌ" (al-muhaddis): someone who relates hadees {T}.

"مُحْدَثٌ (mohdas) means unprecedented {M}.

It means something that comes into existence for the first time, unparalleled. It also means something that has not happened too long ago.

Quran has used the word "مُحْدَثُ" (mohdis) in these meanings in 21:2, 26:4.

| Surah <i>Al-Kahaf</i> says: | | | | |
|-----------------------------|-------|--------------------------------|---------------|--|
| | 18:70 | let me initiate and talk first | اُحْدِثَ لَکَ | |

| Surah <i>Taha</i> says about the Quran: | | |
|---|----------------------------------|------------------------------|
| 20:113 | Or so that they may think of it. | أَوْ يُخْدِثُ لَهُمْ ذِكْرًا |

It can also mean that it will grant loftiness to those people. See heading (Dh-K-R). And also that it will bring the historical events of universal nations which will awaken their capacities to comprehend.

In both cases the meaning of the word "أحدَاتُ" (*ihdaas*) is to bring into existence.

| Surah A | <i>z-Zuhaa</i> says: | |
|---------|---|---------------------------------------|
| 93:11 | you keep propagating your Sustainer's blessings | وَاَمَّا بِنِعْمَةِ رَبِّکَ فَحَدِّثْ |

Here "تَحْدِيْتُ" (*hadees*) means common propagation.

"حَدِيْثٌ (*ahadees*) is the plural form of "حَدِيْثٌ (*hadees*) which can mean tales, historical records as in 12:6. It has also been used for tales in 23:44.

Ibn Faris says that "حَدَثٌ (hadas) means for something to come into existence, out of non-present state.

This leads to "أَلْحَدِيْتُ" (*al-hadees*) because it leads to another thing that is stories galore.

In the Islamic law, "أَحْدِيْتُ" (*al-hadees*) means any speech or act which has been attributed to Allah's messenger. The meaning of "حَدِيْتُ" (*hadees*) is quite extensive, but we have briefly dealt with it here.

Faraa says that "أَحَادِيْتُ" (*ahahdeesa*) is the plural of "أَحْدُوْنَّهُ" (*uhdoosa*) which is possible, but later it became the plural of "حَدِيْتُ" (*hadees*).

H-D-D כני

(*al-hudd*): the actual meanings of this root are to prevent or stop from something {M}.

تَحَدَّ الرَّجُلَ عَنَ الْأَمْرِ" (huddar rajula unil amr): stopped that man from (doing) it.

َحَدَيْتُ فَلَاناً عَنِ الشَّرِّ): I stopped him from something bad.

"أَلْحَدَدُ" (*al-hadad*): obstruction.

هٰذَا أَمْرٌ حَدَدٌ» (haazarun hadad): this is a forbidden act.

"أَحْدُ" (*al-hudd*): to distinguish a thing from the other, also something which becomes a barrier between two things so that one does not merge into the other, or so that one thing does not reach the other.

"أَلْحَدِيْنَ" (*al-hadeed*): "iron", because due to its hardness it becomes a barrier (especially to enemies). Also a sharp object or which goes through and though.

"حَدَّ" (*hudd*): to sharpen.

"أَلْمُحَاد تَّ" (al-muhad'da): infighting; to oppose each other {M}.

It actually means to prevent or stop one another from something.

Surah *Al-Ahzaab* has used "بِأَلْسِنَةٍ حَدَادِ" (*bi al-sinatin hidaad*) 'from sharp tongues'. "حدَاد" (*hiddaad*) is the plural of "حَدِيْدٌ" (*hadeed*) as used in 33:19.

Surah **Qaf** says "نَفَبَصَرُكَ الْيَوْمَ حَدِيْدٌ" (*fa basrokal yauma hadeed*) in 50:22. It means sight that can see through the covers that are covering the truth. This is about the time of the result when eyes will be so sharp as to see the results behind the deeds.

Surah "الحديد" (*al-hadeed*) tells us to establish Allah's law, and uses the word "حَدِيْدٌ" (*hadeed*) i.e. the sword or force.

Surah *Al-Mujadlah* says:

| 58:5 | resist those who obstruct the establishing of Allah's | اِنَّ الَّذِيْنَ يُحَادُوْنَ اللَّهَ وَرَسُوْلَهُ |
|------|---|---|
| 38.3 | laws and his messenger | آك الكرين يحادون ألله ورسونه |

For the laws of Allah, the Quran mentions a phrase at several places, like in:

| 2:187 these are Allah's limits, do not go near them | تِلْكَ حُدُودُ اللّهِ |
|---|-----------------------|
|---|-----------------------|

Calling Allah's laws as "خُدُونُ اللَّهُونُ (*hudood-allah*) points to a very big reality. The Quran has generally given the orders in principle, and left it to the human beings to formulate sub laws according to the need of the times under those principles. Quranic principles will remain unchanged, but the laws under them, will change as the times change. Thus, Man has full liberty under the unchanging principles, just as the team in a game has full liberty within certain rules. Thus, Man is given a system by the Quran, in which he fulfills both, the unchanging basic principles and the changing sub-laws. This does not leave him completely unbridled or impose restrictions that curtail his freedom totally.

This is the purpose of "حَدُوْدُ اللَّهِ" (*hudood-allah*). But we have strayed away from the truth and formulated rigid laws which have made Islam a collection of outdated and rigid laws instead of the living movement that it is.

And which cannot be compatible with modern times. Complete freedom under few limitations. This is the way of life given to us by the Quran. "خُدُوْدُ اللَّهِ" (*hudood-allah*) are the last limits of Allah's law which should not be transgressed.

ح د ق H-D-Q

(al-hadaqah): the blackness of the eye which surrounds the pupil.

Ibn Faris says it basically means for one thing to surround, encompass another.

"حَدَقُوْابِم يَحْدِقُوْنَ (*hadaqu bihi yahaqoon*): they surrounded him.

"أَحَدَقَ بِهِ" (ahdaq behi) is anything which encloses another.

تحديقة (hadeeqa) means the ditch in the valley where water gets collected.

"حَدِيْقَةً" (*hadeeqa*) is also the garden with a surrounding wall. Without the wall, it is not called "حَدِيْقَةً" (*hadeeqah*), and in addition this garden needs to grow grass. If there is no grass, then such a garden is called "رَوْضَتَ" (*rozah*) {*T*, *R*, *M*}.

تحدايقُ" (hada-iq) is the plural of "حَدِيقة " (hadeeqah) {T, R, M}.

The Quran says "حَدَائِقَ ذَاتَ بَهْجَمِ" (*hadayiqa zaata bahjah*) which means delightful gardens. Here it means ordinary gardens without walls.

H-Dh-R حذر

تحذَّل" (hizr), "حَذَر" (hazar) is to avoid something which frightens, to be careful, to be cautious.

Ibn Faris says it basically means to be aware, and avoid.

تَرَجُلٌ حَذِرٌ " (rajulun hazar): a person who lies awake as is wary.

"الِبْنُ أَحْدَار" (ibnu aaar): the one person who is extremely cautious {T, M}.

"حَذَارٍ حَذَارٍ (*hazari hazari*): caution.

ألْحَاذِنَ (*al-hazir*): a person who is armed and ready for battle {T, R, M}.

"خَاذِرُوْنَ" (*haazeroon*): the plural form of "أَلْحَاذِرُ" (*al-hazir*).

The Quran says:

| 26:56 | armed armies | وَإِنَّا لَجَمِيْعٌ لَحَذِ <mark>رُوْنَ</mark> |
|-------|--|--|
| 17:57 | Sustainer's <i>azaab</i> (the results of bad deeds) is something to be aware of | اِنَّ عَذَابَ رَبِّكَ كَانَ مُحْذُوْرًا |

Surah Baqrah says "فَاحْذَرُوْنَ" (faahzuruhu) in 2:235 which means to observe the laws of Allah.

Surah *Al-Zumr* says about a *Momin*:

| 39:9 | he keeps the life of the Hereafter in mind | يَحْذَرُ الْأُخِرَةَ |
|------|--|----------------------|

Surah *Al-Ma'ida* uses "فَحُذُوْهُ" (*fakhzohu*) against "فَاحْذَرُوْ (*faahzuro*) (5:41) which means "to avoid". Surah *Al-Baqrah* says "حَذَرَ الْمَوْت" (*hazarul maut*) in 2:243, 2:19, which means "to avoid or escape death". Surah *An-Nisa* says "خُذُوُا حَذَرَكُمِ" (*khuzohazrakum*) which includes all precautions.

تَحْذِيْرَا " (hazzarahu taeera): alerted him, warned him.

"حَذَّرَهُ مِنْ ٱمْرِ" (*hazzarahu min amrin*), or "حَذَّرَهُ الْأَمْرَ" (*hazzarahu-lamra*): He told him to be aware of that matter.

The Quran says:

| 3:28 | Allah tells you to be aware of the results of the natural outcome. | يُحَذِّرُكُمُ اللَّهُ نَفْسَهُ |
|-------|--|--|
| 17:57 | verily your Sustainer's punishment is something to be cautious about | اِنَّ عَذَابَ رَبِّكَ كَانَ حُذُوْراً |

H-R-B حرب

Muheet says "أَلْحَرْبُ" (al-harb) has basic meaning of desolation, destruction and waste.

Nawab Siddiq Hasan Khan has written that words, in which "ر" (*ha*) and "ر" (*ra*) appear together, contain the meanings of hardness and hard work.

Ibn Faris writes that its basic meaning is to snatch, and this word is the opposite of peace. In other words this word means to fight.

"حَارَبَه" (haraba) means to fight and to rebel {T}.

The Quran says:

| 9:107 | For those who rebel against Allah and his messenger | لِمَنْ حَارَبَ اللَّهَ وَرَسُوْلَهُ |
|-------|---|--|
| 5:33 | These are those who rebel against Allah and his messenger | ِ اَلَّذِيْنَ يُح َارِبُوْنَ اللَّهَ وَرَسُوْلَهُ |

"حَرْبٌ" (*hurb*) means battle, war as used in 2:279.

"أَلْمِحْرَابُ" (al-mihraab): upper floor, high place, center, and palace.

Kitabal Ashqaq says that such high places are built for battles.

"مَحَارِيْبُ بَنِي اِسْرَاءِيْلَ" (*mahareebo Bani Israel*): the mosques of *Bani Israel* in which they used to meet to consult about battles etc. {*T*}

The Quran too while telling Muslims to establish the system of prayer mentions mutual consultation 42:38. That is, they solve their problems with mutual consultations. This clearly shows the connections between mosques and consultation.

But it seems that "مِحْرَاب" (*mihraab*) was also the place where sacrifices were made.

About *Zakariya* it is said:

| ة قَاءِمٌ يُصَلِّى فِي الْمِحْرَابِ he was engaged in <i>salah</i> in the sacrificial place |
|---|
|---|

Surah *Saba* says in 32:13 that "مَحَارِيْبُ" (*mahareeb*) used to be made for *Suleman* (Solomon). This could also mean strong fortes and palaces or mosques.

"الْحَرْثُ" (*al-hars*) basically means to earn. Later this word became common as meaning to work on land. "الْحَرْثُ" (*hars*), as such, means to do farming, since it entails hard labour along with the faculties of the mind.

"حَرَثَ الشَّىْءَ" (*harsash shaiyi*) Hence, means that he gained expertise in it. "الْحَرْتُ" (*al-hars*) also means to stoke the fire to make it burn more brightly. "الْمِحْرَاتُ" (*al-mihraas*) is the wooden poker used to stoke the fire {*T*, *M*}.

Quran has also called women as "خَرْتْ (*hars*) (cultivation, fields) in 2:223, because they are the basic means of the perpetuation of the human race. This also shows that the Quran uses this word for sexual intercourse between husband and wife which is perpetuation of the human race. For details see headings (*H-Sd-N*) and (*S-F-H*).

In surah *Waqia* "تَحْرُنُوْنَ" (*tahrosoon*) is used in 59:63 which means to sow seeds (in the earth), and then "تَرْرَعُوْنَ" (*tazra-oon*) in 56:63 which means to make the crop grow from the land. "تَرْرَعُوْنَ" (*hars*) is in Man's own power, but "زَرْحٌ" (*zara*) happens according to Allah's law. Man can well sow the seed in land but to make it grow is not within his power. This happens (growth) only according to Allah's law. As such, whatever grows is not only man's doing but also the gift of God. A man can only ask for compensation for his labor, but cannot be the owner of what God has done. For details see my book, *Nizaami Raboobiyat*.

Ibn Faris says that "حَرَثَ نَاقَدَ (*Harsun naaqata*) means that he weakened his she-camel, probably due to hard work.

H-R-J で Jて

"أَحْرَجْ" (*al-harj*) means to collect things in a manner that, a dense concentration appears. It also means where there are thick trees $\{T\}$.

Raghib says that from this it came to mean discomfort. It also means work which is not done whole heartedly.

"حَرَجَ الرَّجُلُ أَنْيَابَه (harajar rujolu anyaabahu): he grinded his teeth.

"لَأَحَرَجَ عَلَيْكَ" (*la haraja alaika*): there's no harm on you, or there is no objection against you *{M}*. From this, this word also came to mean 'sin'.

Nawab Siddiq Hasan Khan has written that words, in which "ر" (*ha*) and "ر" (*ra*) appear together, contain the meanings of hardness and hard work.

Surah *an-nisa* says that the characteristic of *Momineen* is that they follow Allah's laws in such manner that:

| 4:65 they don't feel any qualms about this obedience | لَا يَجِدُوْا فِيْ أَنْفُسِ٥َمْ حَرَجاً |
|--|---|
|--|---|

In Surah *An-Noor* this word has appeared to mean something objectionable (24:61).

Surah *Al-Hajj* says:

| 22:78 | he has not been narrow in affairs of this way of life | وَمَاجَعَلَ عَلَيْكُمْ فِي الدِّيْنِ مِنْ حَرِّج |
|-------|---|--|
| 22.78 | towards you | وماجعل عليكم فيي اللذينِ مِن محربِ |

It may also means that it cannot be forced upon somebody.

| 2:256 | It will be accepted gladly | لَا اِكْرَاهَ فِي الدِّيْنِ |
|-------|----------------------------|-----------------------------|
|-------|----------------------------|-----------------------------|

The laws which you observe in the way of life are not useless labor, but it is so that your personality becomes expanded and strong and stable.

| | Allah does not hold any person liable or responsible for | |
|-------|--|--|
| 2:286 | anything except if it is not necessary to expand his | لَا يُكَلِّفُ اللَّهُ نَفْساً إِلَّا وُسْعَهَا |
| | personality | |

Remember that there is no narrowness in this way of life. This does not mean that you claim to follow this way of life but accept only those things which you find easy, and reject the things you find difficult (to do) on the plea that there is no narrowness or coercion in way of life.

As long as you are within this system, you will have to accept all its laws with equanimity. When you feel some coercion, you are out of this system. By staying within the system, you will have to follow and observe every law and rule. This is not coercion but a limitation which one observes voluntarily. That is, to accept the limitations set by this way of life is in a way agreement that one will observe the limitations imposed by the system. This is what is meant by no (narrowness) coercion in this way of life.

H-R-D כני

"خَرْداً" (*Haradah*), "خَرْداً" (*yahridoh*), "حَرْداً" (*hardah*): he intended to, he stopped him or he prevented him from.

(*al-hurudu*): to be aloof. أَلْحُرُوْدُ (

Ibn Faaris says it basically means to intend, to be angry, or to get to one side.

"رَجُلٌ حَارِدٌ" (*rajulun haarid*): a man who is aloof. It also means a man who is very angry.

In the Quran, it has been said about the men with the gardens (or orchard) "وَغَذَوْا عَلَى حَرْدٍ قَادِرِيْنَ" (*wahadau ala hardin qaadereen*) in 68:28. This could mean that they were capable of completing their mission or purpose, and also that they had the power to prevent the poor from coming to their garden. The second meaning seems to gel with the context.

Nawab Siddiq Hasan Khan has written that words, in which "ر" (*ha*) and "ر" (*ra*) appear together, contain the meanings of hardness and hard work.

H-R-R כנע

"أَلْحَرُّارَةُ" (*al-haroor*), "ٱلْحَرُوْرُ" (*al-haroor*), "أَلْحَرُوْرُ" (*al-harah*): heat. (*al-huroor*): the heat of the sunlight.

In the Quran this word has been used opposite to "ألْحَرِيْرُ" (*Zill*) as "الْحَرِيْرُ" (*al-hareer*) in 35:21.

"أَلْحَرِيْرُ" (*al-hareer*): silken cloth, as used in 76:12 *{T*}. "تَرِيْرُ" (*hareer*): every thin or fine cloth *{R}*.

The actual meaning of this root is to be absolutely pure and without any pollution $\{T\}$.

"أَحْرُ" (*al-hur*) is the opposite of "غَبْنُ" (*abd*) which means "someone bound by contract". "أَحْرُ" (*al-hur*): a free man removed from a contract. It also means the best part of anything, the best horse, the best land from among ordinary land and sandy soil.

"حُرُّ كُلِّ أَرْضِ" (*hurro kulli ardin*): the best part of any land. "مَابَدًا مِنْکَ بِحُرٌ" (*ma haza minka bihur*): this is not your best work *{T}*. "حَرَّا" (*harra*), "حَرَّ" (*yuharro*): to be free. "اَلِتَحْرِيْزُ (*al-tahreero*): to free a slave man or woman.

"تَحْرِيْرُ الْكِتَابِ" (*tehrirul kitaab*): though it might mean to free one's thoughts from one's mind and bring them on to a book, the writer of *Taj* says this means "to beautify edit the words of the book", otherwise "to make the book better".

"تَحْرِيْرُ الْوَلَدِ" (*tehrirul walad*): to devote a child in the service of some place of worship.

Surah *Maryam* quotes her mother as saying:

| 3:34 | whatever is in my womb, I have promised to devote to my deity | أَنِّيْ نَذَرْتُ لَكَ مَافِيْ بَطْنِيْ <mark>مُحَرَّراً</mark> |
|------|---|--|

Here " \tilde{z} " (*harar*) means that there is the condition in this that the child can never leave the service $\{T\}$. As such even today the Christian nuns have to devote their entire lives to the Church. This explains the very many allegations against *Maryam* which the Jews had leveled against her. *Maryam* had been devoted to the service of the *Kaneesa* or the holy place of the Jews. It seems that at that time *Maryam*'s mother had given her to the *Kaneesa*, celibacy was not requires for the devotee. This was later formulated by the Jews, which later permeated the Christians too and is still practiced. *Maryam* defied this manmade rule and followed what God told her to do, and got married, left the holy place and began to live a normal life. This, according to the bigwigs of the Jews, was a very big crime and rebelliousness from their religion. That is why they persecuted her so. Details of this can be found in my book "*Shola e– Mastoor*".

حر س H-R-S

"تَحْرُسُمُ" (*harasa*), "تَحْرُسُمُ" (*yahrosohu*): he protected him. "أَلْحَرَسِّيْ" (*al-harassio*): governmental guard and bodyguard. "حَرَسَ الرَّجُلُ" (*al-harasur rajul*): this man committed a robbery. "أَلْحَرِيْسَمُ" (*al-hareesa*): stolen goods {*T*}.

The Quran says:

| 72:8 strict guards |
|--------------------|
|--------------------|

"حَرَسٌ" (*harasun*) and "حُرَّاسٌ" (*hurraas*) are the plural of "حَارِسٌ" (*haaris*): the protector or guard. "حَرْزٌ" (*hurz*): the protection of goods.

تحَرْسٌ" (hurs) means the protection of a place {R}.

This will contain an element of strictness and labor because the letters " ζ " (*ha*) and " ζ " (*ra*) have appeared together. This is their particularity {*Al-ilmul khalaq*}.

حرص H-R-Sd

"أَحْرُصْ" (*al-hurs*) means to drill a hole into something, to tear something up or scrape something, like the washer beats the clothes on the stones and Thus, even tear up some clothes.

"تُوْبُ حَرِيْصٌ (saubun hareesun) means clothes torn up this way.

"أَلْحَارُ صَنَّ" (*al-haarisa*) is the cloud which drills sort of holes into the ground with its rain, or scrapes the top surface of the earth.

(al-harsah) means for animals' teats to split so that the milk falls into the pots {T, M}.

In the light of these basic meanings, "جَرْصٌ" (*hirs*) means a wish (whether it is good or bad) which pierces the heart. It does not remain hidden in the heart and is often expressed. That is, a very earnest desire *{T*}.

The Quran says:

| 2:96 | you will find that the wish to live forever is very intense in their hearts | وَلَتَجِدَنَّهُمْ ٱحْرَصَ النَّاسِ عَلَى حَيْوَةٍ | |
|------|---|---|--|
|------|---|---|--|

Another place, it is said about the Messenger (*pbuh*):

| 9:128 | he is pained at whatever misfortune befalls you (he nurses the intense desire for your benefit) | حَرِيْصٌ عَلَيْكُمْ |
|-------|--|---------------------|

Azhari says that to the Arabs "حَرِيْصٌ عَلَى نَفْعِتَ (*hareesun alaik*) is the same as "حَرِيْصٌ عَلَى نَفْعِتَ (*hareesun ala naf'eka*) {*T*}. That is, the wish to benefit you is very intense in his heart.

حرض H-R-Zd

"أَحْرَضْ (*al-hurz*) means disorder, mutation, even if it is physical or mental. A weak and broken man who is near destruction, perhaps due to sorrow or heart break (12:85) {*R*}. A thing not worth considering, which has no good attributes {*Al-ilmul-khafaq*}.

"اَلْحَرِضَ" (*al-hariz*): the man who is weakened by disease.

Raghib says "تَحْرِيْضَ" (*tehreez*) means "الْوَالَةُ الْحَرَضِ" (*izalatul haraz*) or to remove somebody's weakness. "مَرَّضْتُهُ" (*marraztoh*) means to remove somebody's sickness. Thus, "مَرَّضْتُهُ" (*harraz*) means to instigate someone for something which is life-giving for him and which if not done would be deadly for him.

The Quran tells the Messenger (pbuh) "وَحَرِّضِ الْمُؤْمِنِيْنَ عَلَى الْقِتَالِ" (*wa harrazil momineena alal qitaal*) in 8:65. Ordinarily it is supposed to mean "get them ready for battle", but it means that you remove all the weaknesses and faults from your companions so that they engage in struggle for life with gusto and manliness. This is what "وَيُرَكَّبُهُمْ" (*wa yuzakkihim*) means in 62:2, which is to develop, to remove the weakness, something that is the first stage of this program.

حرف H-R-F

"حَرْف" (harf) means the end or corner of something, or limit.

"حَرْفُ الْجَبَلِ" (*harful jabal*) is the upper part of a mountain which juts out on one side. "فَكُنٌ عَلَى حَرْفِ مِن أَمْرِهِ" (*fulanun ala harfin min amrihi*): that man is standing on edge to go the way he

finds beneficial $\{T\}$.

The Quran says:

| | in matters of observing Allah's laws they are on the | |
|-------|--|--|
| 22:11 | border line (edge), if they find it beneficial to observe | وَمِنَ النَّاسِ مَنْ يَعْبُدُ اللَّهَ عَلَى حَرْفٍ |
| | them, they do it, otherwise they leave it (the observance) | |

"حَرَفَ الشَّبْئَ عَنْ وَجْهِم" (*harafash shaiyi un wajhehi*): to turn something away from its right path, changed. "أَنْحَرَيْفُ" (*al-tahreef*) means to change or amend, whether in words or figuratively.

"نُحَرُّاف" (inharaf) means to lean to one side, to become crooked (not straight) {T}.

Quran says:

| 2:75 They change the word of Allah (amend it after understanding the word of Allah) | يُحَرِّفُوْنَهُ مَنْ بَعْدِ مَا عَقَلُوْهُ |
|--|--|
|--|--|

"حَرَفَ لِعِبَالِم" (*harafa le iyaalehi*): he earned for his family {*T*}.

الْحِرْفَةُ (al-hirfah): industry or profession from which one earns.

"خَرِيْفُى" (*hareefoka*): your companion in your profession $\{R\}$. (We use this word in meaning of opponent or enemy due to the mutual tussle between colleagues).

"أَلْمُحَارَفَ" (*al-muhaarif*): someone who strives very hard but is unable to earn enough for his family {*R*}. "أَلْمُحَرَّفُ" (*al-muharraf*): someone who has lost his goods {*R*}. Therefore, "أَمْحَرَّفُ" (*tehreef*) would mean to argue and explain in such a way as to miss the spirit of the thing which is actually the capital (or the main point), whether this "حَرِثْةَ" (*tehreef*) is by changing the words or by changing the meaning. The changes which the nations with celestial Books have made are mentioned in the Quran.

| 4:46 | they remove the sentences from their places | يُحْرَفُونَ الْكَلِمَ عَنْ مَوَاضِعِهِ |
|------|---|--|
|------|---|--|

Also see 5:41. This is the sense of "تَحِرِيْفَ" (tehreef) (change of words or meaning).

Surah Al-Bagrah says:

| 2:79 | they write the Books themselves and say | يَكْتُبُوْنَ الْكِتَابَ بِٱيْدِيْهِمْ ثُمَّ يَقُوْلُوْنَ هَٰذَا مِنْ عِنْدِ اللَّهُ |
|------|---|---|
| 2.19 | they have been sent by Allah: | يحتبون الجباب بايدينيهم بم يفتولون هنا قن عبد الله |

This means change of words. Details about how badly the Christians and the Jews both have committed "تَجِرِيْفِ" (*tehreef*) in their holy books can be found in the first chapter *Zahrul Fisaad* of my book *Meraaji Insaaniyat*. None of their Holy Books is in its original shape anymore.

| | * |
|---------|-------------------|
| H-R-O | $(9) \mathcal{T}$ |
| II IN X | |

"حَرَقَ الْحَدِيْدَ بِالْمِبْرَدِ" (*haraqal hadeeda bilmibrad*): filed the iron, which is the basic meaning according to *Ibn Faris.*

Since this process generates heat, it means to burn by putting in the fire.

"أَلْحَرَقَ" (al-harq): the flare of fire, or fire itself

َ الْحَرِيْقُ (*al-hariqu*): fire, or to be on fire.

أَلْحَرِقُ مِنَ السَّحَابِ" (*al-hariqu mis-sahab*): cloud with a lot of lightning.

Surah Aal-e-Imran says:

| 3:180 | taste the punishment of total destruction | ذُوْقُوْا عَذَابِ الْحُرِيْقِ |
|-------|---|-------------------------------|
|-------|---|-------------------------------|

Surah *Al-Ambia* says about *Ibrahim*:

| ا قَالُوْاحَرِ قَوْهُ للله they said "burn him" |
|---|
|---|

"الْحَرِيْقَ" (*iharaq*) means to burn as used in 2:266.

Since " ζ " (*ha*) and " ζ " (*ra*) have appeared together in this word, it has the connotation of hardness and hard labor which is its particularity {*Al-ilmul-khafaq*}.

H-R-K رک

"حَرْكَ" (harka), تَحَرْكً" (harka) and تَحَرْكً" (harkah): moved, showed some movement.

It is the opposite of being still, stationary.

"حَرَّكُتُمْ فَتَحَرَّكَ" (*harraitohu fatah-harrak*): I moved it, so it became mobile. This is used for material things to be transferred from one place to another. Sometimes "تَحَرَّكَ كَذَا" (*taharraka kaza*) is said when there is a change in something, that is, there is some addition or subtraction in its elements.

The Messenger (pbuh) has been told in the Quran, with literal meanings that

| | | 6 |
|-------|--|--|
| 75:16 | do not move your tongue along with it, so that you take it faster: | لَا تُحْرَى بِهِ لَسَانَكَ لِتَعْجَلَ بِهِ |

It is generally thought that this is about the noble Quran, because at another place it is said:

| | Do not act on Revelation's program until the entire | |
|--------|---|--|
| 30:114 | program is before you. (act only when the entire | وَلَانَعْجَلْ بِالْقُرْآنِ مِنْ قَبْلِ أَنْ يُقْضٰي الَيْكَ وَحْيُهُ |
| | program is revealed before you, not before) | |

But the Quran has not been mentioned before 75:16, but rather the context it about humans and their deeds. Thus, this verse begins on a new subject, if the context is to be kept in mind, then it will be understood that it is mankind which is being addressed, and the matter is about the catalogue of their deeds. See details in *Mafhum-ul-Quran*, because that is its right place.

H-R-M כנא

Ibn Faaris says that the basic meaning is to forbid or stop someone from something.

"حَرَمَةُ الشَّىْءَ" (*haramahus shaiyi*), "حَرِيْماً" (*hareeman*), "حَرِيْماً" (*hirmanan*): to stop something from, not to let something reach it.

"أَحْرَام" (al-haraam): all those things which are forbidden to do.

This is the opposite of "الْحَلالَ" (*al-halal*) which means to open up the ropes and remove the shackles. "أَحْرَمَ الْحَاجُ" (*ahramal ha'ajj*): haji (one who performs *hajj*) reached a stage where some things which he could do previously were disallowed to him. This is the situation in "إِحْرَامٌ" (*ihraam*).

"أَلْحَرِيْمَ" (*al-hareem*): anything that is haram (or forbidden), which is to be protected and supported at every place.

During the times of ignorance, it also meant all those clothes which they took off before circling the *kaaba* naked. That is, those clothes were forbidden to wear at that time.

"أَسْبُرُ الْحَرُمِ" (*ash-hurul haram*) means in the same sense those (four) months in which battle or war was forbidden *{T, M}*.

"حَرِيْمُ الدَّارِ" (*hareemud daar*) also means the inside of the house which has been roped in and included in the house {*T*, *M*}.

"أَلْمَحْرُوْمُ" (al-mahroom) is one who cannot meet his needs, who has nothing left {T, M}.

Actually, the connotation of labor is included in it because "z" (*ha*) and "y" (*ra*) have appeared together, and the word they appear together in has an element of hard labor and hardness {*Al-ilmul-khafaq*}.

Therefore, its basic meaning is to stop or prevent vehemently.

"أَحَرْمَةَ" (*al-hurmah*) is anything which is not permitted to be done, the prohibition which cannot be broken, and also the responsibility which needs to be protected, that which must be done $\{T, M\}$.

The Quran says:

| 6:152 | Violation of those things which are a must for you | تَعَالَوْا أَتْلُ مَا حَرَّمَ رَبُّكُمْ عَلَيْكُمْ الاَتْشْرُكُوْابِهِ |
|-------|--|--|
| 0.132 | is forbidden | لغانوا أنل ما محرم ربحتم عليحتم ألا تسريوابه |

Surah Al-Ambia says:

| 21:95 | nation which is destroyed due to the scheme of | وَحَرَامٌ عَلٰى قَرْيَةٍ أَهْلَكْنٰهَا أَنَّهُمْ لاَيَرْجِعُوْنَ |
|-------|--|--|
| 21.95 | things is forbidden from rising again | و سوم) على شريدٍ المناسبة المهم لا يردِعنون |

This means that salvation of such a nation is not possible. This is the destruction of nations which comes after the grace period, and due to which those nations can never raise again. But if this verse is taken with the verse that comes after it, and which begins with "---" (*hatta*) which means "until" then it will mean that their renaissance is possible only when the situation described in the verse prevails. Or the verse would mean that these dwellings were only destroyed because they were deserving of punishment, as they did not come towards the laws of Allah at any cost. This means that a nation deserves annihilation when it loses the capacity to progress in accordance to the laws of Allah. In this case "---" (*hatta*) in the next verse would be redundant.

"حُرُمٌ" (hurum) is the condition of prohibition, as used in 5:1.

"أَلْحُرُمَاتُ" (al-hurmaat): the things that have been forbidden (2:194).

"مَحْرُوْمٌ" (*mahroom*): someone who is prevented from something, as just returns for his labor (56:67). Someone who cannot meet the needs of life (51:19)

"مُحَرَّمٌ" (*muharram*): that which has been declared forbidden (2:85), that which has been made respectable or that which must be respected (14:37).

Since the question of forbidden and permitted holds a very important place in religions, so much so that sometimes it is the basic difference between two religions, they must be discussed in detail.

God has created every human as a free spirit. Every man, simply by being a human being should be respected.

| 17:70 | we have granted respect to man | وَلَقَدْ كَرَّمْنَا بَنِيْ آدَمَ |
|-------|--------------------------------|----------------------------------|
|-------|--------------------------------|----------------------------------|

He has clearly stated that no man has the right to subjugate another.

Ibn Qutaiba has also written that in *la yarjeoon*, the *la* is additional, or the meaning of *haram* must be taken. (*Al-qartain* volume I page 134, volume II page 26). The second meaning is right that *la* cannot be taken as additional.

| 3:78 | no man has the right, no matter he has been given the laws of Allah or power to rule or even prophet hood, to tell other human beings to obey him rather than Allah | مَاكَانَ لِبَشَرٍ أَنْ يُؤْتِبَهُ اللَّهُ الْكِتَابَ وَالْحُكْمَ وَ النُّبُوَّةَ ثُمَّ يَقُوْلَ لِلنَّاسِ كُوْنُوًا عِبَاذاً لِّيْ مِنْ دُوْنِ اللَّهُ |
|------|--|---|
| | him rather than Allah | |

As such, according to the Quran, nobody has the right to curb the freedom of other human beings.

But there is need for certain limitations in life. These limitations are of different kinds.

The doctor may tell his patient not to eat meat for a certain number of days. Obviously this limitation is not obedience of someone's orders. It is a sympathetic suggestion which we can either observe or not observe. By accepting it, we will be benefited, and if we do not, then we stand to lose. We accept this limitation with grace, and it does not curb our freedom.

Our assembly is constituted of our representatives, it makes laws and the government implements them (for instance to drive on the left or right side of the road). This rule also is not obedience and is a prevention set by ourselves. This too does not curb our freedom.

But somebody says that according to Islam, the use of a certain thing is forbidden. This means that this man has imposed a restriction on millions of fellow human beings of his time, but imposes them in such a way that the violator is liable to punishment not only in this life but even in the life hereafter. Obviously for imposing such restrictions, one must do it on some competent authority. What is this authority according to the Quran?

The Quran has used the word *haram* for restriction of this nature, which is the opposite of *halal*. *Haram* means to prevent or restrict someone from something. The Quran has given distinct orders about what is *haram* and what is *halal*. The first thing it says is that all things that Allah has given humans are *halal*, except those things that are declared *haram*.

Surah *Al-Baqrah* says:

| 2:172 | O those with trust, whatever Allah has given you, eat the good things and thank Allah, if you are subservient to Him only. | يَا ايُّهَا الَّذِيْنَ أَمَنُوْا كُلُوْا مِنْ طَيَّبَاتِ مَا رَزَقْنَكُمْ وَاشْكُرُوْا لِلَٰهِ اِنْ كُنْتُمْ إِيَّاهُ تَعْبُدُوْنَ |
|-------|---|---|
| 2:173 | He has only forbidden you to eat dead bodies, and blood, and meat of pork and that which is attributed towards another then Allah | اِئَمَا حَرَّمَ عَلَيْكُمُ الْمَيْنَةَ وَالدَّمَ وَلَحْمَ الْخِنْزِيْرِ وَ مَا أَهِلَّ بِهِ لَغَيْرِ للّٰه |

Here only edibles are mentioned. Surah *Al-Airaf* also mentions things we use, for instance:

| 7:32 | Ask them who has forbidden life's adornments that He has created for His slaves? And the good things of life? | قَلْ مَنْ حَرَّمَ زِيْنَةَ اللَّهِ التَمِي اَحْرَجَ لِعِبَادِهِ وَالطَّيِّبْتِ مِنْ الرِّزْقِ. |
|------|---|--|
| 7:33 | tell them, my Sustainer has forbidden only shameless things, whether they are hidden or obvious | قُلْ اِنَّمَا حَرَّمَ رَبِّيَ الْفَوَاحِشَ مَا ظَهَرَ مِنْهَا وَمَا بَطَنَ |

In Surah *Al-Aam* explain it further that blood is only forbidden in its liquid state:

| | 1 | 5 | |
|-------|---------------|---|-------------------|
| 6:146 | Flowing blood | | دَمًا مَّسْفُوحًا |

These verses make it clear that:

- Only Allah has the right to declare something as forbidden.
- No one else besides Allah has the right to do this
- He has not declared any adornment as forbidden.
- Those edibles which have been declared forbidden have been detailed.

We have Thus, seen that only Allah has the right to declare something as forbidden, but Allah does not address each individual personally and Therefore, His decisions about forbidden or allowed were conveyed to the Messenger through Revelation).

Surah Al-Anaam says:

| | O, Prophet, tell them, that "whatever has revealed unto me, I don't find anything <i>haram</i> | قُل لأأَجِدُ فِي مَا أُوْحِيَ إِلَيَّ لَمُحَمَّمًا عَلَى طَاعِمٍ يَطْعَمُهُ إِلاَأَن يَكُونَ |
|-------|--|---|
| 6:164 | in it, excepting that which is dead, flowing | مَيْنَةً أَوْ دَمًا مَّسْفُوحًا أَوْ لَحْمَ خِنزِيرٍ فَإِنَّهُ رِجْسٌ أَوْ فِسْقًا أُهِلَّ لِغَيْرِ |
| | blood, and that which has been attributed to | اللَّه |
| | other than Allah | |

Thus, it is obvious that God himself has decided as to what is forbidden and what is not through Revelation.

Surah *Al-Hajj* says:

| 22:30 | The four legged are allowed for you except those which have been forbidden according to the revelation which is related to | وَأُحِلَّتٌ لَكُمُ الْاَنْعَامُ الَّا مَا يُتْلَى عَلَيْكُمْ- |
|-------|---|---|
| | you. | |

Surah *Al-Ankabut* says:

| 29:45 read what has been revealed to you from the Book | اُ تْلُ مَا أَوْحِيَ الَيْكَ مِنَ الْكِتَاب |
|--|---|
|--|---|

This is the thing which is contained in the verses of surah *Aal-e-Imran*, the first part of which has been mentioned in the previous pages:

| 3:78 | through this book, which you teach: | بِمَا كُنْتُمْ تُعَلِّمُوْنَ الْكَتَابَ وَ بِمَا كُنْتُمْ تَدْرُسُوْنَ |
|------|-------------------------------------|--|
|------|-------------------------------------|--|

Surah An-Namal says clearly:

| لرانَ- I have been ordered to recite (follow) the Quran |
|---|
|---|

From these explanations, it is obvious that only God has the right to declare something as Forbidden. Whatever was to be declared as forbidden has been mentioned in the Quran.

This makes clear as to who is the authority to declare something haram. Let us see further how the Quran has highlighted the fact that nobody except God has the authority to declare something forbidden

Surah *Al-Airaaf* says:

| 7:32 | Tell them, who can declare things of adornment and | قُلْ مَنْ حَرَّمَ نِيْنَةَ اللَّهِ الَّتِيْ أَخْرَجَ لِعِبَادِهِ وَالطَّيِّبْتِ مِنَ الرِّزْقِ |
|------|--|--|
|------|--|--|

| good things created by Allah for His missionaries | |
|---|--|
| as <i>haraam</i> ? | |

Thus, it is clear that Allah has not given anyone the right to declare stuff as forbidden.

In this connection even the Messenger (pbuh) has been told:

| | O, prophet, why would you declare something as | and the second |
|------|--|--|
| 66:1 | haram which Allah has declared halal for you | يٰاَيُّهاالنَّبِيُّ لِمَ تُحِرِّمُ مَا اَحَلَّ اللَّهُ لَکَ |
| | (all)? | |

At this point we will not go into the matter as to what it was that the Messenger (pbuh) had forbidden for himself. We only want to say that this right has not been granted by Allah even to the Messenger (pbuh), and not only that, but even to forbid for him anything which Allah has not forbidden.

Here, a point in this connection needs to be clarified. The Quran says "أَيْنَا " (*tayyeban*) along with the things which are *halal*. As in surah *Al-Baqrah*:

| 2:168 | O mankind, the products of the land which have | يٰايَّهُمَالنَّاسُ كُلُوْا مِمَّا فِي الْارْضِ حَلْلاً طَيِّباً |
|-------|---|---|
| 2.100 | been made <i>halal</i> for you, eat it in a <i>tayyab</i> way | یا یک کنال کلوا کم قرمی الا رکض محکار کطیبا |

Tayyab means delightful, pure, beneficial and fine. It is not that everything that is halal must be eaten. You can select things to eat according to your taste and liking. Those which you do not like need not to be consumed. This allows for personal liking, medical use, and other particularities.

But for the Messenger (pbuh), there is caution even in terms of this allowance. That is, if *Zaid* does not like something and Therefore, does not eat it, then the effect of his decision will only affect him. But if the

Messenger (pbuh) leaves something, and leaves it like it is *haram* for him, then the effects could be far reaching. It is possible that due to simplicity or ignorance or due to excess of faithfulness, some may think that there must be some religious reason for him leaving that thing, and they may give it up altogether. In this manner, something which Allah has ordained *halal* becomes *haram* for the people. This has happened in earlier races. That is why this was specifically pointed out to our Messenger (pbuh).

The Quran says that *Yaqoob* (Jacob) had taken something to be forbidden for him alone, but the Bani Israel (the people who followed him) thought it to be God's order, and made it *haram* for them. Till such time that when they saw that the things which the Quran mentions as *haram* do not include that thing, they raised the question as to why something which was forbidden by God earlier (according to the wrong concept of theirs) had been declared halal by the Quran.

Quran answers by saying:

| | All this food (which has now been declared <i>halal</i> | |
|------|---|---|
| 3:94 | for the Muslims) was also <i>halal</i> for Bani Israel, | كُلُّ الطَّعَامِ كَانَ حِلَّا لَبَنِيْ اِسْرَاءِيْلَ الْا مَا حَرَّمَ اسْرَءِيْلُ |
| 5.94 | except which, before the revelation of the Torah, | عَلَى نَفْسِهِ مِنْ قَبْلِ أَنْ تُنَزَّلَ التَّوْرَاةُ |
| | Israel or Yaqob had forbidden for himself. | |

These things were not declared by God, but by people.

Yaqob had, for some reason, made these things forbidden for him. The Jews thought since the God's prophet had made it forbidden for him, then these must be forbidden by God. That is why it was pointed out to our Messenger that though he had left the use of something due to personal dislike or some other reason, (in the usual circumstances this is very ordinary) but it may so happen that some people, due to excessive piousness, may consider it *haram* too, like the descendants of Israel. Therefore, you must be careful in these circumstances.

This discussion will be incomplete without the real meaning of the verses of surah *al-araf*, without which the reader may be the victim of a misunderstanding.

In this surah, it is said about the real traits of the Messenger (*pbuh*):

| 7:157 | he will declare the good and execrable things as <i>haram</i> | وَيُحِلُّ لَهُمُ الطَّيِّبَاتِ وَ <mark>جُحَر</mark> ُمُ عَلَيْهِمُ الْخُبَآئِثَ |
|-------|---|--|

This verse is believed to means that the Messenger had the right to declare things as *halal* or *haram*.

It must be first seen as to that Allah says at different places in the Quran that only Allah has the right to declare *halal* or *haram*.

But surah Al-Ma'ida says:

| O you, who entrust, do not make such things <i>haram</i> which Allah has made <i>halal</i> for you | يَااَيُّهَالَّذِيْنَ آمَنُوْا لَا تُحَرِّمُوْا مَااَحَلَّ اللَّهُ لَكُمْ |
|--|--|
| • | Allah has made <i>halal</i> for you. |

This clearly states the things which Allah declare as *halal*, should not be declared haram by people.

The same surah (*Al-Araaf*) says:

| 7:33 | tell them that my Sustainer has only declared | قُمْ إِنَّمَا حَوَّمٌ رَبِّي الْفَوَاحِشَ |
|------|---|---|
| 1.55 | <i>fawahish</i> (transgression) as <i>haram</i> | فل الما محرم ربي الفواجس |

Here it has been said through the Messenger's mouth, to declare that only God can declare something for *haram*.

Surah *Al-Baqrah* says:

| 2:274 | Allah has declared bai (profit by trading) as halal | وَاحَلَّ اللَّهِ الْبَيْعَ وَ حَرَّمِ الرِّلْوِ |
|-------|---|---|
| 2.274 | and declared <i>riba</i> (profit by interest) as <i>haram</i> | والحل اللب البيع وتتحرم أتربو |

Therefore, where ever the Quran has attributed *halal* or *haram* towards the Messenger is as well revealed though Revelation, and is preserved in the Quran.

In his connection the following verse of Surah *At-Tauba* must be understood correctly:

| | Fight those who (among people of the book) do not believe | قَاتِلُوْا الَّذِيْنَ لَا يُؤْمَنُوْنَ بِا اللَّهِ وَلَا بِالْيَوْمِ الْأَخِر |
|------|---|---|
| 9:29 | in Allah and the Hereafter and do not consider forbidden | 1 |
| | that which has been declared haram by the Messenger. | وَلَا يُحَرِّمُوْنَ مَا حَرَّمَ اللَّهُ وَرَسُوْلَهُ |

From this verse it is inferred that Allah and the messengers both have the right to declare *haram* or *halal*. In this verse, these words should not be taken to mean declaring something edible as *haram*. As stated earlier, the word of *haram* is also used for making something compulsory.

Thus, the verse means that Allah and his messengers declare the things that are compulsory but they do not consider them compulsory. These people avoid the Islamic laws while remaining within the Islamic system. They will have to face war untill they agree to live as subjects of an Islamic state.

This clarifies that according to the Quran:

- The right to declare something *haram* or *halal* is entirely up to God.
- Whatever that is declared as *haram* has been explained by the Quran.
- Nobody other than God has this right.

The Quran has declared it a great sin to declare something as *haram* which God has declared halal. It has stressed that:

| | O you who entrust. Do not declare <i>haram</i> the | بو تتر و بال برو بر و |
|------|---|--|
| 5:87 | good things which Allah has declared <i>halal</i> for | يا أَيُّهَاالَّذِيْنَ آمَنُوْا لَا تُحَرِّمُوْا طَيَّبْتِ مَا اَحَلَّ اللَّهُ لَكُمْ وَلَا تَعْتَدُوْا |
| 5.07 | you, and do not exceed the limit. Allah does not | إِنَّ اللَّهَ لَا يُجِبُّ الْمُعْتَدِيْنَ |
| | like those who exceed the limit. | |

This means that to declare something halal or haram, for human beings, is to exceed the limit, because it has been said earlier that no human has the right to curb another man's freedom.

At another place it has been said with more emphasis:

| 16:116 | And how your tongues utter falsely, that this is halal and that is haram, and accuse Allah for it. Do not do this. | وَلاَتَقُولُواْ لِمَا تَصِفُ أَلْسِنَتُكُمُ الْكَذِبَ هَذَا حَلاَلٌ وَهَذَا حَرَامٌ لَتُشْتَرُواْ عَلَى اللّهِ الْكَذِبَ إِنَّ الَّذِيْنَ يَفْتَرُونَ عَلَى اللّهِ الْكَذِبَ لاَيُفْلِحُونَ |
|--------|--|---|
|--------|--|---|

Here the Quran has pointed out that those religious scholars who prepare a list of what is *haram* or *halal* know fully well in their hearts that nobody except Allah has the right to declare something as *haram* or *halal* (or they know that if they declare something as *haram* or *halal* on their own (without attributing it to Allah) then people will not observe them. That is why they say that all this is according to Allah's law. Thus, they attribute such things to Allah which He has never said. This is fabrication, falsehood, great allegation.

About such people it is said:

| 10:59 | Say: have you pondered that you declare <i>haram</i> or <i>halal</i> from the sustenance which Allah has created for you? Ask them if Allah has permitted them to do so, or dis they make these allegations to Allah? | قُلْ اَرَءَ يْتُمْ مَا اَنْزَلَ اللَّهُ لَكُمْ مِنْ رَزْقٍ فَجَعَلْتُمْ مِنْهُ حَرَاماً وَ حَلَلاً قُلْ اللَّهُ اَذِنَ لَكُمْ اَمْ عَلَى اللَّهِ تَفْتَرُوْنَ |
|-------|---|--|
|-------|---|--|

The Quran says that no man has been given the right to declare something for being *halal* or *haram*. Anyone who does such a thing casts allegations upon Allah.

The Quran also tells us that many things which are *halal* (for us Muslims) were declared *haram* for the Jews as a punishment.

The Quran says:

| 6:147 | And we had declared <i>haram</i> all animals with nails for the Jews and the fat of cows and goats too, except that stuck to their backs, or intestines or bones. This was Our punishment for them for rebelling (from His laws). | وَعَلَى الَّذِيْنَ هَادُوْا <mark>حَرَّمْنَا</mark> كُلَّ ذِيْ ظُفُرٍ ذَالِکَ جَرَيْنُهُمْ بِبَغْنِهِمْ |
|-------|---|--|
| 4:160 | For the transgression of the Jews, We had declared some of the good things as <i>haram</i> for them | فَبِظُلْمٍ مِنَ الَّذِيْنَ هَادُوْا حَ <mark>رَّمْن</mark> َا عَلَيْهِمْ طَيَّبْتٍ أُحِلَّتْ لَهُمْ |

The details of their transgressions follow, as punishment for which many things were declared *haram* for them. Surah *An-Nahal* says this was not oppression on them from Allah, but they had oppressed themselves by becoming deserving of this punishment (16:118). This clarifies that to declare things as *haram* which have not been so declared by Allah is to punish people for no reason.

In order to relieve the Jews from this punishment, *Isa* (Jesus) made his advent. He said that the purpose of his coming as a Messenger was this very thing:

| <u> </u> | | |
|---|---|---|
| 3:49 so that I can make so been declared <i>haram</i> | me things <i>halal</i> which have for you | أُحِلَّ لَكُمْ بَعْضَ الَّذِيْ حُرَّمَ عَلَيْكُمْ |

The Jews opposed *Isa* and Thus, became more deserving of punishment than ever. After that *Muhammed* was sent, and the purpose of sending him as a prophet is mentioned by Allah as:

| 7:156 He will make the good things <i>halal</i> for them and the bad things <i>haram</i> | وَيُحِلُّ لَهُمُ الطَّيِّبِتِ وَ يُحَرِّمُ عَلَيْهِمُ الْحَبَّئِثَ |
|--|---|
|--|---|

But they defied this Messenger too, and Thus, preferred to be kept captive by those inhibitions (by opposing this Messenger as well) and are still in these chains.

Those with the books had prepared lists of *haram* and *halal* according to their religious leaders, for which they had no authentication from Allah. The *mushrekeen* (those who followed others than Allah as well), had some traditions about *haram* and *halal*, and they followed them although they were based on mere superstition. The Quran opposed them too. They used to believe that this animal among the four-legged was haram, that crop was haram, that once a specific animal was permitted for riding (6:139), that thing is *halal* for the men but not for women (6:140), so and so progeny of camel is *haram*, so and so calves are haram (6:144). They were told that those lists were all "compiled by your forefathers" (6:149). You attribute them towards Allah without any reason (6:141). Then they were challenged that if they were right then they should produce witnesses to back their claims (6:151).

These discussions make it clear that there is no other authority than Allah to declare *haram* or *halal*.

Aside from edibles, the Quran has also mentioned in detail the relationships which are *halal* or *haram*. This has been mentioned in surah *An-Nisa*, verses 12 to 24. This is the Quranic version of *halal* and *haram*, and for something to be declared *halal* or *haram*, Quranic authority is essential. It may be mentioned, that the (true) Islamic state, due to some emergency or some expediency declares something as prohibited for a limited period.

For instance during the rainy season, the health officer may declare that the use of figs etc. is forbidden or during a war the government orders that something is forbidden for civil use because the army's need is greater. But it is obvious that such limitation is for a limited time period only, and declaring something as *haram* for all times is quite different because nothing can be declared *haram* by anyone except God. See heading (*H-L-L*) and (*N-Ain-M*), as well for more details.

H-R-Y حرى

"التَّحْرِّى" (*at-tahri*) means to intend to, to strive to get something, to intend to do something particularly. "تَحَرَّاهُ" (*taharrah*): he intended to do it. Some say it is to strive to get the good things $\{T\}$.

The Quran says:

| 72:14 | these are the people who have decided honorably to receive guidance | فَأُوْلَاِک تَحَرُّوا رَشَداً |
|-------|---|-------------------------------|
|-------|---|-------------------------------|

Ibn Faris says its basic meanings are nearness, or intent, temperature, to return or to lessen.

"خَرَاء" (*hiraa*) was a mountain in Mecca city which *Muhammed* (pbuh) is said to visit (to receive guidance) before prophet hood $\{T\}$. This is only mentioned historically, but the Quran says nothing about it. The Quran says only that before prophet hood, *Muhammed* (pbuh) was in search for the truth and guidance. See heading (*Zd-L-L*).

H-Z-B حزب

"أَحِزُ بُ" (*al-hizb*): the turn to drink, people's group or party. The plural is "أَحِزُ بُ" (*aaab*).

Rabhib says that it means the condition where the feelings and acts of the people in the group or party are similar, even if they have never met each other. **Raghib** also says that there is also the condition that there is hardness and intensity among those people. This is why the Quran mentions two groups i.e. "حِزْبُ الشَّيْطَانِ" (*hizbullah*) (8:22) and "حِزْبُ الشَّيْطَانِ" (*hizbuls shaitan*) (58:19).

Hizbullah are those people who are strictly observant of Allah's laws, no matter in which part of the world they may be, and *Hizbush shaitaan* (the opposing party) are those who live according to contradictory laws to Allah's, no matter which nation or country they belong to. The Quran formulates nations on the basis of life or purpose of life and not on the basis of country, race and language.

In surah *Momin* the parties which opposed Allah's messengers have been called "أَلاَحْزَ ابُ" (*al-ahzaab*). In surah *al-aaab*, "أَلَاحْزَ ابُ" (*al-ahzaab*) are those parties which together fought against Allah's Messenger (40:30).

The Quran has termed sectarianism as *shirk* (that is the highest sin i.e. to worship others along with Allah). Because it then so happens that:

| 32:32 | every group thinks that it is on the right path | كُلُ حِزْبٍ بِمَالَدَيْهِمْ فَرَحُوْنَ |
|-------|---|--|
| 52.52 | (and all the other sects are on the wrong path) | ىل مِرْبٍ بِمَانْدَيْهِمْ تَرِسُونَ |

By saying "كُلُ حِزْب" (*kullo hizbin*) (all groups), the Quran has clarified that when there are sects within this way of life, than it is wrong to assume that any one sect is right and all the others wrong. The very existence of sects is *shirk* to the Quran (30:32). As long as there is true *Deen* (Islamic system) there can be no sects within it. When that system is no longer present, then this way of life becomes an individual thing and the formation of sects is inevitable. To remove sects, there is only one way, which is the establishment of a truly Islamic system. Other than this, there is no way to get out of this shirk.

H-Z-N כנט

"خَزْنَ" (*huzn*): this is a composite word and is used for every misfortune that may befall a human being, including economic troubles form a great part of this misfortune.

"حَزَانَةُ الرَّجُلِ" (*hazanatur rajul*): those family members whose pain is felt by a man and whom he fends for *{T}*.

Tajul Uroos says that in surah *Faatir's* verse 35: 34, the word "خَزَنْ" (*hazan*) means the worry about acquiring the daily bread.

Raghib says that where in the Quran, it has been said "لَا تَحْزَنُ (*la taan*) or "الْتَحْزَنُوُ" (*la taanu*), it does not mean to not worry, because man does not have the power 'not to worry" (i.e. man cannot help worrying). It means not let those reasons be created which create "حَزَنُ" (*huzn*). This can happen with economic wellbeing because "حَزَنُ" (*huzn*) means the worries which arise due to financial troubles. Also "الْحَزْنُ" (*al-hazn*) means hard, stony, the opposite of which is "سَبِّلْ (*sahl*) {*T*}, probably because vegetation cannot grow in such harsh soil.

Ibn Faris says that this root contains an element of hardness, harshness, and intensity.

In the heading (*Kh-W-F*) you will find that "خَوْفٌ" (*khauf*) is the worry which is due to some expected danger, (i.e. it concerns some event in the future), while "حَزَنٌ" (*huzn*) is used against this meaning. It means a sadness that is due to some event in the past, something that has passed. The situation before any loss is "خَوْفٌ" (*khauf*), and after that event this fear is no more, but sadness or "خَوْفٌ" (*huzn*) begins, or remains.

The Quran says:

| Do not get sad or heartbroken. If you are those | وَلاَتَّمِنُوا وَلاَتَّخْزُنُوا وَأَنتُمُ الأَعْلَوْنَ إِن كُنتُم مُؤْمِنِينَ |
|---|---|
| with peace, you are greater. | ود سور ود شرط والنه (د علون إن تشه مورجين |

Here it has appeared against greatness and loftiness, peak, overpowering.

In the tale about *Adam*, when the life of Heaven was taken away from Adam, he was told that if he spent his life according to what was revealed, the result would be:

| 2:38 | He will not have any <i>khauf</i> and <i>huzn</i> . | لَا حَوْفٌ عَلَيْهِمْ وَلَا هُمْ يَخْزِنُوْنَ |
|------|---|---|
| 2.50 | (any fear or worry): | |

When this Heavenly society of Quranic laws is established in this world, then along with other comforts of life, there remains no worry on account of the economic factor. These are the basic connotation of "خَزَنَ" (*huzn*). Also the heaven out of which *Adam* was driven out, had the particularity that nobody had to bend his back for food, clothing or housing, nor did anyone go without these (20:118 -119)

For details of these matters see headings (*A-D-M*), (*Sh-J-R*), (*J-N-N*).

It is obvious Therefore, that any nation which is suffering from hunger, fear, and "حَزَنَ" (*huzn*) etc. is not obeying the laws of Allah. To live in obedience of Allah's laws means inevitably that man's life in this world will be successful as well as in that of the Hereafter.

In surah **Yusuf**, تَحَزَنُ" (*huzn*) has been used to mean a sadness or worry that has been born due to some past event (12:82).

َ الْ تَحْزَنُ عَلَيْمُ (*la tahazzan alaihim*) in 15:88 means "do not be sad for them". (*tahazzan alaih*) means that he was sad for it *{T*}.

| H-S-B | س ۱ | 7 |
|-------|-----|---|
|-------|-----|---|

"حَسْبَاناً (*hasab)*, "حَسْبَاناً (*yahsab*), "حُسْبَاناً '' (*husbana*) and "حَسْبَاناً '' (*hisaaba*) means to count, to number. "حَسِبَاناً '' (*hasibu*), "حَسِبَاناً '' (*mahsabah*), "حَسِبَاناً '' (*hisbana*): to think, to have the opinion. "حَسْبُ '' (*hasb*): that which is enough, that which suffices, after which the need ends.

"جسَابٌ (haasib): someone who counts.

"خُسْبَانٌ (husbaan) is the plural form.

تَصْبَكَ دِرْيُمْ (hasbuka dirham): one dirham is enough for you.

"كَسَنْبُنَا اللَّه" (hasbunallah): Allah (Allah's laws) are enough for us (9:59). With Him there, we do not need anything else, He shall suffice to meet all our needs.

"أَبْذَا بِحَسَب ذَا" (*haaza bihasabi za*): this is according to his need or this is sufficient for him {*T*, *M*}. "حَسَيْبٌ" (*haseeb*): one who counts, administrator.

| 17:14 | Read your own book, today you are accountable for yourself. | اقْرَأْ كَتَابَكَ كَفَى بِنَفْسِكَ الْيَوْمَ عَلَيْكَ حَسِيبًا |
|-------|---|--|
|-------|---|--|

According to the scheme of things created by God, at the time of the results of one's deeds, there is no need for any outside witness or accountant, as man's own self is a living testimony against him.

| | the effects of deeds which naturally affect the person, themselves testify as to the nature of deeds done | كَفِي بِنَفْسِكَ الْيَوْمَ عَلَيْكَ حَسِيْباً |
|--|---|---|
|--|---|---|

The time of the results being made known, has been called "يَوْمُ الْحِسَابِ" (*yaumul hisaab*) (the Day of Reckoning) or in 14:41 "يَقُوْمُ الْحَسَابُ" (*yaqumul hisaab*), the result of every deed begins to formulate as the deed is done. But they appear after a time, like the fruit which begins to take shape when the bud appears, but the fruit actually appears after some time. This is the time for their appearance of results.

| 6:97 | We created the sun and moon for you to keep count | وَالْشَمْسَ وَالْقَمَرُ حُسْبَاناً |
|---------------|--|---|
| 10:5 17:12 | so that they can be used to keep track of months and years | لِتَعْلَمُوْا عَدَدَ السِّنِيْنَ وَالْحِسَابَ |

It is obvious then that there can be a calendar based on the sun's orbiting, the lunar or solar, whichever is easier, can be used.

Surah *Kahaf* says:

| 18:40 He can send <i>husbaan</i> on the field (cultivation) | وَيَرْسِلُ عَلَيْهَا مُسْبَاناً مِنَ السَّمَاءِ |
|---|---|
|---|---|

Here "خُسْبَان" (*husbaan*) is generally taken to be some misfortune, i.e. some celestial catastrophe which destroys the cultivation, as rain, storm strong winds, hails, or swarm of insects $\{T\}$. But the *Lughat Hameer* (the dictionary of *Hameer*) says it means extreme cold.

Ibn Faris says it means both, hail and swarm of locusts.

(ehtasab) means to think, or have an opinion {M}.

| The Qur | an says: | |
|---------|---|--|
| 65:3 | Allah's laws provide sustenance from places not even thought of. | وَيَرْزُفْهُ مِنْ حَيْثُ لَا يَخْتَسِبُ |
| 2:212 | Someone who desires this method gets countless sustenance from Allah. | وَاللَّهُ يَرْزُقُ مَنْ يَتْنَاءُ بِغَيْرِ حِسَابٍ |

Raghib writes a little differently. One of them is that He gives him but does not take at all, or gives, not according to what people think, but much more than that. When society is formed according to Allah's laws, then the provision of sustenance becomes abundant and much more than common ideas.

> H-S-D ح س د

"حَسَدٌ" (hasad) means to scrape.

(al-hasad): the mentality which says that whatever the other one has in possession, may be taken from him and given to me. And even if I do not get it, then may it be lost to him (ghibtah) means that along with him, I too may get it, in other word, envy {T}.

Raghib has only added that it also includes striving for that thing.

Surah Al-Baqrah says that the opponents due to "حَسَدَ" (hasad) (jealousness) wish you to give up your trust and become a denier. So they wish that the good results of trust may be taken away from you, no matter if they gain anything from this or not (2:109).

The Quran has described jealousy as a very destructive mentality, and advised avoiding people with such mentality (113:5). This can be done through profound connection with Allah's laws.

H-S-R ح س ر

"بَحْسِرُ" (*hasar*), "بَحْسِرُ" (*vahsir*): basically means to open something or scrape it or to skin.

(il-la tehseer) means for a bird to lose its feathers {T}. This led to its meaning of being vulnerable.

"خَسَرَ الْبَعِيْرَ" (hasaral ba-eer): the camel was made to walk so much that it became vulnerable.

(al-hasrah) Hence, means a situation in which a man becomes like a tired camel. The word has "ألْحَسْرَة" the connotation both of vulnerability and shamefulness, as well as sadness and repentance $\{T\}$.

Raghib says "أَلْحَسْرَةُ" (al-hasrah) means sadness and shamefulness at something's death, as if the truth has dawned upon the man and the situation in which he did something, has been removed.

That is why *Muheet* says it really means "كَتْنُفْ" (kashaf), which means to open up.

(hasaral bahru unis sahil) means that the river receded from the banks and the land "حَسَرَ الْبَحْرُ عَن السَّاحِلِ" which was below the water, openly came into view {T}. This contains the elements of "كَشْفٌ" (kashaf) the opening, and vulnerability.

Surah *Al-Baqrah* says:

| 2.167 | Allah will unveil their deeds to them and this | يُرِيْهِمُ اللَّهُ أَعْمَاهُمْ حَسَرَاتٍ عَلَيْهِمْ |
|-------|--|---|
| 2.107 | revealing will make them vulnerable | يريقيه ألله أعماهم حسرات غليقهم |

تحَسَرُتُ الْبَيْتَ'' (*hasaratul bait*) means I swept the house.

(al mihsarah) is the broom {R}. That means the previous verse can also mean that their deeds became totally unproductive and all they did was swept aside.

Surah Anbia says "لَا يَسْتَحْسِرُوْنَ (la vastahseroon) in 21:19, which means to get tired.

Surah *Bani Israel* has used "مَلْوُماً مَحْسُوْراً" (*maluman mahsoora*) in 17:29 i.e. begging situation, a condition in which all is lost, and you repent at what you did. 67:4 says "حَسِيْرٌ" (*haseer*) which means getting tired and emaciated.

"اَلَتَّحَاسِيْنُ" (*at-tahaseer*): troubles and misfortunes. "حَسْرَةٌ" (*hasrah*): deep sadness and shame and to repent the loss of something {*T*}. "يَاحَسْرَتَى" (*ya hasrata*): "Alas!" (39:56).

ح س س H-S-S

"أَلْحَوَاسُ" (*al-hiss*) means movement, hidden voice. This leads to "أَلْحَوَاسُ" (*al-hawass*). "أَحَسَ" (*ahass*): that which is to feel, to be aware of *{T*}.

Raghib says when something becomes evident, so as to be felt, we say "أَحَسَّ" (ahass)

| 3:51 when he felt | فَلَمَّا اَحَسَّ |
|-------------------|------------------|
|-------------------|------------------|

تَحَسَّسَ" (*tahhass*): to find out about someone (12:87). "تَحَسِيْسٌ" (*hasees*): a soft sound.

| 21:102 | They don't even hear a single sound from there | لَا يَسْمَعُوْنَ حَسِيْسَهَا |
|--------|--|------------------------------|
|--------|--|------------------------------|

"الْحِسَّ (*al-hiss*): cold in which grass dries out.

"حَوَاسُ الْأَرْضِ" (*hawaasul ard*): cold, hail, wind, swarm of insects and cattle which might destroy cultivation. As such the word means destruction

"أَلْحَاسُوْسْ (*al-hasoos*) means drought.

Surah *Aal-e-Imran* says:

| 3:151 | when you were annihilating and destroying them | اِذْ تَحْسُوْنَهُمْ |
|-------|--|---------------------|

Ibn Faris says that "أَلْحَسُّ" (*al-hass*) also means to kill.

"جَسَمَہ" (hasamah), "يَحْسِمُہ" (yahsimoh): he cut it off

"حَسَمَ الْعِرْق" (hasam-ul-irq): he cut the vein, and branded it with iron so that the blood did not flow off {T}.

Ibn Faris says it means to cut off something at its root.

تألْحَسَامُ" (*al-husaam*): sharp cutting sword. (*al-husoom*): bad luck (ألْحُسُوْمُ)

Azhari says that anything which follows a thing is called "حَاسِمٌ" (*hasim*), plural of which is "حُسُوُمٌ" (*husoom*). Thus, it means things that come one after the other, things which keep coming continuously.

Raghib says "أَحْسَمُ" (*al-hasm*) means to remove the effects of something, that is, to destroy something in a way that no traces are left.

The Quran says that following about the punishment that came upon the nation of Aad:

| 69:7 | The storm kept coming for seven nights and | سَخَرَّهَا عَلَيْهِمْ سَبَعَ لَيَالٍ و ثَمَنِيَةَ آيَّامٍ مُحسُوْماً |
|------|--|--|
| 09.7 | eight days. | سحرها عليهم سبع ليالي والمثيبة أقام محسوما |

"خُسُوْماً" (*husooman*) here can also mean continuous, but with reference to the context, this meaning deems more appropriate that it was such a storm that removed even the traces of the *Aad* nation, or even removed them from their roots.

ح س ن H-S-N

"نَلْحُسْنُ" (*al-husn*): Muheet says that "خُسْنُ" (*husn*), or beauty means for all limbs to be in the right proportion, and generally the word "حُسنَن" (*haseen*), or beautiful, is used for things which are pleasing to the eye due to their balanced proportions. As such "حُسنَ" (*husn*) means the right proportion and

symmetry, and is the opposite of " $\hat{v}_{\hat{v}}\hat{v}$ " (*so* '*a*) which means unbalanced or bad.

This is why this word has come against "فَسَادٌ" (*fasaad*) in 28:77, which means disproportion. Thus, "أَلْإَحْسَانُ" (*al-ehsaan*) means to make some proportion right. That is, if in society, there has been a decrease or insufficiency in somebody's capability or strength, to make up for it is called "أَلْحُسَانُ" (*ehsaan*). See heading (Ain-D-L) in which "عَدْلُ" (*adl*) and "الحُسَانُ" (*ehsaan*) have been discussed in detail.

Raghib says that "أيحْسَانَ" (**ehsaan**) is of two types. One is to make up for the deficiencies and correct the balance, and the second to make one's own character balanced, or to create "حُسْنَ" (**husn**) in it.

Raghib says that "عَدْلُ" (**adl**) is to give whatever you have and take only which is your right. On the other hand "حَسْنَان" (**ehsaan**) is to give more than you are required to give and take less than what is you right. This means that in **ehsaan**, the purpose is not to focus on what is due, but on creating a balance.

Surah *Al-Qasas* says that when Moses came of age and "وَاسْتَوَى " (*wastawa*), i.e. every type of balance was created in him, and then We bestowed him with knowledge and sagacity (i.e. decision power).

Later, it is said:

| 28:14 | Thus, We reward the <i>muhsaneen</i> with the | كَذَالِكَ بَحْرِيْ الْمُحْسِنِيْنَ |
|-------|---|------------------------------------|
| 28.14 | fruits of their (good) deeds. | كداليك جزري المحسينيين |

Here, it is obvious that "مُحْسِنِيْنَ (*mohseneen*) means those who live a balanced life.

^{••}أَوْ يُحْسِنُ الشَّىْءَ اِحْسَاناً[•]) (*huwa yuhsinush shaiyi ehsana*): he knows it fully well *{T}*. Surah Yusuf relates that in prison, when two men after relating their dreams asked *Yusuf* to interpret them it is said:

| 12:36 | We know that you are one of fully aware | |
|-------|---|---------------------------------|
| 12.30 | people | اِنَا تَراكُ مِنْ الْمُحْسِنِين |

Here "مُحْسِنِيْنَ" (mohseneen) mean people who know something very well.

The Quran has used "حَسنَات" (*hasanaat*) as against "سَيِّاتٌ (*sayye-aat*) meaning life's pleasant things, as in 7:131 and 3:119.

Surah *At-Taubah* uses "مَصِينَة" (*musibah*) against "حَسَنَة" (*hasanah*) in 9:50. As such "حَسَنَة" (*hasanah*) is anything which gives comfort to human beings, goods of comfort and luxury. Since this can be achieved by being in the government, it was said that We made the Bani Israel the inheritors of the East and West of Palestine, and:

| 7:137 | Thus, the law of balance of your Sustainer was fulfilled | تَمَّتْ كَلِمَتُ رِبِّكَ الْحُسْنَى |
|-------|--|-------------------------------------|
| ,, | fulfilled | - y - |

"حُسْنَى (husna) is the feminine of "أَحْسَنَ (ahsan).

Allah attributes are known as "أَلْأَسْمَاءُ الْحُسْلَى" (*asma'al husna*) in 59:24, because Allah's persona is such that various attributes are present in it in complete balance. All attributes and in complete balance. This,

according to the Quran, is the concept of Allah, and since the purpose of man's life is to walk in His shadow, so to speak, he is nearest to Allah whose good attributes as well develop in a very balanced manner.

This is why the Quran has said:

| ſ | the attributes of Allah are certainly the attributes of | لِلَّهِ الْأَسْمَاءُ الْحُسْنَى فَادْعُوْهُ |
|---|---|---|
| l | Allah, and they are totally balanced | ليلبو ألا لمحاع المحسني فادعوه |

Therefore, call Him by those attributed, i.e. the concept of Allah is similar to the attributes that which you invoke Him with.

It is also said that:

| 7:180 | dissociate with those who go lopsided (away from the | وَذَرُواْ الَّذِينَ يُلْحِدُونَ فِي أَسْمَآئِهِ |
|-------|--|---|
| /.180 | path of balance) in any one of them (attributes) | ودروا الدِين يُلْجِدُونَ بِي أَنْهَا بِهِ |

Therefore, the required is not only to reflect upon attributes of Allah (i.e. the development of hidden capabilities of human personality), but also to balance them. The life which is without "خُسْنُ" (*husn*) or balance is not a life which is in the Quranic mould. The purpose of life is to see how much balance you create in yourself and how much balance you contribute to the universe. In this world (outside the human personality) this "إخْسَانُ" (*ehsaan*) (creating balance) begins with dealing humanely with other individuals in society.

| 2:83 | treat people in a way so that balance is created | وَقُوْلُوْلِلنَّاسِ حُسْناً |
|------|--|-----------------------------|
|------|--|-----------------------------|

The practical way to do this is by "أَنْفِقُوْ فِى سَبِيْلِ اللَّهِ" (*anfequ fi sabi lillah*): keep the fruits of your labor open (available) for mankind and Thus, "أَحْسِنُوْا" (*ahsenu*), create balance in society (2:195). This is the definition of "حُسَانٌ" (*ehsaan*) 2:83.

The Quran cautions that when you are asked to create *husn* or do *ehsaan*, it must not be done to get any remuneration, because:

| 55:60 | the return for creating balance, is that balance in deed | هَلْ جَزَاءُ الْإِحْسَانِ اللَّا الْإِحْسَانُ |
|-------|--|---|
| 55.00 | is created | هن جراء الإنحسان إلا الإنحسان |

We generally believe that "لِحْسَانَ" (*ehsaan*) should be returned with another *ehsaan*. For instance, a man faces hard times, he goes to somebody for help, and the other person helps him, which is assumed to be his *ehsaan*. Now the first person is on the lookout for when the other person faces bad times so that he may repay his *ehsaan*, and till that time he does so, he feels indebted. Even if he disagrees with him on a minor point, that person may recall the *ehsaan* he did on him and say "what sort of *ehsaan*-forgetting person are you?" This is the *ehsaan*, as we assume, but the above Quran ordains clearly define the difference in its use today and the real meaning.

Ehsaan means to keep on doing *ehsaan* and not even think about its compensation or return, because when *Momins* do *ehsaan* on somebody they clearly tell him:

| 7:6 | we want no compensation, nor thanks (gratitude) from you | لَانُرِيْدُ مِنْكُمْ جَزَاءً وَّ لَاشْكُوْرًا |
|-----|---|---|
|-----|---|---|

Thus, the teachings of the Quran are aimed at creating "خَسْنَ" (*husn*) in Man's own soul as well as in other human beings and the external universe. To make all these more beautiful, will be its own reward. That is why the Quran has said that when you feel that the balance has gone out, correct the balance. This will remove any bad effects.

| 23:96 | Take stock of yourself first. If your personality is not balanced then try to balance it | اِدْفَعُ بِالَّتِيْ هِيَ أَحْسَنُ السَّيِئَةَ |
|-------|--|---|
|-------|--|---|

When the society loses its balance, try to rectify it. Thus, keep on beautifying the external universe through knowledge and inventions. Your efforts towards this end will be their own reward. The result of

trying to create "حُسْنٌ (*husn*) or to restore balance is that "حُسْنٌ (*husn*) or balance will ultimately be established.

Hence, the purpose of life is to maintain balance, and God's personality is one in which "خُسْنُ" (*husn*) or balance has reached its peak.

"الأَسْمَاءُ الْحُسْنَى" (*al asma ul husna*): the objective standard for man is Therefore, God's personae for the proper development of his own faculties.

ح ش ر H-Sh-R

"أَحْشَرُ" (*al-hashr*) means to gather people and drive them towards some direction.

Ibn Faris says its basic meaning is to drive, to life, to get up and go.

Experts of dictionaries say that "الْحَسْنُ" (*al-hashr*) means to collect and drive. "الْمَحْشَرُ" (*al-mahshar*), "الْمَحْشِرُ" (*al-mahshir*) is a place to gather.

Muheet says people use this word for a crowd and to create narrowness (lack of space) for each other *{M}*. This means such crowd or gathering which creates difficulty for others.

The Quran has also used this word to mean "to gather for war", as in:

| 27:17 | as per <i>Sulemans's</i> orders, the armies were collected and taken | وَحُشِرَ لِسُلَيْمْنَ جُنُوْدُهُ |
|-------|--|----------------------------------|
|-------|--|----------------------------------|

And about the Jews, it is said in surah *Al-Hashr*:

| 52:6 | Allah is He who, among those who had the Book, | هُوَ الَّذِيْ أَخْرَجَ الَّذِيْنَ كَفَرُوْا مِنْ أَهْلِ الْكِتْبِ مِنْ دِيَارِهِمْ | |
|------|--|--|--|
| 52:0 | took the rebellious out of the houses for <i>hashr</i> | لِأَوَّلِ الْحُشْرِ | |

This too refers to a gathering for war or exile, which was the outcome of this battle.

Surah Aal-e-Imraan says to tell these opponents:

| 3:11 | you will be overpowered soon, and will be collected in the ground of destruction and then | سَتُغْلَبُوْنَ وَ تُحْشَرُوْنَ اللي جَهَنَّمَ |
|------|--|---|
| | taken towards <i>jahannam</i> | |

Its next 3:12 verse details the battle.

Surah *Shura* says about the Pharaoh that he sent "حَاشِرِيْنَ" (*haashereen*) to different cities (26:36). This means that representatives who would collect people and bring them (to him) were sent to different cities.

"أَلْحَشْرُ" (*al-hashr*): to sharpen the blade and to take from one place to another after collect them together, as drought gets people out of the villages and into the cities $\{T\}$.

"أَحْشَرَةُ" (*al-hashara*) means that which is hunted and is edible, i.e. which can be eaten. It also means insects. That is why "حشرات" (*hasharaat*) means insects and small animals. In the Yemen dialect, it means "saw dust" {*T*}.

"أَحْسَرُ" (*al-hashr*) also means death. It is also the fine part of the ear.

Surah Tahaa says:

| 20:124 | and We will raise him blind on <i>youm-ul-</i> | - مَنْ يَعْمَدُ بِهِ مَنْ الْمُدَارِينَ الْمُوارِينَ الْمُوارِينَ الْمُوارِينَ الْمُوارِينَ الْمُوارِين |
|--------|--|---|
| 20.12 | qiyamah | وتحشره يؤم الفييمة أغمى |

This means to give return for deeds. That is, the results of deeds continue to be formulated very discreetly.

تَمَحْشُوْرَةٌ " (*mahshoorah*): gathered together (38:19).

| 50:44 | it is easy for us to gather them | ذَالِکَ حَشْرٌ عَلَيْنَا يَسِيْرٌ |
|-------|----------------------------------|-----------------------------------|
| 46:6 | And when mankind are gathered | وَإِذَا حُشِرَ ٱلنَّاسُ |

In these places, the connotation of taking them somewhere along with gathering together must be borne in mind.

We generally take "خَشْرُ" (*hashr*) to mean reckoning (after death on the Day of the Judgment), like *Aakhirah, qiyamah, sa'ah, bo'as* etc. These are composite terms of the Quran and mean not only to rise after death but also the renaissance of nations. As such, *Shah Waliullah* says (in *Hujjatulaahi Baligha - Kitabul Fatan*) that in Islamic (*sharia*), "خَشْرُ" (*hashr*) has two meanings. One is the gathering or collection of people in Syria, that is, before the *Qiyamat*, this will happen when people are sparse and either due to various ceremonies or due to battle, people will gather there, and the second is to rise after death.

Wherever these words appear in the Quran, it must be noted with reference to the context whether they mean life after death, or a revolution in this world.

ح ص ب H-Sd-B

"أَلْحَصَبَة" (al-hasabah) means gravel, small stones.

"أَلْحَصَبُ" (*al-hasab*) means fuel, or whatever is put into the fire to make it burn brighter, as firewood. "حَصَبٌ" (*hasab*) can be used if the fire is stoked.

"ألْحَاصِبُ" (al-hasib): the strong wind which raises dust and gravel {T}.

The Quran says:

| 17:68 | Send towards you a wind that raises gravel or stones | يُرْسِلَ عَلَيْكُمْ حَاصِباً |
|-------|---|---|
| 21:98 | you and your gods whom you worship other than Allah are the fuel for hell | إِنَّكُمْ وَمَا تَعْبُدُونَ مِن دُونِ اللَّهِ حَصَبُ جَهَنَّمَ أَنتُمْ لَهَا وَارِدُونَ |

Here "حَصَبُ" (*hasab*) means fuel. The fiery wind which blew from a volcano towards the nation of *Loot* was also called "حَصِباً" (*haaseba*). It has a mix of both, small stones and the heat of the fire.

ح ص د H-Sd-D

"خصَدَ" (*hasad*) means to cut cultivated crop or plants with a shears $\{R\}$.

| 12:47 | let the corn remain in the ear of the crop you cut | فَمَا حَصَدْتُمْ فَذَرُوْهُ فِيْ سُنْبُلِهِ |
|-------|--|---|
|-------|--|---|

"خَصَادٌ" (*hasaad*): to cut the crop, as used in (6:142), or the time to cut the crop. (*al-haseed*): the crop that is cut.

About the annihilated nations, the Quran says:

| 21:15 We made them motionless and quiet like the crop which has been cut. | جَعَلْنٰهُمْ <mark>حَصِيْداً</mark> خَامِدِيْنَ |
|---|---|
|---|---|

"أَلْحَصْرُ" (al-hasr): to stop, to imprison, to create narrowness $\{T\}$.

Raghib says that "حَصْرَ" (*hasr*) and "الحُصَارَ" (*ihsaar*) are said when the stoppage is due to some visible obstruction (like if the enemy has stopped you) or if there is some internal reason (like disease which has prevented you). When the obstruction is only internal then "حَصْرَ" (*hasr*) is used {*R*}.

Surah An-Nisa says:

| 4:90 | or they may come to you in the condition that their | ِ اَوْجَاءُ وَكُمْ حَصِرَتْ صُدُوْرُهُمْ |
|------|---|---|
| 4.90 | chests are constricted and hearts narrow (frustrated) | أوجاع وتسم تحضرت صدورهم |

"خصِيْر" (*haseer*) as used in 17:8 means a prison, as well as a narrow-minded person. It also means that miser who does not drink, only due to his miserliness.

"أَحْصُوْنَ" (*al-hasoor*) as used in 3:38 means one who refrains, especially one who refrains from going to women $\{T\}$.

"حَصُوْر (hasoor) can also mean a man who has control over his libido.

"مُحَاصَرَة" (muhasarah) means to surround the enemy and stop it.

"حَصَرَ الْقَوْمُ بِفُلَانِ (*hasarun qaumun bi fulani*): the nation surrounded somebody *{T*}.

Surah *Baqrah's* verse "أَحْصِرُوْا فِى سَبِيْلِ اللَّهِ" (*ahsiru fi sabeelil lah*) has been explained by "أَحْصِرُوْا فِى سَبِيْلِ اللَّهِ" (*ahsiru fi sabeelil lah*) in 2:273. It is about those who are stopped in a way that they cannot move, that is, their movements are restricted.

Surah **Bani Israel** states "جَبَّنَهُ" (**Jahannam**) as "حَصِيْراً" (**haseera**) in 17:8. This means a place or condition where one's development stops, or where somebody is forbidden to go forth. For the right meaning of **jahannam**, see heading **jahannam** and (**J-H-M**).

ح ص ص H-Sd-Sd

"أَحْصُ" (*al-hass*): to shave the head so that the head is cleaned.

أَلْحَصَّاءُ مِنَ الرِّيَاح" (al-mohassa'a minar riyah): clean air without any dust or pollution etc.

"حَصَّصَ اَلَشَّىٰءُ نَحْصِيْصاً وَحَصْحَصَ" (*hus-hasa shaiyo tahseesnan wah hus-hus*): The thing became evident, became distinct. In other words, it was previously hidden but got clearly visible *{T, R}*.

"حَصْحَصَ" (*hushus*) is a four-lettered word (ح ص ح ص) but we have dealt with it as three-letter sections.

| Surah Y | usuf says: | | |
|---------|--------------------------------------|-------------------|------|
| 12.51 | now the reality is clear | حَصْحَصَ اَلْحُقُ | |
| 12.31 | (the reality has now become evident) | حصحص الحق | 12 0 |

But *Muheet*, with reference to *Baizawi* says that this is from "حَصْحَصَ الْبَعِيْنُ" (*husasil aabeer*) which means that the camel, in order to sit down, rested his knees and chest firmly on the ground.

"حَصْحَصَ ٱلْحَقُ" (*hus hasal haq*): the truth is proven and become well evident *{M}*. "حَصْحَصَ ٱلْحَقُ" (*hissah*): that which is cut off from the thing itself, a part of the whole *{T*, *R*}.

Ibn Faris says its basic meanings include being a part, to become clear, and also for something to end or lessen.

َ الْحَاصِلُ مِنْ كُلِّ شَىْءٍ (*al-haasilo min kulli shaiyi*): that which remains of something.

"أَلتَحْصِيْلُ" (at-tahseel): whatever that is received, to separate it.

"تَحْصِيْلْ" (*tahseel*) actually means to pick the kernel out of the skin, for instance wheat from chaff, or to pick out small stones from the wheat.

تَحَصَّلُ الشَّيْءَ" (*tahassala shaiyi*): the thing was collected and was proven.

تَأَلْحَوْصَلَةُ (*al-hauslah*): a bird's stomach {*T*, *R*}.

The Quran says:

| 100:1 | whatever is hidden in the chest (or anywhere else) will | وَحُصًّا مَا فِي الصُّدُوْر |
|-------|---|-----------------------------|
| 100.1 | be brought out like kernel from the skin | وتحصل ما في الصدور |

Ibn Faris writes that "تَحْصِيْلُ" (*tahseel*) means to take out gold or silver from the mine.

"ألإخصان" (al-ihsaan) means to safe keep something, protect it. This is its basic meaning.

"حَصُنَ الْمَكَانُ يَحْصُنَ الْمَكَانُ يَحْصُنَ (*hasanul makanu yahsun*): for a place to be safe in a way that there is no way it can be reached, a place as safe as this, would be called "الْحِصْنَ" (*al-hisn*).

"حُصَنَه" (hassanahu) and "حُصَنَه" (ahsanah): he made it safe.

"أَلْحِصْنُ" (*al-hisn*): every safe place which cannot be reached, plural is "حُصَوْنٌ" (*husoon*) as used in 59:2. تُحَصَّنَتَرَ» (*muhssana*): protected, as in 59:14.

"أَلْمِحْصَنَّ" (al-miihsun): lock for protection.

Surah *Al-Anbia* says:

| 21:80 So that it keeps you safe. |
|----------------------------------|
|----------------------------------|

Surah *Yusuf* says for wheat that was safe kept:

|--|

"حَصَانَ" (*hasaan*) is a woman who protects her chastity *{T, R, M}*. It also means a pearl (because it is safe in a clam). There are two ways a woman can be chaste. One is that she is unmarried and protects her chastity, and secondly that she gets married and belongs to only one man. Thus, she protects her chastity from other men. A chaste woman is called "مَحْصَنْ" (*mohsin*) or "مَحْصَنْ" (*mohsin*).

Raghib says "مُحْصَنَ" (*mohsin*) (protector) is used when she protects her chastity in an unmarried state, while "مُحْصَنَ" (*mohsan*) when she (who is protected) is married (and Thus, is protected by marriage). Therefore, "الْمُحْصَنَاتُ" (*al-mohsinaat*) mean married women.

"أَحْصَنَ" (ahsan) means to get married.

But *Taj-ul-Uroos*, with reference to *Johri* and *Sa'lab*, writes that chaste women are called "مُحْصِنَةٌ" (*mohsinah*) as well as "مُحْصَنَةٌ" (*mohsanah*) both. On the other hand, a married woman is only called "مُحْصَنَةٌ" (*mohsinah*).

The Quran uses "الْمُحْصَنْت" (*al-mohsinah*) for chaste women in 24:4, which includes both married and unmarried women. As such when "مُحْصَنَة" (*mohsinah*) is used, it will have to be seen with reference to the context whether it means a spinster or a chaste woman or a married woman.

This word has been used in the Quran in 5:5, 234:4, and 24:23. In surah *Nisaa* verse 4:25, this word has been used against "فَتَلَبُّ (*fayyaat*), where it means free women (as removed from slavery). In the same surah's verse 4:24, it has been used to mean chaste or 'with husband'. According to the first meaning of this word, the verse would mean that all chaste women except those in your marriage are unlawful for

you. While according to the second meaning the verse would mean that all women with husbands are unlawful for you, except those slave women which you already possess. Except women with husbands who have already been excepted (60:10). Here, the meaning of women with husbands is more appropriate.

The Quran has used two words for the sexual relations between man and woman, "مُحْصِنِيْنَ غَيْرَ مُسَافِحِيْن (*mohseneena ghaira musafeheen*) in 4:24. See the detailed meaning of "تَنْفَحُ" (*safah*) under heading (*S-F-H*).

Here it suffices to know that it means to wash away or waste your sperm uselessly. If it is only for taking out the sperm, that is, for pleasure, or the satisfaction of sexual desire, then it is called "زن" (*zina*) or illegal fornication. This is not permitted, and if it is intended to give the sperm a spot to stay i.e. pregnancy, and not be wasted, then it is allowed. This is called "نِكَاح" (*nikaah*). As such the Arabs used the word *nikaah* against *siffah*. They also used to gamble with arrows where every arrow was for a particular spot, but one arrow was extra. It had no part in play. This arrow was called "أَلَى مُصَانِعَانَ (*as-safeeh*) (*as*

"الْمَسْفُوْحُ مِنَ الزَّرْعِ" (*al-masfooh minaz zar'a*) was a cultivation whose leaves yellowed due to extreme cold and its seeds withered down *{M}*. In this way, the whole cultivation got lost. This too shows what the Quran means by sexual intercourse.

That is why it has called women as cultivation in 2:223 that means, a man and woman's sexual intercourse should be "مَحْصَنِيْنَ" (*mohseneen*), which is to protect the responsibilities that are imposed (though willingly) on each other through marriage. This aim at the protection and perpetuation of the human race is not just sexual satisfaction, or unproductive sex. *Nikaah* for a limited period is also "مَصْنَانَ" (*safah*) not "أَحْصَانَ" (*ihsaan*). See also heading (*Kh-D-N*).

As to how much the nature of sexual relationships affect a society, see my book "Letters to Tahira".

ح ص ی H-Sd-Y

"(*al-hasa*): small gravel, like stones. Since the Arabs used small stones to keep count, as is done on the fingers, Therefore, "إَحْصَاعُ" (*ihsaa*) means to count as used in 14:34. It also means to count, and procure and surround.

The Quran says:

| 72:28 | he has counted each and every thing and surrounds it | وَاحْصٰى كُلَّ شَيْءٍ عَدَداً |
|----------|---|-------------------------------|
| This inc | ludes the elements of counting as well as taking into protection. | |

Surah *Al-Muzammil* says:

| 73:28 | he knows that you cannot have the perseverance to do it regularly | عَلِمَ أَنْ لَّنْ تُحْصُوْهُ |
|-------|---|------------------------------|
|-------|---|------------------------------|

Surah *Al-Kahaf* says:

| 18:12has anyone of the two groups taken the period into consideration (or kept track of): or kept it in one's control | أَىُّ الْحِزْبَيْنِ أَحْصَى لِمَا لَبِثُوْا أَمَداً |
|--|---|
|--|---|

We think it is better to take the word as a past tense. *Kishaaf* has also written so.

Ibn Faris has written that its basic meaning is to abstain (from something), also to count and to have the capacity to do something with difficulty. This too means to surround and to persevere.

"حَضَرَ" (*hazar*), "يَحْضُرُ" (*yahzuru*), "حُضُوْراً" (*huzura*) means to be present. It is the opposite of being absent.

"حَاضِرِ" (haazir) means present.

أَحْضَرَ الشَّيْءَ" (ahzarash-shaiyi): presented the thing {T, R}.

"خَصَرَهَ" (*hazarahu*), "حَصَرَهَ" (*aaraha*), "أَحْتَصَرَهُ" (*ahazarah*): presented him, made him present, came to him and reached *{M}*.

Ibn Faris says this root means to reach, to deliver, to make present.

"ألإختصار" (al-ihtezaaru) means the time of death, when death becomes present.

In verse 23:98 "يَحْضُرُوْنَ" (yaaroon) means to hurt; or to do badly.

"أَلْحَضَارَةً" (*al-hazaarato*): stay in the city, as against "أَحَضَارَةً" (*badawah*) which means to reside in the village.

أَلْحَاضَرِرَةُ (al-hazirah): means green habited areas, cities, group of dwellings.

The Quran says:

| 2:133 | when death faced <i>Yaqoob</i> (when his time to die had come) | اِذْحَضَرَ يَعْقُوْبَ الْمَوْتُ |
|-------|--|---------------------------------|
|-------|--|---------------------------------|

"حَاضِرَةَ الْبَحْرِ" (*haaziratil bahr*): to be situated on the bank of a river (7:163).

تَبْجَارَةٌ حَاضِرَةٌ) (*tijarato haazirah*): cash transaction or cash trade (2:282).

شخصَرُوْنَ (mohzaroon): those who were made to be present, to undergo punishment (30:16).

"مُحْتَضَرُ" (*mohtazar*): the one who is made to be present (54:28). There will be a drinking place for whosoever the turn is, and nobody else would have besieged it.

ح ض ض H-Zd-Zd

"أَلْحَضْ (al-hazz): to instigate something.

Khalil says "أَلْحَضَّنَ" (*al-hazz*) means to drive and also to instigate for other things (with reference to *Ibn Faris*) "أَحْضَّرُ" (*hazzahu*), "يَحْضَّرُ على أَمْرِ" (*yahuzzuhu alaa amr*): to instigate someone for something. "مَضِيْضَنَّ (*hazeez*): means low land, because man goes towards a slope quite fast {*T*, *R*}.

The actual meaning of "حَضَّ" (huzz) is to drive or steer an animal towards the low or sloping land $\{R\}$. Later on the word came to be used to mean instigate, prompt.

| The Qur | an says: | |
|---------|--|--|
| 69:34 | he does not instigate or persuade towards feeding the poor | وَلَا يُخْضُ عَلَى طَعَامِ الْمِسْكِيْنِ |
| | | |

Surah *Fajar* says:

| XN'IX | They do not motivate or instigate each other. Those who do so deny this way of life. | وَلَا تَحْضُوْنَ |
|-------|--|------------------|
|-------|--|------------------|

Also see 107:1-4. Note how deeply the Quran is linked to economics.

"الْحَطَبُ" (*al-hatab*): firewood, fuel. When alighted, this fuel will be called "تَعَطَبُ" (*waqood*). "حَطَبَ يَحْطِبُ" (*hataba vahtib*): to collect firewood.

شمَكَانٌ خَطِيْبٌ (makanun hateeb): the place where there is a lot of wood.

"بُوَحَاطِبُ لَيْلِ" (*huwa haatibul lail*): he relates all sorts of things, good and bad, useful and useless, like in the darkness of the night, a collector of wood, thinking a snake to be some wood, picks it up. "فَلَانَ يَحْطِبُ عَلَى فَلَانَ" (*fulaan yahtibu alaa fulaan*): so and so man instigates people against so and so. "مُكَانُ بِمَاجِبِيُرُ" (*hatiba fulanu besahibehi*): so and so squealed against his companion.

The Quran has used "حَطَباً" (*hatiba*) in 72: 15 to mean fuel, and *Abu Lahab's* wife has been called "حَطَباً" (*hamma latal hatab*) in 111: 4 which may mean enmity or squalor. The meaning 'who speaks against someone (untruthfully)' seems to be more appropriate, or the one who increases the tools or means of opposition.

H-Te-Te حطط

(*al-hutt*): the root actually means to take down from above and place it down {*M*}.

"أَلْحَطَّ" (*alhutto*), "أَلْحَتَّطَاطُ" (*al-ihtetaat*): to unload luggage etc. from a transport as a camel or donkey or some vehicle.

"حَطَّفِى مِكَانِ (*hutta fi makan*): he got down somewhere.

"أَلْمَحَطِّ" (*al-mahutt*): destination, a place to stay.

تَحَطُّ الرُّجُلُ يَحُطُّ" (*hutar rajulo yahut*): he got down from above.

"ألْحُطَّاعِطُ" (al-hutaa-it): man of small height {T}.

In surah *Al-Baqrah* verse 2:58 where the *Bani Israel* have been told to enter the city victoriously, it is also said "وَقُوْلُوْ ا حِطَّة" (*waqulu hitta*) which means to go and settle in this city, and pray that days of our wandering in the wilderness may come to an end. Let our traveling goods be unloaded and let us live comfortably.

Raghib says "خِطَّ عَنَّانُنُوْنِيَّا" (*hitta*) is the same as "خَطَّ عَنَّانُنُوْنِيَّا" (*hutta unna zunubana*): unload our sins from us, remove our sins from us. This too means that we may be pardoned and our days of gypsy life may be over.

H-Te-M حطم

(al-hatm) means to break, no matter how. To break something dry, like the bones "الْحَطْم"

"أَنْحَطَمُ" (inhatama): that thing broke.

"أَلْحِطْمَةُ" (al-hutama): whatever that breaks off a thing.

"أَحْطِيْمُ" (al-hateem): the part which has been left aside from the Ka'ba.

"أَلْحَطْمَةُ" (al-hatma): severe drought year.

"أَحْطَمَةَ" (*al-hutama*): camels or goats in large number who trample the crops. It also means intense fire which burns everything down to its ashes. It is also used for a shepherd who oppresses his flock.

Surah An-Namal says:

| 27:18 lest they trample you: |
|------------------------------|
|------------------------------|

Surah *Az-Zumr* says:

| 39:12 | then He breaks into very small pieces, like something | ثُمَّ يَجْعَلُهُ حُطَامًا |
|-------|---|---------------------------|
| 39.12 | trampled upon: | م يجعنه حطائنا |

Surah *Al-hamzah* uses "أَحْطَمَة" (*al-hutamah*) for *jahannam* in 104:4, that is, the condition in which humanity is trampled down.

"خَطْرَهُ الشَّيْءَ يَحْظُرُهُ" (*hazarhush shaiya yah-zarohu*): to stop him from something, to lock, to stop. "حَظَرَهُ عَلَيْكَ" (*hazarahu alaika*) is said when something becomes an obstruction between two things. "أَحْظَلُيْرَهُ" (*al-hazeerah*): the boundary around a field (of crops), boundary, a circle of sorts which is made from branches of date palms etc. and dates are put inside after being picked, a camel pen etc. "أَحْظَارُ

(*al-khazeer*): also means a miser because he keeps his wealth to himself and does not open it (makes it available) for the rest of human race.

"الْمَحْظُوْرُ" (*al-mahzoor*): stopped, obstructed, and prevented, one who has been stopped from receiving something {*T*}.

The Quran says that as per God's physical laws, worldly wealth, according to one's efforts, can be acquired by anyone who strives, whether *Kaafir* (denier) or *Momin* (believer).

| 17:20 | God has not limited his Benevolence (to the Momin only) | مَاكَانَ عَطَاءُ رَبِّكَ مُحْظُوْراً |
|-------|---|--------------------------------------|
|-------|---|--------------------------------------|

It has been kept open for all mankind, and there for they should be open for all. The system which puts curbs on God-given fountains of sustenance by putting them in individual ownership violates the universality of God's principles. That is why it can never succeed. This has been called "يَمْنَعُوْنَ الْمَاعُوْنَ الْمَاعُونَ الْمَاعُونَ الْمَاعُونَ الْمَاعُونَ الله and the sustenance which should flow like water, has been curbed by putting dams.

Surah *Qamar* says about the destruction of the nation of *Samood*:

| | they became like the leftover broken pieces in an old pen | |
|-------|--|------------------------------------|
| 53:31 | (or like the sawdust which a man makes an enclosure to keep) | فَكَانُوا كَهَشِيْمٍ الْمُحْتَظِرِ |
| | (Ibn Faris). | |

حظظ H-Ze-Ze

"أَلْحَظَ" (al-huzz): luck, ordained part.

"أَحْظَ فَلَانَ" (ahuzza falan): that man became rich and lucky.

"أَلْحَظِيَظُ" (al-hazeez): lucky and well to do {T}.

The Quran calls a very lucky man as "نُوْحَظٌ عِظِيْمِ" (*zuhazzan azeem*) in 41:35. He is the man who removes with goodness whatever that is bad, and treads steadfastly on the right path (41:34-35).

حفد H-F-D

"حَفَدَ" (hafad), "يَحْفِدُ" (yahfad): to be quick in work, to serve.

"أَحْفَدُ وَٱلْحَفَدُ وَٱلْحَفَدُ وَٱلْحَفَدُ وَٱلْحَفَدُ وَٱلْحَفَدَةُ وَالْحَفَدَةُ مُعْلَدَةُ مُعْلَى الْحَفَدَةُ وَالْحَفَدَةُ مُعْدَاةً (haafid) is one who does some work with alacrity and obedience {*T*}.

The Quran says:

| 16:72 | he made your wives give birth to you progeny (sons) and servants as well | وَجَعَلَ لَكُم مِّنْ أَزْوَاجِكُم بَنِيْنَ وَحَفَّدَةً |
|-------|---|--|
|-------|---|--|

Some say that "جِفَادُ الرَّجُلِ" (*hifaadur rajul*) means man's progeny. Some others say that it means relatives by law. Still some others say this means grandsons {*Lataif-ul-Lugha*}. The majority however, thinks it means servants, and the verse means that He gave birth to your progeny from your wives and created servants to serve you. This word is taken to mean grandsons because they are more sincere in service.

By servants, it is meant those who help in work, not slaves or low status citizens whom you do not even give the status of human beings.

ح ف ر H-F-R

تَحْفَرُ أَنْتَى عَنِحْفَرُ السَّىْءَ يَحْفَرُ السَّىٰءَ يَحْفَرُ السَّىٰءَ يَحْفَرُ السَّىٰءَ يَحْفَرُ السَّىٰءَ يَحْفَرُ " (*hafarash shaiya yahferuh*) means to dig. The place which is dug is called "حُفْرَةً" (*hufrah*), and with which tool you dig, is called "مِحْفَارٌ" (*mihfaar*) {*T*, *R*}.

"أَلْحُفْرَةَ" (*al-hufra*): a dug hole {*T*, *R*} as used in 3:102.

"الْحَافِرُ" (al-haafir): an animal's hooves, because when the animal walks his hooves dig the ground.

"حَافِرَة" (*haafirah*) is a road or path with landmarks.

"زَجَعْتُ عَلَى حَافِرَتِى" (*raja'to ala haafirati*): I returned to the path I was on. That is, to return to one's former state.

Ibn Faris says it also means the first task besides digging.

Surah *An-Nazeaat* says that when they are told that their power and wealth will be lost to them and they will return to their former state when they were without it, they make fun of this.

| 79:10 | and they say' listen to this, they say that we will return to our former state (as if this was possible) | يَقُولُوْنَ ءَ إِنَّا لَمَرْدُوْدُوْنَ فِي الْحَافِرَةِ |
|-------|---|---|

Taj says that "خَافِرَة" (*haafirah*) means for the last part to return to the first part. In other words, to become as you were, or to return towards life after that even your bones have become hollow, or to relive.

ح ف ظ H-F-Ze

"حَفْظًاً" (*hafezah*), "حَفْظًا" (*hifzan*) means to guard, to protect $\{T\}$. "الْحِفْظُ" (*al-hifzo*) means the same in (37:7).

Nawab Siddiq Hasan Khan writes that words in which "z" (*ha*) and "نن" (*fa*) appear together have the connotation of collecting or gathering together.

One aspect of protection is not to let something be scattered, be divided, to keep together. "حَفَيْظُ" (*hafiz*), "حَفَيْظُ" (*hafeez*): the man who is appointed to guard something, a guard $\{T\}$.

| 86:4 | there is a guard or overseer appointed for everyone: | اِنْ ݣُلِ نَفْسٍ لَّمَّا عَلَيْهَا حَافِظْ |
|-------|--|--|
| 11:57 | my Sustainer is overseer of everything | اِنَّ رَبِّیْ عَلٰی کُلِّ شَیْءٍ حَفِیْظٌ |

In surah **Qaf**, a **Momin** has also been called "حَفِيْظٌ (*hafeez*). It would mean one who guards or oversees Allah's laws. The plural is "حَفَظَةٌ (*hafazah*).

In the Quran, this word has also been used for those celestial powers (*malaikah*) which according to Allah's law control everything (6:61).

نَاسْتَحْفَظَ[:] (*istahfaz*): to wish for protection. تَمَخْفُرُطُّ[،] (*mahfooz*): kept in protection.

The Quran says:

| 5:44 | the Book of Allah which was given to them for safekeeping: which they were required to protect: | بِمَااسْتُحْفِظُوْا مِنْ كِتَابِ اللَّهِ |
|-------|--|--|
| 21:31 | We made the sky a safe roof | وَجَعَلْنَا السَّمَاءَ سَقْفاً مُحْفُوْظًا |

Fathal Qadeer says that it means "مَرْفُوْعاً" (*marfoo-a*) or high. But we did not get confirmation of this in the dictionaries. Perhaps these meanings were taken with regards for protection of something, is kept so

high that it is beyond people's approach or reach, but this is only a guess. For the meaning in detail see heading (S-M-W)

Nasir says that "أَحْافِظُ" (al-haafiz) also means straight and clear path.

حف ف H-F-F

"أَحْفَانَ" (*al-hifaaf*): the ring of hair on a bald man's head: Otherwise this word means everything which surrounds something.

"حَفَّمُ بِالسَّيْنِي (*haffa bish shaiyi*): he surrounded him with something. "حَفَّمُ بِالسَّيْنِي (*haf-fafo haulahu*): he surrounded him {*T*, *M*}.

The words in which " ζ " (*ha*) and " $\dot{}$ " (*fa*) appear together, contain the meaning of gathering together or collecting.

Surah *Al-Kahaf* talks about two orchards:

| 18:32 We placed date palms around them | حَفَقْنْهُمَا بِنَخْلٍ |
|--|------------------------|
|--|------------------------|

Surah *Al-Zumr* says:

| 39:75 | you will find that the <i>malaika</i> surround the sky | وَتَرَىٰ الْمَلْءِكَةَ حَافِّيْنَ مِنْ حَوْلِ الْعَرْشِ |
|-------|--|---|
|-------|--|---|

The sky (*arsh*) is the center of the universe's control, and *malaika* are the forces which put God's program into action. All these forces work according to God's celestial control.

ح ف ی و H-F-Y/W

"أَحْفَا" (*al-hafa*): man's or camel's foot and animals' hooves which due to excessive walking get injured or scraped, or to walk barefoot without shoes or socks.

"(*ihtafa*): he walked bare foot *{M}*. Since a man gets up and leaves barefoot only for some work which he deems urgently and think of as most essential, Therefore, this word is also used for intensity and exaggeration.

"خفي بہ:" (*hafia behi*): treated him very kindly, respected him, and expressed pleasure at seeing him *{M}*. "خفي عَنْهُ بَحْفِي عَنْهُ بَحْفَى عَنْهُ بَحْفَى عَنْهُ بَحْفَى عَنْهُ بِحَدْ

"أَحْفَىٰ السُوَّال (ahfas suwaal): he repeated the question again and again. He asked insistently.

"أَحْفِى" (*al-hafee*): a scholar who has acquired knowledge with great endeavor or someone who can get to the bottom of things.

السِنتَحفى الرَّجُلُ» (istahfar rajul): he found out with much effort {M}.

"أَلْحَافِي" (al-haafi): judge who gets to the bottom of the matter and decides the case.

"أَلْحَفِي" (*al-hafee*): someone who knows thing very well *{T}*, or someone with vast and comprehensive knowledge.

Surah *Al-Airaaf* says:

| 7:187 | they ask you about the <i>sa-a</i> (the moment i.e. <i>qiyamat</i>) as if | يَسْتَلُوْ نَكَ كَأَنَّكَ حَفِيٌّ عَنْهَا |
|-------|--|---|
| /.10/ | you are researching this subject beside everything else | يستوقق فاقاق موتى متها |

Surah *Maryam* says about God:

| 19:47 He is very kind to me. He looks after my needs | اِنَّهُ کَانَ بِیْ حَفِیّاً |
|--|-----------------------------|
|--|-----------------------------|

"حَفِى بِـــ،" (*hafio behi*) means to exaggerate in someone's respect. *Samai* says "حَفِى بِـــ،" (*hafia behi*) means to be when needed, and to make him stay with respect $\{T\}$.

| 47.37 | If he asks you (for wealth) and insists on his demand: | اِنْ يَسْتَلْكُمُوْ هَا فَيُحْفِكُمْ |
|-------|--|--------------------------------------|
| 47.37 | pursues you or sticks to you or keeps after you bare footed. | رِنْ يَسْتَكْمُو هَا فَيُحْفِحُمُ |

Ibn Faris has said that the root basically means to prevent, to be excessive in asking, and to be bare-foot.

This root also contains the connotation of uprooting something. "بَحْفَاءُ الشَّوارِب" (*ihfa-ush shawarib*): to shave off the moustache from the roots.

Muheet has quoted a verse by Abu Faras inb Hamdan Advi:

اَ عَايَةُ الدِّيْنِ انْتُحْفُوْ اشَوَار بَكُمْ - يَا أَمِءَةً ضَحِكَتْ مَنْ جَبِّلِبَا الأُ مَمُ

Which means: "Has the importance of Deen (this way of life) been reduced to shaving off your mustache only? The nations of the world are laughing at your idiocy."

ح ق ب H-Q-B

"أَحْقَبْ" (al-haqab): the strap that passes under the camel's belly and is fastened to the 'howdah'.

Ibn Faris says that the basic meanings of the word are to prevent or imprison.

"أَلْحَقِيْبَةً" (*al-haqeebah*) means sack, especially the sack which dangles at the back side of the camel's seat. "الْمُحْقِبُ" (*al-mohqib*): a man who allows someone else to ride at his back on the camel.

(ihteqab fulan): that man tied something to the camel's seat and let it dangle. الْحَتَقَبَ فَلَانَ"

(ihteqaba fulanul ism): that man tied a bundle of sins behind him. (الْحَتَقَبَ فَلاَنُ الْإِنْمَ) (الْحَتَقَبَ

أَلْحِقْبَتُمِنَ الدَّاهُرِ" (al-hiqba minad dahar): a period of time which cannot be measured.

"أَحْقَلُ" (*al-huqbu*), "الْحُقَّلُ" (*al-huqbu*): time, a period of 80 years, a year and many years. The plural is "أَحْقَالُ" (*ahqaab*). This word denotes an unlimited period of time *{R*}.

Lataif-ul-Lugha has written that it means "أَلَدَ هَنُ" (ad-dahr), which is indefinite time.

| 18:60 | Keep walking (moving on) for years and years. | اَوْ اَمْضِيَ حُقْباً |
|--------|---|------------------------------------|
| 78:23 | they will live in it (<i>jahannum</i>) for an indefinite time | لٰبِثِيْنَ فِيْهَا أَحْقَاباً |
| 11:107 | As long as the sky and the earth exist. | مَادامَتِ السَّمٰوٰتُ وَ الْأَرْضُ |

Surah *Al-Kahaf* says:

ح ق ف H-Q-F

"أَلْحِقْفَ" (*al-hiqfu*): means long, high or big, round sand dune. Plural is "أَحْقَافَ" (*ahqaaf*). Also means a winding, sandy land.

"أحْقَانَ" (*ahqaaf*) is used in 46:21 for the dunes and mountains between *Oman* and *Hazarmot* in Yemen where the nation of *Aad* used to live $\{L\}$.

ح ق ق H-Q-Q

"خَفْ" (*haqq*) means for something to be present, happen or to be proven in way which cannot be denied $\{L\}$. It means for something to present itself in concrete form, or to be established.

Words in which "ر" (*ha*) and "نَ" (*qaf*) appear together give a positive meaning.

Ibn Faris says its basic meanings include health (good health), stability and establishment.

"نَعِنْدَ حَقِّ لِقَاحِهَا" (*inda haq liqaa-heha*): after a she camel's pregnancy was established. "رَجُلٌ حَاقُ الرَّجُلِ): means that man's manliness is an undeniable truth "رَمْى فَاَحَقَّ الرَّمِيَّة" (*rama fa-ahaqqar ramiyyah*): he shot the arrow and the animal died, Thus, it was proven that his arrow had hit the target. The dead animal Hence, proved that the arrow had found its mark. "الحْقَقَتْ بِم الطَّعْنَة" (*ihtaqqat behit ta'nah*): spear injured him, and proved that the attack was indeed fruitful. "طُعْنَةٌ مُحَقَقَة" (*ta'na mohaqaqa*), or "مُحْقَقَةً" (*mohtaqqa*): it is said when the spear goes through and leaves no doubt that it had hit its target.

"حَقّ (*haqq*) Thus, means for something to be established as a solid event or reality.

Surah *Al-Ahqaaf* says that the criminals will be made to stand before their punishment and asked:

| | | I |
|-------|---|---------------------------|
| 46:34 | Say if the law of consequences is a reality or not? | ٱلَيْسَ لهٰذَا بِالْحُقِّ |

Similarly when *Yusuf* gained prominence in Egypt, he said to his father:

| | this is the reality behind the dream which I had in my | هَذَا تَاْوِيْلُ رُءْ يَاىَ مِنْ قَبْلُ |
|--------|--|---|
| 12:100 | childhood, | ۲ <u>۳</u> ۳۰۲۰۲۰ ۲۰ |
| | my Sustainer has presented it in the form of a solid event | قَدْ جَعَلَهَا رَبِّي حَقّاً |

Similarly surah *Hijr* says that when *Ibrahim's* guests gave him the good news about a son in old age, Ibrahim was surprised, and they said:

| 15:55 | the good news we are giving you will come before you as a solid reality | بَشَّرْنِکَ بِالْحَقِّ |
|-------|---|------------------------|
|-------|---|------------------------|

Thus, "حَقِّ" (*haqq*) means for something to appear as a solid event or reality.

A solid reality can incorporate changes only if its development is constructive, Therefore, *haqq* means the positive and constructive results of deeds.

تَحْقِيْقٌ (tehqeeq) means to weave cloth very strongly {L}.

تَوْبٌ مُحَقَّقٌ) (saubun muhaqqaq) is a cloth which has a strong weave {M}.

"ألحِقَ" (*al-hiqq*) are the camels which have completed three years (of age) and entered the fourth, and are now able to bear a load, and they are now also capable of making female camels pregnant and Thus, are productive $\{T\}$.

(ehtaqqal faras) means that the horse became weak, or emaciated. "الِحْتَقَ الْفَرِسُ"

"الْحِتَق الْمَالْ (ihtaqqal maal) means that the cattle fattened.

(*inhaqqatil uqdah*): the knot was very tight *{T*}. Hence, *haqq* means solid, constructive event, which is established and solid, which cannot be erased.

The Quran uses "يَحِقُ" (*yuhiqqo*) as against "يَحِقُ" (*yamho*):

| Allah's laws of the universe, destroy the results of destructive forces, and maintains the results of the constructive forces, which keep their presence in solid shape: | وَيَمْحُ اللَّهُ الْبَاطِلَ وَيُحِقُّ ا |
|--|---|
|--|---|

Anything can last only if it is according to the laws of protection and permanence, also which can meet the needs of times which is right in its own place and also meets the need of the changing times. Therefore, another meaning of *haqq* is intellect and knowledge, fair play and justice, and to be right in accordance with the times.

Raghib has explained this through an example. Nowadays there are locks on doors but in older times there used to be a projected wooden bar which used to fit the socket in such manner that it used to stay in place as well as swing with the door. **Raghib** says that **haqq** is like that. Therefore, **haqq** also means an inventor who invents keeping the needs of sagacity in mind.

"الْحَقُّ مِنَ الْفَرَسِ" (*alhaqqo minal faras*): means a horse which steps with its hind legs right where it foreleg fell *{T}*.

In the light of the above meanings, the right connotation of "حَقَّنَ (*haqq*) and "بَاطِلٌ (*baatil*) may be comprehended.

"يَحِقُ" (*haqqul amro yahaqqo*) and "يَحِقُ" (*yahiqqo*) mean that that act became compulsory. "حَقَّ الْأَمْرُ يَحُقُّ" (*haqiaah*) is something whose protection is compulsory for you.

"حُقاً عَلَى الْمُتَقَيْنَ" (*haqqa alal muttaqeen*) as used in 2:180 means this very thing, that the *muttaqeen* are under compulsion not only to follow those laws, but also to protect them.

The flag of a country is also called "حَقِيْعَةُ" (*haqiqah*) because it establishes the presence of a country and its protection is compulsory on its citizens.

"حَقَّ الطَّرِيْقَ" (*haqqal tareeq*) means that he mounted and walked in the middle of the road, and Thus, his presence became prominent {*T*}.

Surah **Yunus** has used the word **haqq** as against "نَكْنَّ" (*zann*) in 10:36 where it has been said that *zann* does not work against **haqq** at all. Therefore, **haqq** should be followed and not *zann*. **Deen** is totally **haqq** and there is no place for *zann* in it, as said in 10:30. God is **haqq** Himself, and his messenger is **haqq** as well.

The Quran which He has sent is haqq (34:6). Its promises (laws) are also haqq (10:55). Its way of live is haqq (9:33), and this universe has been created with haqq (39:5).

Since *haqq* is higher than *zann* or doubts, and it is present in a solid constructive event, Therefore, the appearance of results is also called "أَلْحَاقَّ: (*al-haqqah*), as in 69:1.

The above explanations show that *haqq* is not something mental, intellectual, or conceptual. This is the name for the concept and beliefs in life that make their appearance in solid shape, which are compatible with the times and which are not dependent on external reasoning for their truth, but are like the sun, which are proof of their own. No belief about this world can be proven *haqq* until its constructive results appear in the form of reality.

The Quran says that the sky will be torn asunder and the earth will become empty. For details see Mafoomul Quran.

After this it is said:

| 84:2-5 | It will act upon the laws made by its Sustainer and it has | وَإَذِنَتْ لِرَبِّهَا وَ حُقَّتْ |
|--------|--|----------------------------------|
| 04.2-3 | been so (to act so) created. | والإلك لربها وتتحفف |

Similarly for making the results of deeds becoming compulsory, it has been said:

| 7:30 | (a group) was committed to go astray | حَقَّ عَلَيْهِمُ الضَّلَالَةُ |
|--------|--|--|
| 17:16 | So was proven against it their word | فَحَقَّ عَلَيْهَا الْقَوْلُ |
| 50:14 | So was proven my promise | فَحَقَّ وَعِيْدِ |
| 38:14 | So was proven my penalty | فَحَقَّ عِقَابِ |
| 10:103 | to protect the <i>momineen</i> from the conspiracies of the opponents is incumbent upon us | حَمَّاً عَلَيْنَا نُنْجِ الْمُؤْمِنِيْنَ |

"حَقِيْقَ" (*haqeeq*): proper, essential, compulsory, or must (7:105).

(*istahaqqa innama*): that they committed a crime. Here too, this word has been used for the act to be committed, for it to become an event (5:107).

These are the basic meanings of *haqq*. See heading (*B-Te-L*) for "بَاطِلٌ" (*baatil*) as against *haqq* so that the meaning of *haqq* becomes more clear.

"أَحْكَمَةَ" (*al-hakamah*) means the horse's rein *{T}*, rather the bit which is then tied to the leather so that it tightens both the jaws, so that they do not move. It is called "حَكَمَةٌ" (*hakamah*).

"أَحْكَمَ الْفَرَسَ" (*ahkamal faras*) means to rein a horse like this, since this rein is to keep the horse in check. Hence, it is said:

"حَكَمْتُ الْفَرَسَ" (*hakamtul faras*): I stopped the horse and (with the help of the reign) controlled him. "أَحْكَمَمَ عَنِ الْأَمْرِ" (*ahkamahu unil amr*): he prevented him from it, stopped him.

Ibn Faris says that its basic meaning is to stop or prevent, to tell a person, which are his limits that he cannot exceed. This is, making a decision in controversial matters. That is to ascertain the limits of one's rights and responsibilities, and not allow them to exceed them. This is the meaning of " \dot{c} " (*hookum*), which is order, or decision {*T*}.

(haakim) means one who decides, one who orders something as foregoing.

"حَكَمَ بَيْنَهُمْ كَذَالِكَ" (*hakama bainahum kazalik*) means he decided Thus, between them {*T*}. "تَحَكَّمُ بَيْنَهُمْ مَدَّرُالِكَ" (*al-hukumah*) is the noun.

"أَحْكَمُ" (*al-hakamo*): arbitrator with authority or reach, one who can decide finally for or against, one who imposes the law (6:115, 4:35).

"أَحِكْمَةُ" (*al-hikmah*) means to keep fair play and justice in mind while deciding. That is, to fix everyone's limits and not allow them to transgress. This is why a "حَكِيْمٌ" (*hakeem*) is a person who deals with matters in a balanced way, keeping all aspects in mind *{T*}.

(hakam): stop something at one spot, anything which stops firmly at one place.

"أَحْكَمَرُ" (ahkamah): made it stolid, made it immoveable from that spot {T, M}.

Ibn Faris says that "جِكْمَة" (hikmah) is called so, because it prevents from unawareness.

In *Allama Iqbal's* view (a very famous poet of the East); "حِكْمَةً" (*hikmah*) is an opinion with authority, that is, the power to decide and the power to implement the decision. This is nowadays called 'governance'.

The Quran has been described as "خَكِنَّمَ" (*hakeem*) in 36:2, because it fixes the right point for everything and does not let it transgress. It decides all controversial affairs. God too has been called "خَكِنَمَ" (*hakeem*) in 2:32 because He operates the universe on sound grounds and creates everything in the right proportion and controls everything with his laws.

| 2:113 | He decides affairs controversial among men | يَحْكُمُ بَيْنَهُمْ فِيْمَا كَانُوْا فِيْهِ يَخْتَلِفُوْنَ |
|-------|--|--|
|-------|--|--|

The Quran has said that its verses are of two kinds, "مُحْكَمَتْ (*mohkamaat*) and "مَتْشَابِبَاتُ" (*mutashabehaat*). This is a very important point and must be well understood.

Surah *Aal-e-Imraan* says the following in ordinary language:

| Surun 71 | Suran Au-e-Imruan says the following in ordinary language. | | |
|----------|--|---|--|
| | Allah is the One who has revealed this Book to you. | | |
| | One kind of verses it contains is 'mohkam', and these | | |
| | are the basis of the Book. The other kind is | هُوَالَّذِيْ أَنْزَلَ عَلَيْكَ الْكِتَابَ مِنْهُ آيَاتٌ مُحْكَمْتٌ هُنَّ | |
| | 'mutashabihaat' (figurative). Therefore, those who | | |
| | have some mischief in their hearts, latch on to the | أُمُّ الْكِتَابِ وَ أَخَرُ مُتَشْبِهِتٌ - فَاَمَّا الَّذِيْنَ فِيْ قُلُوْبِمِمْ | |
| 3:7 | 'mutashabihaats' to make them controversial by | زَيْغٌ فَيَتَبِعُوْنَ مَا تَشَابَهَ مِنْهُ ابْتِغَاءَ الْفِتْنَةِ وَ ابْتِغَاءَ تَاْ وِيْلِهِ | |
| 5.7 | attributing different meanings to them, although their | | |
| | true meaning is known only to Allah and those who are | وَمَايَعْلَمُ تَاْ وِيْلَهُ إِلَّا اللَّهُ وَالرَّسِحُوْنَ فِيْ الْعِلْمِ يَقُوْلُوْنَ | |
| | solid in knowledge. Those say that we have trust in all | امَنَّا بِهِ ݣُلُّ مِنْ عِنْدٍ رَبِّنَا وَمَا يَذَّكُّرُ إِلَّا أَوْلُوا لْأَلْبَابِ | |
| | of them (the verses) and these are all from our | | |
| | Sustainer. The truth is that truth can be understood | | |
| | only by those who have insight and intellect. | | |

As seen above, *mohkam* means resolute, unmoving in its place, one who decides clearly and solidly, but here it has been used as against *mutashabehaat*. Thus, *mohkam* would mean that which is not *mutashabehaa* or similar. *Mutashabehaa* would mean that which is not *mohkam*. This means that *mohkamaat* and *mutashabehaat* are two types of verses in the Quran.

For detailed meaning of "مَتَشَابِهُ" (*mutashaabeh*) see under heading (Sh-B-H). Briefly, it means similar or like one another.

Mohkam would Therefore, mean firstly the verses which mean exactly what they say. For instance, in the case of *nikaah* (the marriage contract) it is said:

| 4:23 | your mothers are forbidden for you (you all are forbidden to wed your mothers) | حُرِّمَتْ عَلَيْكُمْ أُمَّلْمَتُكُمْ |
|------|---|--------------------------------------|
| | · · · · · · · · · · · · · · · · · · · | |

Here "أُمَّ" (*umm*) means mother, that is, the woman who gives birth to a child, but as mentioned earlier under verse 3:7, "بُنَّ أُمُّ الْكِتَابِ" (*hunna ummul kitaab*) is not that kind of mother. The word *umm* has been used metaphorically and it means the basis and real. This is the explanation of the word.

"تَأْوَيْلَ" (*ta'weel*) means end result, the ultimate reality of anything. The Quran contains the guiding principles for Mankind. Obviously, the words and meaning of such principles and rules should be such whose meanings are evident from the very words, as in "حُرِّمَتْ عَلَيْكُمْ أُمَّرَبْتُكُمْ أُمَّرْبُتُكُمْ الله whose meanings are evident from the very words, as in "حُرِّمَتْ عَلَيْكُمْ أُمَّرْبُتُكُمْ أُمَّرْبُتُكُمْ أُمَّ الله (4:23). These verses are *'mohkamaats'*. But at the same time, the Quran also contains such truths which are beyond our comprehension, as Allah's personality and His traits, life after death and the results of our deeds, the concepts of *jannah* and *jahannam* or the end purpose of human life. It is obvious that such truths can only be told allegorically.

This means that they will be related symbolically. For instance, it has been said about Allah:

| 7:54 | He sat on the <i>arsh</i> (came to stay on the throne) | ثُمَّ اسْتَوِىٰ عَلَى الْعَرْشِ |
|------|--|---------------------------------|
| 11:7 | His <i>arsh</i> (throne) is on water | كَانَ عَرْشُهُ عَلَى الْمَاءِ |

Obviously in these verses "غَرْشٌ" (*arsh*) is not a throne made of wood or some other material, and "مَاءً" (*ma'a*) also does not mean water. This is an allegory, that is, these facts have been related in an allegorical or symbolic way. Thus, these verses are *mutashabehaat*. Meaning that these verses are such in which truths have been related in an allegorical way.

It is also true that the truths which are beyond our senses cannot be comprehended by us. Although by deliberating on similar things which have been related, we can get some, not total, idea as to what they may be. As from the word we can understand, that it means authority or control, or in 11:7 "ألماء" (*ma'a*) means the fountainhead of life, because at another place in the Quran, it is said:

| | , | , |
|-------|--|--|
| 21:30 | we made every living thing from water: | وَجَعَلْنَا مِنَ الْمَاءِ كُلَّ شَيْءٍ حَيٍّ |

But we cannot understand how He exercises His control or how He created the life form. We have been given a very small part of these truths:

| وما أوييتم مِن العِلْمِ إلا قَلِيلاً (17.85) And of knowledge ye have been vouchsafed but fittle. | 17:85 And of knowledge ye have been vouchsafed but little. | وَمَا أُوْتِيْتُمْ مِنَ الْعِلْمِ إِلَّا قَلِيْلاً |
|---|--|--|
|---|--|--|

However, we can exercise our intellect, knowledge and insight to reach the level of guidance meant for us by these indications:

| 3:7 | And not will they take heed, except men of understanding. | وَمَا يَذَّكُرُ أُوْلُوْ الأَلْبَابِ |
|-----|---|--------------------------------------|
|-----|---|--------------------------------------|

Two types of mentalities have been mentioned about such verses, i.e. *mutashabehaat*. One belongs to those who are out to create controversies, that is, by leading mankind away from the basic truths about life and into mere rhetoric and into spending their energy in futile pursuits. In order to understand these beyond-comprehension truths, they keep on projecting different concepts and thoughts, and consider all this to be the height of knowledge. They consider human matters as lowly and are always engaged in celestial matters. This Quran says is the wrong path, and makes one oblivious of practical life.

On the contrary, people with the other type of mentality are those whom the Quran calls "رَاسِخُوْنَ فِى الْعِلْمِ" (*raasekhoona fil ilm*) and "أولى الْأَلْبَاب" (*oolil albaab*), which is those who exercise their intellect and thought, and go on becoming more mature in their knowledge. They, it has been said, build their thoughts on the structure of trust. This means that they say that all these truths have been related by God who has the knowledge about all things. As such, there can be no doubt about their being the truths.

Therefore, there is no doubt that they are the truth but we cannot grasp their real connotation. However, the human guidance that they can provide us, we can certainly reach through the use of our intellect and understanding, but this is the limit of our understanding of these truths. Only Allah is aware of the real connotation of these truths and people can only understand them as far as human guidance is concerned.

The Quran has said at several places that man can derive the right results from knowledge if he uses his intellect under the guidance of the celestial revelation. For example see 46:26 or 25:23. It must also be understood that there are two types of believers. One type will be of those people who believe in the celestial message as it is, and the other is of those people of knowledge and perception who use their intellect to deliberate on the truths of the celestial message.

Surah *Al-Mudassar* has called the latter group "الَّذِيْنَ أُوْتُواْ الْحِتَّبَ" (*al-lazeena ootul kitab*), which are those with more understanding of the book, whereas common folk have been called "الْمُوْمَنُوْنَ" (*al-muminoon*), or just the believers (72:31).

Surah *Al-Mudassar* talks in detail about the two groups mentioned above and their mentality.

Also it has been said about "سَقَرٌ (saqar) or hellish state that:

| 74:31 nineteen angels are posted there | عَلَيْهَا تِسْعَةَ عَشَرَ |
|--|---------------------------|
|--|---------------------------|

Obviously, this is only a parable and after that it has been said:

| 74:31 | And not we have made their number, unless a trial | وَمَا جَعَلْنَا عِدَّتَهُمْ الأَفِتْنَةَ لِلَّذِيْنَ كَفَرُوْا |
|-------|---|--|
| /4.31 | for those who deny | وما جعلنا عبائلهم الأقينية للكذين كفروا |

Their count i.e. the count of 19 is a cause for chaos for those who deny the truths of the Quran. But conversely:

| | those who have been given the knowledge of the | |
|-------|--|--|
| 74:31 | Book strengthen their belief through this Book and | وَلَا يَرْتَابَ الَّذِيْنَ أُوْتُوْا الْكِتَابَ وَ الْمُوْمِنُوْنَ |
| | the common believers increase their faith through it | |

However, whether it is the elite of the believers or the commoners they never find the allegorical tales of the Quran as doubtful, but:

| | Those whose hearts are diseased and also those who | ليكنوَلِيَقُوْلَ الَّذِيْنَ فِيْ قُلُوْجِمْ مَرَضٌ وَ الْكَافِرُوْنَ مَاذَا آرَادَ |
|-------|---|--|
| 74:31 | do not believe in the Quran ask as to what does Allah | ' |
| | really mean when He presents these allegories? | اللَّةُ بِعِذا |

After that it is said that the truths in the Quran have been related through parables. Whoever wants to derive guidance from these can do so and whoever wants to be misled can also do so. After that it has been said:

| 74:31 | these are the soldiers of Allah about whose reality | وَمَا يَعْلَمُ جُنُوْدَ رِبِّكَ إِلَّاهُوَ |
|-------|---|--|
| /4.31 | and connotation only He can tell | وما يعدم جنود ربك إلا هو |

And then it is also said:

| 74:31 | but their allegorical mention is there for the guidance of human beings | وَمَاهِيَ إِلَّا ذِكْرِيٰ لِلْبَشَرِ |
|-------|--|--------------------------------------|
| | of numan beings | |

As such those who are convinced that they are the truth do not try to find their exact connotation etc. but through the use of intellect and deliberation, reach the guidance that is meant for them. This is the first

meaning of the verses that are called "مُحَمَّتُ (muh-kamaah) and "مُحَمَّنتُ (muta- shabihaat).

Muta-shabihaat also include truths that have been related in words that are similar to others but the meaning of which every person can derive as per his own knowledge level and intellect or the persons of different eras can glean according to the advancement of that time. The Quran is guidance for every level of human being and person in every era. We find that even during the same era people possess intellect and knowledge that is different from others of the same era, and if the Quran had related its truths which only a particular set of people could understand, then it could not have been meant for eternity as at present nor be universal and could have been suited to only people of a certain era or people of a certain level only. Then it would have been useless for all others. It was Therefore, necessary to describe the truths in a way that could be interpreted in many different ways so that people with all mental levels during all eras could benefit from it.

Actually the choice of words is also a characteristic of the Quran. These words not only represent the truth at all times but men of all mental levels can benefit from it. For instance the Quran says about the celestial system:

| اڭُلُّ فِيْ فَلَكٍ يَسْبَحُوْنَ Everything is progressing in its own circle. |
|--|
|--|

And about the sun the Quran says:

| 36:38 the sun is travelling towards its destiny | وَالشَّمْسُ تَخْرِيْ لِمُسْتَقَرِّ لَهَا |
|---|--|
|---|--|

Obviously till the ancient beliefs about the universe were prevalent there could be no right concept about the planets and the stars. When later the astronomer *Copernicus* came out with his theory about the universe and the celestial bodies, then it was known as to how the celestial bodies revolve in their respective circles. Similarly, until *Herschel's* theory came to light, nobody could imagine that the sun along with all bodies within its system was travelling towards its destiny. Until human knowledge had not reached this far, the Quranic verses regarding these were *mutashabihaat* or metaphors, but after the discoveries and revelations, the related verses entered the realm of *muhkimaat*.

Now these verses hold the status of *muhkimaat* for persons of a certain mental level. For people below that level they still hold the status of *mutashabihaat*. Till these verses were included among the *mutashabihaat*, and the discoveries were not made only Allah knew about the truth in them. When these discoveries were made then these verses entered the realm of *muhkumaat*, and their reality was disclosed to some people of thought and knowledge. It is due to such instances that it has been said that Allah has revealed the Quran, and Who is aware of the highs and lows in the universe (25:6).

After a few verses, it is said that if you want to know anything about these matters then:

| فَسْتَكَلْ بِهِ حَبِيْراً ask the One who is aware |
|--|
|--|

Until human knowledge reaches a certain stage, only Allah is aware of those truths. He is the one who has related the truths in parables through the celestial revelation. When human knowledge reaches that level, then human beings too, those who are in a position to know, will become aware of those truths as well. As such, this is also one meaning of *mutashabihaat* and *muhkumaat*.

These are the various meaning of *mutashabihaat* and *muhkumaat* of the Quranic verses. But whether it is *mutashabihaat* or *muhkumaat*, all verses are strong and authoritative in their own right. Every single word of the Quran is like a rock, established in its place.

That is why Surah *Hood* says:

| 11:1 | This is a book of which all verses are authoritative | كِتَبٌ أُحْكِمَتْ آيَاتُهُ |
|------|--|------------------------------|
| 11.1 | for this book, comprises of permanent values. | نِبْبَ الحَكْرِمْتَ آيَاتَهُ |

The truths it contains are unchangeable and its principles too do not know change. The truths that have been related in parables are also unchangeable in their veracity. From this point of view, all verses of the

Quran are *muhkumaat*.

On the contrary, Surah *Al-Zumr* says that the whole book is comprised of '*muta-shabihaat*':

| 39:23 | Allah has presented the most balanced narrations in this | ٱللَّهُ نَزَّلَ آحْسَنَ الْحَدِيْثِ كِتْباً مُتَشَابِهاً مَتَانِيَ |
|-------|--|--|
| 39.23 | kitaab that are mutashibihaat rather than masani | الله تزل الحسن الحلاِيبِ ثِنبًا مُتُسَابِها مُنابِي |

But here the word *mutashabihan* has not been used opposite the word of *muhkimun*, but it has been used opposite the word of *muhkimun*, but it has been used "مَثَّانِى" (*masani*). For the meaning of "مَثَّانِى" (*masani*), see heading (Th-N-Y).

But briefly, it is mentioned here that '*masani*' is used for two things that are opposite one another. It is the style of the Quran that it brings two opposites to face each other to make the meaning clear. For example "نور" (*noor*) or light is explained by bringing its opposite "نور" (*darkness*) in front of it. These two, light and darkness are each other's '*masani*', or opposite of each other. By explaining things this way, it can make everything very clear. As such some philosophers think that things are known by their opposites. But this may lead one to think that the Quran mentions only opposites to which Allah said "No!" There is no contradiction in the Quran (4:83). All its verses are similar '*mutashabiha*' to each other. The opposites are mentioned only to make things clear. Therefore, the verses of the Quran are similar or '*mutashabiha*' besides being opposite.

In this way, the Quran is a book that is *kitaban muta-shabihan masani*. Alternatively, it can be said that similar or *muta-shabihan* is the style in which truths have been mentioned, such as '*noorun wa hadyun*' that is light and guidance, and opposites or '*masani*' is the style where a thing has been explained by bringing an opposite before it. "سَبْعاً مِنْ الْمَتَّانِي" (*sab-un minas saani*) as in15:28. See heading (Th-N-Y).

The Quran has used the word "حِكْمَة" (*hikmah*) along with the word "حِكْمَة" (*kitaban*) which means a book of wisdom.

| 2:151 And teaches your about the book (law) and the <i>hikmah</i> | وَيُعَلِّمُكُمُ الْكِتَابَ وَ الْحِكْمَةَ |
|---|---|
|---|---|

Surah An-Nisaa says:

| 4:113 | Allah has revealed the book and its reasoning towards you | وَأَنْزَلَ اللَّهُ عَلِيْكَ الْكِتَابَ وَالْحِكْمَةَ |
|----------|---|--|
| Also see | 17:39. | |

At some place the Quran has been called "أَحِكْمَةُ" (*al-hikmah*) only as in 17:39. At others places it has been called both the *kitab* and *al-hikmah*, and only one pronoun has been used for both, as in 2:231. So that it can be made clear that these two are one and the same thing.

Surah *Azhaab* has made it clear by saying that '*al-hikmah*' is also to be followed. All these things make it evident that reasoning or '*hikmah*' is within the Quran, not outside of it.

Revealing the '*hikmah*' through divine revelation also had a special purpose. The Quran has given us laws and rules in order to achieve results. That is, its laws and rules are not there just for the sake of it, but have been given in order to produce definite results. If only laws were received from Allah and it was not revealed as to what results can be achieved through them, then maybe we would have acted upon those laws as we deemed fit, and would be content that we had done Allah's will. However, this was not the case. He gave us laws and also told us what results they would produce if followed faithfully. As such, we will always have to ensure that those laws are indeed producing the results that Allah has ordained. If yes,

then the laws are being followed correctly. But if not, then we will have to review and find out where we are going wrong and why the desired results as ordained by Allah are not being produced.

| For instance, | the Quran | says: |
|---------------|-----------|-------|
|---------------|-----------|-------|

| 29:45 | Establish as-salah, indeed, as-salah prevents | أقِم الصَّلُوةَ إنَّ الصَّلُوةَ تَنْهَى عَنِ الْفَحْشَاءِ وَالْمَنْكَرِ |
|-------|---|---|
| 29.43 | <i>fahsha</i> and evil deeds. | اقيم الصلوه إن الصلوة لتلهى عن الفحساء والمتكر |

Here "صلوة" (*aaqimis salat*) or the establishing of "صلوة" (*salat*) is an order (*kitab*), and the second part that "صلوة" (*salat*) will prevent forbidden things i.e. "صلوة" (*fah-sha*) and negate all that is undesirable its reasoning. If *salat* is not producing this result, then we should find out where we are going wrong, because when Allah Himself says that *salat* will produce such and such result, then if *salat* is being established in the right way, it should produce that result.

Because the result has also been created by Allah, it can never be wrong. In *Deen*, or the Quranic way of life, or system, every command of Allah which is followed correctly, produces its result as ordained by Allah. This was the meaning of *kitab* and *hikmah*. Also see heading (*K-T-B*).

Hukman also means that strength of decision making power, or understanding that is available to a common person even without the knowledge of revelation.

Surah Al-Qasas says about Moosa:

| 28:14 | When he reached maturity and his limbs became balanced, then We endowed him with <i>hokum</i> (understanding or decision power and knowledge). | وَلَمَّا بَلَغَ أَشْدَهُ وَاسْتَوىٰ آتَيْنَهُ حُكْماً وَّ عِلْماً |
|-------|--|---|
|-------|--|---|

The context reveals that this is before *Moosa* was given prophet hood, and Therefore, does not mean that this *hikmat* was the same as the one made available through divine revelation. This is the reasoning or *hikmat* that enables one to apply Allah's order and principle to details or to mundane things as it is suitable to the era and situation in general. Or, the application of which command or principle will be most appropriate. But all this deliberation and reasoning is quite different from that *hikmah* which is acquired through the '*wahi*' and which is found in the Quran.

About the Messenger (*pbuh*), the Quran says:

| 62:2 | Reciting to them its verses, and purifying them, and | يَثْلُو عَلَيْهِمْ آيَاتِهِ وَيُزَكِّيْهِمْ وَيُعَلِّمُهُمُ الْكِتَابَ |
|------|--|--|
| 02.2 | teaching them the book and the wisdom. | وَالْحِكْمَةَ |

All four aspects as '*tilawa*' (following the verses), '*aaya*' (signs of Allah), '*tazkiyah*' (cleansing of the body and soul with education) and '*kitab*' (laws), are present here.

It means that you, (messenger *Muhammed*) impart the teaching of the '*kitab*' or the book and the reasoning behind the verses that are found within the Quran, and towards the formation of that system practically, and in this way decide the correct application and implementation of Allah's system. Through this education and training he desires to teach the followers that they too should employ this strategy in their lives. The reasoning related by the Quran is unchangeable as are its laws, but this reasoning or '*hikmah*' will continue to change, as it is applied to changing circumstances.

Governance: the Quran says in principle that no human being has the right to govern another, even if he may enjoy full authority to do so (3:78). The right to adjudicate between people and to make decisions accepted belongs only to Allah (12:40). This governance of Allah is established through His book (6:115). But the need to implement practically the decisions of the Quran a living and present authority is inevitable. This is called the Islamic system or Islamic republic which was first established by our Messenger *Muhammed* (pbuh). The central authority of this system was the obedience of Allah because the authority made everyone obey the laws and commands of Allah and not the decisions of anyone else (4:65, 5:48).

After *Muhammed*, this system was carried forward by the *Khalifas* (caliphs) of Islam and was called the path of the prophet (3:143). The '*deen*' or the way of Islam can only be found in an Islamic republic. It is

not an individual matter. 'Allah's governance' means this very thing, i.e. to govern as per the dictates of the Quran. Those who do not do this are called *kafirs*, or the deniers by the Quran (5:44).

Contrary to what many say today, an Islamic government can certainly be established at any time as demonstrated by our beloved prophet *Muhammed* (pbuh).

ح ل ف H-L-F

"أَلْحَلْفُ" (*al-halfu*), "أَلْحَلْفُ" (*al-halff*) means a promise that is made between two individuals in order to seal a deal. Later it began to mean any ordinary promise *{M*}.

"أَحْطَفَ" (al-hilf) is a promise made between people. It also means friendship and friend.

"أَحْلِيْفَ" (al-haleef): someone with whom a pact has been made.

"خَلَّفَ" (halaaf) means one who makes too many promises {T} 68:10.

"حَلَفَ" (halafa), "بَحْلَفَ" (yahlifa) means to promise {T} 4:62.

Ibn Faris says its basic meaning is to stick with another. This led to its meaning to abide by.

ح ل ق H-L-Q

(*halqah*) means any circle whether it is of human beings or of gold, silver or iron. "الْحَلْقَةُ" (*al-halqa*) means armor, weapon, and rope, round mark atop a camel *{T*}.

Ibn Faris says its basic meaning includes cleaning of hair, or to shave the head. This led to "حَلَقَ يَحْلِقَ" (*halaqa yahliqu*) which means to shave the head *{T*}.

Raghib also says that "حَلْقٌ" (*halq*) actually means to cut off hair. "حَلْقُوْم" (*al-halq*) means the place where animals are slaughtered {*T*}. The inner part of it is called "حَلْقٌ" (*hulqum*), "حَلْقٌ" (*halaqa*), "يَحْلِقٌ" (*yahliqu*).

The Quran says:

| 48:27 | those who shave off their heads | لمُحَلِّقِيْنَ رُءُوْسَكُمْ |
|-------|---------------------------------|-----------------------------|
|-------|---------------------------------|-----------------------------|

(*hulqum*) also means the throat as in 56:83.

Maulana Abeedullah Sindhi writes that among the descendants of *Ibrahim*, the hair on the forehead was thought to be sacred just like the *khes* (head hair) among *Sikhs* and the *bodi* or tail among Hindus. The Arabs at that time also used to maintain hair with great sanctity and used to have them cut at the point of *Mina* during *Hajj* and this shave was thought to be equal to sacrificing the head {*Maulana Sindhi's tafseer* or explanation named *Al-maqaamul Mehmood*}.

H-L-L כלל

The real meaning of "حَلَّ (hall) is to open a knot.

| 20:27 | Open the knots in my tongue. | وَاحْلُلْ عُقْدَةً مِنْ لِسَانِيْ |
|-------|------------------------------|-----------------------------------|
|-------|------------------------------|-----------------------------------|

"حَلَّ (*hall*) also means to melt something which has been frozen, that is, its knot was opened and it was solved. Later "حَلَّ الْمَكَانَ" (*hal lul makan*) came to mean to arrive at some place and stay.

Raghib says that "حَلَّ الْأَحْمَالَ" (*halla-al-ahmal*) means to open the knots of ropes tyding the luggage in order to dismount them from camels.

شکّ (*hallah*) means to dismount or stay along with someone.

"کلِیْلْ» (*haleel*) has been derived from this root, which means husband and "کلِیْلْ» (*haleelah*) means wife. Because these two live people in the same house with each other, or they are "حلال» (*halal*) or permissible for each other.

The Quran says "حَلَافِلُ اَبْنَاءِكُم" (*hala-eelu abna'ikum*) in 4:23. "حَلَاءِلُ اَبْنَاءِكُم" (*halail*) is the plural of "حَلَافِلُ " (*haleelah*) i.e. the wives of your sons.

(*al-halla*): neighborhood, the destination of the nation.

(al-hilla): a nation which has come down. It also means neighborhood

(*al-hulla*): a pair of clothes, as shirt, blanket or cloak. It also means wife by implication.

(*al-hillu*) is the place outside or the sacred place of Muslims.

(*al-tahilla*): something used to atone for broken promises and in this way their knots are opened. "حَلَّ أَمْرُ اللَّهِ عَلَيْهِ" (*halla amarullah alaih*) means that the matter of Allah was made incumbent upon him.

Ubab says that "يَجِكُ" (*yahillu*) means to be incumbent and "يَجْلُ" (*ya-hullu*) means to be revealed or to come down *{T}*.

"ألحَلَالَ" (*al-halal*) is the opposite of "حرام" (*haram*) or impermissible or that which does not have the knot of impermissibility on it. That is things which are allowed to be eaten and which have not been declared impermissible.

"الْحِلُّ و ٱلْحَلَيْلُ» (al-hillu wal haleel) also means this {T, M}.

Surah *Al-Ma'idah* says:

| ¬ '/ | Do not open the knots that have been tied in respect and reverence. (Respect them). | لَاتُحِلُّوْ اشَعَاءِرَ اللَّهِ |
|-------------|---|---------------------------------|

Regarding becoming incumbent it is said:

| 20:81 My wrath shall become incumbent upon you | فَيَحِلَّ عَلَيْكُمْ غَضَبِيْ |
|--|-------------------------------|
|--|-------------------------------|

About the place of animals sacrificed during *Al-Hajj* it is said:

| 22:23 | the place of their slaughter is the Kaaba | ثُمَّ مَحِلُّهَ ا الَى الْبَيْتِ الْعَتِيْقِ |
|---------|---|---|
| Surah A | <i>l-badar</i> says: | |
| 90:2 | you are resident in this city | وَأَنْتَ حِلٌّ بِمِلْدًا الْبَلَدِ |

Here "حَلَّلٌ (*hillun*) may be taken as "حَلَّلٌ (*halal*) or permissible *{R}*, and it may also mean that they did not respect even this city of peace and persecuted you by being inimical to your life.

Maulana Mehmoodul Hasan writes that this phrase means 'and there will be no bar on you in this city'.

As far as *halaal* and *haraam* i.e. permissible and impermissible are concerned in Islam, the Quran teaches that everything that the Quran has declared as *haraam* (see heading (H-R-M), all other edibles are *halaal* or permissible. That there is no bar on their consumption, nor has anyone been given the right to declare anything as forbidden or impressible or *haram*. See 5:78, 6:146, 6:119-120, 10:59, 16:116, and 22:30.

Even the messenger *Muhammed* has not been given this right to declare anything *haraam* (66:1).

Surah *Al-Airaaf* says about *Muhammed*:

| | he will declare the pure things as <i>halaal</i> or permissible | يُحِلُّ لَهُمُ الطَّيِبْتِ وَيُجَرِّمُ عَلَيْهِمُ الْخُبْثِثَ |
|-------|---|---|
| 1.137 | and the impure things as <i>haraam</i> or impermissible | ينجل هم الطيبب ويجزم عليهم الحبيب |

There it means that he (the Messenger) will do it through celestial guidance or *wahi*, through the Quran 6:146, 5:1.

But the Quran has also said "أطيَّيَّا" (tayyiban) along with halaal in 2:168 that is, you can choose from

among the things that you like among the permissible things and need not necessarily take all things that are permissible even if you do not favor them; and do not eat things which are not pleasant for you. The things that are permissible must also be pleasant for you. The edibles should be tasty and good for health as well. They should be delightful in every way. The Quran has made allowances for the taste and likes of every individual and for collective benefit.

Here one point must be understood. According to the Quran, every pure or *tayyab* edible is *halal* or permissible and every impure thing is *haram* or impermissible. This means that everything that Allah has declared as *halal* is by itself pure or *Tayyab*. This does not mean however that all *halal* things should be eaten or consumed even if they do not cater to one's taste. If someone doesn't like something which is *Tayyab*, then he is permitted not to eat it. But it should not be considered *haram* or impermissible. In the same way the Islamic society for greater or collective benefit can declare some things as impermissible for some time, and there is nothing wrong with imposing these prohibitions if necessary but it is not allowed to declare that thing as *haram*. In the same manner nobody is allowed to declare something as *halal* or permissible if it has been declared impure or *haram* by the Quran.

As per Allah's system of sustenance, pure and impure i.e. *halal* and *haram* could also mean that ordinary edibles in nature which Allah has made sustenance for human beings should be allowed to remain available (*halal*), and they should not be withheld and kept away from benefiting people. This is also like making Allah's *halal* as *haram*. This is the basis of the Quranic system which is that free goods should never be turned into economic goods or a commodity for sale. For more details of *halal* and *haram* see heading (H-R-M) and (N-Ain-M). For *Saidul bahar* (catch of the sea) to be *halal*, see heading (*B-H-R*), and verse no 5:96.

"مُحِلَّ" (*muhillun*) means he who thinks that a thing which has been declared as *haram*, or forbidden to be *halal* or permissible.

| 5.1 | those who think that the hunted animal or bird is not <i>halal</i> | مَ ^ن مُثلًا الم ^ي قر |
|-----|--|--|
| 5.1 | or permitted to be eaten | تغير للحلي الصيار |

"حِلِّ (*hillun*) means *halal* as in 5:5.

تَحِلَّ:" (tahilla) is a kind of atonement, that which frees one from the binding of a promise (66:2).

H-L-M حلم

"أَحْلَامُ" (*al-hulm*), "أَحْلَامُ" (*al-hulum*) means "a dream". The plural is "أَحْلَامُ" (*ahlaam*) as used in 12:44. It also means copulation in a dream, and since this condition i.e. copulation is a testimony to one being an adult, it also means adulthood 24:59. And since adulthood also brings understanding "أَحْلُم" (*al-hulum*) began to be used to mean peace and tranquility, intelligence and deliberation, and self-control.

| 52:32 | do their understanding and deliberation, their seriousness | اَمْ تَاْمُرُهُمْ اَحْلَامُهُمْ بِمِلْدَا |
|-------|--|---|
| 52.52 | and sobriety order them or drive them to obey this | الم فالمرهم المحار لمهم إسدا |

"أحِلْم" (al-hilm) means to have self-control so as not to flare up even in anger {R}.

Ibn Faris says its basic meaning is not to hurry, i.e. not to flare up instantly over some trivial thing. Thus, it led to the word "تَحَلَّمُ الْمَالُ" (*tahallamal maal*) which is said when the animals become fat and corpulent, and they become more sturdy too.

"أَحَالِيَّم" (*al-haleem*) is a trait of Allah and is used to mean that neither the disobedience of the unfaithful makes Him flare up nor He is aroused by anger to take some step hastily. Rather, He has framed a law for everything which that thing or being reaches ultimately in any case. This means that every deed has a result, good or bad. Therefore, "خَلِيَّمُ" (*haleem*) means understanding, authentic, stable, always one to act according to law and principle, one who does not flare up emotionally.

| About I | brahim the Quran says: | |
|---------|--|--|
| 11:75 | Verily Abraham was sympathetic, being one to revert to Allah | اِنَّ اِبْراهِيْمَ لَحَلِيْمٌ اَوَاهُ مُنِيْبٌ |

| And abc | out <i>Ismael</i> it is said: | |
|---------|---|--------------------------------|
| 27.101 | We gave Abraham the good tidings about a <i>haleem</i> (or an | فَبَشَرْنَهُ بِغْلُمٍ حَلِيْمٍ |
| 57.101 | understanding son) | فبسرف بعدم تحبيم |

We use "خِلْم " (*hilm*), or "حليم الطبع" (*hileemut taba-a*) to mean humility, self-effacing, soft spoken but these are the meanings of our own language (Urdu). Simple selflessness is the product of weakness but "خُلْم" (*hilm*) encompasses a feeling of strength and energy within it, but which is under full control and which does not allow for loss of this control even under very stringent circumstances and does nothing that is cause for repentance. One who cannot face an opponent bows due to weakness and insult, but to have the power to rebel and still bend before law and principle is the height of humility and humanity.

ح ل ی H-L-Y

"لَحَلَّى" (*al-hali*) means jewelry or ornaments, which are made by melting metals or with precious stones *{T}*. The plural is "خَلِّى" (*hulliun*)

| 7:128 made a calf out of their ornaments | مَنْ حُلِيِّهِمْ عِجْلاً |
|--|--------------------------|
|--|--------------------------|

It means that they melted their gold to frame a calf out of it. "أَلْجِلْبَةَ" (*al-hilya*) means a thing or ornament.

| نو جۇامِنْهُ حِلْيَةً (16:14 which you recover things of ornaments (such as pearls from the sea) نو جۇامِنْهُ حِلْيَةً |
|--|
|--|

"حَلَّا بَاتَحْلِيَة" (hillahu tahliya) means he adorned the woman with jewelry {T}.

| 18:31 | they will get to wear things of adornment there | يُحَلَّوْنَ فِيْهَا |
|-------|---|---------------------|
|-------|---|---------------------|

Ibn Faris says it basically means luxury.

<u>ح م أ</u>

"أَحْمَاءُ" (*al-hamatu*), "أَحْمَاءُ" (*al-hama*) means black smelly mud, spoiled earth. "حَمِيَّ (*hamial ma-oo*) means water that has become murky with the amalgamation of black smelly mud. A place which has such water will be covered with a layer of caked "حَمِيَّ (*hamiyun*). The feminine is "حَمِيَّة" (*haminah*).

About the early stages of man's creation, the Quran says:

| 15:26 | black transformed earth on which a crust has formed, | حَلَقَ الْإِنْسَانَ مِنْ صَلْصَالِ مَنْ حَمَاءٍ مَسْنُوْنِ |
|-------|--|--|
| 13.20 | Allah began man's creation from it | حلق الإنسان مِن صلصالٍ من محماعٍ مستولٍ |

This very thing has been called "بطِيْنِ لَأَزِبِ" (*teenil lazib*) in 37:11. This means that the earliest living cell was created from the amalgamation of earth and water. Details can be found in my book (*Iblees O Adam*).

The Quran has called the Black Sea as "عَيْنٍ خَمِّةٍ" (*ainin hamiatin*) in 18:81.

Note: see also last part of heading (H-M-Y).

H-M-D בקי

"خَمَدٌ" (*hamd*) is the feeling that is created within the human breast at seeing a very rare and very delightful sight or thing. This *hamd* is an appreciation of the Creator of that beautiful thing. This has few conditions which have been related by the author of *Muheet* as follows.

1} the thing that is being acclaimed and lauded must be a palpable and physical thing. That which cannot be felt can never gain our acclamation i.e. which is good in concept only, such as "مقام محمود" (*maqami mahmod*), "صفات محمود" (*sifaat mahmood*) etc. even though they have been mentioned in the Quran.

For example we can only appreciate an artist or painter through his works which come before our eyes in palpable form and we cannot laud his concept only. As such, the Quran has as sarcasm upon those who merely want praise for themselves instead of doing something constructive and then let their works be praised.

| 3:187 | They want to be praised on the basis of the work that | يُجِبُّوْنَ أَنْ يُحْمَدُوا بِمَا لَمْ يَفْعَلُوْا |
|-------|---|--|
| 5.107 | they do not produce. | يرجبون أن يتمتلوا به م يعتلوا |

2} the praise for somebody's work must be voluntary, so that the individual ego of he who is praising can also be gauged i.e. whether it is magnanimous enough to praise good work by another. Automatic work or quality which is inherent or incumbent even if it is good does not produce the right occasion for hamd. So much so that the word hamd is not used for beauty and excellence that is present inherently and has necessarily to be acquired. If the qualities are present of their own, then the word " $\widetilde{\omega}$ " (madah) is used instead of hamd.

"تَمَدَحَ الْجَمَالَ" (*madah-al jamal*): if a machine is producing fine things then that machine is not fit for *hamd* but *madah*, but producer of the will be deserving *hamd*. This is also the case with a peacock's dance. The peacock deserves *madah* for the dance and the peacock's Creator deserves *hamd*.

3} For true *hamd* it is also necessary that the thing that is being praised is also actually liked by the one who is praising or is close to his heart; to praise someone because of some pressure is not *hamd* but it is *madah*. *Hamd* does not encompass any sort of deceit, fabrication, pretense or hypocrisy or soft-soaping. In *hamd* the acclaim comes to the surface involuntarily.

4} the thing that is being praised must also be very much correct i.e. it must deserve to be praised. *Hamd* cannot take place only on the basis of some vague concept. *Hamd* can never be done for un-clear concepts, ambiguous outlines, and on the basis of doubt and hesitation. *Hamd* does not arise out of deceit, concept, superstition and blind faith. It is based on solid belief and faith, but *madah* can also be done for opinions, but not *hamd*.

5} the things of benefit, delight and balanced beauty that are being praised or for which *hamd* is being undertaken must have reached perfection and their benefit must be felt and acknowledged. At which is not beneficial to human beings or art which has not reached perfection cannot be praised. For instance the sleight of hand of a pick pocket cannot be praised because it is not beneficial for human beings although it may be perfect.

Hamd is a feeling which meets the conditions given above. If even one of the above conditions is not there then it will be **madah** and not **hamd**. It must be mentioned that the word "ثناء" (**sana**) can be used both for praise and criticism.

"تسبيح" (tasbeeh) means to be engaged in its duty with full attention.

| The Qu | ran says: | |
|--------|--|--|
| 13:13 | The thunder lauds Him with its loud sound | وَيُسَبِّخُ الرَّعَدُ بِحَمْدِم |
| 30:18 | In the highs and lows of the universe all <i>hamd</i> or praise is for Him. | وَلَهُ الْحُمْدَفِيْ السَّمُوٰتِ وَالْأَرْضِ |
| 17:22 | that is, there is nothing that does not praise Allah along with performing His <i>tasbeeh</i> | وَاِنْ مِّنْ شَيْءٍ اِلَّا يُسَبِيْحُ بِ ح َمْدِ م |

This means that nothing in the entire universe can abstain from following His laws along with conducting His *hamd* or praise. Therefore, it means that all forces in the universe are busy in producing beneficial results that are living examples of Allah's creativity and His praise. This so much that when destructive forces are removed out of the way then that work by itself deserves praise.

As such it is said about the destruction of oppressive nations:

| | 11 | |
|------|---|---|
| 6:25 | The oppressive nations were routed and Allah the | فَقْطِعَ دَابِرُ الْقَوْمِ الَّذِيْنَ ظَلَمُوْا وَا خْتُمْدُ لِلَّهِ رَبِّ الْعُلَمِيْنَ |
| 0.23 | nurturer of the universe deserves all praise or <i>hamd</i> . | فلتطبع دابر الكوم اللاين طلموا والمحمد للله رب العلمين |

That is why it has been said about Allah that He is "غَزِيزٌ" (*aziz*) as well as "عَزِيزٌ" (*hadeed*). This means that He is fine or delicate, as well as hard and tough (14:1). He is the remover of destructive forces out of the way to make the beneficial aspects manifest so that they become living examples of Allah's *hamd* and praise.

At another place it is said:

| 64:1 | every sort of authority belongs to Him | لَهُ الْمُلْكُ وَلَهُ الْحُمْدُ |
|------|--|---------------------------------|
|------|--|---------------------------------|

He is also the fountainhead of every kind of grandeur and beauty. It is also one of the traits of the believers that they are "خَامِدُوْنَ" (*hamidoon*) as described in 9:112. This means that they are known to do *hamd* or sing Allah's praise, for this purpose man has been given the knowledge of the names (or qualities) of Allah, or the knowledge of natural elements, because when the *malaika* or the forces of the universe said to Allah:

| 2:30 | we are always busy in Your <i>hamd</i> or praise (Allah's praise). | وَنَحْنُ نُسَبِّحُ بِحَمْدِكَ |
|------|--|-------------------------------|
| | (Finan 5 praise). | |

Then it was said in reply from Allah:

| 2:31 | Adam [man] has been given the knowledge about all things in nature or in the universe | وَعَلَّمَ آدَمَ الْأُسْمَاءَ كُلَّهَا |
|------|---|---------------------------------------|

But this knowledge can become operational only if he keeps this knowledge under obedience of the celestial message or the *wahi*.

That is why he was told that:

| 2:38 | the nation that follows the guidance of Allah will be safe from fear and grief | فَمَنْ تَبِعَ هُدَايَ فَلَا حَوْفٌ عَلَيْهِمْ وَلَا هُمْ يَخْزَنُوْنَ |
|------|--|---|
|------|--|---|

This is the said "مَحْمُوْداً" (*maqaman mahmoodan*) or the happy place situation (17:79). This means a position which is completely deserving of *hamd* or praise, and that was attained by our beloved Messenger *Muhammed*. He himself was called "مَحْمَدُ" (*Ahmad*) in (61:6), which means one who was given greatly to conduct *hamd* or praise (of Allah). Some think that it means who himself is greatly praised, and this later became "مُحَمَّدٌ (*Muhammed*) (48:26), that means one who is continuously the reason for *hamd* and praise, i.e. one who is praised for one quality after the other. The prophet of Allah was also named "مُحَمَّدٌ رَّسُوْلُ اللَّهِ" (*muhammadar-rasul Allah*) 48:26 i.e. *Muhammed*, the Messenger of Allah.

The book named *Kitabul Ashqaaq* says that *Muhammed* means the one who is praised constantly, while *Mahmood* is the one who gets praised only once. The book *Aqrabul Muwarid* says that *Muhammed* means one who possesses many different praiseworthy traits.

If we deliberate on the meanings of the first verse of the Quran that is:

| 1:1 | Allah is the praiseworthy Sustainer of the worlds. | اَ <mark>حُمْدُ</mark> لِلَّهِ رَبِّ الْعَالَمِيْنَ |
|-----|--|---|

In the light of the above given definitions of the word *hamd* then we can see how the Quran has revealed the universal truth before man, that every creation in the universe is a season or occasion for *hamd* or praiseworthiness of Allah who is nurturing everything from its initial stages to its ultimate end. Obviously then *hamd* is not just a reason for emotional response but a living truth that is arrived at by deliberation upon things in the universe. Thus, a nation that does not deliberate upon the system of the universe cannot be able to appreciate the excellence of the Creator. How can he then hope to understand how things in the universe are praiseworthy? For example we can only appreciate an artist or painter through his works which come before our eyes in palpable form and we cannot laud his concept only. As such the Quran has as sarcasm upon those who merely want praise for themselves instead of doing something constructive and then let their works be praised.

"To sing the praises of Allah" is not just a verbal praising session but it is in fact a practical program i.e.to sing praises of Allah means to give practical shape to a system in society that Allah has ordained (and that which has been manifested by the last prophet of Allah i.e. *Muhammed*) and to make it produce miraculous results such as those which the whole world instantly recognizes and appreciates and cries out that undoubtedly the God or Allah Who has given such laws to humanity following which can produce such results indeed deserves unlimited praise.

H-M-R כאנ

"حُمْرُ" (*al-ahmar*) means red. Its plural is تألأحْمَرُ (*humr*).

| 35:27 | the layers of red color or lines | حُدَدٌبِيْضٌ وَ حُمَرٌ |
|-------|----------------------------------|------------------------|
|-------|----------------------------------|------------------------|

"ألحِمَار" (al-himaar) means donkey as used in 2:259. The plural is "حُمُر" (humur).

Surah *Al-Mudassar* says:

| 74:50 | donkeys which rear up after being frightened or disturbed | حُمَّرٌ مُسْتَنْفِرَةً |
|-------|---|------------------------|
|-------|---|------------------------|

"حَمَلً" (*hamal*), "حَمَلً" (*yahmil*), تَحْمَلً" (*hamla*), all mean to lift a burden, or carry a burden, to be laden with.

"الِحْتَمَلَ (ihtamal) means to lift.

(*al-hamalah*) means to revert in battle and attack {*T*}.

"حَمَّلَ" (*hammal*) means to burden with, or to make one lift a burden, or to allocate some work to someone.

| 62:5 | the people to whom the responsibility of obeying the orders of the <i>Taurah</i> was designated | مَثَلُ الَّذِيْنَ مُحَمُّلُوا التَّوْرَاةَ |
|------|---|--|
| | Turran was designated | |

"الِحْتَمَل (ihtamal) means to burden oneself with as in 4:112.

تحمولَةً" (hamulatun) means an animal for lifting burden {T}.

| 6:143 | And some of these animals are to carry burden while others to eat | وَمِنَ الأَنْعَامِ حَمُولَةً وَفَرْشًا كُلُواْ |
|-------|---|--|
| 111:4 | one who snitches { <i>T</i> } | حَمَّالَةَ الحُطَبِ |

Hence, it means someone who passes information unnecessarily from one to another, one who gathers information for opposing.

"حَمَلَ" (hamala) means to make someone leave his place of seating, i.e. to destroy him {M}.

| 69:14 the earth carries the burden of the mountains | وَمُحِلَبَ الْأَرْضُ وَ الجُبَالُ |
|---|-----------------------------------|
|---|-----------------------------------|

تحمّل الأمانة" (hamala al-amanata) means to misappropriate in that which is entrusted {T, M}.

Surah *Al-Azaab* says:

| | We presented the <i>amana</i> or that which was to be kept safe to the sky, the earth and to the mountains | اِنَّا عَرَضْنَا الْاَمَانَةُ عَلَى السَّمٰوٰتِ وَ الْأَرْضِ وَ الْجَيْبَالِ |
|-------|--|--|
| 33:72 | but they all refused and became afraid lest there be | فَابَيْنَ أَنْ يَحْمِلْنَهَا وَ أَشْفَقْنَ مِنْهَا وَ حَمَلَهَا الْإِنْسَانُ إِنَّهُ |
| | some misappropriation in it, but man does | كَانَ ظَلُوْماً جَهُوْلاً |
| | misappropriate in it; he is very oppressive and foolish | 20 200 |

This means that Allah presented His laws to be kept safe to the universe but it did not do any misappropriation in it i.e. the entire universe is engaged faithfully in carrying out the orders of Allah as He has ordered them to but man does misappropriate in these laws i.e. he does not carry them out faithfully i.e. does not follow them faithfully, he is very foolish and is oppressive to himself by being foolish and committing this misappropriation.

Surah *Al-Anka'buut* says:

| | How many onimals aren't there who sorry their own | |
|-------|---|--|
| 26:60 | How many animals aren't there who carry their own | ِهَكَامِّ: دَابَّة لَّا تَحْما (قَعَا |
| 20.00 | needs? | وتحكمن دابع ويستعمين زرجتها |

The author of the book *Taj-ul-Uroos* says that here "حمل رزق" (*hamala rizq*) means to hoard $\{T, M\}$. The Quran has pointed to a very important reality here. To hoard is inherent within human nature but not within animals. The hoarding that we see ants and mice indulge in is only due to their habits, as research has shown us, and not due to a purpose.

Besides, whatever they hoard is used by all of them and not just an individual. They do not hoard so that they can sell it at a higher price or to earn more profit as humans do. When a cow has eaten its fill, then it does not hoard the left over feed for the evening. Only humans can do this. It is this greed for more that has become the cause of such conflict in human society. The strong or the clever ones hoard the wealth etc. and the poor and the weak suffer deprivation.

| The Qur | an says: | |
|---------|--|--------------------------------|
| /y·611 | Allah provides for the animals (who do not hoard), as well for the humans (who do hoard) | اللهُ يَرْزُقُهَا وَاِيَّاكُمْ |

Animals only fulfill their need but you [man] indulge in hoarding for making a profit. This is caused chaos in human society. Details can be found in my book *Nizami Rabubiyat*.

Surah *Al-Airaaf* says:

| As example of a dog, if you attack him, he lolls out his tongue, or if you leave him, he lolls out his | كَمَنَّلِ الْكَلْبِ اِنْ تَحْمِلْ عَلَيْهِ يَلْهَتْ أَوْ تَتْزُكْهُ يَلْهَتْ |
|---|--|
| tongue | |

"حَمَلَهُ عَلَى" (*hamalal aala*) means to tire out someone by making him walk too much {*T*, *M*}. As such the verse would mean that if you tire out a dog by making him run, he will pant but even if you don't, he will pant nevertheless. This means it cannot be at rest in any condition, and it will pant in any case. Or it could be from "حَمَلُهُ عَلَى الأَمْرِ" (*hamalahu alal amr*) which means that he was instigated {*T*, *M*}. Like a dog is told to go after the hunted bird or animal, that is, no matter whether you sic a dog onto the hunt or let him stay still or sit idle, he will continue to pant. Most scholars have said that "حَمَلُ عَلَى" (*hamalal alaih*) means to attack, to drive away or to dismiss someone.

"حَمَّ التَّنُوْرَ حَمَّا" (*hammat tannura hamma*) means that he warmed up the *tandoor* oven. That is traditional among the Arabs and is used for baking bread or *naan* and is fixed in the ground, by putting fuel into it. "حَمَّ الشَّحْمَة" (*hammash shah-mah*) means that he melted the fat.

"حَمَّ الْمَاءَ حَمَّا" (hammal ma-a hamma) means that he warmed up the water.

"أَحْمَام" (al-humaam) means the fever of all animals or camels.

"خم" (hammun) means worry or grief.

"أَحْتَمُ لَمُ" (ihtamma lahu) means he worried for him {T, R, M}.

"الِحْتَمَّ الرَّجْلُ" (ihtammar rajul) means the man could not sleep due to worry.

"الْحُتَمَتِ العَيْنُ" (ihtammatil ain) means without any pain, there was no closing the eyes i.e. couldn't sleep.

About the residents of *jahannum* it is said:

| 6:70 | that drink which turns life into a great distress i.e. | أيموه بيجترابه فبرج وتحرير والمعتر الأفع |
|------|--|--|
| | great distress or punishment | هم سراب مِن صَعِيمٍ و عداب أليهم |

Lataif-ul-lugha says it means both hot and cold water.

| Surah <i>Al-Waqiya</i> says: | | |
|------------------------------|---------------------------|-------------------------|
| 56:23 | shadow of hot black smoke | وَظِلٌ مِّنْ يَخْمُوْمٍ |

"ألْحَمِيْم" (*al-hameem*) means a close relative for whom one worries, or with whom there is mutual concern and love, or the one who possesses the feeling to support his close ones and who expresses that warmth and love {*T*, *M*}.

The Quran has used this word to mean a close and sympathizing friend or associate (70:10). "حُمَّ الْأَمْرُ" (*hummal amr*) means the matter was decided.

"حُمّ" (hamma), حُمّ" (hammahu) means he intended to do it.

تحمَّ اللهُ كَذَاوَ أَحَمَّ " (hammal lahu kaza wa ahammahu) means Allah decided it for him.

Ibn Faris says its basic meaning includes to become warm or to intend.

تحمّى الشَّيْءَ" (hamash shaiyee) means that thing was protected.

"كَلَاءُ حَمِيٌ (kallun hamiyyi) means protected grass.

(*al-hamiyyun*) means the sick man who has been prohibited from taking things that might hurt him.

"أَلْحَامِيَة" (*al-hamiyah*) is one who protects or prevents one from hurtful actions or things. Both these things fall within the purview of support.

"خام" (*haam*) during the pre-Islamic era of ignorance, there was a tradition among the Arabs to let a camel roam free if it had made a fixed number of she-camels pregnant, just as oxen are allowed to roam free among Hindus even now. And this camel is then no more used for loading or for a lowly purpose. That camel used to roam free and eat from where it wanted.

It used to acquire a sort of superstitious sacredness. The Quran has forbidden this practice in 5:103.

| the heat of the sun or the fire became intense | حَمِيَتِ الشَّمْسُ والنَّارُ تَحْمٰى |
|--|--|
| | the heat of the sun or the fire became intense |

The Quran says "نَارٌ حَامِيَةٌ" (*naarun hamiya*) in 10:11 i.e. very hot fire. "حَمِيَتُ عَلَى فُلَانِ" (*hameetu ala fulan*) means he was angry at someone {*R*} "أَحْمَيَّا" (*al-humaiyya*) means height of emotion or extreme anger {*T*}. "أَحْمَيَ الْمُسْمَارُ" (*hamiyal masmaar*) means the rod became hot {*T*}.

The Quran speaks of the wealth of capitalists:

| 9:35 | the day he will be burnt in the fire of | f jahannum | نَارِ جَهَنَّمَ | يَوْمَ يُخْمِي عَلَيْهَا فِي أ |
|------|---|------------|-----------------|--------------------------------|
|------|---|------------|-----------------|--------------------------------|

(*al-hamiya*) means that heat which is generated in anger. This means that a man should show emotional heat to protect something that is close to his heart. If that thing is factually good then this emotion is also treated as good, and if that thing is not good then this emotion shall also not be treated as good. Before the advent of Islam, the Arabs used to be very emotional in protecting their traditions. Since most of those customs and traditions were execrable or not good Therefore, the Quran has described the emotion to protect these traditions as the "خَمِيَّة الْجَالِيَّةِ" (*hamiyyatil jahiliyya*) in 48:26.

تَلِحْمَوْمَى الشَّيَّةُ: (ah-moma ash-shaiyee) means the thing turned black like the night and the cloud.

حن ث H-N-Th

"أَلْجِنْتُ" (*al-hinsu*) means sin, disobedience {*T*, *R*}. It means to be disobedient to Allah or disobey His command.

Surah *Al-Waqiya* says:

| 56:37 | e people used to insist upon committing big es or infidelities | وَكَانُوْا يُصِرُّوْنَ عَلَى الْحِنْثِ الْعَظِيْم |
|-------|---|---|
|-------|---|---|

"(*al-hinsu*): to make a false promise deliberately or fail to keep a promise $\{T, R\}$. It also means to move towards falsehood from the truth $\{Aqrabul Muwarid\}$.

"نَعْنِتُ فَالَانُ في كذا" (*hanisa fulanun fee kaza*): if he gets the strength to sin, or makes some mistake. "بَلَغَ الْخُلَامُ الْحِنْتُ" (*balaghul ghulamul hins*) is said when a child reaches adulthood, because then he himself becomes responsible for his good deeds and bad. He then violates some command, then he himself is thought to be the criminal {*Ibn Faris*} "تَحَنَّى (tahan-nasa) means to prevent one from committing some sin {T, R}.

The Quran says in the tale about *Ayub*:

| 38:44 | (By treating your disease through superstitious means) do not leave the truth to go towards falsehood. | وَلَا تَحْنَتْ |
|-------|---|----------------|

Also see heading (*Zd-Gh-Th*).

H-N-J-R כי די די

"أَحْنَجْرَةُ" (*al-hanjaratu*) means the throat *{T}*, or the windpipe *{M}*. The plural is "حَنَاجِيرَ" (*hanajir*) as in 34:10. "حَنَاجِيرَ" (*hanajarahu*) means he slaughtered him *{T}*.

"أَحْنُنُ" (*al-hanz*) means to fry meat on warm stones and make *kabab*. (*haneez*) means the warm meat from which water is still dripping even after being fried *{T*}.

Ibn Faris says its basic meaning is to cook something.

Surah *Hoodh* says about *Ibrahim*:

| 11:69 he brought fried kid goat for his guests | عِجْلٌ | |
|--|--------|--|
|--|--------|--|

حنف H-N-F

"أَلْحَنَفَ" (*al-hanaf*): the arch of the foot.

"خَنِيْفٌ" (*rijulun hanafa-o*): for the foot to be arched. This leads to the word "خَنِيْفٌ" (*haneef*) which means to leave the wrong path (the curve) and to adopt the straight path.

Raghib says that "حَنَف" (hanaf) means "to leave the path of being astray and come to the straight path".

This encompasses the connotation of being single-minded.

The book *Tafsir-ul-Manaar* says that in the dictionary "خَنِيْفُ" (*haneef*) means to be inclined. In his time people used to follow the path of denial or "کفر" (*kufr*), he left all the different ways and adopted the straight path {*Al-munaar*}.

The Quran after abstaining from "رَجْسَ" (*rijs*) and "قُوْلُ الزُّوْرِ" (*qauluz zuur*) has said "خُنْفَاءَ لِلْهُ" (*hunafa'a lillah*) in 22:30-31. This makes the meaning of "خَنِيْفٌ" (*haneef*) clear i.e. to shy away from all sorts of worship, and go towards the laws of Allah.

"غَيْرَ مُشْرِكَيْنَ بِمِ" (*ghaira mushrikeena behi*), as in 22:31 means one who accepts no other obedience but His. This is what Islam means i.e. to turn away from every Godless force "يَكْفُرُ بِا الطَّاغُوْتِ" (*yukfur bit-taghoot*), and after that to believe in the laws of Allah "يَكُوْ مِنْ بِاللَّهُ" (*yumin billah*) 2:256.

The above is exactly what "لَالِلَّهُ (*la ilaha illal laah*) means, i.e. there is no authority but that of Allah. As such, every believer or "مومن" (*momin*) is a "حَيْفَتْ (*haneef*). This was also the way of *Ibrahim* whom the Quran has called "حَنْفَتْ (*haneef*) in 2:135 i.e. one who turns away from all else and starts obeying the commands or laws of Allah.

"لَحَنَّكُ" (*al-hanak*): some say that this means the upper inside of the mouth, but others say that it means the lower part of the mouth. However, this leads to "تَحَنَّكَ فُلَانٌ" (*tahanaka fulan*), which means that he took the twist of his turban from under his chin upwards.

"ألْجِنَاك" (*al-hinak*) means the bind with which the prisoner is held, so that if he even pulls a little on it, it may cause him pain in his chin $\{T, F\}$.

Animals (horses, donkeys etc.) are usually held by a leash but if a leash is not available then a rope is passed through their mouths so that it can be held and directed according to the owner's wishes.

This is called "أَمْ أَجِدْلِجَاماً فَا حُتَنَكْتُ دَابَنِيْ" (*ihtinak*). The Arabs say "ثَمَ أَجِدْلِجَاماً فَا حُتَنَكْتُ (*lum ajid lijama fahtanakta da abbani*) that is, since I found no leash so I put a rope in my animal's mouth to control it. This has led to "الحُتَنَكَ الْجَرَادُ الْأَرْضَ" (*ahtanakal jaradul ard*) which means the tad-flies swarmed over the land and sucked away all the produce.

السِنتَحْنَكَ الْعِضَاهُ: (*is-tahnakal iza-a*) means that a bush was uprooted.

The Quran says that *Iblees* has challenged that "لَاَحْتَنَكِنَّ ذُرِيَّتَهَ" (*lahtakinna zurriyatehi*) in17:62, which means that I will surely tie a rope through a man's mouth. This means put him on a leash and in this way guide him where I want.

In this there is implied the meaning not only that *Iblees* will drive Man to go wherever he pleases but it also encompasses the demeaning connotation as in "رَحْتَنَاكُ" (*ihtinaak*). Selfish ends can possess man and everyone is aware that those selfish ends serve to demean people, just as the legs of a dog follow his nose so does man follow his selfish desires and earns a bad name as a result. But if he makes these selfish emotions to be controlled by the commands of the celestial guidance or the *wahi*, then he can be greatly enriched and rewarded.

The harm which selfish ends do to a man's character is also done by rebellious nations to weak nations. This means that they drive a rope through the weaker nation's mouth and make it do whatever they the stronger nation wants. These strong nations are also like the devilish forces. As such the aforesaid verse was revealed 17:62. After that the Quran describes the machinations of the powerful nations into enticing the weaker nations. Details of these can be found in my book *Mafhoom-ul-Quran*.

H-N-N כיט כ

"ألحَنِيْنَ" (*al-haneen*) means to be attracted towards something, or to laugh or cry intensely, or the sound of involuntary emotion whether in happiness or sadness. The author of *Misbah* says that the word "حَنِيْنَ" (*haneen*) is said only of a mother's love for its child.

"أَحْتَانَة" (*al-hannah*) means a she-camel which pangs for its child which is away in another land. (*أَ*لْحَنَّانَةُ" (*al-hannanah*) also means a woman who has been abandoned by her husband and is now worrying on account of her young kids. *{T, R}*.

The Quran says about the prophet *Yahya*:

| 19:12-14 | We endowed him with the heart of a sympathetic | | | أَتَبْنَهُ حَنَاناً مَنْ لَدُنَّا |
|----------|--|--|--|-----------------------------------|
| | and loving mother | | | الينه معناقا من عدق |

Allah's attributes include the attribute of "الْحَنَّان" (*al-hannan*), but this word has not been used in the Quran itself. It gives the impression somewhat of a Christian God in its meaning of sympathy and feeling.

"خَنَيْنَ" (*hunain*) as used in 9:25 is a valley near Mecca where Messenger *Muhammed* fought a battle with his opponents.

"خَوْبَ" (*hoob*) and "حَابَ" (*haab*) are words used to scold a camel {*T*}.

"أَحْرُبَرُ" (*al-haubah*) means need, a need that can drive the needy to commit a crime $\{R\}$. After that, the word also came to be used to mean a sin. It also means annihilation and worry, and also to be sympathetic or remorseful which is a necessary result after sinning $\{T\}$.

Ibn Faris says its basic meaning is sin, need or residence.

The Quran says "حُوْباً كَبِيْراً" (*huban kabeera*) in 4:2, which means to usurp the wealth of an orphan which is a cardinal sin. It also means frustration, annihilation, misery and grief or disease *{M}*.

ح و ت H-W-T

"أَحُوْتُ" (*al-huut*) means fish but mostly big fish. The plural is "أَحْوَاتُ" (*ahwaat*). (*hitanhawatahu*) means he deceives like a fish deceives.

Ibn Faris says its basic meaning is to deceive i.e. change course suddenly which deceives the onlooker.

It is for this reason that the fish is called "حُوْتٌ (*huut*). (*haata alash shaiyee*) means to revolve around something {*L*}.

The Quran says about the *Yunus*:

| 37:142 | the big fish made him its mouthful, or that the big | فَالْتَعَمَهُ الحُوْثُ |
|--------|---|------------------------|
| 57.142 | fish swallowed him (literal meaning) | |

Surah *Al-Airaaf* says

| 7:163 that is, their fish | حِيْتَانَهُمْ |
|---------------------------|---------------|
|---------------------------|---------------|

H-W-J כפ ד

"أَلْجَانَجَةً" (*al-hajatu*) or "أَلْجَانَجَةً" (*al-hajaa*) means need. Actually, it means not being able to reach one's objective, or not being able to reach one's desired destination. Later this word began to be used commonly to mean need.

"أَلْحَاجَةُ" (al-hajatu): the fishing tackle.

"أَلْحَاجَة" (al-hajatu): a need which embeds itself in a man's heart like a tackle {M}.

Ibn Faris says it means to become very moved about acquiring something.

| 12:68 | this was a pang in <i>Yaqub's</i> heart (which was later fulfilled) | اِلَّا حَاجَةً فِيْ نَفْسِ يَعْقُوْبَ |
|-------|--|---------------------------------------|
|-------|--|---------------------------------------|

Surah *Momineen* says this word has come to mean something which is desired.

| 40:80 that which your heart desires | حَاجَةً فِيْ صُدُوْرِ كُمْ |
|-------------------------------------|----------------------------|
|-------------------------------------|----------------------------|

(*al-hauz*) means to encircle something {*T*}. It also means to drive an animal harshly.

Ibn Faris says it basically means speed, to be speedy in some matter.

"السُتُحُوذَ عَلَى كَذَا" (*istahwaza ala hala*) means overwhelmed something; became overpowering over it. "حَاذُ الْمَتْنِ" (*haazal matni*) means the imaginary line that can be 'seen' or imagined on a horse's back from the neck to his tail, or the line of its spine or the place where the saddle is placed on the horse's back or that part of the horse's thigh that touches the tail. Both corners as such will be called "حَاذُ (*hazaan*).

"أَلْحَوْنُ" (*al-hauz*) means for the man to walk exactly aligned between the legs behind a horse from where he can easily control the animal $\{R\}$. If this simile can be kept in mind then this verse can well be understood:

| Selfish ends rode them hard and they were driven hard all their life by these emotions (instead of following the Allah's way). | اِسْتَحْوَذَ عَلَيْهِمُ الشَيْطْنُ |
|--|------------------------------------|
| these emotions (instead of following the Anali s way). | |

In the same way the weaker nations are driven at the stronger nation's behest. See heading (H-N-K).

Surah Al-Nisa says:

| 4:141 | Say when you came to attack it was We who had | قَالُوْا أَمْ نَسْتَحُوذْ عَلَيْكُمْ وَنَمُنُعْكُمْ مِّنَ الْمُؤْمِنِيْنَ |
|-------|---|---|
| 4.141 | encouraged you and given you the courage | فكوابهم فستصفر عيدهم وستعظم مل الملوريوين |

Here "نَسْنَعْكُمْ (*nam'na'kum*) means your enemies protected you, and "نَسْنَعْكُمْ (*nastahwiz alaikum*) means that we were dominant on you.

H-W-R כפר

"حَوْرُ" (*haar*), "حَوْرُ" (*yahuur*), "حَوْرُا" (*hoora*) all mean to revert, to return, to be transformed from one state to another, also to be reduced after being excessive 54:14.

Ibn Faris says its basic meanings are a kind of color, to revert or return, to revolve.

"أَلْمُحَاوَرَةً" (*al-mahawaratu*), "التَّحَاوُرُ" (*at tahawoor*) means reply to each other or retort (to return a statement) i.e. exchange of words as in 18:33, 58:1.

(al-mihwar) means the piece of wood or iron around which something revolves. "ألْمِحْوَرُ"

"أَلْحَوْرَنْ" (al-haur) also means amazement and surprise. See heading (H-Y-R).

المعند (*al-hawar*) is a kind of wood which because of its whiteness also is called "ألحور" (*baiza'a*).

Saghani says this word "حَوْرٌ (huur) is based on being white. Its basic meaning is to be white. As such

شَحَوَارِيَّات" (hawariyyaat): the women who are fair and also less soiled than women who work.

"لَحُوَّارَىٰ" (*al-hawwari*) means flour which is the essence of ground wheat. It also means any edible thing that has been whitened or cleaned *{T, M}*.

The companions of Jesus have been called "أَحْوَارِيُوْنَ" (*hawariyyuun*) in the Quran 61:14. Some think that they were laundrymen and that is why they were called Thus, or they were called this because of their clean liness. But most think that they were called *hawariyyuun* because of their clean nature and pure intent.

Shamar says that "حُوَّارَى" (al-hawwari) means a well-wisher, however this word has come to mean the purity of thought, the sincerity of action or deed, and the best of companionship.

The author of Al-Manaar thinks that "حُوَّارَى" (huwwari) means flour as it is the essence of ground wheat. The companions of Jesus were called *hawariyyuun* because they were the selected people from among their nation and were particular persons {*Al-manarr* vol.3}.

تحور (haura'a) "حَوْرَ اء" (haur) is a plural word. Its singular is "أَحْوَرُ" (ahwar) which is masculine, while "حَوْرَ اء" (haura'a) is feminine.

(al-haur) means the white of the eye to be very white and the black to be very black and for the "المحور" complexion to be very clear. It may as well mean the blackness of the eye to be so intense as to look as if it has been enhanced artificially. Men and women in whom these traits are found will all be called "حُوْر" (huur).

The Quran says about *muttageen* (those who adhere to Allah's laws):

| 52:20 44:54 | And we unite them as <i>hauri ein</i> | وَزَوَّجْنَهُمْ بِحُوْرٍ عِيْنٍ |
|----------------|---------------------------------------|---------------------------------|
|----------------|---------------------------------------|---------------------------------|

Just as "أَعْنِنُ" (*hoor*) is used for both masculine and feminine, so is "حُوْرُ" (*ein*) the plural for (a'van) which is masculine, and "عَيْنَاء" (aina) which is feminine.

Raghib says that "زَوَجْنَهُمْ بِحُوْر عِيْن (zawwaj nahoom bihoorin een) means to make companions. See heading (Z-W-J). Therefore, this does not only mean to be husband and wife but also to be companion and friend.

Husband and wife are "زَوْجَ" (zauj) for each other. Accordingly the Quran has also called pure women of a heavenly society as "حُوْرٌ" (hoor) in 56:22, 55:72.

Besides this, Lane has written with reference to various sources that "أَحْوَرُ" (ahwar), which is singular of (hoor), means pure or clean intellect. That is not cunning intellect but pure and clean intellect "حُوْرُ" without cunningness. As such "ثمانيعيْشُ بِأَحْوَرَ (ma yaeesh bi ahwar) means a person who is not clean in his dealings, and does not live according to purity of intellect. As such, in heavenly life, mutual friends or companions are "حُوْرٌ عِنْنٌ" (hoorun ein), whether friends or wives will not use their intellect to deceive each other but their intellect will be devoid of such impurities.

> H-W-T ح و ط

"جَيْطَة" (heetah) means to protect, to keep safe, to safe guard, to resist, fulfilling someone's need. الله" (*la zilta fee hivata tillah*): May you live always in Allah's protection. "لأز لْتَ في حَيَاطَةِ الله"

َرَجُلٌ يَتَحَوَّطُ أَخَاهُ (rajulun yatahaw wato akhah): he looks after his brother.

"ألحَاءِط" (al-havito) means wall, because it protects the things inside it.

(al-muhaat): a place where cattle etc. are kept and which is protected from all sides {T}.

Kitabul Ashqa says that

"حُطْتُ الشَّيءَ" (huttosh shai-a) means to protect, and "ألإحاطة (al-ihaatah) means to protect fiercely.

Ibn Faris says its basic meaning is to surround something.

"ألْحَيْطَة" (al-haita): a chaste and gentle woman who is extra wary {M}. (uheeta bilgaum): the entire nation was encircled by annihilation {M}. That is, was destroyed.

The Quran says:

| 2:19 | These people think there is no one to ask them what all | بَالْأَدُ مُحْدًا إِلَى الْحَادِينَ مَنْ الْمَالِينَ الْمَالِينَ الْمَالِينَ الْمَالِينَ الْمَالِينَ |
|------|---|--|
| 2.19 | they are doing; they are wrong, and their deeds can never | والمه حبيط بالحافرين |

| remain without due results. | |
|-----------------------------|--|
|-----------------------------|--|

God's scheme of things covers them and results of their deeds are surrounding them and they will surely be annihilated. Thus, "مُجِيْطٌ" (*muheet*) includes both, the covering or protection of deeds and the annihilation due to the results of their deeds.

Likewise, it is said about *jahannam*:

| 26:54 | verily, <i>jahannam</i> surrounds them | وَاِنَّ جَهَنَّمَ لَمُحِيْطَةٌ بِا لْكَافِرِيْنَ |
|-------|--|--|
| 82:16 | they are not oblivious to Him | وَمَاهُمْ عَنْهَا بِغَبِيْنَ |

Surah *Al-Kahaf* says:

| Surun III | | | |
|-----------|--|-----------------|--|
| 18:42 | his possessions, the fruits of the orchard etc. all were destroyed | وأحيط بِثَمَرٍ٩ | |

Surah *An-Namal* says:

| | he said, I have found out something of which you are | فَقَالَ اَحَطْتُ بِمَا لَمْ تُح طْ بِه |
|-------|--|--|
| 21.22 | unaware | ي المعرفة المع |

Here "أخاط) means to have found out about something, to bring it within the bounds of knowledge.

Surah *Al-Brooj* says:

| 85:20 Allah is unseeingly surrounding them | وَاللَّىٰ مِنْ وَرَاءِيْم مُحِيْطٌ |
|--|------------------------------------|
|--|------------------------------------|

This means the same as said in respect of "تُحِيْظٌ بِالْكَافِرِيْنَ" (*muheetun bilkafireen*).

Surah *Al-Baqrah* says:

They cannot comprehend, cannot come within the boundary of their knowledge.

ح ول H-W-L

"حَوْلُ" (*haul*) basically means to change, to go from one state to another and be distinguished from other things. As such the thing which is not in its former condition but undergoes change is called "حَالَ الشَّيْ عُنْ (*haalalash shaiyo*) or "حَالَ الشَّيْ عُنْ (*istahaalash shaiyo*) because there is a change in its condition. "مُسْتَحَالًا السَّيْ (*mustahalaat*) and "مُسْتَحَالًا" (*mustahalaat*) means a bent bow. It also means land which has not been cultivated for many years (i.e. it becomes uneven and does not retain its former state).

Raghib says that "نَقَيْرُتُ الشَّيىْءَ فَتَحَوَّلْتُ الشَّيىْءَ فَتَحَوَّلْتُ الشَّيىْءَ فَتَحَوَّلْتُ الشَّيىْءَ فَتَحَوَّلْتُ (*hawwaltush shaiyia fatahawwal*) means "حَوَّلْتُ الشَّيىْءَ فَتَحَوَّلْتَ (*ghaiyyartush shaiya fataghaiyyar*), Thus, "حِوَّلُ" (*haul*) means change. In the same manner, in Quranic verse 18:108 "كَوَنَا عَنْبَا حِوَلاً" (*la yadhona ainha hiwala*), the meaning of "حَوَلاً" (*hiwala*) is of change and transformation.

تحَوَالُ الدَّبْرِ" (*hawalud dahar*): the changes of time.

Raghib says "حَالَ" (haal): the changes in one's possessions, body or in his psyche.

"أَلْحَالُ" (al-haal): the present time.

"حَوَلْ" (hawal): to be cross eyed because the eye is not in its former (original) state.

"حول" (hiwal): decline or death. This also has an element of change.

Ibn Faris says it basically means the movement of the times.

"كَوْلْ (haul) also means the year, because it happens due to the revolution of the earth (2:240). "حَوْلْ الشَّيْءَ" (ahaalush shaiyi) means the thing passed one year, or the thing is one years old. "أَحْوَلْيُنَ" (al-hauliyyo) is a four legged animal which is one year old. "حَوْلْ الشَّيْءَ" (haul) also means the surroundings. "حَوْلْ الشَّيْءَ" (haulush shaiyi) means the end of a thing or the side. "حَوْلْ الشَّيْءَ" (hawalaika) and "حَوْلْيُكَ" (haulaika) are the ends which surround you.

"تَمَاْحَوْلُ السَّيْءَ" (*mahaulash shaiyi*) means the surroundings of a thing *{T}*. "حَالَ بَيْنَهُمَا" (*haala bainuhuma*) is something which intervenes between two things (34:54). That which

intervenes is called "حَوَلْ" (*hiwaal*) or "حَوَلْ" (*hawal*) or "حَوَلْ" (*huwal*).

"تَحْوَيْلْ" (*tehweel*) means to change something's direction or to deteriorate something (17:56) $\{T\}$. Therefore, it also means to deteriorate and to change from one state to another $\{M\}$.

"ألْحَوَالَّهُ" (*al-hawalah*) means to turn the direction of a canal to another direction. "مُحَالٌ" (*muhaal*) means two opposites to be combined (which is impossible) {*T*, *M*}. It also means "بُحَالُ" (*baatil*) which is something untrue and diverted from its right direction.

"خَوْلَةٌ" (*haulah*) means spending power, observing power and authority. It also means to firmly sit on the back of a horse. Any load which one lifts on his back is also called "خَالٌ" (*haal*). It also means a child's walker which helps him learn to walk $\{T, M\}$.

(*heelah*): Expertness in observing, and sharpness of sight, the control over affairs and tact, and mastery in affairs.

Raghib says that "حِيْلَة" (heelah) is the secret manner in which one reaches a conclusion.

Urdu speakers generally use it in a negative sense, but in the Quran it is used to mean "to have the power to change things" and "to deal with matters", as in 4:98 "لأَيسْنَطَيْعُوْنَ حِيْلَةً" (*la yastatee-oona heelah*).

"حَوِيْلُ" (*haweel*): a witness, as well as a caretaker. (*hawalto lahu basri*): I looked at him sharply *{R*}. شَرَى

ح و و H-W-W

"أَحُوَّةً" (*al-huwwah*): greenish blackness, dark green, a color like iron that is reddish and blackish. (*ihwawatil ard*): the land became green *{T, M}*. *Raghib* has supported this meaning.

The Quran says:

| 87:4-5 | God grows fodder from the earth, | وَ الَّذِيْ أَخْرَجَ الْمَرْعِي- | |
|--------|----------------------------------|---|-----------------------------|
| | 87:4-3 | then it dries up and becomes blackish rubbish | فَجَعَلَهُ غُثَاءً أَحْوَىٰ |

Fara'a has said when the grass dries up it is called "غُنَّاءٌ" (**ghusa'oon**) and when it becomes old and moth eaten and black, then it is called "حُوَىٰ" (**ahwa**). Feminine form is "خَوَّاءٌ" (**hawa'u**).

"أغْدَاء" (ghusa'oon) means garbage. See under heading (Gh-Th-W).

ح و ی H-W-Y

"أَحْوَيَّة" (*al-hawaiyyah*): the roundness of anything, wound in a circle, like the intestine. Plural is "أَلْحَوَيَّة" (*hawaya*), i.e. intestines as used in 6:147 {*T*}.

"خَوَاهُ" (*Hawah*), "يَحْوِيْرُ" (*yahweeh*) means to collect something, to gather within, to be owner, to surround it, to keep watch over it {*T*}.

Ibn Faris says that the basic meaning is to collect.

As "حَيْثٌ (*heen*) points to time like 'when', "حَيْثٌ (*hais*) points to place i.e. like 'where'. *Akhfush* says it also points to time, that is, it can also mean 'when'. *Taj* and *Muheet* also support this.

| Surah <i>Al-Baqrah</i> says: | | | |
|--|--|--|--|
| 2:58 | Whenever you want and from where ever you want, eat. | فَكُلوْا مِنْهَا حَيْثُ شِئْتُمْ | |
| About the ' <i>jannah</i> ' of Adam, it is said: | | | |
| 2:35 | eat profusely from where-ever you want | وَكُلَا مِنْهَا رَغَدًا حَيْثُ شِئْتُمَا | |

The heavenly society will be such that life's accoutrements will be available to every individual in abundance.

ح ی د H-Y-D

"حَادَ عن الطَّرِيْقِ" (yaheed): he moved to one side from the way.

َالرَّجْلُ يَحِيْدُ عَنِ الشَّيْءَ" (*ar rajulu yaheedo unish shaiyi*): man abstains from a thing out either of hate or fear.

"حِمَارٌ جَيْدِى (*himarun haida*): the donkey which balks at his own shadow.

"حَيْدُ الْجَبَلِ" (haidul jabal): lifted portion of a mountain which is high and jutting out; hard, bent rib {T, M}.

Ibn Faris says its basic meaning is to move to one side from the path.

| The Quran says: | | | |
|-----------------|---|--|--|
| 50:19 | this is the thing from which you used to balk and avoid | ذَالِکَ مَاکُنْتَ مَنْهُ تَحِ ِیْدُ | |

ح ى ر H-Y-R

"حَارَ بَصَرُه" (*haara basaroh*), "يَحَارُ" (*yahaar*): to be blinded (temporarily) by looking at something. "حَارَ فِي أَمْرِهِ" (*haara fi amrihi*): he could not find the right solution for the matter.

"خَبْرُةُ" (*hairah*): actually means to be blinded by the glare (and Thus, to turn the eyes away from there). (*haara wus tahara*): to find no way

"فَبُوَ حَبْرَانَ" (fahuwa hairaan): he was surprised, that is, being troubled at not finding the right path.

"حَارَ الْمَاءُ فِي الْمَكَانِ" (*haaral maa-oo fil makaan*): when water finds no outlet and it keeps revolving in the same place *{T*}.

"أَلْمُسْتَحِيْرُ" (*al-mustaheer*): a path in the middle of a barren desert about which it is not known where it will lead to *{T}*. It also means to be troubled and go crazy over not finding a way.

The Quran says:

| | like a man possessed by his desires which the <i>shayateen</i> | |
|------|--|---|
| 6:71 | (opposition) control, and lead him astray in the world and | كَالَّذِيْ اسْتَهْوَتْهُ الشَّيطِيْنُ فِي الْأَرْضِ حَيْرًانَ |
| | the man is bewildered | |

That is one who follows his desires and loses the way and does not know which way to go.

"حَازَ السَّيْيَ، تَحُوْزُه" (*haazash shaiya yahuza*): to gather or collect something and take it within itself or towards oneself.

"الْحَانَ عَنْهُ" (inhaaza unhu): he moved away from it.

"اِنْحَازَ الَيْهِ" (inhaaza ilaih): he leaned towards him.

"تَحَوَّزَ (tahawwaz), "تُحَيَّزُ (tahayyaz): to wind like a snake, to wind, to move to one side {T}.

| The Quran has it: | | |
|-------------------|--|-------------------------------|
| 8:16 | one who turns back to reach his group or party | أَوْمُتَحَيِّزًا إِلَى فِئَةُ |

Raghib says it means one who moves towards an open place, to an edge, to a corner. It means everything whose elements are interlocked with each other. As such "مُتَحَيِّرًا إِلَى فَعَوَّةٍ" (*mutahayyizan ila fi'atin*) means to regroup with his own (or some other) party.

ح ی ص H-Y-Sd

Ibn Faris says that it contains the element of surprise along with moving.

"حَاصَ عَنْ^{*}" (*haasa unhu*), "يَجِيْصُ" (*yahees*): to move away from a thing, to run away to escape somebody "الْمَحِيْصُ" (*al-mahees*): the place where one moves to, the place where one runs to and moves to one side *{T}*.

| 4:121 | They will find no place to escape it. They will find no | وَلاَيَجِدُوْنَ عَنْهَا مَحِيْصًا |
|-------|---|-----------------------------------|
| | sanctuary after escaping. | - / - |

" ^(al-ahais) also means a person whose eye is smaller than the other. " حَيْصَ بَيْصَ (*hais bais*) means something to become very puzzling *{R}*, intense confusion *{T}*.

ح ی ض H-Y-Zd

"حَاض ٱلسَّيْلُ" (*haazas sayl*): the flood arose, and its water rose and flooded.

This root basically means for something to start flow and then keep flowing.

"خَاضَتِ اِلْمَرْاةُ" (*haazatil mar'ato*): a woman to bleed during menstruation {*T*, *M*}. "اَلْمَحِيْضُ" (*al-mahez*): to menstruate as in 2:22. It also means the menstruation blood, or the days of menstruation, or the place from where the blood flows.

This word is also used for menstruation itself in (65:4).

Ibn Faris, however, says the red water that comes out of the *babool* tree (a sort of cactus) is called "حَاضَتَ "(*haazatis sumrah*). *Taj* has supported the meaning.

"حَاضَتْ تَحِيْضُ (*haazat taheez*): to flow.

| | The women who for some reason have not menstruated: | , |
|------|--|----------------------------|
| 65:4 | (that is, according to their age, they should have menstruated but due | وَاللَّاءِيْ لَمْ يَحِضْنَ |
| | to some disease they did not menstruate) | |

"أَلْحَاءِفُ" (*al-haaif*): something crooked or bent. It also means "one who has left righteousness". "الْحَاءِفُ مِنَ الْجَبَلِ" (*al-haaif minal jabal*): a portion of a mountain which juts out on one side. "الْحِيْفَةُ" (*al-heefah*): corner, side.

Ibn Faris says the basic meaning is leaning.

"أَلْحَيْفَ" (*al-hayf*): to be partial while making a decision, to be unjust, to be unfair, and to be oppressive. "حَافَ عَالِمِ" (*haafa alaih*): was oppressive towards him *{T*}.

The Quran says:

| 24:50 | Do they fear that Allah and His Prophet will be partial | اَمْ يَخَافُوْنَ اَنْ يَجِيْفَ اللهُ عَلَيْهِمْ وَرَسُوْلُهُ |
|-------|---|--|
| | and won't do justice to them? (How wrong they can be) | ام يفاقون أن يحِيف ألله عليهِم ورسون |

ح ى ق H-Y-Q

: تحَاقَ بِهِ الشَّءِيْ يَحِيْقُ (haaqa behish shaiyo yaheeq): something encircled him {T}.

| 40:45 | the worst type of punishment encircled the nation of <i>Firoun</i> (Pharaoh) | وَحَاقَ بِالِ فِرْعَوْنَ سُوْءُ الْعَذَابِ |
|-------|--|--|
| 6:10 | The people who used to make fun of Allah's message were encircled by what they used to make fun of. (they were surrounded by the results of their deeds) | فَحَاقَ بِالَّذِيْنَ سَخِرُوْامِنْهُمْ مَاكَانُوْا بِهِ يَسْتَهْزِءُوْنَ |

Ibn Faris says it basically means for one thing to overwhelm another, to cover it and stick to it.

حىن H-Y-N

"أَحِيْنُ" (al-heen): total time, whether it is little or more.

In the Arabic language, "جِيْنٌ (heen) means from a moment to infinity.

Raghib says it means the time when something is achieved.

"حَانَ الْقَوْمُ" (*haanal qaum*) means that which was desired by the nation, that time for getting it had come. "حِيْنَ" (*heen*) also means period, and when it is meant to say that one thing happened after another then "اِذْ

For instance in:

| 59:84 | when it is time for death, and life reaches the throat, | اَنْتُمْ حِبْنَكَ تَنْظُرُوْنَ |
|-------|---|--------------------------------|
| 39.04 | at that time, after that, you are watching him | النم حِينِي تطرون |

The Quran says:

| 38:3 this is not the time to run away | لآتَ حِيْنَ مَنَاصٍ |
|---------------------------------------|---------------------|
|---------------------------------------|---------------------|

"حَيِّنَه" (*hayyenah*): fixed a time for it *{T}*.

Surah *Al-Baqrah* says:

| 2:36 | you have to stay on earth and avail of the benefits for a time, period of which or duration of which, has not been fixed | وَلَكُمْ فِيْ الأَرْضِ مُسْتَقَرٌّ وَمَتَاعٌ الِّي حِيْنٍ |
|------|--|---|
|------|--|---|

This duration will be different for various nations and individuals. The time for any nation will be fixed by its deeds. As for human presence on earth, nobody knows about that duration.

"الْحَيْنُ" (*al-heen*) also means murder and death. "أَحَانَهُ اللهُ" (*ahanahi-llah*): He got killed by Allah (Allah's laws). "الْحَانَيْنَ" (*al-hayen*) is used for an idiot "الْحَانِيَّهُ" (*al-haniya*) means alcoholic brew {*T*}.

ح ی ی H-Y-Y

"حَيِيَ" (*ha-yiya*), "يَحْيِيَ" (*yahya*), "حَيِيَ" (*ya-hayyio*): he lived or became alive. "حَيَاةً" (*hayaat*): life. "أحْيَاءً" (*ahyaa*): he made him alive. "إحْيَاءً" (*ihyaa*): to give life. "حَيَاءِنُ" (*tahayya minhu*): he shrank from it.

Biologists say one sign of life is to shrink. Touch any living thing (insect etc.) and its first reaction will be to shrink itself, and if it is not living then it will remain as it is. This shrinking is actually due to its defensive instinct. From this the Arabs derived the meaning of this root as shrinking.

"حَيَاءً" (*hayaa*) also means shame, shyness and is also derived from this root because that too is displayed by stepping back a little.

A snake is also called "حَبَّرُ" (*hayya*) because it moves by shrinking and expanding. {*T*}.

Raghib says "حَيَاةً" (*hayaa*) means the faculty of sensation, "حَيَاةً" (*mout*) is its opposite. See heading (*M-W-T*)

These different perspectives are

- 1. faculty of growth, which is found in animals and plants
- 2. faculty of sense
- 3. the faculty to think and act
- 4. freedom from sorrow
- 5. life after death which can be reached through life, that is the life of intellect and knowledge
- 6. Life which is met only by God and which has no death "الْحَى الْقَبْوُمُ" (al-hayyul qayyum).

"اِحْيَاءً" (*ihyaa*): to make alive.

"أيستُحْيَاء" (istihyaa): to keep alive, also to make live.

But in 2:26, "لأيَسْتَحْي" (*la yastahyi*) means that God has no qualms about giving this example here *{R*}.

لأحَيَّ عَنْهُ" (*la hayyia unhu*) means it is no bar.

"أَلْحَيَاءُ" (al-haya) means greenery as well as rain, because these are related to the land's life.

تَحَيَّ عَلَى يَا حَيَّ بَلْ" (hayyia ala or hayyia hal) means make haste in this work {R}.

تحَيَّاهُ تَحِيَّةٌ" (*hayyiahu tahayyia*): to pray for somebody's longevity and a happy life *{R}*. It also means to salute as in 4:86 *{M*}.

"تَحِيَّاتٌ" (*tahiyyat*) is actually used for everlasting life *{L}*, and also to be safe from all evils and misfortunes.

"أَلْمَحْيَا" (*al-mahiya*) means life as life comes opposite to death in 67:2. Like this "مَمَاتُ" (*mamat*) appears as against "مَحْيَا" (*mahya*) in 6:163.

"أَحَيَاةً (*al-hayato*) sometimes means soft or beneficial *{T}*. (*al-hayatut tayyebah*) means *jannah* (heaven) or *halal* (permitted) sustenance *{M}*. (*hayyit tareewo*) means the path became clear or distinct. (*tareeq hayyi*) means clear path *{M}*.

For life after death, the Quran says "أَوَانَّ الأَارَ الْأَخِرَةَ لَبِي الْحَيَوَانُ" (*wa innad daral akhi-ratah*) in 64:29. Here instead of "خَيَوَانُ" (*hayah*) the word "حَيَوَانُ" (*hayawan*) has been used which rhymes with "خَيَوَانُ" (*fualaan*). This difference is very significant. In the Arabic language the words rhyming with "فَعَلانُ" (*fualaan*) have the connotation of intensity, overpowering, for something to appear suddenly, and movement and the element of being disturbed. This means that Life after death is not a link in the chain of life in this world which is governed by physical laws. Life will suddenly adopt a new form there *{M}*. Instead of stagnation, there will be constant movement and effort *{M}*.

Also see ''غَنِكُ '' (*akhiratun*) and ''قَنِكُمَّةُ'' (*qiyamatun*) which are mentioned under the headings (*A-Kh-R*), and (Q-W-M). Also see the word ''رَحْمَلُنَ'' (*Rahman*) which will be found under the heading (*R-H-M*).

"خَلِوة" (hayaah) has different meanings as mentioned in the Quranic verses above.

He has also written that a snake is called " \dot{z} (*hayyah*) because of its long life. The Arabs thought that the snake met its death only due to some accident, not biologically. This means that the life after death will indeed be a continuation of this life, but it will not be according to the physical laws, it will have other set of laws there.

But this fact must be well understood that the Quran does not call only the physical life as "(hayyah). Real life, in its eyes, is that which attains the height of humanity, in which Man develops himself by acting upon the laws of Allah.

"الحَيَاةُ الدُنْيَا" (*al-hayatud duniya*) means quick benefit, instant benefits, only present benefits, that is a life which has no eye on the future. Hence, it means the physical life in which a man exists on the animal level. He does not have in mind the delightfulness of the life after death nor believes in the continuation of life (after death).

This is "الحَيَاةُ الذُنْيَا" (*al-hayatyud duniya*). We should keep the Quranic meanings of "الحَيَاةُ الدُنْيَا» *hayatud duniya* and life after death in mind. Also the fact that as generally believed, life means to breathe and death means for the breath to stop. That is not so, but has a deeper meaning, and these words have been used in a wide connotation. Therefore, at every place, we must see which meaning is more befitting according to the context. As for example, when we say that that nation is dead, we do not mean that the individuals of that nation are buried in their graves. When we say that that nation is among living nations, then it does not mean that the individuals of that nation breathe. The meaning of alive and dead nations is obvious. The Quran has used these words at some places in these connotations too.

Surah *Al-Anaam* says:

| 6:123 | And he who is deadthen We enliven him, and walk among people | اَوَمَنْ كَانَ مَيْتًا فَاحْيَيْنَةُ وَ جَعَلْنَالَهُ نُوْرًا يَّمْشِيْ بِهِ فِي النَّاسِ |
|-------|--|---|
| | wark among people | |

It is obvious here that life and death here are not physical and mean guidance and being led astray. This difference in the meanings of life and death must be borne in mind at every step. The messengers used to come in order to give 'life' anew to 'dead' nations with which they could achieve all the successes of life (8:24). This life can now be achieved by following the Quran, but only those who have the capacity to 'live' (36:70) and he who wants to escape disaster (2:2).

"خَبَاًه" (*khabah*), "نَخْبَاًه" (*yakhbawuh*), "خَبَاً» (*khaba*) means to hide, to keep behind a veil. *Ibn Faris* says that these are its basic meanings.

"أَمْرَأَةٌ خُبَاَةً" (*imra atun khibah*): domestic woman who hardly leaves her house. "أَلْخَبِينَةُ" (*al-khabiat*): the seeds which the farmer hides in the earth, the bounties of Nature which are hidden in the earth.

"أَلْخَبٌ" (al-khub): buried or hidden thing {T, R}.

| The Qura | in says: | |
|----------|--|--------------------------------------|
| 27:25 | the treasures hidden in the highs and lows of the universe | ٱلْخُبُّ فِي السَّمٰوٰتِ وَالْأَرْضِ |

It means their latent potentialities, the treasures of sustenance hidden in them.

خبت Kh-B-T

Ibn Faris says that it means vast land in which there is no vegetation.

"أَلْخَبْتُ" (*al-khabt*): low, vast land *{T}*.

"أَخْسَ" (*akhbat*): he reached the low land. Later this word came to mean softness, humbleness, to obey, to be content $\{T\}$.

The Quran says about the *momineen*:

| 11:23 | they obey Allah's law | وَاَحْبَتُوْ الِّي رَبِّجْمْ |
|-------|--|------------------------------|
| 22:54 | before Him, their hearts bow (become soft) | فَتُخْبِتَ لَهُ قُلُوْبُهُمْ |

In verse 22:34, it is said "مُخْبِنَيْنَ" (*mukhbateen*), which means those with softness and obedience. Before that it is said "نَقَلَّمُ ٱسْلَمُوْا" (*faklahu aslamu*) in 32:34, which means those who bend before Allah's laws, meaning, those who accept them with good grace.

خبث Kh-B-S

"أَخْبِيْتُ" (*al-khabiss*): opposite of "أَخْبِيْتُ" (*tayyab*). See heading (*T-Y-B*) to see the meaning of (*tayyab*). (*tayyab*).

"أَخْبَيْنُ" (*al-khabis*): dirty, hateful and unpleasant, even if it regarding edibles, speech, actions, beliefs or thoughts.

"أَلْخَابِثُ" (al-khabis): cunning man, or useless thing {T, M}.

تَخَبَتُ الْحَدِيْدِ وِالْفِضَتِ" (*khabasul hadeed wal fizza*): a mixture of iron and silver which is melted and separated in the oven. Hence, it may mean mixture, adulteration. "الْخُبْتُ" (*al-khubs*): fornication.

Surah *Airaaf* says "خَبْتُ" (*khabus*) in 7:58. It is used for saline land which does not grow anything or if it does, then very little.

In surah *Ibrahim*, it is said "كَلِمَة طَيَّبَة" (*kalimatun tayyebah*) as against "كَلِمَة خَبِيْنَة" (*kalimatun khabisah*), which has been likened to "شَجَرة خَبِينَة" (*shajaratun kjhabisah*), 14:24-26. It means a tree which gives no fruit, unfruitful concepts of life. Something that appears very correct but does not produce any result, and all effort is lost, although wrong concept grows very quick and has a lot of glamour (5:100), but it can never be stable, for its roots are not deep enough (14:26).

"خَبِيْتُهُ" (*khabisatun*) is the plural.

7:157 says that the prophet declares the *tayyebat*, or good and desirable things, as *halal*, while not good things as *khubais* and Hence, *haram*. This means that things as termed *haram*, or forbidden by the Quran are *khubais* and the things which are *halal* are the *tayyebat*. For details see headings (H-R-M), and (*H-L-L*).

The Quran has used the word "خبيث" (*khabiss*) also for people who commit lewd acts as well as for the bad deeds themselves.

Surah An-Noor says:

| | ···· J - ·· | |
|-------|---|----------------------------|
| 24:26 | khabis things are befitting khabis people | ٱلخْبِينْتْ لِلْحَيْثِيْنَ |

This can however also mean that *khabis* women are for *khabis* men. The second meaning is confirmed by another verse which says:

| 24:3 | a fornicating man can only wed a fornicating | التَّانِهُ لأَمَنْكُحُ الأَرَانِيَةً |
|------|--|--------------------------------------|
| 24.3 | woman | الرابق لا ينكرخ إلا رابيه |

This is explained in *Mafhoom-ul-Quran*.

خ ب ر **Kh-B-R**

Ibn Faris says the basic meaning of "خَبَرُ" (*khabar*) is knowledge. As such, "خَبَرُ" (*khabar*) must have knowledge as well as familiarity in it.

"أَخْبَارُ (akhbar) is the plural form.

"خَبَرُ" (*khabar*) and "خَبَرُ" (*naba*) differ only in that the last mentioned is news about a very big event and "خَبَرُ" (*khabar*) is news about ordinary affairs.

Some lexicologists say that *khabar* is something which is copied from something, but the Quran has not used this word with this distinction.

Moosa said to his family upon seeing fire:

| 27:7 I will bring news about it to you | سَآتِيْكُمْ مِنْهَا لِحَبَرٍ |
|--|------------------------------|
|--|------------------------------|

الْخَبِيْرُ" (*al-khabeer*): one who knows or has the news, or one who gives the news {T}.

The Quran has used this word as one of the traits of God:

| 2:271 Allah is aware of what you do | وَاللهُ بِمَا تَعْمَلُوْنَ خَبِيْرٌ |
|-------------------------------------|-------------------------------------|
|-------------------------------------|-------------------------------------|

"خُبْلُ" (khubr) also means to know something as used in 18:68 {T}.

Muheet says this means knowledge on the basis of experience.

خ ب ز Kh-B-Z

" الْخُبْزُ" (*al-khubz*) means bread as used in 12:36 *{T}*. The real meaning in this root is to shun and kill. " الْخَبْزُ" (*al-khubz*) means for a camel to strike the earth with his pawn. Since bread is also made by slapping the dough in the own with the hand, it is Hence, called "خَبْنُ" (*khubz*), or perhaps because bread shuns or kills hunger.

Sometimes the word is used for edibles or means of livelihood {*M*, *F*}.

"خَبَطَ" (*khabat*) means to strike something hard, to trample something forcefully with the foot, to strike the tree with a stick and make the leaves fall.

"خَبَطُ اللَّبُلَ" (khabat-ul-lail): to walk at night without knowing the direction where one is going.

"تَخَبَّطَهُ الشَّيْطِنُ" (*tahabbatush shaitaan*): the devil maddened him $\{T\}$.

"خَبْطْ" (khabt) also means a king's oppression {R}.

(ikhtebaatul ma'roof) means to demand a favor from someone perforce {R}. الْخَتِبَاطُ الْمَعْرُوْفَ"

Surah Al-Baqrah describes those who practise usury as:

| | · · · · · · · · · · · · · · · · · · · | · · · · |
|-------|--|--|
| 2:275 | these people stand like they have bitten by the snake | لاَيَقُوْمُوْنَ اِلاَكَمَا يَقُوْمُ الذِيْ يَتَحَبَّطُهُ الشَّيْطِنُ مِنِ الْمَسِّ |

This state embodies mental agony as well as a troubled heart which gives no calm to them as their hearts are afire with the greed for more wealth. If "الشَيْطُنُ" (*ash-shaitaan*) in this verse is taken to mean the wild emotions of man, then it would mean, the man who is being mad due to his desires.

خبال Kh-B-L

"نُخَبِّلْ" (*al-khabl*), "الْخَبَلْ" (*al-khabal*): it basically means for some trouble (something amiss) to appear, such as some trouble to develop in man's limbs, or to have an attack of paralysis, or to be mad.

Zajaj says it means for something to be lost. Later, it commonly meant annihilation or loss.

ترَجْلٌ مُخَبَّلٌ» (rajulun mukhabbal): a man whose hands and legs have been amputated {M}.

| The Qura | n says: | |
|----------|---|---------------------------|
| 3:117 | your enemies will leave no stone unturned to hurt you | لاَيَالُوْنَكُمْ حَبَالاً |

This embodies all types of loss.

Kh-B-W خ ب و

"خَبَتِ النَّارُ وَ الْحَرْبُ" (*khabatin naaro wal hurb*): the fierceness of the battle dimmed, became calm, the flame became mild *{T*}.

Surah Bani Israel says:

| 17:97 | when the fire will start dying | كْلَّمَا حَبَتْ |
|-------|--|----------------------|
| 17:97 | we will stoke the fire for them to make it burn brighter | زِدْنْهُمْ سَعِيْرًا |

"خِبَاعُ" (*khibaun*): a curtain with which something is covered, and also the ear of the corn, the husk *{R}*. نخبُعُ" (*khab*) as used in 27:25, see heading (*Kh-B-A*).

Ibn Faris says that "خَبُوٌ" (*khabwoon*) and "خَبُوٌ" (*khabun*) both mean to hide.

"أَخْتُلْ (al-khatr): going back on one's word is the worst way possible, to break an agreement and to deceive $\{T, M\}$. This is that break of agreement for which one works so hard that he becomes dead tired $\{T, M\}$. He becomes tired and weak and Hence, his limbs become weak as well $\{R\}$.

"أَخْتَرُ" (*al-khadar*) is of the same meaning as "أَخْتَرُ" (*al-khadar*) which means such stupor as created by taking some poison or drug that is the cause of slackness and weakness in limbs.

َرَجُكٌ مُخَتَّرٌ (*rajulun mukhatta*): a man whose limbs become slack.

نَخَتَّرَهُ الشَّرَابُ (*khattarahush sharaab*): the drink has made his limbs slack {*T*, *M*}.

Ibn Faris says it basically means laziness and madness.

The Quran says "خَتَّارٍ كَفُوْرٍ" (*khattarin kafoor*) in 31:32. This verse may mean a con man, or a man who has become lazy, due to lack of hard labor, or the man who is lazy in carrying out Allah's orders.

ختم Kh-T-M

"خَتْمَ" (*khatum*) means to hide or cover something, to close and Hence, make something safe. As such, when land is cultivated and seeds sown, then watered for the first time, it is called as "خَتْمَ الزَرْعَ" (*khatamuz zar'a*) by the Arabs, because after watering the mud sticks together and Thus, hides the seed which becomes safe.

The bee collects the honey in the honeycomb cells and lays a thin wax layer at the mouth to close the honey inside and keep it safe. This too is called "خَتْرَ» (*khatum*) by the Arabs. Later, the honey itself, and the mouths of the cells too came to be called "خَتْرَ» (*khatum*).

نَخَتَمَ الشَّيْيَءَ خَتُمَ السَّيْيَءَ خَتُمَ السَّيْيَءَ خَتُمَ السَّيْيَءَ خَتُمَ السَّيْيَءَ خَتُمَ السَّيْ (*khatamash shaiya khatma*): means to reach at the end of something *{T}*. *Ibn Faris* says this is its basic meaning.

نخَتُمْ" (khatmun) and "طَبْعٌ (tabo'n) are used in two ways:

- 1. To put a seal on something.
- 2. The mark that is made by sealing,

Later on the meaning widened and it came to mean to close and stop something. This because by sealing the thing inside, one closes it and it is not brought out anymore $\{T\}$.

"خِتَام (khitaam) is the wax which is used to seal.

"خَاتَم" (khatamun) is the seal itself.

"خَاتَم" (khatamun) is also used for the end of everything.

تَخَاتُمُ الْقَوْمِ" (khatamul qaum) would as such mean the last individual of the nation.

"خِتَام (khitaam) means the last part of any drink {F}.

Fara thinks that "خَاتُم" (khatamun) and "خَاتُم" (khitaam) are very similar in meaning

نفُلَانٌ خَتَمَ عَلَيْکَ بَابَہُ'' (*fulan khatama alaika babehi*): that man avoids you and closes his doors on you *{T}*.

Quran says:

|--|

It also says "أَطْبَعَ اللهُ" (*taba'allahu*....) other places.

When it says that the hearts of people are sealed, it means that they lose the capacity to think or comprehend.

Surah Al-Anaam says:

| 6:46 | | أَحَذَ اللَّهُ سَمْعَكُمْ وَأَبْصَارَكُمْ وَحَتَّمَ عَلَى قُلُوبِكُم مَّنْ |
|------|-------|--|
| | heart | |

This verse makes it clear seal on heart means to lose the abilities of comprehension. This is the condition of those who willingly adopt the wrong path, because they prefer quick benefits to the pleasantness of future (16:106-108). Then there are those who are unwilling to hear the right thing and when they are confronted with it, they turn their heads and walk away (17:45-46). Their condition is such that they attend your sittings and it appears that they are listening to you quite attentively, but they are listening to something else (they are faking that they are listening to you), and only know how to follow their desires (47:16-17) and do not deliberate on the noble Quran (27:24). Their deeds themselves turn into rust and seal their hearts $\{T\}$.

These explanations clarify what "خَتَّمَ اللهُ عَلَى قُلُوْبِهِمْ (*khatamul lahu ala qulubehim*) means. It means that it is not Allah who seals the hearts, but their own deeds, according to the laws of nature, become the seals.

In surah *Tatfeef* verse 83:25, the drink in *jannah* has been called "رَحِيْقَ مَخْتُوْمَ" (*raheeqim makhtoom*), and it is said "خِتَامُهُ مِسْكُ" (*khitaamohu miskun*) in 83:25, also with it is 83:26 which says that its will shall remain and shall be like musk. It is followed by "مِزَاجُهُ مِنْ تَسْلِيْمِ" (*mizajohu min tasneem*) in 83:27 which means that it will be mixed with water which is coming from great heights and shall give life the strength to reach the highest destinations.

Surah *Aaab* calls the Messenger (pbuh) as "خَاتَمُ النَّبِيِّيْنَ" (*khaataman nabiyyin*) in 33:40. "خَاتَمُ " (*khatam*) has been explained earlier and as per those meanings it would mean that the Messenger is the last Messenger. To think that messenger-hood continues after him is against the Quranic teachings. Since the Quran is the last Book that has been revealed by God, the Messenger is also the last messenger. See (N-B-A) for the meaning of messenger where it has also been explained that there can be no messenger without a holy Book. Therefore, there was no celestial book after the Quran and no Messenger after Mohammed (pbuh).

The concept that with the messenger's seal others can also become messenger is to be unaware of the reality of messenger-hood. Messenger-hood was endowed on any man by God not due to any effort or expertise. Nobody could acquire it, nor could any messenger relegate it to anybody. Details will be found under heading (N-B-A). As such, any claim to messenger-hood after Mohammed (pbuh) is patently untrue.

But there is another form of the claim to messenger-hood which is very complex and as such demands careful deliberation. Messenger-hood is to acquire knowledge directly from God, that is, his own intellect or knowledge has nothing to do with it. He must get the knowledge directly from God. In *sufism*, there is a concept that *aulia Allah* (Allah's friends) or *Sufis* get direct knowledge from God, and that is called *kashf* or *ilhaam*. But the difference is of name only as manifested. *Kashf, ilhaam* and *wahi* are all the same, only the names are different, Thus, inherently this concept lays open the door to messenger-hood. According to the Quran, whatever knowledge God wished to impart, He gave to the last Messenger (pbuh). This knowledge is now safe in the Quran. Now, no human can have direct knowledge from God.

Note that *kashf* and *ilhaam* are man's own psychological tribulations, they are not from God.

Kh-D-D ל גנ

"أَخْذُ" (*al-khudd*) has been used in 31:18 for the cheek. Otherwise it means a rectangular hole dug in the ground. "(al-ukhdood) means ditch $\{T\}$.

| The Quran say | 'S: |
|---------------|-----|
|---------------|-----|

| 85:4 | Death other people of the fire-ditches | قُتِلَ آصْحٰبُ الْأُخْدُوْدِ |
|------|--|------------------------------|
| | * * | |

Muheet relates that the king of Yemen, *Zunawaas*, asked able bodied Christian young men to give up Christianity. When they refused, he had a trench built and put them in it to burn in the fire which he had started there. *Taj-ul-Uroos* relates that *Bakht-Nasr* torched religious Jews like this. But the context of the Quran shows that it means all those opponents of Islam who were fighting against the God's Messenger, and used to keep the fires of war burning. The Quran has given the news about their destruction. Also see heading *ashaabul, ukhdood* and *tubbah*.

"خَدْعٌ" (*khad'a*) means hypocrisy, to secretly connive against someone $\{T\}$.

Ibn Faris says its basic meaning is to hide and keep secrets.

"خَذُوْعٌ" (*khad'o*) is actually that female camel which at times gives milk profusely and at others completely dries up {*L*}. Arabs were famous hosts and used to live on desert and the milk and meat of their animals was readily available with them. Imagine the chagrin of the host who goes to milk a camel only to find out that she has dried up. Thus, a camel (she) which could not be relied on was called "حَدُوْعٌ" (*kjhad'o*).

"خَبْدَ khada'a) is a mirage, and also the path which is seemingly leading to one's destination but the reality is against it $\{T\}$.

"خُلاِعَة" (khadia) is a small room built aside a bigger room, where the valuables of the house are kept $\{T\}$.

Lataaif-ul-Lugha says that "أَلْخَادِعُ" (*al-khadih*) and "أَلْخَدُوْعُ" (*al-khuduh*) means the path which sometimes becomes very clear and at other times is completely lost.

"خَدْعٌ" (*khaduh*) is that way of life in which hypocrisy is practiced or which is less than expected, or that which is not stable (not on the same condition).

تخَدَعَ الْكَرِيْمُ (khadal karteem) is said when a philanthropist unexpectedly turns miserly.

"خَدَعَ الْمَطَرُ" (khada'al matar) means when it rains less than expected.

سُوُقٌ خَادِعَةٌ" (sooqun khadia) means a market which does not stay stable.

"خَدَعَتِ الْأُمُوْرُ (khada'atil umoor) means for conditions to deteriorate {T}.

"خَدَعَ" (khada'ah) also means to become less.

"نَاسَنُوْنُ الْخَوَادِعُنَ" (*as-sinoonal hawadeh*) are the years when sometimes there is a good crop and sometimes drought, or which years have lots of rain but little produce.

"يَيْنَارُ خَادِعٌ" (*deenarun khadeh*) is that *Deenar* (Arab unit of currency) which looks okay but on scrutiny is found to be counterfeit {*T*}.

"خَارِعٌ" (*khadeh*) means the person who in his emotions either flares up or withdraws within himself, or that hypocrite who appears as he is not only to gain some profit, and in this way he deceives the society. Such people cannot be trusted.

Muheet says "خَذَعَ" (*khada'a*) basically means secretive and hidden-ness which cannot be judged beforehand. This is the hallmark of opportunists or emotionalists.

The Quran has described this sort of deceptive mentality as the disease of the heart in 2:10 and said further that this is psychologically a deception with one's Self, since God's scheme of things makes them deceive themselves.

| 2:9 | But they deceive none other than themself | وَمَا يُخْدَعُوْنَ إِلَّا أَنْفُسَهُمْ وَمَا يَشْعُرُوْنَ |
|------|---|---|
| 2:10 | There is a disease in their hearts | فِيْ قُلُوْكِمْ مَرَضٌ |

Surah *Nisaa* describes them as:

| 4:142 | these hypocrites want to deceive Allah's laws but it so happens that they deceive only themselves | اِنَّ الْمُنْفِقِيْنَ يُخْدِعُوْنَ اللَّهَ وَهُوَ حَادِ عُهُمْ |
|-------|---|--|
| 9:2 | Deceiving Allah is actually self-deception | وَمَا يَخْدَعُوْنَ اِلَّا أَنْفُسَهُمْ |

But people do not understand, because they do not have awareness about it. As it is, anyone who is blinded by emotions loses his understanding power.

"الْخِدْنُ" (al-khidn) means companion, one to talk to, friend {T}.

Raghib says this is used mostly for a companion who stays with one due to sexual desire.

Words which have "خ" (*kha*) and "د" (*daal*) together contain the connotation of effectiveness {*Al-ilm-ul Khafaaq*}.

Ibn Faris says it basically means to stay with someone.

The noble Quran has said about the sexual relationship of man and woman:

| 4:25 | Mohsanaatin instead of musafehatin, and not | مُحْصَنِّتٍ غَيْرَ مُسْفِحْتٍ وَلَا مَتَّخِذَاتِ آ خْ دَانٍ |
|------|---|--|
| 4.23 | those who take secret lovers | حصب عير مستبحب ولا منجداب الحداق |

The meanings of "مُخْصَلُتُ" (mohsanaatin) and "مُسَافِحَاتَ" (musafehatin) can be found under the heading (H-Sd-N) and (S-F-H). From there it will be clear that "سَفَحٌ" (safhun) means sexual relationship only for pleasure seeking, for which the Arabs used to send messages to women before Islam. That was the custom in those days.

"خِنْنَ" (*khizn*) is secretive affairs. Both ultimately came to mean the same thing. They are mentioned separately here so that all forms of sexual relations (out of wedlock) shall be rejected, and only one form remains, which is مُحْصِنِيْنَ" (*mohseneen*), that is, protected and in wedlock. "مُحْصَنِيْنَ" (*musafeheen*) means only for pleasure seeking. This includes illegal fornication or to fulfill the custom of marriage without accepting any of the responsibilities of wedlock.

"نَعْتَخِذَاتِ اَخْدَاتِ اَحْدَاتِ اَحْدَاتِ اَحْدَاتِ اَحْدَاتِ اَحْدَاتِ الْحَدَاتِ الْحَدَاتِ الْحَدَاتِ الْ

In other words, "مَنْفَحُ" (*safhun*) would be the satisfaction of sexual desires in a way acceptable to society and "خَدْنُ" (*khidnun*) a form which the society deems impermissible. As per the Quran, however, every form of sexual intercourse would be impermissible which is against the Quranic *Nikah* (wedlock), and its purpose, which is perpetuation of the human race, whether society feels it is permissible or impermissible.

خذل Kh-Dh-L

"خَذَلَتِ الطَّبْيَمُ" (*khazalatiz zabeeha*): the female deer lagged behind its herd. Such a deer is called "حَذَوْلُ" (*khazil*) or تَخَذُوْلُ" (*khuzool*). Usually such deer or cow lags behind due to its young one *{T}*. "خَذُوْلُ" (*tahazalat rijlahu*): his feet got tired and he lagged behind. Such a man is called "رَجُلُّ خَذُوْلُ الرَّجُلِ" (*rajlun khazulur rajul*). "أَخذُلَانُ" (*al-khazlaan*) is used when a man who thought to be very useful, backs out.

Ibn Faris says it basically means to back out and be helpful.

Surah *Aal-e-Imraan* says:

| 3:159 If He leaves you without being helpful, who is left there to help you? | اِنْ يَخْذُلُكُمْ فَ مَنْ ذَا الَّذِيْ يَنْصُرُ كُمْ مِنْ بَعْدِم |
|--|--|
|--|--|

A nation which is left un-helped by Allah's laws (resources), as against "يَتْصُرُ" (*yansur*) in 3:159, and that nation lags behind other nations, cannot be helped by others. Such an individual or nation which lags

behind others is deprived of the blessings of life (17:22). Islam means that all *Monineen* progress in union. See the word *tasalam* under heading (S-L-M). However "أَخْنَ" (*ism*) means to stay behind or lag behind due to some personal weakness. See heading (A-Th-M). But if somebody due to various temptations, children's love being the greatest attraction among them, lags behind his party, it will be called "خَذُلَ" (*khazal*), which means to lag behind the group of *momineen* due to some personal benefit or emotion or to lag behind the nations of the world because of giving up Allah's system of life. These are both called "خَذُلُ" (*khazal*).

Surah *Al-furqaan* says:

| | The rebellious human emotions seemingly would be with one to | |
|-------|--|--|
| 25:29 | the last, but at the time of need, give up man's company. | وَكَانَ الشَّيْطُنُ لِلْانْسَانِ خَذُوْلاً |
| | (such emotions are only temporary) | |

خرب Kh-R-B

"نُغَرْرَانٌ" (*al-kharaab*) means desolation. It is the opposite of "عُمْرَانٌ" (*umraan*) or habitation, to be uninhabited.

"خَرِبَ" (*khariba*): to become inhabited.

"أَخْرُبَ" (*akhraba*): to make inhabited, to make desolate.

"أَلْخَرِبَة (al-kharibah): isolated or uninhabited place.

"أَلْخَرْبَة" (al-kharbah): a sieve, impairment, impairment of Deen, doubt and blame.

Ibn Faris says it means for a corner to break off and Thus, create impairment, and to be full of holes, like a knife is blunted as its corner breaks off.

Ibn Faris says "أَخْرَبَة" (al-khariba) means hole, and "أَخْرَبَة" (al-khariba) means the needle's eye.

The Quran says:

| | they make their homes desolate with their own | |
|------|---|--|
| 59:2 | hands | <mark>يُخْرِبُوْنَ</mark> بُيُوْتَهُمْ بِٱيْلِيهِم |

Surah *Al-Baqrah* says about the mosques:

| 2:114 He tries for them to become desolate. |
|---|
|---|

Hence, the desolation of mosques does not just mean that they are not visited by people to pray, but also that they avoid discussions regarding Allah's and His traits. That is why the following order is related to mosques:

| 42:38 | Establishment of <i>Salaat</i> and mutual | أَقَامُوا الصَّلُوةَ وَ أَمْرُهُمْ يشُوْرِيٰ بَيْنَهُمْ |
|-------|---|---|
| 42.38 | consultation go hand in hand | الحملوا الطينون والمرهم يسورى بينهم |

This means that where there is one, so is the other. At another place it is said that the *mushrekeen* (those who involve other laws with Allah's) cannot inhabit the mosques (9:17), because they do not obey pure or chaste divine laws.

Kh-R-J לכ א

"خُرُوْجٌ" (*khurooj*): to exit, or come out.

"أَخْرِجْ (al-kharj): expenditure as against income.

َخَارِجٌ كُلِّ شَيْءٍ (*kharijo kulli shaiyin*): the part of everything that sticks out, or which is evident (تخارجٌ كُلِّ شَيْءٍ

"أَخَارِجِيّ" (*al-kharijiyyo*): a horse which is better than its parents. It also means anything that surpasses others of its species $\{T\}$.

"خَرَجَ فُلَانَفِي الصِنَاعَةِ" (kharaja fulaan fis sana'ah): somebody became an expert in workmanship {M}. "تَاقَدُّ مُخْتَرِجَةً" (naaqatun mukh-tarijah): a camel which surpasses others and becomes an Alfa-camel {T}. "يَوْمُ الْخُرُوْجِ" (yaumul khurooj): A day of festivity when people come out all decked up. "خَرَجَتِ الرَّعِيَّةُ عَلَى الْوَالِيَّ" (kharajatir rayiyatu alal ewaali): when the subjects rebel against the leader and stop obeying him {M}.

The Quran, saying that God enlivens the dead land with rain, goes on to say "كَذَالِكَ الْخُرُوْجُ" (*kazaalikul khurooj*) in 50:12, this way there will be '*khuruj*'. Here *khuruj* means life anew. This has been called "يَوْمُ الْخُرُوْجِ" (*yaumal khurooj*) a little further on in 50:42. In the Quran, the words "يَوْمُ الْخُرُوْجِ" (*qiyamah*), "خروج" (*saa'ah*), "خروج" (*bo-as*), "خروج" (*khurooj*) have special connotations, but all these have the elements of life anew. This life anew could be a nation's renaissance, or for the entire humanity to stand on its own feet, or the Life after Death of an individual. All these concepts are included in the said terms and context will determine as to what they mean at a particular place.

The words "خَزَاجٌ" (*kharj*) and "خَزَاجٌ" (*kharaj*) have also been used in the Quran, as in 18:64 and 23:71. It means the sum which one takes out of his wealth and gives to others.

I have not discussed "tribute" in a jurisprudential context because the term is not mentioned as such with this word in the Qur'an.

Among the Arabs, "خَرَاجٌ" (*kharaj*) was the amount a slave-owner had fixed for spending towards his slave (for paying him). Later, this word came to be used for land tax. Now, every tax that the government receives from the people is called "خَرَاجٌ" (*kharaj*). In the beginning "خَرَاجٌ" (*kharaj*) used to mean the produce of the land, but later it came to mean the tax received from properties as well $\{T\}$.

"خَارِجٌ" (kharij): that which comes out, exits, get expelled.

"مُخْرَجٌ" (makhraj): the place where something gets expelled from.

"خُرْجٌ" (akhraj): to take out, to give birth, to produce.

"إخْرَاج" (ikhraaj): to get something out, to give birth.

"مُخْرِجٌ" (*mukhrij*): the one, who gives birth, produces.

"مُخْرَبَّخٌ" (*mukhraj*): which is born, or the place or time from which something has been extracted (17:80). (*ایسْتَخْرَجَ*): (*istakhraj*): to take out.

Surah **Baqrah** uses "لِغْرَاجَ" (*ikhraaj*) as against "كَثْمَانَ" (*kit'aan*) in 2:72, which means to make something evident. In the same surah, it is said "أَفَخْرَجَهُمَا" (*fa akhrajhuma*) in connotation to Adam's tale: "He got the two of them out of there", and later it says "وَقَالْنَا ابْبِطُوْا" (*wa qulnah betoo*) in 2:36. It is obvious then that *khurooj* and *huboot* are different. *Khurooj* simply means to get out, while *huboot* also has a demeaning connotation. For details, see my book "*Iblees O Adam*").

خردل Kh-R-D-L

"الْخَرْدَلْ" (*al-khardil*) means mustard.

تَخْرُدَلَ ٱلْلَّحَم" (khardalal laham): he cut the meat into many small pieces {T}.

| The Quian says. | | |
|-----------------|---------------------------|---------------------------------|
| 21:27 | equal to one mustard seed | مِثْقَالَ حَبَّةٍ مِنْ خَرْدَلٍ |

خرر Kh-R-R

The Ouron cover

"أَخْرِيْرُ" (*al-khareer*) is the sound of water running, or wind blowing, or the sound of an eagle's wings in flight, or the sound of snoring.

"أَخْرُ" (*al-kharr*) actually means to fall from a height and the sound of the fall. Later it started meaning every type of fall.

The Quran says:

| 7:144 | Moses fainted due to the lighting and thunder | خَرَّ مُوْسَى صَعِقاً |
|-------|---|---|
| 22:31 | as if he fell from the sky | فَكَأَمَّا جَر َ مِنَ السَّمَاءِ |

This is the state of a *mushrik* (one who lives according to other laws as well as Allah's).

Surah *Al-Furqaan* has enumerated various qualities of a *momin*. One of them is:

| 25:73 | when the verses of the Sustainer are recited in front of | اِذَاذُكُرُوْابْايْتِ رَبِّهِمْ لَمْ يَخِرُوْا عَلَيْهَا صُمّاً وَ عُمْيَانًا |
|-------|--|---|
| 23.15 | them, they don't follow them, as if they are blind or deaf | إداد دروابايب ربغيم تم يجروا عليها صما و عميانا |

Muheet says that "خَرَّ عَلَى الشَّىْءِ (kharra alish shaiyi) means to stick to one thing.

From this it is obvious that the Quran cannot be result producing if it is simply adhered to emotionally without any deliberation. The quality of the *momineen* is that their acting upon the Quran is based on careful thought. Imagine how can the Quran allow non-divine things to be worshipped or accepted without deliberation, when it even does not allow its own verses to be followed blindly and without understanding?

It says that a *momin* does not follow something without properly understanding it. It orders him to:

| 17:36 | Do not follow something which you do not understand. Verily the sight, hearing and the | وَلاَتَقْفُ مَا لَيْسَ لَكَ بِهِ عِلْمٌ إِنَّ السَّمْعَ وَالْبَصَرَ وَالْفُؤَادَ كُلُ |
|-------|---|---|
| | heart (or mind) will all be questioned about | أُولئكَ كَانَ عَنْهُ مَسْؤُولاً |
| | their responsibilities. | 55 75 |

For knowledge, sight and hearing (i.e. the senses) and mind are necessary, and *momin* is one who follows Allah's orders after having an understanding.

خرص Kh-R-Sd

"أَلْخَرْصُ" (*al-khars*): to estimate, to form an idea, to guess without knowing something one is uncertain of. "خَرْصُ النَّخْلِ" (*kharsun nakhal*): to guess how much dates the tree would produce.

"كَمْ خِرْصُ ٱرْضِكَ" (*kam khirsu ardika*): what is the estimated produce of your land? As such, every assumption is called "الْخَرْصُ" (*al-khars*), even falsehood *{T*}.

The Quran says:

| 6:117 | These people follow their whims and their talk | اِنْ يَتَّبِعُوْنَ اِلَّاالظَّنَّ وَاِنْ هُمْ اِلَّا يَخْرُصُوْنَ |
|-------|--|---|
| | is mere assumptions | |

Surah *Az-Zareyah* says:

| | | ۰. ۱ |
|-------|-------------------------------------|-----------------------|
| 51:10 | Their assumptions shall be defeated | قْتِلَ الْجَرَّصُوْنَ |

Truth is based on facts and Therefore, *Deen* is based entirely on truth. No guesswork can be *Deen*. Each and every word of the Quran is safe with us. Quran's internal and external historical evidence supports this theory. Therefore, it is truly *Deen* and the criterion for truth and falsehood.

Raghib says that to say something by guessing, even if it is true, is still an act of uncertainty.

Hence, ''خَرّ اصْ' (*kharras*) means the same as ''خَرّ اصْ' (*kazzab*) or liar $\{R\}$. ''خَرَصَ' (*kharasa*): he lied $\{M\}$.

The Quran claims that those who follow assumptions shall be destroyed. As such those who follow assumptions in *Deen* will never succeed. Our current condition testifies to this.

تألْخُرْطُوْمُ» (al-khurtoum): the nose, or the front part of the nose {T}. It also means an elephant's trunk {M}.

خ ر ت م

Sa'ab says that "خَرْطُوْمٌ" (*khatm*) and "خُرْطُوْمٌ" (*khattoum*) is generally used for the front part of the face of wild animals.

"خَرَاطِيْمُ الْقَوْمِ" (*kharateemul qaum*) means the leaders of a nation, because they are in the forefront of the nation. This is an allegory to being eminent.

The Quran says:

| مَىُ عَلَى الحُرْطُوْمِ (i.e./ We shall demean him) مُنْ عَلَى الحُرْطُوْمِ |
|---|
|---|

To deface the face or nose was very demeaning $\{R\}$. It embodies an element of disgrace which cannot be hidden.

خرق Kh-R-Q

"أَخْرُقْ" (*al-khurq*) means to tear something up without following any principle. This is opposite of "الْخَرْقُ" (*al-khalq*) which means to do something properly and disciplined $\{T\}$.

تَخَرَقَ التَّوْبَ (kharaqas saub): he tore up the cloth without judging.

Surah Bani Israel says:

| 17:37 | You cannot just tear apart the earth | اِنَّكَ لَنْ غَرِقَ الْأَرْضَ |
|-------|--------------------------------------|--|
|-------|--------------------------------------|--|

This means to tear up or drill holes. Some say that it means cutting the distance (shortening it) from one end to another $\{T\}$.

In surah **Qahaf** it is said "خَرَقَبَ¹" (*kharqeha*) with regards to making a hole in the boat (18:71). "خَرَقَ¹" (*kharaq*): he lied.

"خَرَقَ الكَذِبَ (kharaqal kizb): he fabricated a falsehood.

"اَلتَخْرُقُ (al-taharraq): to create falsehood.

"التَّخْرِيْنَ) (at-takhreeq): to lie profusely {T}.

Surah Anaam says:

| 6:100 | they believe in God's progeny which is patently untrue | وَ حَرَقُواْ لَهُ بَنِينَ |
|-------|--|---------------------------|
|-------|--|---------------------------|

Their concept is against all factors, belief etc. It shatters the truth.

"أَلْخَزُنْ" (al-khazn) basically means to hoard something {T, R}.

"أَلْخِزَ الْخُزِيْنَةُ" (al-khazaanatu), "الْخَزِيْنَةُ" (al-khazaanatu), "الْخَزِيْنَةُ" (al-khazaanatu), "الْخَزِيْنَةُ" (al-mazkan) means storehouse, or the place where something is hoarded {*T*, *R*}.

تَخَزَائِنُ" (al-khazeenah): something which is safely hidden. The plural is "خَزَائِنُ" (khazayin).

| The Q | uran says: | |
|-------|---|--|
| 6:50 | I do not claim to have the treasures of Allah | لَا أَقُوْلُ لَكُمْ عِنْدِيْ حَزَائِنُ اللَّهِ |

"خَازِنْ" (*khaazin*): someone who collects, or guard or protector. The plural is "خَازِنُوْنَ" (*khazenoon*) or "خَازِنُوْنَ" (*khazanah*).

The Quran says:

| Ine Zuit | in Suys. | |
|----------|---------------------------|----------------------------|
| 39:72 | The guards will tell them | وَقَالَ لَهُمْ حَزَنْتُهَا |

Ibn Faris says the word means to safe-keep something.

"خَزَائِنُ اللَّهِ" (*kayinullah*) are those forces and treasures of the universe that have not yet come within man's knowledge.

خزی Kh-Z-Y

"خِزْى (*khizyun*) means such ignominy which puts one to shame. That is why this word is used to mean both demeaning and shame. As such, it would mean shameful and demeaning, or to disclose such faults that are shameful to disclose $\{T\}$.

In the Quran, the result of living against the laws of Allah has been related as:

| 2:85 shameful ignominy in this world | خِزْیٌ فِی الْحَیْوةِ الدُّنْيَا |
|--------------------------------------|----------------------------------|
|--------------------------------------|----------------------------------|

Surah *Taha* says "نَذِنَ" (*nazilla*) and "نَخْزَىٰ" (*nakhza*) in 20:134. These two words have appeared together here and they mean shame and chagrin. In surah *Hijr*, this word has come with "ثَفْضَحُوْنِ" (*tafzahoon*), in 15:69, which means shame and disgrace.

"مُخْزِى الْكَافِرِيْنَ" (*mukhzi al-kaafireen*): one who imparts shameful disgrace to the *kafirs* (deniers), as said in 9:2. A life of honor and dignity is *momin's* way of life. Ignominy and disgrace is Allah's punishment. As such, the nation which faces these in the world cannot be a party or group of *Momineen*.

Ibn Faris says that this word basically means to distance, that is, a nation which is distanced from life's happiness, which is the worst type of disgrace.

If it is to be determined whether a nation is living according to the laws of Allah, then it should be seen whether that nation is living a life of honor, success and power, or is disgraced in comparison to other nations of the world. If this nation is not living honorably in comparison to other nations of the world, then it is not following Allah's laws. The following should be well understood in this context. A nation which follows the laws of the universe but its cultural life is subject to its own laws, then although it does attain immediate benefits (that is, in this life) but its future is dark. The Western nations fall into this category.

A nation, which follows the laws of this universe as well as the laws of Allah, lives a successful life in this world and has a bright future as well. This is the particularity of the party of *Momineen*, but a nation which neither follows the laws of this universe nor follows the laws of Allah in its cultural life, faces ignominy in this world as well as the Hereafter. We (the Pakistanis) fall into this category.

| 2:85 ignominy in this world and disgrace on the Day of the Judgment | خِزْىٌ فِي الْحَيْوةِ الدُّنْيَا وَيَوْمَ الْقِيْمَةِ يُرَدُّوْنَ الْي أَشِّد الْعَذَابِ |
|--|--|
|--|--|

"(*il-khasi*): useless and waste wool which is thrown away. Thus, this word acquires the connotation of degradation and hatred.

"خَسَاًالْكَلْبَ (khasa'al kalba): he shooed the dog away.

"خَسَأَالْكَلْبُ (khasa'al kalbo): the dog became homeless.

"أَلْخَاسِيءُ (*al-khaasi-o*): the one who is shunned.

Ibn Faris says it basically means to distance, to remove.

The noble Quran has said "قَرَدَةً خَاسِئِيْنَ" (*qirdatan khaseyeen*) in 2:65, meaning "disgraced monkeys". See heading (*Q-R-D*).

تَخْسَاًالْبَصَرُ (khasa'al basaro): the eye was surprised and tired (due to wonderment) {T, M}.

The Quran says:

| 67:4 | sight will become homeless and return to the eye | يَنْقَلِبْ الَيْكَ الْبَصَرُ خَاسِئاً |
|--------|--|---------------------------------------|
| 23:109 | P live here with ignominy and disgrace | اِخْسَتُوْا فِيْها |

It also means to be away from life's happiness and be deprived.

خسر Kh-S-R

نَحْسِرَ فَلَانٌ (khasera fulaan) means that man was lost on the way, was killed {T}.

(*al-khasru*), "الْخُسْرُ أَنْ (*al-khusraan*) means to make less, lessen, to fail.

"أَلْكِيْلُ وَأَخْسَرَ "(alkaila wa akhsar): he measured less. "أَلْكِيْلُ وَأَخْسَرَ "(alkaila wa akhsar): he measured less.

Some dictionary scholars say that " $i \neq i$ (*al-khasir*) is a man who when giving measures gives less and while taking takes more than the measure $\{T\}$.

The Quran says:

| 26:181 | measure to the full and do not be among those who give less | أَوْفُوْا الْكَيْلَ وَلَا تَكُوْنُوْا مِنَ الْمُحْسِرِيْنَ |
|--------|--|--|
| 83:2-3 | when taking they measure fully and while giving they lessen the measure | اِذَا اكْتَالُوْا عَلَى النَّاسِ يَسْتَوْفُوْنَ وَإِذَا كَالُوْئُمْ أَوْوَزَنُوْئُمْ <mark>يَغْسِرُوْنَ</mark> |

This last verse relates a very big economic principle. Details will be found in heading (B-Y-Ain).

Surah *Ar-Rahman* says:

| 55:9 | Keep the measure full according to fairness and do not | وَاقِيْمُوْا الْوَزْنَ بِالْقِسْطِ وَلَا تُخْسِرُوْا الْمِيْزَانَ |
|------|---|---|
| 33.9 | measure less: also do not spoil the balance of society. | والييموا الورف بالغسيط ولا مستقروا المعيرات |

تَصَفَقَةٌ خاسِرَةٌ (safqatun khaserah): unprofitable trade which incurs loss {T}.

"أَنْخَيْسَرَى" (al-khaisarah): deception, reneging, meanness, lops.

"خَسَرًه تَخْسِيْرًا" (khassarahu takhseera): killed him {T}.

"أَخَاسِرُ" (*al-khaasir*): someone who goes missing on the way, one who gets killed, or cannot succeed *{T}*. It also means one who suffers loss in trade.

: نخُسْرٌ (*khusr*): loss; destruction.

Raghib says that "نَسْلُ" (*khusr*) includes both loss of material things and loss of non-material or figurative things. That is, loss of wealth as well as loss of intellect or trust, health and honor.

Ibn ul-Aarabi has said that "أَخْاسِنُ" (al-khaasir): a man who has lost both his intellect and wealth {T}.

| لَإِنْسَانَ لَفِيْ حُسْرٍ (If) humanity (is left without Revelation, then it) would be in loss. |
|---|
|---|

This above mentioned loss includes all kinds.

"خَسَار" (khasaar): annihilation, loss, one who suffers loss.

"أَخْسَرُ" (akhsar): someone who loses the most.

تَخْسِيْرُ" (*takhseer*): to give loss, to shun from the good things.

Ibn Faris has said that the root basically means loss and to decrease.

خ س ف Kh-S-F

تَخْسَفُ الْمَكَانُ ، (khasafal makaan), 'تُخْسَفُ (yakhsefu), 'تُخْسَفُ الْمَكَانُ' (khasafal makaan), 'تُخْسَفُ الْمَكَانُ' (khasafal makaan), ''

Ibn Faris says it means to go deep and hide, to cave in.

The Quran says:

| 28:81 | We buried him (<i>Qaroon</i>) and his house (destroyed | فَحَسَفْنَابِهِ وَبِدَارِهِ الْأَرْضَ |
|-------|--|---------------------------------------|
| 20.01 | him) | فعسفت ببه وبعاري الأرتص |

"خَسْفَ" (*khasaf*) also means to tie up an animal without food and water. This led to its meaning of being oppressive to someone. Later this word also came to mean disgrace, insult, and to be oppressive. "لُخَاسِفُ" (*al-khaasf*): weak

تُبَّاتَ الْقَوْمَ عَلَى الْحَسُفِ"؛ (batal qaumu alal khasf): the people spent the night hungry.

"سَامَہُ خَسْفاً" (saamahu khasfa): he insulted and disgraced him.

"أَلْخَسِيْفَ" (al-khaseef): caved-in (adjective).

"أَخْسَفَتِ الْعَيْنَ (akhsafatil ain): the eye went blind {T, R}.

The Quran says

| 16:25 | Allah will bury them in the ground (destroy them) | يَخْسِفُ اللَّهُ بِحِمْ الْأَرْضَ |
|-------|---|-----------------------------------|
|-------|---|-----------------------------------|

: خُسُوْفٌ (khusoof): lunar eclipse {T, R}.

بَنُرٌ مَخْسُوْفَةٌ (berun makhsufah): well whose water disappears {R}.

The Quran says about the revolution brought about by *Mohammed*:

| 78:8 the moon was eclipsed, it waned (literal meaning) |
|--|
|--|

The above verse figuratively means that the Arabs of dark ages (who had the moon ass their insignia) would weaken. They will become weak, their opposition and rebelliousness would end.

خ ش ب Kh-Sh-B

"خَشُبٌ" (*khjashab*): thick wood. Plural is "خُشُبٌ" (*khushub*). The Quran has compared the hypocrites (*munafeqeen*) to تُخْشُبٌ مُسْنَدَةٌ (*khushubun musannadah*) in 63:4. That is, such wood which have been standing with support of a wall.

Muheet says that "خَشْبَةٌ خَشْباءُ" (*khashabatun khashbah*) is a wood which has been eaten on the inside by termites.

This means that is something which only appear to be strong but is in fact eaten up inside. *Munafiqeen* has been called so, because neither do they have intellect or the power to deliberate, nor the freshness of life. Neither is their heart in right place, nor the mind. Hence, it means something useless, despite a fake appearance.

"خَشَبَ السُّعْرَ" (*khashabash she'r*) means when somebody recites a verse without making it presentable. (*fahlun khasheeb*) is an untrained camel. (*jabhatun khashba-oo*): uneven forehead.

Ibn Faris says that it means to be hard and uncouth or rough.

"أَلْأَخْشَبُ" (*al-akhshab*) means a hard, rocky mountain, also a fresh sword which is not yet smooth and shiny due to being new and unused. These meanings make it clear as why the Quran has called the hypocrites "خُشُبُ" (*khushub*).

"خَشْعَ" (khasha) means the lowering of the eyes or voice.

| 20:108 | voices will be lowered | حَشَعَتِ الْأَصْوَاتُ |
|--------|-----------------------------|-------------------------|
| 68:43 | their eye will be lowered | حَاشِعَةٌ أَبْصَارُهُمْ |
| 68:43 | disgrace will overtake them | تَرْهَقُهُمْ ذِلَّةٌ |

This makes the meaning of "خَسْعَ" (*khasha*) clear, that it means the lowering of eyes and voice due to shame and disgrace.

"خَشَعَت الْأَرْضْ (hasha'til ard): the land dried up and there was no rain.

"خُشُوْعُ الْمَوَكَبِ (khushu-ul kaukab): for the star to lower at time of setting.

"خَشَعَت الشَّمْسُ (ksha'atish shams): the sun was in eclipse.

"زختشع" (ikhtasha'a): to drop the head and lower the eyes {T}.

(*al-khushah*): hard rocky plot of land which does not grow any vegetation.

"أَخَاشِعُ" (al-khashih): dusty place where camping is not possible.

The Quran uses the word "خَاسْعَة" (khaashiah) in 41:39 for dead land.

In surah *Ghashia*, the word "خَاشِعَةً" (*khaashiah*) has been used opposite to "نَاعِمَةٌ" (*naaimah*). Since تَاعِمَةٌ (*naaimah*) means green and blooming, "خَاشِعَةً" (*khaashiah*) would mean withered.

The Quran has after this said "عَامِلَةٌ نَاصِيَةٌ (*aamilatun naasebah*) in 88:3, that is emaciated, depressed. تخاشِعِيْنَ" (*khaashe-een*) has also been used for those who bow before Allah's laws.

The Quran says the following to elaborate what it means by *khaashe-een*:

| | those who believe that one day they will have to | |
|------|---|---|
| 2:46 | meet their Sustainer, that is, they believe that they | الَّذِيْنَ يَظُنُّوْنَ اَنَّهُمْ مُلْقُوْا رَ بِمِّمْ وَاَنَّهُمْ الِيْهِ رَاجِعُوْنَ |
| | are answerable to the laws of Allah for their deeds, | |
| | and Thus, they refer to His laws for every matter | |

This is what "خُشُو عُ" (khushuh) means. To bow before Allah's laws with a willing heart.

Ibn Faris says "خَشَعَ" (khashah) means to bow one's head.

خ ش ی Kh-Sh-Y

َ الْخِشْيِيُّ: (al-khashi): dry plant.

"أَخَسْاءَ" (*al-khasha'a*): rocky land which does not grow anything *{T}*. Among the Arabs, the drying up of plants due to lack of water was very dangerous. Therefore, "خَسْنَيْنَ" (*khashiyah*) came to mean the fear of some loss *{T}*.

Muheet says, with reference to *Kulliyaat*, that "أَلْخَشَاءُ" (*khashiyah*) is more intense than fear, because it has been derived from the Arab saying "شَجَرَةٌ خَاشِيَةٌ" (*shajaratah khaashiyah*), that is, a completely dry tree which has no sign of life left. As against it, fear only means fear of some loss, because it is derived from "نَاهَةٌ خَوْفَاءُ" (*naaqatah khaufa*) which means a sick female camel who has not died. That is, there is still hope for its survival.

"ألْخَشَاء" (khashiyah) also has the connotations of hope, doubt, and expectations.

As "خَشِيْتُ أَنْ يَكُوْنَ ذَالِكَ ٱسْبَلَ لَكَ (*khashiyatu un yakun zaalika ashal lak*): I had the hope or expected that it will be easier for you. Likewise, it also contains the connotation of knowledge, as used in 20:94.

"خَوْفْ (khauf) also means "to know". See heading (Kh-W-F).

When it is taken to mean fear, it means fear that is born out of awe *{T, R, F}*. "خَسْنَةُ اللَّهُ" (*khashiyah*), Therefore, means fear of the outcome of some deed (18:80), or to dislike it. "خَسْنَةُ اللَّهُ" (*khashiyatillah*) usually means fear of Allah but the right meaning of this fear can be understood from the meaning of "خَسْنَةُ" (*khashiyah*).

The Quran says that if Man follows Allah's laws, his fields become green or he flourishes. "نَبُمُ الْمُغْلِحُوْنَ" (*humul muflehoon*) as in 2:5 means that his efforts become a strong tree which has its roots in the ground and branches in the sky and it bears fruit in every season (14:24). On the contrary, if life is against the laws of Allah, then the field of his efforts dries up. The feeling that if we do not live according to Allah's laws, then our efforts will come to nothing (the fields of our efforts will dry up), is called "خَشْيَةُ الْمُنْاحِدُنْ (*khashiyatillah*) or fear of Allah. For more details, see heading (*Kh-W-F*).

Surah At-Taubah says:

| 9:13 | You fear as to what will happen if they oppose you whereas you should fear what will happen if you oppose Allah's laws? | أَتَخْشَوْنَهُمْ فَا اللَّهُ أَحَقُّ أَنْ تَخْشَوْهُ |
|------|---|---|

The fear of results is the right meaning of "أَلْخَشَاءُ" (khashiah).

Further ahead the surah says:

| 9:24 | the trade whose loss you fear | وَبِحَارَةً تَخْشَوْنَ كَسَادَهَا |
|------|-------------------------------|-----------------------------------|
|------|-------------------------------|-----------------------------------|

خ ص ص Kh-Sd-Sd

"أَخْصَاصُ" (*al-khasaas*) means a break or gap which may appear between two things. It also means a hole, since a break makes a thing weak.

"خَصَاصَةً" (*khasasah*) came to mean constriction, starvation, bad condition, need (59:6). When the vine grapes are picked, some grapes remain here or there, they are called "الْخُصَاصَةً" (*al-khusasah*) *{T*}.

Ibn Faris has said that this root's basic meaning contains weakness and space. Hence, "أَنْحَصَاصَةُ" (*al-khasah*) means deprivation and weakness in condition.

When there is gap between two things, they are separated, and Hence, "خصوص" (*khusoos*) means to separate someone from the others and to treat him especially. As such "خاص" (*khaas*) is the opposite of "عام" (*aam*) i.e. particular against common.

"خَصَّ" (*khassahu*), "أَخْتَصَّرُ" (*akhtassahu*) means separated him from the others and treated him specially. That is, such treatment in which others were not included, as it has been used in 8:25 *{T*}.

نَخُصَّ الشَّيْءُ ''' (*khassun shaiyi*): something that did not become common. "خَصَّ الرَّجُلُ خَصَاصَدَّ" (*khassarrajola khasasah*): he became needy and dependent on others *{M*}.

Surah Baqrah says:

| 2:105 Allah selects whom he wants for his benevolence | وَاللَّهُ يَخْتَصُّ بِرَخْمَتِهِ مَنْ يَشَاءُ |
|---|---|
|---|---|

Here *rahmat* (benevolence) means the Revelation. This means that God selects one from the common people and grants him the Revelation, which is God-given and Therefore, no amount of effort can achieve it. This is only bestowed as per God's own program; or rather it used to be bestowed, because Revelation is not going to be bestowed on anyone now.

"لَخَصْفُ" (*al-khasf*): shoe or footwear which has equal sized leather pieces, one upon the other (the old kind of shoes). Every leather piece is called "خَصْفُةٌ" (*khasfah*).

"خَصَفَ النَّعَلَ يَخَصِفُهُمَا" (*khasafan na'ala yakhsefuha*): sewed two leather pieces by putting them on top of one another.

"خَصْفٌ (khasfu): to join, to collect, to mend, or sew.

"خَصَفَ الْعُرْيَانُ الْوَرَقَ عَلَى بَنَنِمِ" (*khasafal uryaanul waraqa ala badinehi*): the naked man put the leaves on his body and put one over the other to cover his body *{T}*. In other words, he placed them one over another to hide their bodies *{T}*.

In the tale about Adam, the Quran says:

| 7.22 | they began covering themselves by putting the leaves from the garden one over another: | وَطَفِقًا يَخْصِفْنِ عَلَيْهِمَا مِنْ وَرَقِ الجُنَّةِ |
|------|--|--|

This is a reference to the awareness about sex (organs) that is awareness about shame or shyness. Details about this matter can be found in my book "*Adam O Iblees*"

"التَّخْصِيْفَ" (at-takhseef): to try hard for acquiring something which you haven't got.

Ibn Faris says it basically means for one thing to merge with another.

خ ص م Kh-Sd-M

"أَلْخُصُوْمَةُ (al-khusuma): quarrel.

(*al-khasm*): one who quarrels (it is plural as well as feminine).

"أَلْخَصِيْمُ" (al-khaseem): the one who quarrels.

الْحُصَمَّ: (*al-khusm*): the corner or edge of something.

(*al-khusum*): the mouth of the valleys {*T*, *M*, *R*}.

The Quran says:

| 2:204 | highly quarrelsome | الَدُ الخِصَامِ |
|-------|--|-----------------|
| 22:19 | these are two parties that quarrel with each other | لهذانِ حَصْمٰنِ |

Surah *An-Nahal* says about Man:

| | if he is allowed to be without the light of the | |
|------|---|-------------------------|
| 16:4 | revelation, then he will be found to be openly | هُوَ خَصِيْمٌ مُّبِيْنٌ |
| | quarrelsome | |

Also see heading (*J-D-L*).

Surah *Az-Zakhraf* says:

| 43:58-59 | these people say these things only to quarrel with you' verily they are quarrelsome | مَاضَرَ بُوْهُ لَكَ اِلَّا جَدَ لاَّ - بَلْ هُمْ قَوْمٌ خَصِمُوْنَ |
|----------|---|--|
| | you; verily they are quarrelsome | |

Surah Aal-e-Imraan says about the Jewish worshippers:

| 3:43 | you were not there when they were quarrelling | وَمَاكُنْتَ لَدَيْهِمْ اِذْيَحْتَصِمُوْنَ |
|------|---|---|
|------|---|---|

"خَضْدٌ" (*khazd*): to bend or break a damp or dry thing in such a way as to break it, but not to break it off. Sometimes it also means to cut.

"خَضَدَ الشَّجَر" (*khazadash shajar*): he broke the needles of the tree (and in this way eliminated the harmful element).

"أَنْحَضَدَت النَّمَانُ" (*inkhazadatis simaar*): the fruits dwindled and because the juice had gone out of them, did not remain fresh.

(*rajulun makhzood*): the man who has no more argument or who becomes disabled {*T*}. (*ikhtazadil bayeer*): to control the camel, he resigned it and got up on his back {*M*}.

The Quran says about the dwellers of *jannah*:

| · · · · | | |
|---------|--|------------------------|
| 56:28 | Within there shall be <i>makhzood</i> plum trees | فِيْ سِدْرٍ مَخْضَوْدٍ |

It means such plum trees, the branches of which seem to be breaking under the weight of the fruit, or if this is taken allegorically, such luxuries which have been freed from all impurities. See heading (S-D-R). Then it would mean immense surprise but with no trace of doubt or any sort of trouble in it (53:14).

خضر Kh-Zd-R

"خُضْرَ" (al-khuzrah): green color. Plural is "خُضَرَ" (khuzarun) and "خُضْرَ" (khusur).

The Quran says:

| 76:21 | green silken clothes | يْيَابُ سُنْلُسٍ خُضْرٍ |
|-------|----------------------|-------------------------|
|-------|----------------------|-------------------------|

Here "أَخْضَرُ" (khuzr) is the plural of "أَخْضَرُ" (akhzar).

"أَلْخَضِرُ" (al-khaziru): greenery (6:100), green field.

"أَلْخَصَرُ" (al-khazar): to be fine and silken.

"أَلْخَضْرَاءُ" (*al-khazra'a*): goodness, broadness, benevolence, greenery and flourishing *{T}*. Since green when dark becomes blackish, Therefore, the Arabs also interchanged "أَسْوَدَ" (*aswad*) or black as أَسْوَدَ (*akhzar*) or green *{R}*.

Ibn Faris goes so far as to say that with the Arabs, any color which is different than white has the traces of black in it.

"مُخْضَرَةٌ" (mukhzarrah) as used in 22:63 means that which is green.

"أَخْضِرُ" (*al-khizru*), "أَخْضِرُ" (*al-khaziru*): the mythical *Khizr* with his eternal life who is famous as the prophet of water and who will stay alive till Doomsday, but this is only a myth as the Quran has no mention of such a being.

خضع Kh-Zd-Ain

"أَلْخُصُوْعُ" (*al-khuzu*) means to bow down.

(*al-akhza*): the man who has lowliness and bending in his neck, who has become helpless.

"خَضَعَةُ الْكِبَرَ" (khaza-ahul kabeer): old age bent him.

"أَلْخَضِيْعَةُ (al-khazee-ah): the (soft) sounds of the flood.

"أَخْضَعَ الرَّجْلُ (akhza-arrajul): the man made his voice soft.

"أَخْضِعَة" (al-khuz'ah): a man who is humble and pleading before everyone.

[&]quot;خَضَعَ النَّجْمُ" (khaza'in najam): the star leaned to set.

"خَضَعْ" (khazah): he became motionless and obedient {T, R}.

"أَلْخَطَّاُ" (*al-khata*), "أَلْخَطَاءُ" (*al-khata*), "أَلْخَطَاءُ" (*al-khata*): wrong, not correct, to miss {T, L}. (*al-khata*) is the mistake that is made unwittingly and "الْخَطِنَة" (*al-khteeah*) is a wrong committed willfully.

But *Muheet's* composer writer that "أَخْطِينَة" (*al-khateeah*) could also be unintentionally and unwittingly, but "أَنْعُ" (*ism*) is always willful or deliberate.

The plural for "خَطِيْنَة" (*khateeah*) is "خَطَبَا" (*khataba*) and "خَطِيْنَة" (*khateeah*) actually means a deed which does not produce its full result.

"مَلَى النَّخْلُ خَطِيْنَةٌ مِنْ رُطَب" (*al-unnakhli khateeah min rutab*) means there are a few dates on the date palm *{T*}.

The Quran says:

| 6:81 | whosoever commits uneven (bad) deeds, is | 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 |
|------|--|---|
| 0.81 | encircled by his own errors | بَلَى مَنْ كَسَبَ سَيْنَةً وَ أَحَاطَتَ بِهِ خَطِيْتُنَهُ |

This shows that "سَيَّأْتُ" (*sayyiaat*) means to be surrounded by errors, that is, after this, a man starts missing his targets. He cannot understand anything rightly. His date palms do not bear full fruit.

In verse 2:286, forgetfulness and error have been mentioned separately:

| 2:286 | if we forget or make a mistake, then do not hold us to it | لَاتَوَاخِذْنَا إِنْ نَسِيْنَا أَوَاحْطَأْنَا |
|-------|---|---|

But another verse says:

| 33:5 | You will not be held responsible if you err | لَيْسَ عَلَيْكُمْ جُنَاحٌ فِيْمَا اَخْطَأْ ثُمْ بِهِ وَلٰكِنْ مَا تَعَمَّدَتْ |
|------|--|---|
| 33.5 | (unwittingly), it is a sin if you do it deliberately | قُلُوْبُكُمْ |

It is evident from this that "خَطَّ (*khata*) is an error which is not committed with intent. These were the sort of errors that Ibrahim hoped God would keep him away from:

| 26:82 | the personae which I hope will keep me safe from | وَالَّذِيْ اَطْمَعُ أَنْ يَغْفِرَلِيْ خَطِيْنَتِي يَوْمَ الدِّيْنِ |
|-------|--|--|
| 20.82 | my errors at the time of the Day of the Results | والدِّي الصلح أن يتغرُّدُني مستعملين يوم التين |

Surah *Al-Haaqqa* uses the word "خَاطِنُوْنَ" (*khatey-oon*) for *jahannam* in 69:37, and "خَاطِنَةٌ" (*khate-atah*) for oppression and excesses as well in 69:9.

| Surah A | I-Alaq says: | |
|---------|------------------------|---|
| 96:16 | False, erring forehead | نَاصِيَةٍ حَالِ بَ ةٍ خَاطِئَةٍ |

At these places "خَطَ¹" (*khata*) means a crime or sin which has intent and deliberation, likewise in surah Bani Israel it is said about the murder of one's children:

| اِنْ فَتَلَهُمْ كَانَ خِطًا كَبِيرًا their murder is verily a big crime | 17:31 their murder is verily a big crime | اِنَّ قَتْلَهُمْ كَانَ خِطْأً كَبِيْراً |
|---|--|---|
|---|--|---|

The above explanations make clear that "خَطَنَّ" (*khata*) is also used for an unintentional mistake or error, and also for those which are deliberate. It is that error which is deliberate will be a crime or sin and answerable for. The scholars of dictionary have said that "خَطِيئَ" (*khatee*) means to make a deliberate error, and "أخْطَانَ" (*akhtaa*) to make the error unintentionally.

"الْخَطْبُ" (*al-khatb*): to talk, some issue, condition, matter, whether big or small. "الْخَطْبُ" (*jallal khatb*): the matter blew up *{T}*.

The Quran says:

| 12:51 | (the king asked) what was their matter (problem): | قَالَ مَا خَطْبُكُنَّ |
|-------|---|--|
| 15:57 | He said, O messengers, what is your issue? | قَالَ مَا حَطُبُكُمْ آيُّهَا الْمُرْسَلُوْنَ |

It certainly holds the importance of the issue:

َخَطَبَ الْمَرْأَةَ خَطْبَا وَ خِطْبَةً (*khatabal mar-atah khatba wa khitbah*): sent a wedding proposal to a woman *{T*}.

خَطْبَةً" (khitbah): wedding proposal (2:235).

"خَطِيْبَة (khateebah): fiancée (female) {T}.

(al-khitaab): to talk to one another, or to address to someone {M}.

"فَصَنْلُ الْخِطَاب (fasalul khitaab): direct talk, or to decide forthrightly. See heading (F-Sd-L).

تخَاطِبَ" (khaatibah): talked to him

"خَاطَبَ" (khatabah): to talk or deal with.

| 25:63 | when illiterate (uncouth) or unknowing people talk | إِذَا خَاطَبَهُمُ الجُاهِلُوْنَ قَالُوْا سَلَمًا |
|-------|--|--|
| 23.03 | to them or deal with them they say 'salam' | أدا محاطبهم الجاهيلون فأنوا ستما |

That means that they said things in which they remain safe and sound from sinning or saying something hurtful (lest they say something harsh and sinful).

Ibn Faris has said that it basically means dialogue between two persons, and for two different colors to be present.

خطط Kh-Te-Te

(*al-khatt*): a lone line in something: a narrow, unclear path in soft ground.

Ibn Faris says it basically means a long mark. It also means any path.

"أَخِطَ" (*al-khitt*) the land around which it has rained but not on it: the ground where no one has landed before you.

"أَلْخِطَّ: (al-khittah): the plot of land that one marks as his own for building upon. "أَخْطَّ: (khatt), "خَطَّ" (yakhutt), "خَطَّ" (khatta) means to write, to scribe. "خَطَّ: (kitabun makhtoot): written book {**T**, **R**}.

Surah *Ankaboot* says about the Messenger (pbuh):

| | 3 (F) | |
|-------|---|---|
| 69:48 | neither could you read any book before now, nor could you write with your right hand | وَمَاكُنْتَ تَتْلُوْمِنْ قَبْلِهِ مِنْ كِتْبٍ وَلَا تَخْطُهُ بِيَمِيْنِكَ |

This shows clearly that before the advent of the noble Quran the Messenger (pbuh) could not read or write, but later this changed. He had later learnt to read and write. Therefore, the belief that he was an illiterate all his life is not correct according to the Quran.

"خَطْفٌ (khatf): to snatch or grab something quickly.

"خَاطِفُ ظِلَّم" (*khaatifu zillehi*): a bird which swoops down in water upon seeing its shadow, to snatch it. $\{T\}_{j}$

(*khuttaaf*): a black colored bird which swoops down in its flight $\{T\}$.

"أَخَاطِفَ" (*al-khaatif*): the arrow which drags along the ground and hits the target, as if it is snatching something from the ground. Hence, the following meaning:

"أَلْخَطِيْفَة" (al-khateefah): a girl who runs away with someone {T}.

The Quran says:

| 2:20 | The lightning nearly snatches their eyesight. (It nearly blinds them). | يَكَادُ الْبَرْقُ يَخْطَفُ أَبْصَارَهُمْ |
|-------|--|--|
| 22:31 | the bird flew away with it | فَتَخْطَفُهُ الطَّيْرُ |
| 37:10 | excepting if somebody snatches some bit of conversation or information: | اِلَّا مَنْ خَطفَ الْخُطْفَةَ |
| 29:67 | We made the place where Haram is, a place of peace although people from around it are snatched away | جَعَلْنَا حَرَمًا أَمِناً وَيُتَحَطَّفُ النَّاسُ مِنْ حَوْلِهِمْ |

"خَطِفَ الْخَطْفَة" (*khatefal khatfatah*) has been used in 37:10 and "نَطْفَة" (*istaraqas sama'a*) is from 15:18. The meaning is to snatch some bits of unimportant conversation or information and to eavesdrop a little. See heading (*S-R-Q*).

This is about those astrologers who claimed to know about the unknown, and still do in places where the light of Islam has not reached. The Quran says they simply employ guesswork. If something is by chance proven right, then they highlight it. Whichever is proven wrong, they find reasons for it. Besides this, they have no access to the unknown.

| 37:8 | They may not listen. | لَا يَسَّمَّعُوْنَ |
|--------|---|---|
| 26:212 | Indeed they have lost their ability to listen | اِنَّهُمْ عَنِ السَّمْعِ لَمَعْزُوْلُوْنَ |

After the revelation of the Quran was the dawn of the era of knowledge and vision. These concepts get fiery whiplashes from God's kingdom. More details will be found in the relevant headings.

خطو Kh-Te-W

"أَخْطُوَةُ" (*al-khutwah*) and "أَخْطُوَةُ" (*al-katwah*) means distance between one foot and another in a step, in other words, a pace. Plural is "خُطُوَاتَ" (*khutan*) or "خُطُوَاتَ" (*khutuwaat*). Then it came to be used for a step, or for the road or path. "خُطُوَاتَ (*khutuwaatish shaitaan*) as used in 2:168 is the path of rebellious forces or the path of desires {*T*}. "خَطُوَاتَ" (*khatar rujulu yakhtoo*): the man took a step forward. "تَخَطَيَّتُ" (*takhatiyyatuh*): I stepped over him to get ahead {*T*}.

Ibn Faris says that "خَطْرٌ (khatwun) basically means to go ahead of something, to surpass.

"خَفَتَ الصَبوْتُ (hafatas saut): to be weak voiced due to hunger or to be voiceless.

"خَفَتَ فُلَان" (khafata fulan): that man died because his voice was cut off and he became soundless and motionless.

"أَلْخَفْتُ" (al-khaft): to talk secretively. It is the opposite of "جَبْرٌ" (jahr). See 17:110.

| Surah Ta | Surah <i>Taha</i> says: | | |
|----------|--------------------------------------|----------------------------|--|
| 20:103 | have secretive conversation mutually | يَتَحَافَتُوْنَ بَيْنَهُمْ | |

Ibn Faris says that it basically means to hide and keep hidden.

"نَلْغَفْنَ" (*al-khafz*): is the opposite of "زَفْعٌ" (*raf-un*) which means to lift or make lofty. Hence, this word means to make lower, to demean.

"خَفَّضَ رَأْسَ الْبَعِيْرِ": he lowered the neck of the camel downwards to get on its back. "خَفَّض رَأْسَ الْبَعِيْرِ" (al-khaafizah): low dune.

"أَلْخَفْضُ (al-khafz): slow speed.

"خَفَضَت الْإِبِلُ" (*khafzatil ibl*): the camel slowed its speed. This led to the word meaning hospitality, calm. "حَفَضَت الْإِبِلُ" (*aishun khaafiz*): a carefree and calm life.

تَخَفْضُ الْعَيْشِ" (khafz-ul-aish): a life of abundance and care-freeness {T, R}.

The root basically contains connotation of getting sustenance without any difficulty or effort.

The Quran says:

| 15:88 | lower your arm for those who are <i>momin</i> (take them under your wing) | وَاخْفِضْ جَنَاحَكَ لِلْمُوْمِنِيْنَ |
|-------|---|--------------------------------------|
|-------|---|--------------------------------------|

"خَفَضَ الطَّاءِلُ جَنَاحَ" (*khafazut taa-iro janaha*): when a bird closes its wings to check its flight {*T*, *R*}. From the above meaning it could also mean that you curtail your speed so that those in your group, who are not as fast, may keep up with you. A leader has to keep the capability of his group in mind.

Surah *Al-Waaqiha* says:

| 56:3 | that system will demean the rebels and give new | خافضة رابعة |
|------|---|-------------|
| 50.5 | heights to those who follow Allah's laws | |

Here "نَفْضَ (*khafz*) is the opposite of "نَفْضَ" (*raf-ah*). This means that those who are now exalted will be lowered, and those who are lower will be held aloft or that they will be reversed (11:82)

خفف Kh-F-F

''الْخَفِيْفَ'' (*al-kiffu*), ''الْخَفِيْفَ'' (*al-khafeefu*): light (as against heavy). (أَلْخُفَافُ'' (*al-khufaaf*): light weight.

Some differentiate between "خفَافَ" (*khufaaf*) and "خفَيْفٌ" (*khafeef*) by saying that "خفَافٌ" (*khufaaf*) is without weight in intellect and thought; and "خفَيْفٌ" (*khafeef*) is to be light in body: the plural is "خفَيْفٌ" (*khufaaf*) as in 9:41.

Raghib says "خَفِيْفَ" (*khafeef*) is sometimes a trait to be praised and sometimes to be condemned. This means that which is praiseworthy is "خَفِيْفَ" (*khafeef*), and which is heavy is "تَقَيْلُ» (*saqeel*). Surface oriented and light is called "خَفِيْفَ" (*khafeef*), and heavy and weighty is called "خَفَيْفَ" (*saqeel*).

"اِسْتَخَفَّ فَلَانٌ بِحَقِّى" (*istakhafun fulanun bihaqqi*): he did not respect my right and though it was weightless. (*istakhfeef*): to make less, or reduce.

"أَخْفُ" (al-khuff): the leg of a camel or an ostrich: also a leather sock.

"خَفَّ الْقَوْمُ عَنْ وَطَنِبِمْ" (*khaffal qaumu un watanihim*): the people got out of their country fast and went on travel *{T, R}*.

The Quran says the following with regards to the desert gypsies:

| 16:80 | you find them light weighted | تَسْتَخِفُّوْنَهَا |
|-------|------------------------------|--------------------|
| | , | |

Surah *Ar-Rom* says:

| 30:60 | those who do not believe in Allah's laws, let them | لَايَسْتَخِفَّنَّكَ الَّذِيْنَ لَا يُوْقِنُوْنَ |
|-------|--|---|
| 30.00 | not take you lightly | لا يستجفئك الدِين لا يوفِيون |

This means that there must not be any element in you at all, to make the opponents feel that you are light (without weight) in your claims and aims, so that removing you from your path and to follow theirs is not at all difficult.

Surah *Al-Qaariah* has used "تَقَلَتْ (saqolat) as against "خَفَتْنَ" (khaffat):

| | Thus, the scale of those which is heavy will live a life according to his choice and those whose scale | وَاَمَّا مَنْ ثُقْلَتْ مَوَازِيْنُةٌ فَهُوَ فِيْ عِيْشَةٍ رَاضِيَةٍ وَ أَمَّا مَنْ |
|---------|--|--|
| 101:6-9 | The according to his choice and those whose scale | |
| 101.0-9 | will be light, will find themselves deep in the hole | حَفَّتْ مَوَازِيْنُهُ فَأُمَّهُ هَاوِيَةٌ |
| | of destruction | y 30 |

A great principle of evolution has been described here. For example, for the exam of students, a percentage is fixed as the passing mark, say sixty percent. The student who obtains 60 out of 100 marks is thought to have the capability of moving ahead. 40 percent of his mistakes are overlooked and he is promoted to the next class. This represents that the scale of his capabilities is heavier than the scale of his errors. Contrary to this, the student who obtains only 40 percent marks fails because he does not meet the criteria for going ahead. In the universe, the principle of evolution is the same. He who attains the capability to move ahead, is the one whose errors are comparatively less do not stand in his way. He who does not attain this capability, whatever little capabilities of his are found wanting, and do not do him any good. He cannot move on. Life's evolution works on the same principle. Whoever has his scale of capabilities lower (heavier due to weight) than the other, will move on to the next stage.

The scale of whoever will be found wanting will not be able to move ahead. Those who will progress are called the dwellers of *jannah*, and those who cannot move on, have been called the dwellers of *jananam*.

This fact has been stated at another place as:

| 11 | :15 | truly, good deeds remove bad deeds | إِنَّ الْحُسَنُتِ يُذْهِبْنَ السَّيَّاتِ |
|----|-----|------------------------------------|--|
| | | | |

If the scale with *muhsinaat* (good deeds) is heavier, then the bad effects of the rest of bad deeds are eliminated. For determining this, every scrap or iota of man's deeds is evaluated (99:7-8), but the decision is made purely on the basis of which scale is the heavier (good or bad). If his good deeds are more, then his bad deeds are overwhelmed by the good deeds, or they do not impede or stop his progress and development, but if it is the opposite, then the good deeds, whatever they are, do not help or become the basis of his evolution. For more details see heading (*N-J-W*).

(*al-khaafiah*): is the opposite of "عَلَانِيَة" (*al-khaafiah*); i.e. to hide, hiddenness, hidden thing. "الْخَفَاءُ" (*al-khafa*): that thing which is hidden to you.

(*istakhfaa*): "الفَقْنَى" (*istakhfaa*): was/became hidden;

The Quran has used the word "الفَفَاءِ" (*ikhfaa*) against "البُدَاءِ" (*ibdaa*), which means to display, make evident.

| 2:271 | If you give charity openly, it is good, but it is even better if you give secretly | اِنْ تُبْدُوْا الصَّدَفْتِ فَنِعِمًا هِيَ وَ اِنْ تُخْفُوْهَا |
|---|---|---|
| Surah Al-Mai'dah has used it against """" (tabuganun) in 5:15. This too means to make evident | | |

Surah Al-Mai'dah has used it against "تَنْبِينَ (tabyeenun) in 5:15. This too means to make evident.

| 19:3 | low (hidden) voice | نِدَاءً حَفِيًّا |
|--|--------------------|------------------|
| Surply Take begins and " $ii i'' (abbegins) and "," i'' (abundle of the set begins in 2017)$ | | |

Surah *Taha* has used "سِرِّ" (*akhfaa*) and "سِرِرِّ" (*sirran*) together in 20:7.

Surah Al-Haqqa, and An-Nisa says:

| 69:18 | no secret will remain hidden | لَا تَخْفَى مِنْكُمْ خَافِيَةٌ |
|-------|-----------------------------------|--------------------------------|
| 4:108 | they want to hide from the people | يَسْتَخْفُوْنَ مِنَ النَّاسِ |

"مُسْتَخْف بِالَّنْلَ" (mustakhfin bil lail) as used in 13:10 means which hides at night or wants to hide.

"الخَفِيُ" (al-khafiyu): hidden, secret, which is not evident.

ظَرُفٍ خَفِيًّ: (tarfin khafiyin) as used in 52:45 means to see out of the corner of the eyes.

(akhfayu) means to disclose something, to remove its "أَخْفَاه" (akhfaa), or hiddenness {T}.

Muheet says that "خَفِى لَرُ" (*khafi lahu*) means to appear, and the word is used when a thing previously hidden makes an appearance, or becomes evident in some discreet manner.

Lataif-ul-Lugha says it means both "أَظْبَرَ (katam) and "أَظْبَرَ (azhar), that is, to hide and to make evident.

Ibn Faris also supports this theory about it meaning opposites.

Surah **Taha** says "أَخْفِنْهَا (*akadu ukhfeeha*) in 20:15. If "أَخْفِنْهَا (*akadu*) is taken to mean to intend here and "أَخْفَنْهَا (*ukhfeeha*) to mean make evident, then it would mean I intend to make it known or evident. If "أَخْفَنْهَا (*akadu*) is taken to mean a negative and "أَخْفَنْهَا (*ukhfeeha*) to mean keeping hidden, then too, the verse would mean that I do not want to keep it secret, and want to make it known. In both conditions the meaning would be the same. This point has been explained under the heading (K-W-D), which must be referred to.

خ ل د Kh-L-D

"خُلُوْدٌ" (khulud) means perpetuity.

Muheet, with reference to *Kulliyaat*, says that when something changes after a very long time, that is, it is not adulterated for a long time, and then this quality is known as "غُلُوُدٌ" (*khulud*). Therefore, it also means for something to stay as it is for a long period, whether it stays that way always or not *{T}*.

"رُجُلٌ مُخَلَّدٌ" (*rujulun mukhallud*): means a man who ages after a long time, while "أَلْبَقَاءُ" (*al-baqqa*) means to remain unchanged.

Kitabul Ashqaq says it means longevity of life and (to remain unchanged).

"أَخْوَ اللَّ^{*}" (*al-khawalid*) means mountains, rocks and stones because they always stay in the same state. The Arab gypsies used to collect stones and make ovens out of them and when they left, the stones were left behind. They were also called "خَوَ اللَّ^{*}" (*khawalid*) {*T*}.

"خَلَدَ و اَخْلَدَ بِالْمَكَانِ و الِي الْمَكَانِ" (*khalada wa akhlada bil makaani wailal makaan*): he resided somewhere and stayed there for quite a while.

"أَخْلَدَ الرَّجُلُ بِصَاحِبِي" (*akhladar rajul bisaahibehi*): stayed with his companion and did not leave him. "أَخْلَدَ الرَّبُرُ" (*akhlada ilaih*): he leaned towards him and stuck to him *{T, M}*.

Surah *Al-Airaaf* says:

| 7:176 | if We wished We could have granted him | وَلَوْشِئْنَا لَرَ فَعْنُهُ بِمَا وِلْكِنَّةُ ٱخْلَدَ إِلَىَ الْأَرْضِ |
|-------|--|--|
| /.1/0 | loftiness, but he stuck to the earth | ولو بېت کو مند د د مند کې د د ر کې |

Ibn Faris says it basically means stability and to stick together continuously, that is, to remain unchanged and to stick to someone.

The Quran generally says "نَالِدِيْنَ فَيْبَا خَالِدُوْنَ" (*khaalideena feeha*) or "نَالِدِيْنَ فَيْبَا خَالِدُوْنَ" (*hum feeha khalidoon*) when it mentions *Jannah*, as in 2:25 where it refers to a heavenly society on earth. See heading (J-N-N). Then its "خُلُوْدٌ" (*khulud*) means that till that society is according to the laws of Allah, it will not deteriorate. But where it refers to the perpetual life, it means that Life after Death which is the outcome of good deeds. Note that the Quran has used the word "خُلُوْدٌ" (*khulud*) both for *Jannah* and *Jahannum*. The "خُلُوْدٌ" (*khulud*) of *Jannah* is eternal life, which is the life which completes its different evolutionary stages and moves ahead. And the *jahannam's* "خُلُوْدٌ" (*khulud*) is the stage where human capabilities and evolution come to a standstill and life becomes unable to complete the evolutionary stages and becomes stagnant. Therefore, this "خُلُوْدٌ" (*khulud*) is like the mountains and the rocks. Details of these points can be found at different places in the Quran.

"نَخَلُدُوْنَ" (*mukhalladoon*): the wrist and ears that are wearing jewelry. These jewelries are called "خَلَدُ" (*khaladun*). The singular is called "خَلَدَةُ" (*khaladah*).

| 56:17 Bedecked with jewelry | وِلْدَانٌ مُحَلَّدُوْنَ |
|-----------------------------|-------------------------|
|-----------------------------|-------------------------|

Kitaabul Ashqaaq and Gharibul Quran also support these meanings.

"أغان" (akhlad): to escape destruction and bad fortune for a long time {Gharibul Quran}.

The Quran says the following regarding a man who collects wealth and keeps counting it:

| 104:3 | he thinks that his wealth will save him from destruction | يَحْسَبُ أَنَّ مَالَةٌ أَخْلَدَهٌ |
|-------|--|-----------------------------------|
| 104.5 | for a long time, or give him perpetuation | يحسب أن ماله الحلدة |

This is a false thought. Perpetuation is not for him who collects wealth for himself and keeps others away from its benefits, but it is for one who is beneficial to the human race.

| 13:17 | And as for what benefits the mankind, remains in | وَاَمَّا مَا يَنْفَعُ النَّاسَ فَيَمْكُتُ فِي الْأَرْضِ |
|-------|--|---|
| 13.17 | the earth | وَامًا مَا يُنفعُ النَّاسَ فَيُمَحْثُ فَي الأَرْضِ |

The perpetuity of the Afterlife must not be taken to mean that it is perpetuity like the eternalness of God. Absolutely not. There is no eternalness like God's. The human perpetuity will be according to Allah's laws. What will be its end? The human mind cannot presently comprehend anything about it. This is the reason why the Quran has along with the *khulud* of *Jannah* and *Jahannam* dispelled any thought about the infinity of God by saying "مَاذَ أَمَتِ السَّمُوْتُ وَالْأَرْضَ" (*madamatis samawaatu fil ard*) in (11:107-108). For the meaning of "لَكَ مَاتَ السَّاعَةِ وَالْمُحَاتِ (*illa ma sha' a rabbuka*), see heading (N-S-Y).

"نَخْلَصَ" (*khalas*): to be rid of all adulteration and impurities and to become pure. (*khalasa minal qaum*): he separated from the nation and became a recluse *{T}*. تَخْلَصَ مِنَ الْقَوْمِ" (*khalasa minal qaum*): made something pure; selected it *{M*}.

"الْمُخْلَصَ" (akhlasu): someone who has been separated from the others and selected for some purpose {T}.

| 12:24 | he (Yusuf) was not one to follow the common path | اِنَّةُ مِنْ عِبَادٍ نَا الْمُحْلَصِيْنَ |
|-------|--|--|
| | | 5 |

This means that he had been separated from the lot, he was to follow the right path. Likewise, it is said about his brothers:

| 12:80 they separated from others to have mutual consultation |
|--|
|--|

َخَالِصَةً مِنْ دُوْنِ النَّاسِ" (*khaalisatan min doonin naas*): We removed the others, purely for ourselves (2:94). "اِسْتَخْلُصَهُ" (*istakhlasahu*): made him purely my own (and for none else) (12:54) "خَالِصِ" (*khaalis*): pure, free from adulteration.

Raghib says "أَلْخَالِصُ" (*al-khaalis*) and "الصَّافِى" (*as-safee*) have the same meaning: but "أَلْحَافِى" (*as-safee*) can sometimes be used for something which is already pure.

"خَالِص" (khaalis) is that which has been purified of impurities {M}.

Ibn Faris says the basic meaning is to purify and separate the unwanted parts.

"ألْخِلَاصَ" (*al-khilaas*) means butter, or gold and silver which is heated, liquefied and then purified. "خَلَّصَ اللَّهُ فُلَانَا" (*khallasal lahu fulanan*): God brought him out of the trouble he had landed into, just as a tangled thread is straightened {*T*}.

Surah *Al-Baqrah* says:

| 2:139 | we have parted from everywhere else (have become purely the followers of Allah's laws) | وَخَرْنُ لَهُ مُخْلِصُوْنَ |
|-------|---|----------------------------|
|-------|---|----------------------------|

It has been explained by "نَمْ عُبِدُوْنَ" (*lahu muslemoon*) and "نَمْ عُبِدُوْنَ" (*lahu aabedoon*): which have appeared in the first two verses 2:136-138 i.e. followers only of His laws.

This also explains "مُخْلِصِيْنَ لَمَ الدَّيْنَ» (*mukhleseena lahud deen*): 7:29 that is, to turn away from all other forces and reserve obedience only for God.

Surah *Saad*, after mentioning the tale of the prophets says:

| 38:46 | We separated them from others | اِنَّا ٱخْلَصْنْهُمْ بِخَالِصَةٍ ذِكْرَى الدَّار |
|-------|----------------------------------|--|
| 30.40 | (And made them a special group). | المحلصليهم بجنائيظية وكري الكار |

Because of the particularity that they kept the end result in mind, that is, they kept the real life in mind (29:64), so that wherever it clashed with the temporary life, the real life was given priority over this physical life

"خَلَطَ" (*khalat*), "خَلَطَ" (*khalat*) is to mix something with another thing, even if they can be separated later (like mixing camels in a herd of sheep) or not $\{T\}$.

Muheet says that "أَلْمَزْجُ" (*al-mazj*) means to mix liquids together and common word for mixing is "أَلْمَزْجُ" (*al-khalt*) *{M}*. A partner in business or trade is called "خَلِيْطُ" (*khaleet*), but *Johri* says that for one to be a partner in trade is not necessary. Those who live together without business interests and develop love for each other are also called "خَلِيْطُ" (*khaleet*) *{T}*. This means "خَلِيْطُ" (*khaleet*) is a living companion or even a neighbor. The plural is "خَلَيْطُا" (*khulata'a*) according to (*Ibn Faris*).

"إخْتِلَاطْ" (ikhtelaat) also means intercourse.

َرَجُلُّ خِلْطٌ مِلْطٌ: (*rajulun khiltun milt*): a man who is the product of two races.

"الخِلْطُ" (al-khilt) means a bastard {T}.

"خالطة" (khliatah): lived with him, intermingled.

About orphans, surah *Al-Baqara* says:

| 1.1.1.1 | if you intermingle with them or become a partner in their trade, then remember that they are like your brethren | وَاِنْ تْحَالِطُوْ هُمْ فَاِحْوَانُكُمْ |
|---------|--|---|

Surah *Saad* has used the word "خُلَطَاءُ" (*khultaa*) for business partner in 38:24.

The Quran says:

| 9:102 | those who mixed good deeds with bad deeds | خَلَطُوْا عَمَلاً صَالِحاً |
|-------|---|-------------------------------------|
| 6:147 | the (fat) that clings to the bones | مَااخْتَلَطَ بِعَظْمٍ |
| 18:45 | That rain makes the land fertile. | فَاخْتَلَطَ بِمِلِ نَبَاتُ الْأَرْض |

Kh-L-Ain ケレン

"خَلْعٌ" (*khala*): to get rid of something. It has similar meaning as of "نَزْعٌ" (*nazaa*) but in "نَزْعٌ" (*nazaa*) there is alacrity and "خَلْعٌ" (*khulaa*) is slow and delayed. Some think both words mean the same. "الْخَالِعُ" (*al-khaalio*): fallen, broken tree.

Ibn Faris says it basically means something which was together along with another part, but then got separated.

"أَخْلُعْ" (al-khulaa): the divorce which a woman can take from a husband {R}.

Surah *Taha* says God said to *Moosa* "فَاخْلُعْ نَعْلَيْكَ" (*fakhlaa fa alaika*) in 20:12. Literally, it means "take off your shoes", but *Taj-ul-Uroos* says that it means "wait here" or "stay where you are". Like when you tell someone you know to take off his shoes and rest for some time. Thus, this verse would mean that God told *Moosa* not to be in a hurry, and to sit calmly and listen. Now your travel (that you were roaming in search of the truth) has come to an end. Now you will find your destination easily.

Qurtubi says that here "لِخْلَعْ نَعْلَيْكَ" (*ikhlaa na'laika*) means complete your family chores i.e. put them out of your mind. He has said that the Arabs also mean family by the word "تَعْلُ (*na'al*) which usually means shoe.

"خَلْفَ" (khalf) means behind, at the back. It also means after.

"خَلْفَکَ (*khalfaka*): after you.

(*al-khalf*): an era after an era (a generation after another). It also means the human beings who replace the former people, and are more than them in number.

"لَخَلُفٌ" (*al-khalaf*): the progeny, if good, will be called so. If they are not good, they will be called "لَخَلُفٌ" (*khalf*). But some think that these are alternate words.

Ibn Burri says that the word means progeny or a replacement.

"الخَلْفُ" (*al-khalaf*) is used for the generation after another or the replacement of people whether they are dead or living. In other words, it means those who remain after the annihilated ones.

Ibn Aseer says that both words mean the same, with the difference that "خَلُفٌ" (*khalaf*) is used in a good way and "خَلُفٌ" (*khalf*) in bad manner.

Ibn Faris says there are three meanings for this root

1) For something to come after another and replace it

2) The opposite of front, that is, back

3) Change and amendment.

(*khilfatun*) means the leaves that appear after the old leaves have fallen. To come after another and to take its place is called "خِلْفَةٌ" (*khilfatun*).

The Quran says:

| 25:62 | God is the One who has so created the night and | هُوَ الَّذِيْ جَعَلَ اللَّيْلَ وَ النَّهَارَ خِلْفَةً |
|-------|---|---|
| 23.02 | day that one comes after the other | هو الدِي جعل الليل و النهار حِلفه |

"أَخْالِفَ" (*al-khaalifu*) is a man who takes the seat or throne after the former or lags behind, or does not come together (9:83).

"خَلْفَ اَبَاه" (khalafa abahu) means that he was the heir after his father.

"أَلْخَلِيْفَةُ" (*al-khalifah*): another's heir, or the ruler who is heir after the former. Plural is "خَلْفَاء" (*khulafaa*) and "خَلَاعِفٌ" (*khalaif*) {*T*}.

When *Moosa* went on the mount of *Toor*, he had said to his brother *Haroon*:

| 7:142 you be my replacement (in my absence) | اُخْلُفْنِيْ فِيْ قَوْمِيْ |
|---|----------------------------|
|---|----------------------------|

Here it must be noted that *Moosa* would be absent, nobody can be a replacement in somebody's presence.

Surah Yunus says:

| 10:14 | We made them their heirs after them | ثُمَّ جَعَلْنَا كُمْ خَلْقِفَ فِي الْأَرْضِ مَنْ بَعْدِ هِمْ |
|-------|-------------------------------------|--|
|-------|-------------------------------------|--|

Surah *Hoodh* says that *Hoodh* told his nation that if they go against God's orders then:

| يَسْتَحْلِفَ رَبَىْ قَوْمًا عَيْرَ كُمْ my Sustainer will replace you with other people | 11:87 my Sustainer will replace you with other people | يَسْتَخْلِفُ رَبِّي قَوْماً غَيْرَ كُمْ |
|---|---|---|
|---|---|---|

This means that you will be destroyed and in your place another nation will be made your heir.

About the nation of *Aad* is said:

| تَعَلَكُمْ حُلَفًاءَ مِنْ بَعَدِ قَوْمٍ نُوْحٍ you were made the heirs after the nation of <i>Nouh</i> |
|--|
|--|

About the *Samood* nation it is said that after the nation of *Aad*, they were made the heirs (7:74).

The Quran has discussed *Adam* at several places. In verse 2:30 it is said "أِنِّى جَاعِلٌ فِى الْأَرْضِ خَلِيْفَة" (*inni ja'elun fil ardi khalifah*). This is ordinarily understood to mean that Adam is God's deputy on earth. This meaning is inherently wrong.

Firstly, nowhere in the Quran has man been called "سَلْيُفَةُ اللَّمُ" (*khalifatullah*), or Allah's deputy. What has been said is تخَلِيْفَةُ فِي الْأَرْضِ" (*khalifatan fil ard*). Secondly, because we have seen earlier, that "خَلِيْفَةٌ فِي الْأَرْضِ" (*khalifath*) means to take one's place in his absence, that is, a successor. God is present everywhere at all times. Therefore, a successor in his absence is inherently false. He who is present himself can have no successor.

Abu Bakar was the khalifah, or successor of the Messenger (pbuh). This means that after the death of the Messenger, he was his successor. He was not "خَلِيْفُ اللَّهِ" (khalifatullah) i.e. Allah's successor. A person once called him khalifatullah after he became khalifah. He was corrected immediately and Abu Bakar said: I am the Khalifah (successor) of the Messenger, not Allah. {References from the book "Abu Baker" by author Muhammmed Hussain Hekel, page 580 of the Urdu translation}.

Man has not come to earth to be Allah's successor or His deputy. He has come to establish His laws and to live according to His laws.

Adam or man has been called "خَلَيْفَةَ فِي الْأَرْضِ" (*khlifatan fil ard*) because he replaces (is successor to) the creatures before him. See heading (*A-D-M*) and (*J-N-N*).

Since being an heir implies having authority and power, Therefore, "اِسْتَخْلَافٌ فِي الْأَرْضِ" (*istakhlaafun fil ard*) means rule of a country, or the succession of some other ruling nation. Details of these matters can be found in my book "*Iblees O Adam*" where Adam has been discussed in detail.

The concept that man is Allah's deputy is also not correct according to the Quran. Being a deputy implies to be delegated the powers. Allah does not delegate His powers to anyone. Nobody has the Divine right, neither a king nor any religious leader, not even a prophet. Allah has formulated laws by using His absolute power. Allah's true slaves first implement those laws on self and then on the rest of the world. Man's duty is to implement the laws of Allah. He has not been delegated the power to formulate the laws. Even the prophets simply brought Allah's *Deen* (laws) to mankind and implemented them. They did not MAKE the laws. Therefore, they were not *naib*, or deputies in this way, but if *naib* is taken to mean one who implements Allah's laws, then it is okay. But the word then used should not be *naib*, because the use of the word brings delegation of powers automatically to mind.

"إخْلَافَ" (ikhlaaf) means to go against a promise.

"أَخْلَفَ وَعْدَهُ" (akhlafa wahdahu) means that he promised but later did not fulfill it {T, M}.

| 2:80 | Allah will not break His promise | فَلَنْ يُخْلِفَ اللَّهُ عَهْدَةً |
|------|--------------------------------------|----------------------------------|
| 2.80 | (He will surely fulfill His promise) | فكن يحرف ألله عهده |

(ikhtilaaf): to differ. It also means to come one after another.

| 2:164 | the coming of night and day, one after the other | إخْتِلَافُ اللَّيْلِ وَالنَّهَارِ |
|-------|--|-----------------------------------|
|-------|--|-----------------------------------|

It also means to oppose or differ.

| 19:37 then sects among them differed | فَاخْتَلَفَ الْأُحْزَابُ مِن بَيْهنِ <u>هِ</u> مْ |
|--------------------------------------|---|
|--------------------------------------|---|

Some however think that "خَلَفٌ" (*khalaf*) are good children and "خَلُفٌ" (*khalf*) are bad children {*T*, *M*}.

The Quran says:

| 19:59 | Then guaged offer them guagesers | فَخَلَفَ مِنْ بَعْد هِمْ خَلْفٌ |
|-------|------------------------------------|---------------------------------|
| 7:169 | Then succeed after them successors | فخُلفَ مِنْ بَعْدِ هِمْ خَلفَ |

"نَنْخَلُفَنَ" (*takhallaf*): to lag behind (9:120) "مُخَلَّفُوْنَ" (*mukhalladoon*): those who lagged behind (9:81). "مُخْلَفُوْنَ" (*khaalafah*): opposed him. "مُخْلَفُو" (*mukhlifooh*): those who renegade or break a promise (92:27). "مُخْتَلَفَ" (*mukhtalif*): different (16:69). "اِسْتَخْلَفَ" (*istakhlaf*): to make one to replace the other (24:55). "مُسْتَخْلَفَ" (*mustakhlaf*): heir (57:7).

God has said that the result of good deeds is "استخلاف في الارض" (*istakhlaaf fil ard*) in 24:55. Therefore, the belief which does not enjoy authority and power is not real, and the good deeds are not really as such. To think that belief and good deeds will only bear fruit in the Hereafter, and they have nothing to do with this world, or it simply means the spiritual development of being only, which is not connected to the collective wellbeing of society, is against what Quran says.

Surah *Hoodh* says that *Shoaib* tried to prevent his people from the wrong way of life and said: "وَمَا أُرِيْدُ أَنْ أُخْالِفَكُمُ الَّى مَا أَنْہِكُمْ عَنْهُ" (*wama ureedu un ukhalifokum ila ma inhaakum unhu*) 11:88

Taj says that "خَالَفَمَ الِّي الشَّيْءِ" (*khalifa alash shaiyi*) means to intend to do something after preventing others from it. As such, the verse would mean "I have no intention at all of doing what I am preventing you from doing".

According to the Quran, in-fighting is a sort of punishment (3:104), and for differences to be removed a blessing (11:118-119). The Quran intends to remove the differences among people (16:64), and as such, it is also a blessing from God. Those who do not have differences deserve the *Jannah* (3:105-106).

In-fighting and differences in *Deen* are *shirk* (to mix with one another) (42:10), but this duty will be performed by the collective system of the nation (4:65). These matters are further explained in heading (*F-R-Q*). Also, see my book "*Letters to Saleem*" vol.2).

خ ل ق Kh-L-Q

"خَلْقٌ" (*khalq*) basically means to measure for making or cutting something, to estimate it. This is also the meaning of "تَقْدِيرُ" (*taqdeer*). See (Q-D-R). It means to see whether it is proportionate and balanced, or to model after something, to soften and smooth out something $\{T, L\}$. It also means to make one thing out of another $\{R\}$.

"خَلَقَ الأَدِيْمَ" (*halaqul adeem*): he measured or evaluated the leather for making something. "رَجُلٌ تَأُمُ الْخَلَقِ" (*rajulun tammul khalq*): a man who is balanced and proportionate. It is also called (*khaleeq*).

(khulqatun): smoothness, to be symmetrical.

"أَلْخَلَقْ" (al-khalaq): to be free of gaps etc. and be smooth {T, L}.

Ibn Faris says that its basic meanings are to evaluate or measure something, and for something to become smooth (due to constant use). That is why old things are called "غَلْقَ" (*khalaq*) because due to constant use, they become smooth surfaced.

Thus, "نَانَى" (*khalaq*) would mean to evaluate something, to create it so that it becomes balanced and proportionate, and it becomes clean and smooth.

"فَطَرَ" (*bada*') and "نَفَطَرَ" (*fatar*) mean to bring something from nothingness into existence, to create for the first time, to invent. Thus, "خَلَقَ" (*khalaq*) would mean to give different shapes and form to elements and to create things.

| 16:14 | Creation of Man has been done of surfing liquid | حَلَقَ الْإِنْسَانَ مِنْ نُطْفَةٍ |
|-------|---|------------------------------------|
| 55:14 | Creation of Man has been done from clay | حَلَقَ الْأَنْسَانَ مِنْ صَلْصَالٍ |

In surah *Hajj* the different stages of sperm, and genes in the mother's womb have been described and the Quran says that it transforms into "مُضْغَةِ" (*muzgha*) which has two forms, "مُخَلَقَةٍ" (*mukhallaqah*) and "غَيْرِ مُخَلَقَةٍ" (*ghair mukhallaqah*) 22:5. "مُخَلَق" (*mukhallaq*) means complete, or which is made smooth or softened (*Muheet*).

Ibn Faris says "أَلْمُخَلَّقُ" (*al-mukhalliq*) is that arrow which has been straightened. Therefore, the verse can be taken to mean that "مُضْغَةٌ" (*muzgha*) is either a complete child or it remains incomplete, and is aborted.

Surah *Shooraa* says:

| 26:13 | , this is the same old custom or old habit, or way of old | اَنْ لهٰذَا اِلٰاءَ حُلُقُ الْأَوَّلِيْنَ |
|-------|---|--|
| | old | |

Some people have said it means customs and traditions $\{T, L\}$. This has led to its meaning of habits and usual practices. As such, "خَلَقَ" (*khuluqun*) is somebody's physical habits $\{T, L\}$, since habits are old practices, that is why "خَلَقٌ" (*khalaq*) also means ancient.

··خَلَقُ الثَّوْبُ (khalaqas saub): the cloth became old.

"انْ بَذَا الْأَاخْتِلَاقَ" (*inn haaza illakh telaaq*) is a concoction used in (38:7) "انْ بَذَا الْأَاخْتِلَاقَ" (*khalaqatun*) means someone's natural constitution {*T*}.

"خَلاق" (khalaaq) means estimated portion as used in 3:76.

Raghib says "خَلَاق (khalaaq) means that edge which one gets due to good morals.

The Quran has also used "أَمْرَ" (*amr*) as against "خَلْقٌ (*khalq*), as in 7:54. See heading (A-M-R). "خَلْقٌ (*khalaqa*) also means to make the right estimate and to intend and plan accordingly. It also means to train *{Gharib-ul-Quran}*.

"خَلَاق" (*khallaq*) and "خَلِقٌ" (*khaaliq*) are two great traits of Allah (59:25, 36:81). Therefore, the individual or nation that has Allah's gift will display great creativity as well.

Having children is not creation, but pro-creation. This is a biological function which animals share with man, Thus, birth is an animal level function. Thus, man's creativity cannot be shared by animals. The nation which is bereft of creativity is devoid of Allah's quality of Creativeness.

| Note that creation is not mere duplication, but demands new inventions, Thus, it is said about Allah: | | |
|---|--|------------------------------------|
| 38:1 | He keeps adding to His creations according to his Will | يَزِيْدُ فِي الْخُلْقِ مَا يَشَاءُ |

Therefore, his slaves must also keep inventing newer things. This is called invention.

About the Messenger *Muhammed* (pbuh), the Quran says:

| وَانَّكَ لَعَلَى خُلُق عَظِيْم 68:4 and verily you contain very great morals |
|--|
|--|

As said earlier, "غَلْقَ" (*khalq*) means balanced and proportionate. Morals are the distinguishing trait of humanity, and our Messenger *Muhammad* was supreme in this. Those traits which are described as "morals" with us are actually the remnants of the era of hegemony. The morals as described by the Quran, which belong to a *momin*, are the true morals, and the Messenger (pbuh) is the epitome of those morals, which is the best example for the human race. This example of the Messenger is preserved in the Quran.

- (*al-khal*): the path that goes into desert or the path that passes between two deserts.
- "أَلْخَلُلْ" (al-khalal): the space between two things.
- "خِلَالٌ (khilaal): the space between.
- بخِلَإِلُ الدِيَارِ" (khilalud dyar): the space between two houses, the space in the environment of houses.
- تَخَلَّلُ الشَّيْءَ" (takhalash-shaiyi): to go inside a thing, to enter.
- خَلَّ الشَّيْءَ (khallash shaiyi): drilled a hole into a thing and went through it.

"أَخِلَالُن (al-khilaal): a drill which drills through a thing.

(*al-khallah*): need, troubled condition {*T*}.

- "فَجَا سُوْا خِلْلَ الدِّيَار (fajasu khilalid dyaar): 17:5 they entered the cities: penetrated them:
- "خِلاً بَا" (khilalaha): inside it.
- " \dot{z} " (*khullah*): friendship (2:254), perhaps because friends enter each other's hearts, or need each other.
- (*ikhla'a*) is the plural of "خَلِيْلُ» (*khaleel*) which means friend. (4:164, 43:67).
- "خِلَالٌ (*khilaal*): mutual friendship.
- "أَلْخَلَ" (al-khal): vinegar.

Kh-L-W خ ل و

"خَلَا الْمَكَانُ (khala-ul makaan): a house vacated as the occupants go away.

َخَلَا الشَّبِيُّ، '(*khala-ush shaiyi*): for something to pass away or go away.

··خَلْوَةٌ (khalwah): means solitude.

نخلِيَةً" (khaliyah): bees-hive {T}.

Raghib says that "خُلُوَّ (*khulu*) is used for both place and time. Since time also passes, the scholars of dictionaries take (*khala-uz zaman*) to mean the time passed {*T*}.

Ibn Faris says it basically means for one thing to part from another.

The Quran has used "نَقُوْ (*khalau*) against نَقُوْ (*laqu*) in 2:76 and 2:14. Here it means solitude and to meet in solitary.

تَخَلُوْا مِنْ قَبْلِكُمْ (khalau min qablikum): the people who have passed away prior to you (2:214).

"تَلْكَ أُمَّةً قَدْ خَلْتَ" (tilka ummatun qad khalat): this was a group or party who had passed away (2:141).

في الأيَّام الْخَالِيَةِ" (fi al-ayyami khaliyah): in the days that which have passed away, or past days (69:24).

Surah Yusuf says:

| 12:9 | you will have full attention of your father; no one else will share it | يَخْلُ لَكُمْ وَجْهٌ اَبِيْكُمْ |
|------|--|---------------------------------|
| | • | |

"خَلَا فَيْبَا نَدْيْرُ" (khala feeha nazeer) as in 35:24, means "where no one to warn has been".

"تَخَلُتُ" (*takhallat*) as in 84:4, means to be empty and be pure.

"فَخَلُّوْا سَبِيْلَهُمْ" (fakhallu sabeelahum) in 9:5 means leave their path, do not argue with them.

تخلاً سَبِيْلَ الْأَسِيْرِ (khalla sabeelal aseer): means freed the prisoner {R}.

"خَمَدَتِ النَّارُ" (*khamadatin naar*): for the flames of the fire to go out even if the ambers are still glowing. If even the ambers are extinguished, then it will be "ہُمَدَتِ النَّارُ" (*hamadatin naar*) {*R*}.

Ibn Faris says it basically means for movement to die down and to fall down.

"أَخْمَدْتُبَا" (akhmad-toha): I silenced the flames.

(*al-khammud*): the place where a fire is buried.

"خَمَدُ الْمَرِيْضُ (khamadal mareez): the patient fainted or died.

"تَوَمْ خَلَمُدُوْنَ" (*qaumun khaamedoon*): people whose steps are too silent *{M}*, or people with no movement. "أَخْمَدُ اللهُ أَنْفَاسَرُ" (*akhmadullahu anfaasuhu*): Allah demeaned him or gave him death *{T*}.

Surah *Ambia* and *Yaseen* say:

| 21:15 | we made them devoid of the movement of development and made them unmoving like a cut crop | جَعَلْنَهُمْ حَصِيْدًا خَامِدِيْنَ |
|-------|--|------------------------------------|
| 36:26 | so see, they became silent like the ambers | فَإِذَاهُمْ حَامِدُوْنَ |

Zajaj says it means silent and dead. The nations that are destroyed lose any movement and they turn to ashes. Also the green fields of their life in this world are cut and only their traces remain.

לא Charlen Kh-M-R

"خَمْرٌ (khamr): to cover or hide something.

تَخْمَرُ الشَّبْيِءَ بَخْمِرُهُ (khamarash shaiyia yakhmir): hid him, covered him.

للمعادةً (khamara falanun shahadah): he hid the evidence. تخَمَرَ فُلَاَنَ ٱشَهَادُةً المُعَادَة المُ

"أَخْمَرُ" (*al-khamar*): veil, a cloth with which women cover their heads {*T*}. Plural is "خُمُرٌ" (*khumur*) (24:31).

Lataif-ul-Lugha says that initially women used to put on "أَغْفَارَةُ" (*al-ghifaarah*) on their heads, and "أَغْفَارَةُ" (*al-khimar*) over it. See heading (*Gh-F-R*) the meaning of *ghifaarah*.

"أَلْخَمْرُ" (al-khamr): every intoxicating substance, because it covers the intellect.

Caliph *Umar* has said "أَلْخَمْنُ مَا خَامَرَ الْعَقَّلُ" (*al-khamro ma khamaral aqal*). It means that *khamar* is something which interferes with the intellect and spoils it. Some say "لأَبَّهَا تَخْمِرُ الْعَقَّلُ" (*lannaha takhmirul aql*): that is, liquor has been called "خَمَرٌ" (*khamr*) because it covers the intellect {*T*}.

The Arabs usually used to make wine from grapes and called it "خَمَرُ" (*khamr*). Hence, grapes too were called "خَمَرُ" (*khamr*).

"تَخْمِيْرُ" (takhmeer) means to raise the yeast {T}.

َخَامَرَ الْرَجْلُ فِي الْبَيْعِ مُخَامَرَةٌ (khamarar rajulun fee bai-i mukhaamarah): he deceived in trade and sold a free man as a slave.

Ibn Faris says it basically means to cover and with it to intermingle.

"ألإستَتِحْمَال" (istikhmaar) means to enslave, as it is necessary to seize a man's intelligence to enslave him.

| About "تَمْسِرِنَ" (<i>maysar</i>), that is, drinking and gambling, the Quran says: | | |
|---|---|--|
| 2:164 | it has a lot of sin, and some benefits for people too | فِيْهِمَا اِثْمٌ كَبِيْرٌ وَ مَنَافِعُ لِلنَّاسِ |

| 2:219 | their sin is much greater than the benefits in them | وَ اِثْمُهُمَا أَكْبَرُ مِنْ نَفْعِهِمَا |
|-------|---|--|
|-------|---|--|

"أَنْم" (ism) means frustration, tiredness, laziness, such weakness that leaves a man behind in life's race. See heading (*A-Tha-M*). Wine and gambling (easily acquired wealth) surely get the adrenalin flowing. A man temporarily becomes excited by them, but later his limbs become so exhausted or lackadaisical that they lose the ability to struggle in life. That is why they have been termed "رَجْسٌ مِنْ عَمَلِ الشَّيْطُنِ" (*rijsun min amalish shaitaan*): the devil's work, by the Quran and warned to abstain from them (5:90). And said that they will create acrimony among you and you will become unable to establish the system of *salaah* (5:91).

"خَمْنُ" (*khamr*): alcoholic drink. The biological research about it is that initially it increases the blood pressure and this in certain conditions (diseases) is a good thing, but later its effect slows down the blood pressure and this is a deep effect. Therefore, as against the initial benefit its later effect is very harmful. "خَمْرُ" (*khamr*), as well as "مَيْسِرُ" (*maysir*) not only slacken the human body, they slacken the human personality as well, and this is a big loss.

خمس Kh-M-S

"أَلْخَمْسَةُ (*al-khamsah*): five.

"يَوْمُ الْخَمِيْسِ" (yaumul khamees): fifth day.

: خَمْسُوْنَ (*khamsoon*): fifty

َخُمْسٌ '' (*khumsun*) and ''خَمْسٌ '' (*khamsun*): fifth part

"خَامِسٌ '' (*khaamsun*): fifth. Feminine form is "أَلْخَامِسْتُ (*al-khamisah*) as in 24:7.

| 18:23 | And they say they were five | وَيَقُوْلُوْنَ حَمْسَةً |
|-------|---------------------------------|--------------------------|
| 29:14 | Except for fifty years | اِلَّا خَمْسِيْنَ عَاماً |
| 8:41 | Then for Allah, one fifth of it | فَاَنَّ لِلَٰهِ حُمْسَهُ |

The fifth part of the war booty is for Allah and His *Rusool* (8:41), *Rusool* being the central administration of Allah's system. The *ameer*, or leader of the nation will spend it to meet the needs of the nation, and it is called "يَفِى سَبَيْلِ اللَّهِ" (*fee sabilil Allah*).

خ م ص Kh-M-Sd

"أَلْخَمْصَةُ" (al-khamsah): hunger.

تَخْمِصَ الْبَطَنُ (khamisal batn): the stomach became empty and caved in.

"أَلْأَخْمَصْ" (al-khamas): the sole of the foot whose curve is inside (concave).

"خَصِيْصٌ" (*khamees*): a hungry man who's stomach curves inside.

زَمَنٌ خَمِيْصٌ» (*zamun khamees*) means the period of drought {*T*}.

The Quran has used "مَخْمَصَة" (makhmasah) for acute hunger (5:3).

خمط Kh-M-Te

"خَمَطَ اللَّحْمَ يَخْمَطَ اللَّحْمَ يَخْمَطَ اللَّحْمَ يَخْمَطَ اللَّحْمَ يَخْمَطَ اللَّحْمَ يَخْمَطَ اللَّحْم called "مَسْطَ" (*mamt*). "أَخْمَنُ" (*al-khamt*): sour, anything bitter, every plant which is bitter, a kind of deadly poison or lethal tree, every tree without needles {*T*}.

In the Quran, it has been said in connection with punishment that in place of the fine orchards, such orchards grew which were "نَوَاتَى أَكُلٍ خَمْطٍ" (*zu wa aati ukulin khamt*), that is, which produced bitter fruit. It also means that the pleasantness of their lives was replaced with bitterness.

Ibn Faris says it basically means to be naked and empty, and also power and authority. With these meanings the verse would mean to deprive somebody of life for evil deeds or oppression, which is exactly what, happened to the nation of *Sabaa*.

خنزر Kh-N-Z-R

"أَخْنُزَرَهُ" (*al-khanzarah*): to become fat, big. This word is used for a fat hammer, used to break stones. "الْخِنْزِيْرُ" (*al-khinzeer*): pig, plural of which is "أَخْنَزَرَيْنَ" (*khanazeer*). "خَنْزَرَتَ" (*khanzar*): he committed several acts like a pig. This is also used for seeing out of the corner of the eye {*T*}.

The Quran has listed meat of pig among the things which as unlawful and Hence, forbidden (2:173). The word has also been used for people whose characters have been mutilated and turned like the worst of animal behavior (5:60).

Raghib says it can be used both for mutilated faces ad characters. See heading (Q-R-D). The **Gharib-ul-Quran** says that it is a compound of the words "نَزُرُ" (*khaniz*) plus "نَزُرُ" (*nazr*), which means a rotten thing.

The word swine or being a swine is generally considered to be a negative quality in most parts of the world. Even in the west, where its meat is cosumed, its name is used as a curse word. The *Bible* too uses this word in a demeaning manner.

خ ن س **Kh-N-S**

"خَنَسَ عَنْهُ" (*khanasa unhu*), "يَخْنِسُ" (*yakhnis*), "خَنَسَ عَنْهُ" (*khansa*): to get back from it. "خَنَسَهُ" (*khanasah*): to move someone back.

"كُنُسٌ" (*al-khunus*): the place where deer hide. Also see "كُنُسٌ" (*kunus*).

"خَنَسَ مِنْ بَيْنِ أَصْحَابِه" (khanasa min baini asaabehi): he hid from among his friends.

"أَلْخَنَسُ فِي الْقَدَمِ" (*al-khanasu fil qadam*): for the sole of the foot to be even and have flesh {*T*, *R*} (*al-khinees*): a scoundrel who lies in wait for somebody, also one who makes excuses and is a

"الخِنِيس" (al-khinees): a scoundrel who lies in wait for somebody, also one who makes excuses and is a deceptive person {*T*, *R*}.

The Quran says "نَفَلَا أَقْسِمُ بِالْخُنَّسِ? (*fala uksimo bil khunnas*) in 18:15, which means "those stars which recede", and since stars do not make any sound while doing so, the word has come to mean "to back down silently". This is the same sort of evidence which has been described in "وَالنَّجْمِ إِذَا بَوَىٰ" (*wan najmi iza hawa*) in 53:1 and 56:75, and this because later the description is about revelation and prophet hood (81:20-22).

Surah *an-Naas* says:

| 114:4 | he who whispers something in the ear and silently recedes (he | |
|-------|---|----------------|
| 114.4 | who quietly spreads wrong thoughts and hides) | الوسواس الحناس |

Maulana Abeedullah Sindhi writes that "الْخَنَّاسَ" (*al-khannas*) means a force which hides, or one which when attacked hides.

Ibn Faris says it basically means to hide and to be hidden.

Ibn Faris says it basically means constriction.

"يَخْنِقْ" (yakhneq): to strangle.

أَلْخَانِقُ" (al-khaaniq) means a narrow valley.

"أَلْخَنِنْ (al-khaniq): means to strangle.

"أَلْخِنَاقَ" (al-khinaaq): the rope with which one strangles.

"الْنَخَنَقَ" (*inkhanaq*): his throat was strangulated {*T*, *R*} {*Tafseerul Muqaam al Mahmud* page 221}. "للنَاقَ" (*khunaaq*) is another derivation.

(*al-munkhaniqah*): the strangled animal. Animal that dies of strangulation has been made forbidden to eat by the Ouran (5:3).

خور Kh-W-R

"خَوِرَ" (*khawir*), "نَخْوَرُ" (*yakhwar*), "خَوَرَاً" (*khawara*) means to be weak, to be a coward, to break down, to become slack.

"خَارَتْ قُوَّةُ الْمَرِيْضِ" (*kharat quwwatil mareez*): the patient's strength lessened, that is, he became weak. "خَوَرَتِ الْأَرْضَ" (*khawwaratil ard*): due to the excessive rains the soil flowed out (with water) {*T*, *M*}. "أَخُوَارُ" (*al-khuwaar*): cow, ox, or goat. It also means the sound of a deer or arrows. Actually it meant the sound of a cow or ox, but later began to be used for all kinds of sounds {*T*, *M*}.

Raghib says "خُوَارٌ" (*khuwaar*) means the sound of cows or oxen, but later it metaphorically also started to mean the sound of a camel. The Quran has used "نَدُ خُوَارٌ" (*lahu khuwaar*) for "نَدُ خُوَارٌ" (*ijlun*) or calf in 7:148, that is, the calf that used to make sound.

خ و ض Kh-W-Zd

"نخَاض" (khaz) and "يَخُوْضُ" (yakhuz) basically mean to get down in water, or wade in water.

Ibn Faris says it basically means to indulge. Later this word began to be used for being busy in something for long.

The Quran has used it mostly for engaging in useless things {*T*, *R*}.

"خَاصَ (khaaza): he talked nonsense: {Aqrabul Muwaarid}.

| | The Quint Suff. | |
|-------|--|--|
| 9:69 | And you indulge like the one who indulges (engage in useless talk) | وَ خُضْتُمْ كَالَّذِيْ حَاصُوْا |
| 52:12 | Those who are engaged in falsehood and are oblivious of the truth | الَّذِيْنَ هُمْ فِيْ خَوْضٍ يَلْعَبُوْنَ |
| 74:45 | And we used to indulge in vain talk with those who talked in vain | كُتًا خُوْضُ مَعَ الْخَائِضِيْنَ |

The Quran says:

This is about the type of leaders who did nothing for the common good, but only repeated statements to this effect, passed resolutions, and spent their time in planning. That is all talk and no work. It also applies to those scholars and philosophers who keep themselves busy in picking loopholes in conceptual issues and nit picking, and ignore the matters which produce practical results. These people cause destruction of their nations (70:41-42).

خوف Kh-W-F

"خَوْفٌ" (*khauf*) means to fear some catastrophe due to some evidence and signs of it. Hence, it means to apprehend, just as "خَمَعٌ" (*tama-a*) means to expect some benefit from the evidence and sign before one. The Quran has used them together in 7:56.

"خُزْنُ" (*huzn*) is the sadness that comes after an event and the loss has already been established. "خَوْفُ" (*khauf*) is the apprehension of the loss that may take place in the future, while "خُوْنُ" (*huzn*) is the loss which has already taken place.

Surah An-Nisaa says:

| 4:128 | If a woman fears unfair treatment from her husband | وَاِنِ امْرَأَةٌ حَافَتْ مِنْ بَعْلِهَا نُشُوْزًا |
|-------|--|---|
|-------|--|---|

Thus, the fear of Allah would mean the realization that by leaving Allah's laws (their obedience) I will suffer a great loss. Hence, it means to avoid the wrong path due to the realization of the bad results it will produce.

Surah An-Nahal says about the things in the universe and about the malaika:

| 16:50 | They fear the authority and overwhelming of their | ِ يَخَافُوْنَ رَبَّهُمْ مِنْ فَوْقِهِمْ وَيَفْعَلُوْنَ مَايُؤْمَرُوْنَ |
|-------|---|---|
| 10.50 | Sustainer and do whatever they are ordered to do | يحافون ربهم مِن فوقِهِم ويتعلون مايومرون |

That is, they fully follow the laws of Allah because they know that if they don't, then only chaos will result. As such, the fear of Allah is not like the fear of some tyrant. This fear is like the apprehension of being burnt due to which we do not play with fire.

"أَخْافَتْ" (*al-khaafah*) is the protective leather that a honey collector puts on, so that he may be protected from the bee stings. It also means a bag which is used for keeping something safe $\{T\}$. "خُوَافْ" (*khawaaf*): means high level of noise $\{T\}$.

Ibn Faris says the root basically means worry and trouble.

"خَوْفٌ" (*khauf*) also means annihilation and war *{T}*. As such, "خَوْفٌ" (*khauf*) in 33:19 has been taken to mean killing.

"تَخَوَّفَ الشَّيْءَ" (takhawwafash shjaiyi): means to decrease something.

"تَخَوَّفَهُ حَقَّه" (takhawwafah haqqah): reduced his rights.

"أَوْيَاخُذَ بَمْ عَلَى تَخَوَّفَ" (*aw yakhuz hoom ala takhawwuf*): destroy them gradually, instead of at once (16:47). "تَخَوَّفَ" (*takhawwuf*) means to fear, to be apprehensive all the time, lest they are hauled up despite their fearing Him and being wary of the consequences. But the earlier meaning seems more plausible. "الْخِيْفَةُ" (*al-khafeefah*): the state of fear {*M*}.

Following the guidance definitely results in a fearless nation without any worries (2:38). Thus, if a nation lives in some kind of fear, then that nation is not following Allah's orders. To follow Allah's laws and feel fear, do not go together.

خول Kh-W-L

"أَلْخَالْ" (al-khaal): mother's brother, maternal uncle.

Plurals are "أَخْوُدُلْ" (akhwaal), "أَخْوِلَة " (akhwaal), "أَخْوَدُلْ (khu'ool).

"أَخْوَالٌ" (*al-khaalah*): mother's sister, maternal aunt. Plurals are "أَخْوَالٌ" (*khaalaat*) as in 4:23, "أَخْوَالٌ" (*akhwaal*) as in 24:61.

الْخَالُ" (al-khaal): the sign of goodness in a man, or an army's flag, or a black camel.

"بُوَ خَالُ مَالَ" (huwa khalun maal): he is the guard of the camels {T}.

Ibn Faris says it basically means to look after or guard something.

"خَوْلُ" (*khawwal*), "تَخْوِيْلٌ" (*takhweel*): to endow someone with grandeur or such things which need to be guarded *{R}*.

(*iza khawwalahu ne'mah*) as in 39:8 means "when Allah endows someone with luxuries".

خون Kh-W-N

"أَلْخَوْنْ (al-khaun) basically means to decrease something.

تخَوَّنَہ'' (khawwanah): decreased it.

نفِيْ ظَبُرْهِ خَوْنٌ» (*fi zahrihi khaun*): his back is weak, or there is weakness in his back.

"خَوْنٌ (*khaun*) is also used for glare {*T*}.

"خَوْناً" (*khaan*), "خَوْناً" (*yakhun*), "خَوْناً" (*khauna*) is a man who is thought to be trust worthy, but turn out to not be worthy of trust.

"خِيَانَة" (khiyaanah) is to betray or to lose someone's trust.

"خَانَّ الدَّلْوَ الرَّسْنَاءُ" (*khaanad dalur risha'a*): the rope was not faithful to the bucket and broke in the middle, due to which the bucket fell into the well *{T}*. We pull the bucket out of the well by depending on the strength of the rope. If the rope breaks in the middle, then it is called its "خِيَانَةً" (*khiyanah*). As such, "أَمَانَةُ" (*amanah*) means to be at peace with someone or something (to be content that the trust is not lost), but in "خِيَانَةً" (*khiyanah*) this trust is simply not there.

This is the reason why Quran says "لا الْفَصَامَ لَبَا" (*la infisaama laha*) in 2:256 describing the laws of Allah's. These words mean that these laws are a strong link which can never break, and can be fully depended upon. These never leave you in the lurch.

"تَخَوَّنَّ" (*takhawwan*) does not just mean to hurt or incur loss, but it also means any change, alteration, decrease, or amendment.

تَخَانَمُ الدَّبُرُ "(khaanahud dehar): time was not on his side. That is, it treated him badly {T}.

The Quran says:

| 22:38 | Indeed, Allah does not befriend any of those who | اِنَّ اللَّهَ لَا يُحِبُّ كُلَّ حَوَّانٍ كَفُوْر |
|-------|--|--|
| 22.30 | betray in denial. | اِن الله لا الحجب كل تحوالي تفور |

"خَوَّان" (*khawwan*) can be used for any man who cannot be trusted or depended upon, and also the enemy who tries to deteriorate your condition. It also means a big misappropriate. The Quran instructs to stop even from misappropriation of sight (20:19).

Surah Al-Baqrah says:

| 2:187 That you used to deceive yourself. | اَتَّكُمْ كُنْتُمْ ^{عَ} نْتَانُوْنَ اَنْفُسَكُمْ |
|--|---|
|--|---|

Raghib says that "الفَتِيَان" (*ikhtiyaan*) means to prepare or intend to misappropriate. As such, one must not only try to not misappropriate others, but also oneself. One should not even let the thought of misappropriation cross one's mind. The biggest crime is to misappropriate from self. That is, to act against what you think is the right thing to do, whether it is in someone's knowledge or not. This is not only a sign of weakness of one's self-respect, but also a sign of a dual personality. The Quran forbids it.

| Surah <i>An-Nisaa</i> says: | | |
|-----------------------------|--|---------------------------------------|
| 4:107 | those who intend to deceive each other | الَّذِيْنَ يَخْتَانُوْنَ أَنْفُسَهُمْ |

Surah *Al-Anfaal* says: do not conspire against Allah's system "لَا تَخُونُوُا" (*la takhunu*), nor be found lacking (misappropriate) in any of the matters entrusted to you.

خ و ی Kh-W-Y

"خَوَتِ الدَّار (*khawatid daar*): the house became abandoned and fell down.

Ibn Faris says it basically means to be vacant and fall.

''أَرْضٌ خَاوِيَةٌ'' (*ardun khawiah*): abandoned land $\{T\}$. (*al-khawa*): means to be empty $\{R\}$. (*khawi al-makaan*): the place became empty $\{M\}$.

About a dwelling, surah *Al-Baqrah* says:

| 2:256 And it overturned on its roofs | وَهِيَ خَاوِيَةٌ عَلَى غُرُوْشِهَا |
|--------------------------------------|------------------------------------|
|--------------------------------------|------------------------------------|

This verse is talking about the destroyed and desolated houses which had fallen down, or the houses that despite the roofs standing, were laid bare.

Surah *Al-Haaqqa* says:

| 69:7 | destroyed date palms which are ready to fall | أعْجازُ نَخْل حَاوِيَة |
|------|--|------------------------|
| 09.7 | (hollow inside) | اعجار حلٍ محاوية |

"خَلِيَّهُ" (*khaab*), "خَلِيَّهُ" (*khaibah*) means to remain deprived, to suffer loss, to be disappointed, not to be able to achieve that which is desired, to remain unrequited, expectations to be cut off, to be needy and beggarly. *{T, M*}.

Ibn Faris says that "أَخْتَابُ" (al-khayyab) is a firestone which does not have the capability to start a fire.

| The Quran says: | | |
|-----------------|----------------------------|-----------------------------|
| 3:126 | let them return unrequited | فَيَنْقُلِبُوْا حَائِبِيْنَ |

The Quran has used the word "نَفْلَخَ" (*khaab*) against "أَفْلَخَ" (*aflaha*) which means the crops to grow and be fruitful. As such, "خَابَ" (*khaab*) would mean to be unfruitful.

| 91:10 | He who buries it, fails | خَابَ مَنْ دَسَّهَا |
|-------|-------------------------|---------------------|
|-------|-------------------------|---------------------|

It means that he who pressured it and did not let it develop, his plate remained, desolated. His spark of life became desolate, and became such a fire stone that has no fire. This is why "خَابَ" (*khaab*) has been explained further by saying "أَكَرَ" (*halak*) in surah *Ibrahim*, which means destruction (14:13-15).

It also includes destruction in this life (rather, it is manifested first). Therefore, the nurturing or development of self-results inevitably in the happiness of this life as well. Spiritual development by giving up this world is against the Quran. Human development takes place by conquering the universe. A life without a spark is like a heap of ashes.

خ ی ر Kh-Y-R

"الْخَيْلُ" (*al-khair*): anything which is favored or liked by all, also useful thing. It is the opposite of "التَرُنُ" (*shar*).

"الْخِيْرُ" (*al-khair*): all types of good. Arab horses used to be called "خَيْرٌ" (*khair*) due to their usefulness (38:32).

"خَيْرَاتٌ" (*khairaat*): beautiful and courteous women *{T}*, or one who have many good traits as beauty. "خَيْرَاتٌ" (*khayaar*) means authority, that is, the choice to adopt whichever deed, and leave whichever.

Ibn Faris says it basically means leaning and bending.

"أَنْتَ بِالْخَيَارِ" (anta bil khayaar): you have the choice to work according to your wishes.

"نَخَيَّرَهُ بَيْنَ السَّيْنَيْنِنِ" (*khaiyyarahu bainash shaiy-een*): he gave him the right to choose whichever of the two things *{T*}.

"أَسْتَخَارَةُ" (*istikharah*) means to ask for the better of two things. Since whichever of two things is in any case thought to be better of the two, "" (*khairun*) is also used for honor, superiority and estimation. "بُو خَيْرٌ مَنْك" (*huwa khairun mink*): he is better than you.

"خَارَ الرَّجُلَ عَلَى غَيْرِهُ وَ خَيَّرَهُ تَخْيَيْرِ أَ" (khaarar rajula ala ghairehi wa khaiyyarahu takhyeera): he preferred that individual man over others.

"خَتَرْتُهُ عَلَيْهِمْ" (*akhtartuhu alaihim*): I gave him superiority, chose him, and selected him over all others. "الْخِيارُ" (*al-khiyar*) is a vegetable of a kind (celery).

The Quran has used "نَفَيْرُ" (khair) to mean wealth at several places, as in 2:272, 2:180.

تَخَيْرُ "خَيْرُ" (khair) has been used against "أَذْنَى" (adna) (2:16).

تغَيْرُ" (khair) is used for something "even better" in 2:106.

Surah *Anaam* (6:17) uses this word against "نَصْرُ" (*zur*), against "نَقْتَةُ" (*fitnah*) in surah *Al-Hajj* (22:11) and against "شَرُ" (*shar*) in surah *Al-Baqrah* (2:216).

Surah *An-Nahal* has used this word for every good thing and deed (16:76).

Surah *Aal-e-Imran* (3:35) says about Allah that "بِيَدِكَ الْخَيْرُ" (*biyadekal khaiir*): He has the concept for all sorts of authority and every type of good thing.

Surah Al-Ahzaab (33:36) has used "خِيرَة" (khiyarah) for choice and right.

Surah Taha uses "يَخْتَارُ" (yakhtaar) for the natural selection in the universe.

About *Moosa* it is said in 20:13 "وَأَنَّا اخْتَرْ تُكَ" (wa ana akhtartuka). I have chosen you (selected you) for a great purpose.

In surah *Saad* (38:27), the word of "أَخْبَالَ" (*akhyaar*) has been used for the Messengers who were the preferred individuals.

Ibn Faris has said "نَوْمٌ خِيَارٌ" (*qaumun khiyaar*) and "أَخْيَارٌ" (*akhyaar*) mean a nation with many capabilities.

In 55:70 "خَيْرَاتٌ حِسَانَ" (*khairatun hisaan*) has been used to mean women with proportionate limbs and moderate character, or for proportionate and good things. Since all life's happiness and authority and expanse is availed by following Allah's orders, Therefore, His revelation has also been called "خَيْرٌ" (*khair*) in 23:105. As such, the life of the *momineen* is such that all life's happiness is available to them and their authority knows no bounds. This is what "خَيْرٌ" (*khair*) is and which is the definite result of following Allah's orders. That is why when the opponents ask the *momineen*, tell us what your Sustainer has revealed, they reply "قَالُوْا خَيْرُ" (*qaalu khair*) in 16:30. In this verse these words mean world's happiness and the expanse of authority.

It is explained by the words that follow:

| 16:30 | pleasantness in this world as well as pleasantness in the Hereafter | فِيْ لْهَذِهِ الدُّنْيَا حَسَنَةٌ وَلَدَا رُالْأَخِرَةِ حَيْرٌ |
|-------|--|--|

Thus, every deed which has the betterment of this world and the Hereafter is "خَيْرُ" (*khair*) and the opposite of "اللَّشَرُ" (*shar*). In pleasantness, the development of the human personality is supreme. Rather pleasantness is the development of the human personality. That which stultifies human development is "اللَّشَرُ" (*shar*). The Quran gives us a program which results in pleasantness. It equates them with good deeds, which develop human capabilities and produce smoothness in the society. See heading (*Sd-L-H*).

Surah *Al-Baqrah* says about *Hajj* (pilgrimage):

| 2:197 | you must take what is necessary to perform Hajj (pilgrimage): this will help prevent you from begging over there | وَتَزَوَّدُوْا فَإِنَّ حَيْرٌ الرَّادِ التَّقْوَىٰ |
|-------|--|--|
|-------|--|--|

Here "خَبْر (*khair*) means benefits and "تقویٰ" (*taqwa*) means to be safe from the ignominy of being needy.

خ ی ط Kh-Y-Te

(*al-khait*) means thread or chain etc. {*T*}.

Ibn Faris says it means to be long and thin.

"أَلْمِخْيَطُ" (al-mikhyat) means a needle {T}.

"في سَمَّ الْخِيَاط" (*fi sammil khiyaat*): in the needle of the eye (7:40). "خَاطَ التُّوْبَ" (*khaatas-saub*): to sew one part of the cloth with another *{M*}. "خَيَاط" (*khaiyyaat*): tailor *{T*}. The Quran, in respect of fasting says:

| 2:187 white thread and black thread | ٱلْحَيْطُ الْابْيَضِ وَ الْحَيْطُ الْاَسْوَدُ |
|-------------------------------------|---|
|-------------------------------------|---|

These words are relating to the light of dawn and the darkness of the night $\{T\}$. This shows that in the Quran, literal meanings do not apply and the meaning is with reference to the context.

As such, *Lataif-ul-Lugha* says that "الْخَيْطُ الْأَبْيَضُ" (*al-khaitul abyaz*) is taken to mean "النُّوْرُ" (*an-noor*) which means light.

"أَلْخَيْطُ" (al-khait) also means color {T}, and even a group.

خ ی ل Kh-Y-L

"خَالَ" (khaal), "يَخَالُ" (yakhaal) means to conjecture, assumption.

"خَيَّلَ (khyyal) means to estimate and guess.

"خُدِّلُ الَيْمِ أَنَّہُ كَذَا" (*khuyyila ilaihi annahu kaza*): he thought of something, something which is not as it seems but which appears so in one's thoughts.

"أَلْسَتَحَابَةُ ٱلْمُحَيَّلَةُ" (as sahabatu almuta-khayyila) is a cloud which seems to be raining.

"الْخَيَالْ" (*al-khiyaal*) also means a scarecrow {*T*}.

With respect to such meanings, when the experts of the Pharaoh's court threw their ropes:

| | due to their charm, it appeared to Moosa (Moses) | يُحَيَّلُ الَيْهِ مِنْ سِحْرٍ هِمْ أَنَّهَا تَسْعِىٰ |
|-------|--|--|
| 20.00 | as if they were moving (like snakes): | يىيل رىيد بىن شِحْرٍ جْتُم (تَهْ نَسْتَى |

This means that they were not actually moving, but only gave the illusion of movement. Note how big a truth about illusion or "سحر" (*seher*) the Quran has revealed. It has said that due to illusion, the things do not actually change regardless what one's vision says. The effect is merely psychological.

The confusion only occurs when we take the meanings of such words literally, but if taken figuratively then the meaning would be something else. The details will be found at their own places. See heading *(S-H-R)*.

"خَيَلَاءُ" (*khuyela*): pride without any cause (unjustifiably). That is, a man gives himself airs, but he does not have that he is greatness in him. He simply thinks in his mind that he is great. Someone who does this is called "مُخْتَالٌ" (*mukhtaal*), as in 31:18, which means one who is indulging in self-deceit.

Ibn Faris says it basically means an act which also includes delusion. This is the definition of "خَيَالَ" (*khayaal*), which is actually something one dreams about. For one thing, everything in a dream is shifting, secondly the dreamers thinks that whatever he is dreaming about, is reality. This makes the meaning of this verse clearer, and elaborates the sorcery of the sorcerers, as well as earlier mentioned verse (20:66).

Raghib says this led to the word "خَيْلٌ (*khail*) which means horses or a cavalry brigade (3:13), because a horse seems to be walking rather proudly, and a horseman also has a sort of pride in him as well.

خىم Kh-Y-M

تَخْيِيْمُ (takhyeem) means to mount tents and then rest in them.

(*khaemah*) means any kind of temporary construction that Arabs used to set up for their rest. There are many definitions regarding the structure of such a construction, but the general concept is of setting

up four wooden pillars covered with vegetation for shelter and shadow. Such a construction was called

"خَيْمَةٌ" (*khaemah*). Those tents that were constructed with fabrics were called "مَظَلَّهُ" (*mizallah*). "خَيْمَ الشَّىْءَ" (*khayyamash shay*) means that he covered on thing with another thing *{T}*. "خَيْمَةٌ" (*khayaam*) is the plural form of "خَيْمَةٌ" (*khaemah*), as used in 55:72. "الْدَّابُ" (*ad-daab*), "الَدَّابُ" (*addaobo*): to be continuously engaged in some work, to keep trying continuously.

Raghib says that it means situation, customs, and traditions.

"دَأَبُ فَلَانَ" (*daaba folan*): that man tried continuously, became tired but kept on trying {*T*, *M*, *Aqrab al-Muwarid*}. *Kitaab-ul- Ashfaq* too says that "دَأَبُ" (*da-ab*) means work done continuously without any break.

Ibn Faris says its basic meaning is of being persistent.

Surah *Aal-e-Imran* says:

| 3:10 | according to the ways of the nation of the <i>Pharaoh</i> | كَدَأبِ أَلِ فِرْعَوْنَ |
|------|---|-------------------------|
| | | |

Surah Yusuf has "كَأَباً" (da-abba) in verse 12:47 which means striving very hard continuously.

Surah *Ibrahim* says:

| | The sun and the moon revolve continuously in their orbits at | |
|-------|--|---|
| | 5 | |
| 14:33 | their own speed. | وَالشَّمْسَ وَ الْقَمَرَ دَائِبِيِّيْنِ |
| | (They are continuously busy in performing their duties.) | |

Dawood

داوُ د

The Quran says that *Dawood* (David) was among the descendants of *Ibrahim* (Abraham).

| 6:84 And of his descendants was <i>Dawood</i> | وَمِنْ ذُرِّيَّتِهِ دَاؤُدَ |
|---|-----------------------------|
|---|-----------------------------|

Allah had given him *Zaboor*. Note that *Zaboor* also means 'a book'. But surah *Ambia* mentions *"Zaboor"* as a special book in 21:105. Perhaps this was the name of the book revealed to him. He was granted knowledge in profusion (27:15) and a stable rule (38.20), so that he could rule with equanimity and justice (38.26). The big leaders of the mountain tribes were very faithful and obedient to him and were busy in putting his program into action (38.18), as well as the gypsies of the *Tair* tribe who formed the cavalry brigade of the army (38.16).

Previously he had defeated the army of *Jaloot* (Goliath) fighting along with the army of *Bani Israel* and killed *Jaloot* as well (2:251). It seems like he was the inventor of armor, or that he had special expertise in it (21.80). His period was approximately 1000 B.C. It is said that he had a very beautiful voice. He is said to be the first person to edit Hebrew music and develop the Egyptian and Babylonian musical instruments, and Thus, invent new musical instruments. When he used to sit on the hill and play his musical instruments, even the trees swayed with the music. The *Torah* and our *Tafseer* books support this theory *{Tarjuman-ul-Quran}*.

تَدَبَّ النَّمْنل يَدِبُّ دَ بِّاً (dabbal namalu yadibbu dabba): to walk quietly.

"كَبَّ السَّرَابُ فِي الْجِسْمَ" (*dabbah fil jism*): for wine to go down slowly in the body. (*ad-dabbah*): any living thing that walks or crawls on the ground *{T, Latif-ul-Lugha}*. "الدَّابَّةُ" (*adib-bah*): slow speed.

Ibn Faris says that this is the speed slower than "مَشْى (mashyun).

"الدَبَّاتَّةَ" (*addab-babah*): a big cart made of skins and wood used by soldiers to reach the fort gates to break it down *{T, Latif-ul-Lugha}*. A tank of the olden days used to move slowly and those inside were safe from the enemy's onslaught.

"اللَّبُدْبَة" (*addab-dabah*): the sound of a walk on hard ground, it also means a noise like beating the drum, and also the sound of the drum itself.

The Quran has used this word for all sorts of creatures including crawlers, two legged and four legged (24:45). The plural is "نَوَابُ (*dawaab*). In surah *Al-Hajj*, this word has been used for all living creatures except man (35:28)

Surah *An-Nahal* says:

| 16:61 | If Allah held people responsible for their crimes immediately, then there would not be a <i>da-abba</i> (soul) (alive) on this earth | لَوْيُؤَاخِذُ اللَّهُ النَّاسَ بَظُلْمِهِمْ مَاتَرَ کَ عَلَيْهَا مِنْ دَآتَةٍ |
|-------|--|---|
| | (alive) on this earth. | |

See 35:45 as well

Here the word "نَابَتُ" (*da-abbah*) has come for the humans themselves, because due to their wrong doings it is they who must be annihilated, not all other living creatures. But in a broader meaning, it could mean humans and other living beings as well.

Surah *Al-Anfaal* calls those who do not employ their intellect "شَرَّ الدَّواَبَ" (*ash sharrad dwab*) in 8:22, that is, the worst among living things who walk, or even more astray than the other living things.

Surah *An-Namal* says:

| 27:82 | And when the sentence against them is fulfilled, We | وَإِذَا وَقَعَ الْقُوْلُ عَلَيْهِمْ أَخْرَجْنَا لَهُمْ دَابَّةً مِنَ الْأَرْضِ | |
|-------|--|--|--|
| 27.82 | shall bring forth a creature from the earth for them | ؾؙػڶٞٮؙۿؠ۠ | |

Raghib says it refers to those wicked people who behave like animals in their unawareness. This way this word becomes plural. But when the Quran uses the word "تَكَانَبُهُ" (*da-abbatun*) for humans, the example about animals is redundant. It will mean warring nations. This has been explained by "تَكَلَّبُهُمْ" (*tukallemohim*) which means to injure. But even if "تَكَلَّبُهُمْ" (*tukallemohim*) is taken to mean talk, it does not affect the meaning of "دَالَتُكَلَّبُهُمُ" (*da-abbath*). See heading (K-L-W).

Surah *Saba* has used this word for *Suleman's* unworthy son (34:14). This means that he did not have the credentials of an intellectual human being, but a moving apparition. Details will be found under heading *Suleman*.

Surah *Hoodh* says:

| 11:6 | There is not a single <i>da-abbah</i> on this earth for | وَمَا مِنْ ذَآبَةٍ فِي الْأَرْضِ الاَعَلَى اللَّهِ رِزْقُهَا |
|------|---|--|
| 11.0 | whose sustenance Allah is not responsible for. | وما مِن دابةٍ فِي أَدْرُصْ أِدْ عَلَى اللَّهِ رِرْفَهُ |

A natural question that comes to mind after reading 11:6 is that if this statement is true, then why people die of hunger in this world. A single drought may claim millions of lives and even as it is, thousands die of hunger and starvation. If Allah is responsible for providing for them, then why does He not fulfill that responsibility? This is a very important question that demands an answer.

At such places, Allah's responsibility is fulfilled by the system set in place by following Allah's laws. This system takes upon itself all the responsibilities attributed to Allah and in this way all those rights and duties (mentioned in the Quran) are also shifted to the system which are called Allah's rights. Allah's system is followed by obeying His laws.

"عَلَى اللَّهُ وِزْقُبَا" (*alal lahi rizqoha*) means that the system is responsible for the sustenance of all. To provide for all living things, becomes its responsibility. The resources of sustenance are with it for safekeeping and are a trust. The system so distributes the sustenance given by Allah that nobody is deprived of it. This way Allah's responsibility is automatically fulfilled. But in the absence of such a system, hegemonic forces seize those resources, and the weaker of the human races live at their mercy. They provide as much as they want for the ones they want to provide for. The celestial revolution is for snatching these resources and hand them over to the system which provides for all.

Surah Ash-Shura says:

| | And one of Allah's signs is that He created the earth | م م م |
|-------|---|--|
| 49:29 | and the skies and heavenly bodies and the living | وَمِنْ أَلِيَّهِ حَلْقُ السَّملوتِ وَالْأَرْضِ وَمَابَثَّ فِيْهِمَا مِنْ |
| 49.29 | things (<i>da- abba</i>) in them. And He is able to collect | دَابَّةٍ وَهُوْ عَلَى جَمْعِهِمْ اِذَ يَشَآءُ قَادِيْرٌ |
| | them according to the law of His will. | |

This verse gives a clue as to creatures on other heavenly bodies. The days are coming near when one day the inhabitants of earth will intermingle with that of other planets. The Quran has clearly stated that whatever is contained in the earth and the skies has been subjugated to man. Therefore, the human effort to reach the heavenly bodies (moon, mars, etc.) is very much in keeping with the teachings of the Quran. Note how the Quranic verses provide clues to universal truths (41:35).

D-B-R

د ب ر

"الذَبْرُ" (*ad-dubur*), "الدَّبْرُ" (*ad-dubur*): the back (end) of anything. It is also used for ones back and the anus.

Ibn Faris has said that it means the tail end of something. Plural form of it is "أَدْبَالٌ" (*ad-baar*).

| The Quian says. | | |
|-----------------|----------------------------|---------------------|
| 54:25 | they will turn their backs | يُوَلُّوْنَ الدُبْر |
| 12:25 | from behind | مِنْ دُبُرٍ |
| 27:10 | he turned his back and ran | وَلَىٰ مُدْبِرًا |

"إَذْبَالُ" (*idbar*): to move back, previous event.

"الْنَبَانُ النَّجُوْمِ" (*idbaran nujum*): the time for the stars to set at the end of night (52:49) {*T*, *M*}. Hence, it means the receding of the stars.

"الدَّابِرُ" (*ad-daabir*): the end of everything, the reality and basis {*T*, *M*}.

"الْتَذَبِيْرُ" (*at-tadbeeru*), "التَّذَبِيْرُ" (*at-tadibbiru*): to deliberate on some issue with its end result in mind. To keep the last destination in mind while administrating.

| 6:45 | last man of the nation was killed as well (nation was uprooted) | فَقْطِعَ دَابِرُ الْقَوْمِ |
|-------|---|------------------------------------|
| 32:5 | he plans matters | يُدَبِّرُ الْأَمْرَ |
| 4:82 | Do they not deliberate on what the Quran says? | أَفَلَا يَتَدَبَّرُوْنَ الْقُرْآنَ |
| 38:29 | so that they deliberate on its (the Quran's) verses | لِيَدَّبَّرُوْا آيَاتِهِ |

The Ouron cove:

| 79:5 | One who takes matters to completion (one who plans matters) | ٱلْمُدَبِّرَاتِ ٱمْراً |
|------|---|------------------------|
|------|---|------------------------|

Surah *Qaf* says following to the Messenger:

| | Do not worry or be troubled by whatever his | |
|-------|---|--|
| | opponents said. Just continue being engaged in | فَاصْبِرْ عَلَى مَا يَقُولُونَ وَسَبِّحْ بِحَمْدِ رَبِّكَ قَبْلَ طُلُوع |
| 50:39 | preparing (the people) in worshipping and praising the | الشَّمْس وَقَبْلَ الْغُرُوبِ- وَ مِنَ الَّيْلِ فَسَبِّحْهُ وَ أَدْبَارَ |
| 50.59 | Lord. Strive from before the sunrise till sunset, as well | |
| | as during the night, for the completion (establishment) | السُّجُوْدِ |
| | of His system. | |

Surah *At-Toor* repeats almost the same thing in almost the same words but there it is said "أَدْبَارَ النُّجُوْمِ" (*adbaarin nujoom*), which means the time when stars set or recede.

Surah *Qaaf* has used "أَذْبَار" (*adbaar*) which is the plural of "نُبُرُ" (*dubur*). The other word is "مُجُوْد" (*sujud*) which means to lean or bend towards someone. The ordinary exegesis books say that the meaning is "after-prayers", but this meaning does not make much sense, especially because the word used here is "أَذْبَار" (*adbaar*) not "أَذْبَار" (*idbaar*). *{Lissan-ul-Arab. Tafseer Fatahul Qadeer (Shokani) - Tafseer Roohul Muani}*.

"خُبُر" (*dubur*) also means the end part of something, which is in any case included in that thing, and 'after' is used when something ends and then some other event or thing begins. We cannot say up till today with certainty what it really means.

D-Th-R

د ث ر

"اَلدَّتْرُ" (*ad-dasr*): enormous wealth.

أَمَالُ دَثْرٌ (maal dasr): unbounded riches.

"الدِتَّار" (ad-disaar): a cloth which a man can wrap around himself.

"تَتَقُرُ بَالنَّوْبِ" (tadassara bis saub): he wrapped himself in a cloth.

َ تَتَرَرُ الشَّجَرُ مُثُورًا (dasarash shajaru dasoora): the tree brought out new leaves and branches.

وَيَتَّرُ مِالِ" (*hudasru maal*): he is a good guard of the camels.

"تَدْثِيْرُ الطَّائِرِ" (tadreesut tayir): a bird mends its nest.

"الدَنُوْرُ" (ad-dasoor): slow, heavy, one who sleeps a lot, i.e. one who is wrapped in sheets.

"كَتُرَ الأَثَرُ" (dasaral asar): for a mark to be obliterated {T, M, R}.

Ibn Faris says it basically means for things to come one after the other, to be deposited layer upon layer, or to climb over.

Raghib and Ibn Faris have stated various meanings for this root, which include overwhelming someone.

"مَنْزَلٌ دَاتِرٌ" (*manzilun daasir*): the destination whose signs have been obliterated, or have been hidden by layer upon layer of dust.

The Quran has addressed the Messenger *Muhammad* as "يَاتَيُّبَا الْمُدَنَّرُنَ" (ya ayyohul mudassir) in 74:1. Considering the meaning of "اللَّثَانَ" (ad-disaar) it is generally translated as. "O, the one who has wrapped himself in a cloth". But according to tadreesut tayir, it would mean "O, one who sets his house in order", and as per "يَثْرُ مَالِ)" (disru maal), it would mean good caretaker. The meaning is Hence, "O you who has the responsibility of setting humanity in order", or "O you who has come to solve humanity's problems with tactfulness and good scheme". These meanings seem more appropriate. As per "نَثْرَ الشَجَرُ" (dasarush shajar) it would mean "O you whose coming heralds the dawn of a new era", or "O you with whose coming the garden of the world will see a new spring" After this address, the Messenger (*pbuh*) was told "ثُمْ فَأَنْنِرْ" (*qum fa anzir*) in 74.2. This means "*rise and warn the world of the results of wrong deeds*". After this, the various elements of this revolutionary invitation have been brought forward. This too, reveals that "الْمُدَيَّرُ" (*al-mudassir*) has the element of the wellbeing of humanity and the revolutionary message. This is what the responsibility and the particularity of a celestial inviter is.

Raghib's meaning has the element of overwhelming the untrue concepts, but could also mean overpowering.

The Quran says:

| 9:33 | so that super imposes (overwhelms) it on all other religions or ways of life | لِيُظْهِرُة عَلَى الدِّيْنِ كُلِّهِ |
|------|--|-------------------------------------|

Ibn Faris has given some examples:

"تَكَثُرَ الرَّجُلُ فَرَسَمَ" (*tadassara-rajulu farasahu*): the man jumped and got on his horse {*Lisan-ul-Arab*}. Here "jumped up" is very important. This thing (revolution) does not take place gradually. The revolution which took place at the hands of the Messenger (*pbuh*) was also revolutionary. Thereafter the Quranic concepts are now gradually hold in the world. This is the evolutionary system. The world considers one concept, tests it and finds that the concept presented by the Quran was the correct one, and which the Messenger (*pbuh*) successfully implemented. Therefore, now gradually the Quranic concepts are replacing false concepts. But if a group takes up this concept or a government implements these concepts, then this concept can revolutionarily replace other concepts in the world. It is yet to be seen which nation initiates this noble work. That nation will be the biggest benefactor of mankind, and by its hands the universe will blossom and at its hands the flowers of life's tree will bloom once again.

Tafseer of Rohul Kuani says that "أَلْمُنَّزَّنُ" (*al-mudassir*) means one who is endowed with miracles and messenger-hood. Figuratively, it says that it also means a man who has no program before him and Hence, is free. This would mean that by saying "ثُمْ فَانْذِرْ" (*qum fa anzar*) the Quran endowed him with a great program.

Tafseer Fatahal Qadeer says it means one who bears the responsibility of messenger-hood and its responsibilities. Some say that "الْمُدَّئِنُ" (*al-mudassir*) initially was "الْمُدَّئِنُ" (*al-mudatassir*), meaning someone from the linguistic group of "تَعَعُّلُ" (*tafa'aul*), and got transformed to its current state over time.

D-H-R

دحر

"الْدَحْنُ" (*ad-dahr*) means to get someone out, to oust someone, to remove someone, to push out or to oust insultingly *{T, R, M*}.

The Quran says:

| 37:8-9 | And they are condemned by all sides. (they are the rejected ones of all accounts) | وَيُقْذَفُوْنَ مِنْ كُلِّ جَانِبٍ دُحُوْرًا |
|--------|--|--|
| 7:18 | Ignominious, condemned, the removed one | مَذْءُ وْماً مَدْحُوْرًا |

D-H-Zd

د ح ض

"نَحْضَنَ" (*dahz*) actually means to slip. Later it came to mean to remove, obliterate or make untrue. "نَحَضَ بِرِجْلِمُ" (*dahaza berijlehi*) is said when somebody thrashes around like a slaughtered animal. "مَكَانٌ دَخُصٌ" (*makanun dahz*) is a slippery place *{T, R, M*}. *Ibn Faris* says it basically means to move out or to slip.

| 18:56 | So they remove truth from its place through falsehood and make it useless. | لِيُدْحِضُوْابِهِ الْحُقَّ |
|-------|--|------------------------------|
| 42:16 | Their reasoning and claim is very weak and transitory in the eyes of God. | حُجَّتُهُمْ دَاحِضَةٌ |
| 7:141 | He slipped, he lost strength, and he became weak and powerless. | فَكَانَ مِنَ الْمُدْحَضِيْنَ |

"دَحِيْ (*daha*) is to spread out, to make vast $\{T\}$.

"دَحَاالْمَطَرُ الْحَصَا" (dahal matarul hasa): the rain washed out the pebbles.

"نَحَى الْإِبِلَ" he shooed the camels i.e. he drove them.

َمَرَّ الْفَرَسُ بَدْحُوْدَحُواً" (marralfarasu yadhu dahwa): the horse ran digging his hooves in the ground {R}. بُوَيَدُ حُوْبِالْحَجَرِ" (huwaid hubilhajar): he throws stones {Lisan-ul-Arab}.

Taj-ul-Urus says that the phrase which contains this meaning is "يَدْحُوْ الْحَجَرَ بِيَدِهِ" (yad hubilhajara bivadehi).

Keep these meanings of "نَحَا" (daha) in mind and consider the Quranic verse in which it is said about the creation of heavenly bodies:

| 79:30 And threw the earth after it and made it smooth | وَالْأَرْضَ بَعْدَ ذَلِكَ دَحَاهَا |
|---|------------------------------------|
|---|------------------------------------|

Surah *Al-Anbia* says:

| 21:30 | The heaven and the earth were previously joined | اِنَّ السَّمٰوٰتِ وَالْأَرْضَ كَانَتَا رَتْقاً فَفَتَقْنُهُمَا |
|-------|---|--|
| 21.30 | together and then they got separated. | اِنْ السَّمُوبِ وَالدَّرُضُ عَالَنَا رُعْنَا فَعَنْقَتْهُمَا |

Thus, the earth became a separate entity. Then with further changes it was made smooth (habitable). This fact has been stated as "نَحْابَا" (dahaha). The earth was separated as if it was a stone thrown from a sling, or as the rain washes out the pebbles afar. Note that about a thousand and five hundred years ago, such things were related about the universe only through the Revelation.

"بَعْدَ ذَالِكَ" (ba'daa zalika) reveals the fact that the earth was created later than the mass. That is, it came into existence in the second stage. The first stage is the mass when the earth and the sky were joined together. Then the heavenly bodies got separated from the mass and began to revolve in their own orbits (36:40).

| D-Kh-R | ر | ż | د |
|--------|---|---|---|
|--------|---|---|---|

"دَخَرَ" (dakhar), "يَدْخَرُ" (yadkhar), "دَخِرَ" (dakhir), "دَخَرَ" (vadkhar): to be humble (small), to be obedient and bow (before someone).

"لَلَأَلَخِرُ" (*ad-dakhir*): someone who bows. دُخُوُرُ" (*dukhur*): ignominy and smallness.

(adakhar) means surprise which is actually a manifestation of the helplessness of the intellect (that reason which is unable to explain something).

أَدْخَرَهُ" (adkhara): he insulted him, made him helpless {T, R, M}.

The Quran says about the things in the universe that they are "دَاخِرُوْن (daakheroon) in 16:48. This means that they are subservient to the laws of Allah.

This meaning has been made explicit by the next adjacent verse which says:

| 16:46 | Whatever there is in the highs and lows of the | لِلَّهِ يَسْجُدُ مَا فِي السَّمٰوٰتِ وَمَا فِي الْأَرْضِ |
|-------|--|--|
| 10.40 | universe, is subservient to Allah. | لِلَهِ يَسْجَدُ مَا فِي السَمُوكِ وَمَا فِي الأَرْضِ |

For details, see heading (S-J-D).

تَخَرَجَ (dakhala), "يَدْخُلْ" (yadkhulu): entered, it is the opposite of "خَرَجَ" (kharaja), as in 2:111.

"أَدْخَل" (adkhal): made him enter (17:80).

"دَاخِلَةُ الْأَرْضِ" (daakhilatul ard): things which are hidden (buried) inside the earth.

"الدَّخْلُ" (ad-dakhl): the income from one's property.

"الدَّخَلَ" (*ad-dakhal*): It means deceit, as well as intellectual or physical deterioration, and also chaos *{T}*. It also alleges internal deterioration and enmity, according to *Raghib*.

Surah An-Nahal says:

| 16:92 | You make your promises the basis for your mutual chaos. | تَتَّحِذُوْنَ أَيْمَانَكُمْ دَحَلًا بَيْنَكُمْ |
|-------|---|--|
|-------|---|--|

Here "نَخَلٌ (*dakhal*) means chaos and conflict.

تَخَلَ بِالْمَرْأَةِ" (dakhal bil mar'ah): he had sexual intercourse with a woman.

Surah *An-Nisa* says:

| 4:23 | Out from the wombs of the women with whom you have | ب ب ب ب الله مد ب الله مد ب الله مد ب |
|------|--|--|
| 4.23 | had sexual intercourse (out of wedlock) | مِنْ نِسَاءِكُمُ الَّتِيْ دَخَلَتُمْ بِمِنَّ |

In surah *At-Tauba*, while mentioning the mentality of the hypocrites, it is said that they have come with you to the battlefield unwillingly. Their condition is such that:

| 9:87 | If they would find some place to hide or escape to, or entrance to some hiding place, | لَوْ يَجِدُوْنَ مَلْحَاً أَوْ مَعْاتٍ أَوْ مُ دَّحَلًا لَّوَلَّوْ الَيْهِ وَهُمْ يَجْمَحُوْنَ |
|------|--|--|
| 9.07 | then they will run towards it madly. | تو يېمون مند او متري او من غر توتو رميز ورم يهمون |

Here the Quran has used the word "مُدَّخَلًا" (*muddakhala*) which indicates to that if they can find even a small place to hide, then they will try to enter it, no matter how much they have to strive for it.

D-Kh-N בילי

"اَلدُّخَانُ" (ad-dukhaan): smoke.

تَخَنُّ الْفِنْتَخِ" (*dakhanul fitna*): to disclose some *fitnah* (something that would lead to anarchy) something that instigate (people to chaos) *{T}*.

"خُلْقٌ دَاخِنٌ (khulqun daakhin): bad manners.

"أَلَدُخَانُ" (*ad-dukhaan*) means drought or hunger because a hungry man perceives a sort of cloud between the earth and the sky (the atmosphere is cloudy to him). Some say that hunger is called "نُحُفَانُ" (*dukhaan*) because in a drought the dust rises and makes a sort of cloud. It also means anything bad, and deterioration.

"الدُخَان (ad-dukhan) is used for something bad or dysfunctional.

"يَوْمٌ دَخْنَانٌ (yaumun dukhnaan): a day of intense heat and travails {T}.

The Quran says that the earth was created in two stages:

| 41:11 | Then He turned to the other heavenly bodies which were | ثْمَّ اسْتَوَىٰ اِلَى السَّمَاءِ وَ هِيَ دُخَانٌ |
|-------|--|--|
| 41.11 | in a smoky condition (or in gaseous condition). | م استوقی اِنی السماءِ و هَتِی دَحَال |

Modern science confirms this although the Quran had disclosed it about fifteen hundred years ago. The earliest form of the heavenly bodies is indeed said to be nebulous.

Surah *Ad-Dukhaan* says:

تَخَنَّ الْغُبَارُ دُخُوْنَاً" (dakhanal ghubaaru dukhuna): the dust rose {T, M, R}.

| 44:10 | When the atmosphere is filled with smoke. | يَوْمَ تَأْ بِي السَّمَاءُ بَ دُخَانٍ مُبِيْنٍ |
|-------|---|---|
|-------|---|---|

This verse could mean the time when problems and difficulties abound. There will be chaos and anarchy everywhere, or the sky will seem filled with smoke due to hunger or drought. It will be a great punishment (44:11).

در **D-R-A**

تَدَرْأَهُ" (*daraa*), "نَدْرَأَهُ" (*badra-oo*), "نَدْرَأَهُ" (*draa*): to reject and to remove angrily {*T*, *M*, *R*}.

"ذَرَ أَعَلَيْهُمْ دُرُوْأً" (dara'a alaihim durwa): to appear before someone suddenly.

(ja'ashaylo dar'a): the flood appeared from nowhere {T}.

"دَرَ أَنْهُ عَنِّي" (*daratohu anni*): I removed him from my side (3:167).

"مُدَار أَة" (mudaarah): means opposition and defiance $\{T\}$.

| The Quran | says: |
|-----------|-------|
|-----------|-------|

| 24:8 | this can remove (save) the woman from punishment | وَيَدْرَؤُعَنْهَا الْعَذَابَ |
|-------|---|--|
| 28:54 | Get rid of <i>sayyeaat</i> (sins, or bad things) with good things (Behavior etc.) | وَيَدْرَءُ وْنَ بِالْحُسَنَةِ السَّيِّئَةَ |

This is a great reality which the Quran has mentioned at different places in different styles. It says a bad thing in return for a bad thing is not the answer. If you are weak, then germs will attack you and sicken you. The cure is to increase your defiance. This way your deterioration will be checked and your constructive process will continue. In every aspect of life, this is the right way of defense. This is called the scales of goodness to tip.

"ثَدَاء وُا فِى الْخُصُوْمَةِ" (*tada aoo fil khusumah*) means to push and shove each other, or to blame each other and Thus, have differences *{T}*. In these meanings this word has been used in 2:72 "فَاذُرَ ءُ تُمْ فِيْبَا" (*fa ad-dara'otum fiha*). Scholars of dictionaries say that this was in reality "تَدَار أَنُّمْ" (*tadaaratum*).

| D-R-J | در ج |
|-------|------|
|-------|------|

"دَرَجَ" (*daraj*): to walk very slowly, to crawl $\{T\}$. It means to walk like a mountaineer i.e. like climbing a mountain $\{R\}$.

"مَدْرَجَةُ الطَّرِيْقِ" (madrajatut tareeq): the distinct and open part of the road.

تَدَرَجَ الْقُوْمُ» (daraj al-qaum): the nation dwindled gradually, and became extinct.

The Quran says:

| 7:182 We will catch them slowly (gradually) and they will not even know where the destruction came from | سَنَسْتَدْرِجُهُمْ مَنْ حَيْثُ لَا يَعْلَمُوْنَ |
|---|---|
|---|---|

تَرَجَ الشَّيْءُ (darajash shai yi): he folded the thing and wrapped it.

"أَلَدُرْجُ" (ad-darj): something on which there is some writing.

"دَرْجُ الْكِتَابِ" (*darjul kitaab*): a fold of the book {*T*}.

اللَّزَرَ جَجُ" (ad-darajah): one of the steps of a ladder (the steps which take one upwards)

"يَرَجَاتٌ" (darajaat): the steps which will bring you downwards are "دركات" (darakaat) {L}.

"أَلْمَدَارِجْ" (*al-madaarij*): the mountain roads which generally get higher with every turn $\{T\}$.

Raghib says "مَنْزِلَهُ" (*darajah*) and "مَنْزِلَهُ" (*manzilah*) are almost the same, but *manzilah*, which is a place to get down to, is called *darajah* when it is being used to climb upwards. *Darajah* is also taken to mean value and estimation and Thus, means honors, or stages over one another.

The Quran says regarding those who engage themselves in *jihad* that their status, or "نَرَجَةٌ (*darajah*) is over "أَعْلِعِيْنَ" (*qa'ideen*) or those who remain seated behind (4:95).

| Surah At-Tauba says the | following regarding those | e who do jihad and those | who migrate for this cause: |
|-------------------------|---------------------------|--------------------------|-----------------------------|
| | | | |

| | Those who are peace seekers have migrated and | الَّذِينَ آمَنُواْ وَهَاجَرُواْ وَجَاهَدُواْ فِي سَبِيلِ اللَّهِ بِأَمْوَالِحِمْ وَأَنفُسِهِمْ |
|--------|--|--|
| 9:20 | done jihad in the way of Allah with their wealth | |
| | and lives, hold a high status with Allah | أَعْظَمُ دَرَجَةً عِندَ اللَّهِ |
| The Qu | ran says about men and women: | |
| 2:228 | women, according to good practices, have rights | وَلَهُنَّ مِثْلُ الَّذِيْ عَلَيْهِنَّ بِالْمَعْرُوْفِ |
| 2.220 | according (apropos) their responsibilities | وهن شيل أبادي عليهن بالمعروب |

That is, just as men have rights over women, women too have rights over men. As per the responsibilities and rights, no one has superiority over the other. Both are equal in this respect. But after this, it is said:

| 2:228 | men have superiority over women in one thing | وَلِلرَّحَالِ عَلَيْهِنَّ دَ <mark>رَجَة</mark> ٌ |
|-------|--|---|
|-------|--|---|

What is that one thing? The next verse says that a divorced woman will have to observe "عِدَّتْ" (*iddat*) or celibacy for a period during which she cannot wed another man, but men do not have to observe this period. Also if the man has divorced the woman and repents it, then he can bring the woman back into his wedlock during this period.

| 2:228 | And their husbands would do better to take them back | وَيُعُوْلَتُهُنَّ احَقَّ بِرَدٍّ هِنَّ فِيْ ذَالِكَ إِنْ أَرَادُوْا اِصْلَاحاً |
|-------|--|--|
| 2.220 | in that case if they desire reconciliation. | ويعونتهن الحق برد هن ولي داريك إن أرادوا إطار تحا |

Now consider human history. Everywhere you will find "غَلَيْسِنَ" (*al-aihinna*) i.e. only rights for men and responsibilities for women! No right of women will be accepted as a right and a woman cannot demand any of her rights as a matter of right. This revolutionary voice that women have rights as well came only from the Quran, so many years ago. These few words (of the verse) have brought a revolutionary change in man's social or civilized life. Look how composite these words are which don't leave matters at the will of any individual or society. It has been made a provision in the laws of Allah (that women have rights too). The Quran also tells you what the matter is in which men are superior.

But this does not mean that equality in rights is equality in responsibilities. According to their functions, Nature has differentiated between them. They have been created differently (according to their biology) and a woman is supposed to fulfill the responsibilities she is required to fulfill while men according to theirs. The woman's responsibility which man cannot fulfill is to give birth and bring up the children. Since this takes up most of the woman's time, earning has been made man's responsibility (2:34).

| D-R-R | درر |
|-------|-----|
| D-K-K | درر |

"الدَّرَ" (*ad-dar*): milk (but it has the connotation of a thick stream and abundance).

الدِّرَّةُ" (*aliddarrah*): profusion of milk.

(*istadar ral laban*): the milk became abundant. السُتَدَرِّ التَبَنْ

" َدَرَّتِ الْسَمَاءُ بِالْمَطَرِ" (darratis sama-o bil matar): it rained heavily from the skies.

"مَدْرَارٌ" (*midrar*): clouds which cause heavy rain (6:6).

"دَرَّ السَّرِاجُ" (darras siraaj): the lamp became well lighted (bright).

َنَكُوْكُبُ ذُرِّيُّ: (*kaukabun durriyyun*): shiny, bright star {*T*, *R*} which sends forth rays of light (22.35), or like a pearl.

Muheet says that "الَدَّنَّ" (*ad-daar*) means for one thing to be born from another, like milk from animals, brightness from the stars, etc. *Ibn Faris* agrees with this meaning as well.

It also means movement and unease. Allah has termed the light of His guidance (the noble Quran) as "كَرْكَبُ نُرْ "كَرْكَبُ نُرْكُنُ" (*kaukabun durriyyun*), like a star which sends forth the light of knowledge and insight, and which is not stagnant but with continuous movement. This light is born of God's Divine knowledge and spreads to all corners of the earth.

| D- | R- | S | | |
|----|----|---|--|--|
|----|----|---|--|--|

د ر س

تَدَرَسَ الشَّيْنَى (daras shaiyi) means something became old and was obliterated {M}.

Ibn Faris says it basically means to hide, to be low and be obliterated.

تَدَرَسَمُ الْقَوْمُ (darasu hool qaum): the people removed all signs of it (obliterated it).

"سَرُوِيْنٌ مَدْرُوْسَ" (*tariqun madroos*) means a path (the signs) that due to the pedestrian traffic has been obliterated.

"دَرَسَ الْخِنْطَة" (*darasil hintah*) means to take the cereal out of the ears of corn by having oxen walk over the laid wheat crop which separates the grain from the chaff.

"دَرَسَ" (darasa) means to rub something so much that it becomes obliterated.

تَرَبْسَ النَّاقَةَ (darasan naaqah) means to walk a camel so much that it becomes obedient.

"أَلْمُدَارَ سَتَّةً" (*al-mudarasa*) means to strive continuously for something or look after it continuously *{T}*. "تَرَسَ الْكَتَابَ يَدْرُسُرُ» "دَرَسَ الْكَتَابَ يَدْرُسُ» (*darasal kitaaba yarusuhu*) means to read a book so many times that one memorizes it

Surah Aal-e-Imraan says:

| 3:79 | Because you have been studying the Book | بِمَاكُنْتُمْ تَدْرُسُوْنَ الْكِتَابَ |
|------|---|---------------------------------------|
|------|---|---------------------------------------|

"تَكْرُسُوْنَ" (*tadrusoon*): to (tread) or read a book in such a way that its meanings become explicitly clear. It means to read something continuously so that the truths hidden in it comes out explicitly and clearly. It may also mean the concepts that receded in Man's mind, come up to the surface.

Surah An-Anaam has used the word "دِرَاسَةٌ (diraasah) in 6:157 for study with a lot of attention:

| وَإِنْ كُنَّا عَنْ دِرَاسَتِهِمْ لَغْفِلِيْنَ we were truly unaware of studying them |
|--|
|--|

D-R-K

د ر ک

Ibn Faris says that the basic meanings of "تَدَرَكَ" (*taraka*) is to pursue something and then join it, reach it, catch it

Surah *Taha* says:

| 20:7 | You shall not fear that (<i>Firoun</i>) shall pursue and catch | لَا تَخَافُ ذَبِكاً |
|------|--|---------------------|
| 20.7 | you | |

Surah *Ash-Shurah* says that the fellowship of *Moosa* said:

| 24:64 | Now we are caught | اِنَّا لَمُدْرَكُوْنَ | |
|-------|-------------------|-----------------------|--|
|-------|-------------------|-----------------------|--|

So what they are saying is that they feel that the soldiers of *Firoun* have gained upon them.

"كَتَرَكَ" (tadaraka) means to gain upon someone. It has a connotation of keen reaching to something.

Surah *Al-Qalam* says:

| 68:49 | If the benevolence of his Sustainer had not have | لَوْلَااَنْ تَدَارَكُهُ نَعْمَةٌ |
|-------|--|----------------------------------|
| | reached him | - |

That is said with regards to the life of *Yunus* which passed through several travails, but God's benevolence and help was continuously with him.

"الدَرَاك" (ad-draak): for one thing to continuously follow another.

" التَّشْرِيْكُ مِنَ الْمَطَرِ" (*at-tadrikal minal matar*): for the raindrops to fall down continuously (one after another) {**T**}.

"لَرْرْكَ و لَأَرْكَ، و لَأَرْكَ، و لَأَرْكَ، و لَأَرْكَ، و لَأَرْكَ، و لَأَرْكَ، "(ad-daraka wad darak): the end of something's depth, bottom of something.

"نَرَرْجٌ" (*ad-derku*) means the opposite of "نَرَرْجٌ" (*darj*). The steps of a ladder are called "نَدَرْجُ" (*darajaat*) when used for climbing up, while same steps are called "دَرَكَاتٌ" (*darakaat*) when used for stepping down. *{T, M}*.

This is why the Quran has termed the stages of the *jannah* as "دَرَجَاتٌ" (*darajaat*), and the stages of *jahannam* as "دَركاتٌ" (*darakat*).

| 4:145 the bottom of <i>jahannam</i> | فى الدَّرْكِ الْأَسْفَلِ مِن لنَّارِ |
|-------------------------------------|--------------------------------------|
|-------------------------------------|--------------------------------------|

Note that a ladder has the same steps for going up or down. A man can use the very same steps for going up or coming down. Life too is the same way. Whichever way one wants to live, it can be the means of taking it to the resultant destination, whether to the heights or the depths of life.

"أَدْرَكَمْ" (*adrakahu*): reached him, got to him.

"نَرْرَكْتُمْ بَبَصَرِى" (*adaraktuhu be basari*): I found him with my eyes (I spotted him), saw him *{T}*. "الدُرَكْتُمْ الله (*idraak*) is that knowledge which is acquired through the senses.

Surah Yunus says:

| 10:90 | When drowning overtook him. (he drowned, when he saw his drowning, when he felt that he was drowning) | حَتّٰى إِذَا أَ دْرَكَةُ الْغَرَقُ |
|-------|---|---|
|-------|---|---|

تَدْرَكَ الشَّيْءُ '' (adrakash shaiyi): the thing completed its time and was completed, reached its climax {T}.

The Quran says:

| 27:66 that | at their knowledge about the Hereafter ended | بَلِ الْحَرَكَ عِلْمُهُمْ فِيْ الْأَخِرَةِ |
|------------|--|--|
|------------|--|--|

Scholars have said that the above verse means that they could not grasp its whole truth, and remained unaware of the Hereafter $\{T\}$.

Raghib says that along with these meanings, it could also mean that they will come to know about it in the Hereafter. But it does not seem to portray the meaning of the verse correctly.

The Quran says that knowledge about the Hereafter has reached them continuously, but still they are in doubt over its existence like the blind in the darkness.

| 27:66 | On the contrary, their knowledge of the Hereafter has | بَلْ هُمْ فِيْ شَكٍّ مِنْهَابَلْ هُمْ مِنْهَا عَمُونَ |
|-------|---|---|
| 27.00 | declined. They are on the contrary in doubt of it. | بل مدم فِتَى مُنْكَ شِيْهَ بْلُ مُدْمَ شِيْهَا حَمَوْنَ |

Darham

درېم

"لَا تَرْتَخْتُوْنَهُ" (*ad-dirham*): a silver coin. The plural is "نَرَالِجُرْنَهُ" (*draahem*). This is not an Arabic word. Some say it is actually a *Farsi (Persian*) word, and others say it is Greek *{T}*. But it seems that it is the Arabic form of the Roman word *Drawburg*. Very similar are the words *Deenaar (Dinarins)* and *Fils*.

Surah Yusuf says:

| 12:20 | (they sold <i>Yusuf</i>) for a few <i>Dirhams</i> | دَرَاهِمْ مَعْدُوْدَةٍ |
|-------|--|------------------------|
|-------|--|------------------------|

"دَرَيْتُہ" (*dareetah*): I now know about him (21:109).

"اَدْرَاهُ بَہِ" (*adra'o bi*): told him about him **{T**}.

"برالية" (diraayah) means to find out by some effort or tact or to find about something which is doubtful.

This is the reason that this word is not used for Allah *{T}*.

Ibn Faris says its basic meanings include intending and to demand or ask for. It also means "to be sharp".

As such "يدُرى" (*midrun*) mean a comb, because its teeth are pointy and sharp. This means "يَدِرَايَة" (*dirayah*) contains the meaning of sharpness as well as intention.

Raghib says that wherever Quran says "مَا أَدْرَ اكَ" (ma adraaka) which means "do you know?", or "has somebody made you aware?" It always follows with an explanation. For example see 97:2. But wherever it says "مَايُدْرِيْكَ" (ma yudreeka) which means "what tells you?" does not follow with an explanation. Instead, "لَعَلَ" (la-al) or perhaps has been said and the subject at hand has been discussed (see 42:17, 33:63, 80:3). This means that after "مَايُدْرِاكَ" (ma yudreeka) it is said that "لَعَلَ" (la'al) perhaps it can be so.

Surah Al-Baqrah says:

| 97:2 | What do you know about <i>lailat-ul-qadr?</i> | وَمَا أَ دْرَاكَ مالَيْلَةُ الْقَدْرِ |
|------|---|--|
|------|---|--|

After this "لَيْلَةُ الْقَدْرِ» (*lailat-ul-qadr*) has been explained.

It is the converse in surah *Ash-Shura*:

| وَمَايُدْرِيْكَ لَعَلَّ السَّاعَة قَرِيْبٌ What do you know? Perhaps the time for the revolution is near. |
|---|
|---|

These examples explain the difference of "مَا أَدْرَاكَ" (*ma adraaka*) and "مَا يُدْرِيْكَ" (*ma yudreeka*).

| د س ر |
|-------|
| د س ر |

"دُسْرُ" (*dusur*) is the plural of "دِسَارٌ" (*disaar*) which means a nail or a stave.

تكسرُّ" (dasr) basically means harshness and to push hard {R}.

"كَسَرَ الدِّسَارُ" (dasarud dissar): hammered the nails very hard.

"الدِّسَانَ" (*ad-disaar*) also means the rope woven from the strands of the date palms with which the boards of a boat are fastened together.

Ibn Faris says this meaning is not right.

تَسْرَاءُ (dasra-oo) also means the boat itself {T} because it pushes the water ahead of it as it moves ahead.

The Quran has called the ark of *Nooh* as:

| 54:13 | An ark made of boards and staves | ذَاتِ ٱلْوَاحِ وَدْسُرٍ |
|-------|----------------------------------|-------------------------|
|-------|----------------------------------|-------------------------|

If "نُسُرُ" (*dusur*) really means staves, (not a boat of date palm fiber) then it shows that in those days metal had begun to be used and boats too were not made of hollowed out trunks of trees but instead were built from boards and nails. About the boat, it is also said in the Quran that *Nooh's* ark was made under God's guidance or instructions (11:37). Perhaps in those days, this craft too was imparted through divine revelation and then its usage became common.

One hardly knows what human history may reveal. Perhaps many things which we think are the product of human intelligence are actually introduced by divine revelations.

D-S-S/W

"الدَّسْ (*ad-das*): to hide something underneath something or bury it $\{T\}$.

Raghib has added to the meaning by saying that it means to make helpless. That is to force something into something by force $\{R\}$.

تَسَسَّتُ ٱلشَّىْءَ فِي التَّرَابِ" (dasastu shaiyi fit turaab): I hid the thing in the ground {T}.

Surah *An-Nahal* says that during the period of unawareness when the Arabs got news about the birth of a girl child, their thought was:

| 16:59 | Perhaps he should bury her in the ground | اَمْ يَدُسُهُ فِي التَّرَابِ |
|-------|--|------------------------------|
|-------|--|------------------------------|

Surah *Ash-Shams* says about human intention:

| 91:10 | He who developed it (on the right lines) became successful (his fields bore fruit) | قَدْ أَفْلَحَ مَنْ زَكّْهَا |
|-------|---|-----------------------------|
| 91:11 | He who buried it became unsuccessful | وَقَدْ خَابَ مَنْ دَسِّهَا |

For a seed to develop, it must be buried in the ground. If the proportion of water, earth, air, temperature and light is correct, then the seed develops and blossoms into a strong tree. But if the same seed is buried too deep, it loses all its capabilities. The human personae have been endowed with latent capabilities to develop, but these capabilities are developed in this physical world. If physical forces are used properly then human personality's latent talents are developed. If the personality is buried under self-interests, then its capabilities are stultified.

"دَسَتَّى" (*dassa*) was actually "دَسَتَّى" (*dassasa*). Since three "س" (*seen*) together are not feasible, the word has become "دسیٰ" (*dassa*).

Fara and *Zajaj* say this means miserliness. Because a miser hides himself while a philanthropist is open and prominent, this meaning is in one way right. The Quran has itself said the development of a human being is in giving, while miserliness has been described as a reason for destruction.

| 92:5-10 | Then as for him who gives and believes in the best. Then we will ease him towards ease, but as for who withholds and considers himself free from need and denies the best. Then We will ease him towards difficulty. | فَأَمَّا مَن أَعْطَى وَاتَّقَى وَصَدَّقَ بِالْحُسْنَى فَسَنُيَسِّرُهُ لِلْيُسْرَى وَأَمَّا مَن بَخِلَ وَاسْتَغْنَى وَكَذَّبَ بِالْحُسْنَى فَسَنُيَسِّرُهُ لِلْعُسْرَى |
|---------|--|--|
|---------|--|--|

This is what *rabubiyah* (providence) is. That is, to develop oneself by providing for others and this is what the Quran teaches us to do.

With regards to hiding "أَلَدَّسَيْسَةُ" (*ad-dasyasah*) is that misconception and fraud that is hidden, or a thing that enters secretly *{M*}.

The linguists have said "(dassaha) comes from the root (**D-S-S**) as well as (**D-S-Y**). This is the reason why we have included both roots under the same heading.

"أَلدَّغُ" (*ad-da'a*): to push hard.

"دَاع دَاع" (*daa-ee*, *daa'ee*): an admonishing voice for the goatherd.

"أَلَدْعَاغُ" (ad-da'a): a man's small children {T} (for which he is pushed around in society).

The Quran says:

| <u> </u> | 5 | |
|----------|---|--------------------------------------|
| 107:6 | this is him who pushes (away) the orphans | فَذَالِكَ الَّذِيْ يَلُعُ الْيَتِيْم |

Surah *At-Toor* says:

| Surun | | | |
|-------|--|--|--|
| 52:13 | The day when they will be pushed hard towards the fire of <i>jahannam</i> (hell) | يَوْمَ يُدَعُوْنَ الِلِّي نَارِ جَهَنَّمَ دَعّاً | |

Ibn Faris says the basic meaning of the word is to push and unease.

Consider the verse of surah *Al-Ma'on* once again:

| 107:1 | Have you ever wondered about the man who denies this way of life? | اَرَءَ يْتَ الَّذِيْ يُكَذِّبُ بَالدَّيْنِ |
|-------|---|--|
| 107:2 | this is him who pushes (away) the orphans | فَذَالِکَ الَّذِيْ يَدُعُ الْيَتِيْمَ |
| 107:3 | and does not pursued (others too) for feeding the destitute | وَلَا يَحْضُ عَلَى طَعَامِ الْمِسْكَيْنِ |

Note how closely the way of Islam (*Deen*) and economics are related. This relationship is even found in *salaah* and economics as well, because the next verse says that there is destruction for those who are unaware of the true meaning of *salaah*.

People like this offer their prayers, thinking that it is *salaah*, but build barriers against the sources of sustenance and prevent them from reaching the needy, although they (the resources) should be like flowing water, available for everybody. (Further details will be found under relevant headings).

دع و D-Ain-W

"دَعَا" (*da'a*) means to call someone.

"أَلَتُعَاءَ تَ" (*ad-da'ah*) means the forefinger which is used as a sign to call someone.

"الدَّاعِيَة" (ad-dayiah) means the cry of the horses in battle.

"بُوَ مِنِّى دَعْوَةَ لَرَّجُلِ" (*huwaminni dawatar rajul*): He is at a distance where a man's voice can reach him. He is at a calling distance {*T*}.

Ibn Faris says it means to incline towards oneself through talk or voice.

"دَعَاهُ لِلَى الْأَمَيْرِ" (*dayahu ila al-ameer*): he took him towards the leader. (*dayi*) is not only one who calls but also someone who takes you to someone {*T*}. (*iddia'oo*), "يَدَّعُوْنَ" (*yad-da'oon*) means to wish or desire {*T*}, or to call out to someone (67:28).

"تَدَاعَوْا عَلَيْہِ" (*tadau alaih*): means they gathered against him. "تَدَاعَى عَلَيْہ الْعَدُوُّ مِنْ كُلِّ جَانِب" (*tada'a alaihal aduwu min kulli jaanib*) means the enemy attacked him from all sides.

"تَدَاعَتِ الحِيْطَانُ" (*tadaa'atil haitaan*) means the walls fell down one after another {*T*}.

تَعَوْتُهُ زَيْدًا (da'autuhu zaida): I named him Zaid.

"أَدْعِيَاءُ" (*ad-dayee'o*): adopted son *{T}*, plural is أَدْعِيَاءُ" (*addia'o*) as in 33:4.

"أَلَّتُعِيَّة" (*ad-daayiah*): is the milk that is left behind in the teats of animals so that with its help the animal can be milked again *{T*}. It also means the reason, or cause.

(*ad-dawa'ee*): such things as tempt or instigate people's emotions or desires *{M}*. اللَّوَاعِيْ

These meanings should be kept in mind because they throw light on the meaning of the word "دُعَاءٌ" (*dua*), or prayer/supplication.

| 2:23 | call those who may help you | وَادْعُوْا شُشَدَاءَ كُمْ |
|------|-----------------------------|---------------------------|
|------|-----------------------------|---------------------------|

In surah *Kahaf*, "نَادَىٰ" (*nadyaa*) and "دَعَا" (*da'a*) have been used in a similar meaning as in 18:25. In surah *Airaaf*, "حَمَتَ" (*samat*), which means to be quiet, has been used against "دَعَا" (*da'a*) in 7:193. As such "دَعَا" (*da'a*) would mean to call.

| Surah Al-Ba | ıqrah | says: |
|-------------|-------|-------|
|-------------|-------|-------|

| 2:61 | Call out to your God on our behalf | فَادْعُ لَنَا رَبَّكَ |
|------|------------------------------------|-----------------------|

(*ad-da'wyaa*): to call out, demand, require (10:10) "الدَّعْوىٰ"

We have now come to that part of "نَعَا" (*da'a*), considered to be prayers, which has been taxed as the most complicated one in the world of scholars and religion, because its explicit meaning has not been given. Consider an example. In some case, *Zaid* is the Prosecution and *Bakar* the *Defence*. *Zaid* prays to God that the case is decided in his favor. This raises the following questions:

a) One group of people believes that all matters are decided beforehand by God. If this is taken to be correct, then it would mean that it has already been decided that the case will be decided in *Zaid's* favour or against. If it was decided by God beforehand, then *Zaid's* prayer will not change God's already made decision and Zaid will now not win the case if he was already destined to lose it.

If this is not so, then it would mean that God changes His decisions according to men's prayer or bidding. This would then imply that He is obedient to men. This concept cannot be right in any case.

- b) Now if we suppose that *Zaid's* claim in the case was false or fabricated, would then God decide the case in his favor because he prayed? If this is true, then it would mean that God decided in favor of a liar and deprived the truthful from his right. This concept too about God is wrong.
- c) Suppose that *Zaid* is justified in his claim. Now if *Zaid* does not pray to God, then would the case be decided in his favor or not? If the case cannot be decided in his favor without praying then it would mean that God does not decide in favor of the truth on His own. The truthful has to plead before God in order to obtain a decision in his favor even though he did nothing wrong. This concept too about God is wrong. If God decides in favor of truth, then it does not make a difference whether *Zaid* prays or not. God in any case had to decide in his favor (that is, in favor of the truth). As such, praying is a useless effort!
- d) It is obvious that in order to win a case, a man has to make some effort, however ethical. Now if *Zaid* only prays, and does not make the required effort, will he win the case? If praying is enough to win the case then it would mean that God's stress on effort (deed) is useless? Also if one cannot win the case without making the required effort, then what is the usage of any praying?
- e) If *Zaid* prays to God and *Bakar* does it as well, then in whose favor will the case be decided? Whose prayer will God accept?

These questions and many others arise with regards to the concept of praying to God, where religions and philosophers have been trying to solve or answer these questions for centuries, but with no luck. Please note that the term religion is a manmade concept while following Gods instructions is called *Deen*.

The Quran has said that this concept of *dua* or praying is wrong and a product of the time when man was in his infant stage and was unaware of the law of causality.

The Quran clarified that:

- Everything in the universe is operating according to the order created by God. He never changes His laws.
 "وَلَنْ تَجِدَ لِسُنَّمَ اللَّهِ تَبْدِيْلاً" (*walan tajeda sunnatillahi tabdeelah*) (33:64), i.e. "You will not find any change in God's laws".
- 2) It is God's law which is operative in man's world as well. He who strives as much under these laws will succeed proportionately. "لَيْسَ لِلْإِنْسَانِ اِلَّامَاسَعٰى وَاَنَّ سَعْيَمُ سَوْفَ يُرَىٰ" (*laisa lil insaana illa ma sa'a, wa unna sa'yahu saufa yura*). 53:39-40, i.e. "There is nothing for man other than what he works for, and the result of his efforts will soon be made manifest".

At the same time, the Quran has made it clear to believe that simply by praying (and not making any effort), one's wish is granted, is an erroneous concept about God.

Surah *Ar-Raad* says "لَّهُ دَعْوَةُ الْحَقَّ" (*lahu dawatul haq*). This means that human invitation which can produce successful results, which can be said to be based on truth, is the same invitation with which you invite someone towards your sustainer (according to His law and order).

"وَ ٱلَّذِيْنَ يَدْعُوْنَ مِنْ دُوْنِم لَا يَسْتَجِيْبُوْنَ لَمُهُم مِسْنَمْ عَنْ مَنْ مَوْنَ مِنْ دُوْنِم لَا يَسْتَجَيِبُوْنَ لَمُهُم مِسْنَمْ عَنْ (*wallazeena yad'ona min doonehi la yastajeebuna lahum bish shaiyi*): those who attach their wishes to others beside God, that is, believe that by leaving aside the Laws of God, they can succeed on the basis of their superstitions, are wrong. These self-created forces can never fulfill their wishes.

Such people can be likened to "نَجَاسِطِ كَفَيُّهِ إِلَى الْمَاءِ لِيَبْلُغَ فَاهُ وَمَا بُوَ بِبَالِغِمُ (*kabasiti kaffiyahi ilal ma-ee liyab lugha fa hu wama huwa bi-balighihi*): as if a man sits beside a river and prays that the water may come into his mouth, the water will never come into his mouth on its own. As such, "وَمَادُعَاءُ الْكَافِرِيْنَ اللَّا فِي ضَلَالٍ (*wama dua-ool kafireena illa fi zalaal*) 13:14: Those who deny God's verses or God's sayings, their praying can never produce results.

Do you not see that "وَيِلَّهُ يَسْجُدُ مَنْ فِي السَّمَلُوْتِ وَالْأَرْجِ طَوْعًا وَ كَرْباً" (*walil lahi mun fis samawaati wal ardi tauan wa karha*) 3:15: everything in the universe, willingly or not, has to operate according to the Laws of God. Then how can man be an exception to this?

As such, according to the Quran, calling out to God means calling out to the Laws of God for help. That is, by obeying them in order to find the desired results. This fact has been clarified at various points in the Quran.

For example the Quran says in surah Momineen:

| Your Sustainer says "Call out to me, I will respond to your call" | وَقَالَ رَ بُّكُمْ ادْعَوْنِيْ ٱسْتَجِبْ لَكُمْ |
|--|---|
|--|---|

The meaning of the above verse will be explained a little further ahead. After this, it is said:

| | 0 | , |
|-------|--|---|
| 40:60 | Indeed, those who refuse to acce enter the state of <i>jahannum</i> afte humiliation | اِنَّ الَّذِيْنَ يَسْتَكْبِرُوْنَ عَنْ عِبَادَتِيْ سَيَدْخُلُوْنَ جَهَنَّمَ دَاخِرِيْنَ |

This explains what is meant by calling out to God. It means to accept and to obey Him and His superiority. His answer to the call means for man's efforts to bear fruit.

This fact has been described at another place as:

| | This fact has been described at another place as. | | |
|-------|---|--|--|
| 32:15 | Those who trust Us, (have faith in Us) are those who gladly bow their heads (in subservience) when they are presented with our orders, and are engaged in establishing and making praiseworthy the program given by their Sustainer, and they do not defy these orders. | اِئَّمَا يُؤْمِنُ بِالِتِنَا الَّذِيْنَ اِذَا ذُكَّرُوْا عِمَا خَرُوْا سُجَّدًا وَّسَبَّحُوْ بِحَمْدِ رَهِّمْ وَهُمْ لَا يَسْتَكْبِرُوْنَ | |
| 32:16 | They are so busy in this work that they do not even consider sleep, are awake at night, and Thus, call on their Sustainer for removing their problems and for His benevolence. Because they know that their efforts will cause good results, and what destruction will follow if the orders are disobeyed. Whatever We have given them, is kept open (available) to the human race (for their welfare). | تَتَجَافى جُنُوبُهُمْ عَنِ الْمَصَاحِعِ- يَ دْعُوْنَ رَبَّهُمْ حَوْفاً وَطَمَعاً وَ مِمَّا رَزَقْنْهُمْ يُنْفِقُوْنَ | |

Surah *Al-momin* says:

| 40:65 | When you call out to God, then call Him with full and complete obedience only for Him | فَادْعُوْهُ مُخْلِصِيْنَ لَهُ الدِّيْنَ |
|-------|---|---|

Surah Ash-Shura says:

| 42:26 | He responds to the call of those people who | وَيَسْتَجِيْبُ الَّذِيْنَ آمَنُوْا وَعَمِلُوا الصَّالِحَاتِ |
|-------|--|---|
| 42.20 | believe on His laws and work according to them | ويستجيب الأبرين المنوا وغفيلوا الصاحبات |

This shows too, what calling to God and His response means.

Surah *Al-Airaaf* says:

| 7:55 | Call your Sustainer with complete equanimity of heart and soul. so that the call comes from the | أَدْعُوْا رِبَّكُمْ تَضَرُّ عًا وَحُفْيَةٌ إِنَّهُ لَا يُحِبُّ الْمُعْتَدِيْنَ |
|------|---|--|
| | core of your heart | |

Note that those who rebel against His laws and cross the limits are disliked by Him. This also shows that "calling" Him means "obeying Him". The next verses explain this:

| 7:56 | Do not create ripples in society after it has | وَلَا تُفْسِدُوْا فِي الْأَرْضِ بَعْدَ اِصْلَاحِهَا |
|------|---|--|
| | become smooth or calm | ود مصبحاق کی در کر مصر جمعه احصار محبها |
| 7:57 | And call out to God for banishing your problems and ills and for acquiring benefits. Remember that those who maintain the balance in society, Allah's benevolence is very near to them | وَادْعُوْهُ حَوْفاً وَ طَمَعاً اِنَّ رَحْمَتَ اللَّهِ قَرِيْبٌ مِّنْ الْمُحْسِنِيْنَ |

Here Allah's benevolence is said to be 'near'. In surah *Al-Baqrah* God Himself is said to be near:

| 2:186 | And when my obedient ask you about Me, tell them I am not far from them, and are very near. | وَاِذَا سَالَکَ عِبَادِیْ عَنِّیْ فَاِنِّیْ قَرِیْبٌ |
|-------|--|---|
| 2:186 | Thus, they should obey Me and believe in the veracity of my laws so that they find the path to their destinations. | فَلْيَسْتَحِيْبُوْا لِيْ وَلْيُؤْ مِنُوْا بَيْ لَعَلَّهُمْ يَرْشُدُوْنَ |
| 50:16 | (I am) closer than their jugular vein | أجِيْبُ دَعْوَةً الدَّاعِ اِذَا دَعَانِ |

This also makes explicit that "calling out" to God means "obeying" Him, and the response to that call is the result of those efforts which one makes according to His laws.

In surah *An-Namal*, first the attention has been drawn to various elements of the universal system as to how everything happens according to God's order (system). Then, the group of *momineen* has been addressed which was passing through very difficult times in its initial stages of establishing God's orders, and was calling out at every step for help from God.

(*mata nasrullah*): when shall God's help come? (2:214) متت نَصْرُ اللهُو" (mata nasrullah)

They were told (through evelation, of course):

Thus, do not worry, keep working according to God's laws, he will turn your helplessness into dominance, and if you continue on this path (the path of God) then Our cosmic forces will save you from the harmful machinations of your opponents (40:7). Not only was the group of *momineen* told this, but the messengers as well.

In surah *Yunus*, in the tale of *Moosa*, *Moosa* and his brother *Haroon*, who also was a messenger, pray to God to confront *Firoun* successfully. They are told that:

| 10:89 the prayers of you both have been accepted | قَدْ أُجِيْبَتْ دَّعْوَتُكُمَا فَاسْتَقِيْمَا |
|--|---|
|--|---|

This means that they were told to continue with their program (as given by God) with steadfastness. Obviously if the acceptance of prayer meant only that whatever you have asked for shall be given to you, (or you will get it), then after that there was no need for any effort. However here it has been said that your prayer has been accepted, Therefore, be steadfast in your program. This makes it obvious, that *Moosa* and his brother *Haroon* were only told that their call-outs are according to God's laws, and now they should strive to achieve those ends with steadfastness and Hence, they would surely succeed.

The above explanations make it clear that calling out to God means obeying his orders and laws. The Messenger Mohammed (*pbuh*) was also asked to 'call out God', to do *dua*:

| | Tell them that I only call out to my Sustainer and | |
|-------|--|--|
| 72:20 | do not include anyone else with Him | قُلْ إِنَّمَا أَدْعُوْا رَ بِّيْ وَلَا أَشْرَكْ بِهِ أَحَداً |
| 12.20 | (do not include anyone in His Supreme | قل إلما الدعوا ربني ولا اسرِك بِهِ أَحْدَا |
| | authority) (18:26) | |

After this Quranic meaning of '*dua*', there is no cause left for the doubts and tribulations mentioned earlier bout '*dua*'.

The Quran also relates the things similar to what we mean by '*dua*' in the ordinary sense:

| | O Sustainer, protect us from our faults and | رَ بَّنَا اغْفِرْلَنَا ذُنُوْبَنَا وَاِسْرافَنَا فِيْ اَمْرِ نَا وَتُبِّتْ ٱقْدَامَنَا وَانْصُرْنَا |
|-------|--|---|
| 3:146 | transgressions. Give solidarity to our feet (us) | عَلَى الْقَوْمِ الْكَافِرِيْنَ |
| | and give us success over the nation of deniers | على الكلوم المحفرين |

That is such prayers (*dua*) in which a man desires fulfillment of his wishes. These prayers are actually a manifest of the intensity of his wishes. This intensity creates a kind of a change in his personality that gives vent to his latent capabilities and they go to work for him. Consider the meanings of the words (*ad-dayituh*) and (*id-dayayi*) given earlier. First a man must desire that which is according to God's laws (not the obverse). Then he should create intensity in his wishes. This will create a revolutionary condition within himself and the result is indeed surprising. Note that the Quran has also said that your wishes must be according to the laws of God or you may wish for something that in reality is harmful for you (17:11).

It can be argued that by praying revolutionary changes are created in man himself which help him to attain his goals. Then what is the difference in calling out to God or praying to Him? It is correct that

man's latent capabilities are aroused in this way, but the aim is not only to raise the latent forces or capabilities as such. The first thing is to determine the aim for which they are aroused. That is, the purpose for the attainment of which the effort is being made, and what sort is that aim? Then, what are the means to achieve it, and what will the purpose be, if attained? A *momin* (one who follows the Quran) decides all matters under the orders of Allah and Therefore, keeps Allah before him from first to last. His wish or desire is also a link in this chain. Therefore, he calls out to God for its attainment too. Everything takes place as per God's laws, so much so that the latent forces in man are aroused too as a result of His laws.

Another point to be noted here is that God has bestowed man with that a personality with the proper development of which (to the extent that is humanly possible) can arouse the qualities which when unbounded, are attributable to God. In this manner, God's personality becomes the standard for the development of the human personality. By praying to God (by calling out to Him) a man wants to arouse the qualities within himself that will help him attain his goal. This is the difference between 'praying to God' and arousing intense desire in oneself.

We now come to the praying of the messengers mentioned in the Quran. Messenger-hood is quite different from ordinary human matters. We cannot understand anything about it. We only understand the message that they have brought to us and their obedience is our duty. As far as God talking to them in response to their prayers is concerned, it does not happen with ordinary human beings. God does not talk to anyone except the messengers to believe that He does, even after the last Messenger (pbuh), is blasphemy.

The concept that if God does not listen to our pleadings, Therefore, someone close to God should be requested to pray for us before God is not correct.

As per the Quran, no power can interfere between God and His missionaries. To believe so is a big sin. To reach God or to take one's pleading to God, no media is required. Every human being by obeying God's laws can reach God or take his voice to Him. To see the meaning of "رسیله" (*waseela*), or means, go to relevant heading. His laws are obeyed by remaining within the bounds of a Quranic society. That is the reason that the prayers that God has taught the *momineen* are mostly collective. Such as 1:5, 1:7, 2:201, 3:7, 3:146, and 3:192 etc.).

To explain verses 2:186 and 50:16 as mentioned above. These verses contain hints to His imminence and transcendence. He is closer to every human being than his jugular vein. This shows that God is present everywhere in the universe, but not present as something is bound to some place. Since our senses are unable to grasp how God can be present somewhere in space without occupying some space, Therefore, it has been said in the Quran that:

| 6:104 | human eyes cannot comprehend Him | لَا تُدْرِكُهُ الْأَبْصَارُ ۖ وَهُوَ يُدْرِكُ الْأَبْصَارَ |
|-------|----------------------------------|--|
|-------|----------------------------------|--|

But it is encircling or comprehending human sight. But we can comprehend His laws and can observe their results as well. Therefore, the Quran has said that we are connected to God's laws. We call out to His laws and when we act according to His laws, He answers our call by bringing the desired results that we have called for.

As far as God's knowledge is concerned, the thing that we term as past, present or future, have no place according to the laws of God. Before God, all the past, present and the future are revealed at the same time. There is a sort of eternal now. That is, He is aware of future events or what will take place in the future (future for us) as if they are taking place now. But it makes no difference as to our intent or authority which we have been given by God. Nor is the fact affected that whatever happens to us is the result of our own deeds. Everything is taking place before God. He also knows what we are going to do, but he does not interfere with our intent or authority. We do what we chose to, and face whatever results our own deeds bring. If we act according to God's laws then we get good results, if we go against these laws then we suffer. Nobody has the power to do wrong and reap good results. To observe God's laws is to call out to Him or pray to Him and to get good results means our prayers have been answered.

د ف ع

"الَدَّفْنُ" (*ad-dif'u*): temperature and heat, or something that heats something. (*adfaahu*): he attired him in such clothes as to warm him. (*ad-difa'u*): anything that provides heat.

The Quran says about cattle:

| 16:5 | They have the wherewithal to provide heat and have other benefits. | لَكُمْ فِيْهَادِفٌ وَ مَنَافِعُ |
|------|--|---------------------------------|

Ibn Faris says that "نَفْى (*dafun*) means the camel's kids, its milk and its other beneficial things.

| D-F-Ain | |
|---------|--|
|---------|--|

تَفَعْ" (*dafah*): to banish something by force, to remove, as in 2:251 {*T*, *R*}.

Muheet says "الْدَفْعُ" (*ad-dafah*) means to banish something before it takes place and "الْدَفْعُ" (*ar-rafah*) means to remove it after it takes place.

| Basa-ir s | ays when "نَفْعٌ" (<i>dafah</i>) is followed by "للى" (<i>ila</i>) the | n it means to entrust or to pay back. As in: |
|------------------|--|--|
| 4:9 | return their goods or wealth to them | فَادْفَعُوْا إِلَيْهِمْ أَمْوَالْهُمْ |

When it is followed by "عَنْ" (*un*), then it means to support or protect $\{T\}$.

| 22:38 | Verily God (God's law) protects those who Believe on His reality | إِنَّ اللَّهَ يُدافِعُ عَنِ الَّذِيْنَ آمَنُوْا |
|-------|---|---|
|-------|---|---|

''أَلْمَدَافَعَۃُ'' (*al-mudaafi'atu*): to jostle one another and to push *{T}*. (*daafiun*): one who removes (70:2)?

D-F-Q

د ف ق

"دَفَقَ المَاءَ يَدْفُقُ" (dafaqal ma'a yudfiqu): he spilled the water.

تَفَقَ الْكُوْزَ (dafaqal kooz): spilled the water of the cup at once.

تَفَقَ الْمَاءُ" (dafaqul ma'o): the water boiled suddenly.

تسَيْلُ دُفَاقٌ' (sailun dafaaq): the flood whose waters overflowed the valley.

"اَلدَفَقَ" (ad-difaqqu): a fast camel.

الدَفقِّى: (ad-difaqqa): a fast speed in which the animal jumps when running {T, M, R}.

Ibn Faris says it basically means to push forward.

The Quran speaks about the creation of man.

| 86:6 | He has been created from the surfing liquid | خُلةَ مَرْ مَّاء دَافة. |
|------|---|-------------------------|
| 80.0 | (sperm). | ڪريق هن هاي داخيني |

"أَلَتُكُ" (*ad-dok*): to break, to pound, to demolish a wall or mountain. Actually it means to pound and break a thing and level it with the ground $\{T, M\}$.

Ibn Faris thinks it means to become low and to spread out.

"أَلَكَتُ" (*ad-dakkatu*), "أَلَكَتُ" (*ad-duk*): smooth or even place, or to level the ups and downs of the ground. (To beat them into a level with the ground) *{T, M}*.

| 89:21 | When the land's unevenness (ups and downs) will be removed | اِذَادُكَّتِ الْأَرْجُ دَكَأَّ دَكَأً |
|-------|--|---------------------------------------|
| 09.21 | and made level. | الداديب الأربج دف دف |

In other words when the balance of economy shall be made even, and there will be no ups and downs $\{T\}$.

| 69:14 | The evenness will be made in one go | فَدُكَّتَا دَكَّةً وَاحِدَةً |
|-------|---|------------------------------|
| 7:143 | Smoothed it, removed the ups and downs or high or lows or unevenness. | جَعَلَهُ دُكًّا |
| 18:98 | Will break it and make it level (here the word 'earth' is silent for which <i>dakka</i> has been said) | جَعَلَهُ دَكًّا |

"أَلَدَّكَأَّ^{*} (*ad-dakka'o*) means a mud dune or hill {*T*}.

"جَعَلَمْ دَكَاَّعَ" (*ja'alahu dakka'a*) would mean that the wall becomes like a dune when demolished.

(*ardun dakka'o*): smooth land *{R*?.

"الدُكَان" (ad-dukaan): a place the top of which is smoothed over for sitting {T, M}.

تَلَكَّهُ بِيَدِه مَلْكًاً" (*dalakahu beyadehi dalka*): to rub something with the hands.

َنَكَتَبُ الشَّمْسُ لَا لُوْكَاً (*dalakatis shamsu duluka*): sunset, because one who looks at it starts rubbing his eyes with his hands {*T*} (but we think that this reasoning is feeble).

"لُوْكَا" (*dalakat duluka*): for the sun to become yellowish and go towards sunset, or for the sun to lean towards the west (towards setting) after mid noon in the middle of the sky {*M*}.

Azhari says this is the right meaning because in Arabic "نَالُوْكَ" (*dulook*) means decline. *Ibn Faris* too seems to agree with this as he says the word means for a thing to move away (decline) from something else. But he also says that the word contains the connotation of something moving away softly. This word is also used for rubbing because in that state hands do not stay in one place.

Alwasi writes in *Roohul Ma'ani* that the word means to transfer from one place to another. So sunrise as well as sunset is "خُلُوْكُ" (*dulook*) because both ways it moves away. When the sun has reached its peak and starts setting, it is called "خَالِحَة" (*dalikah*), as well as it has set, because in both conditions it is in decline.

Nawaderul Airaab says it means for the sun to be high or low.

Ibn Faris says that wherever "''' (*daal*) appears along with "'' (*laam*), the word means to move, to come or go, and to decline from one place to another. As such "نَكَكَ النَّوْبَ" (*dalakatis saub*) would mean rubbed the cloth while washing it.

"نَلَكَتِ الْمَرْأَةُ الْعَجِيْنَ" (*dalakatil mar-atul ajeen*): the woman prepared the dough. "تَنَلَّكَ الرَّجْلُ" (*tadallakar rajul*): he rubbed his body while bathing. "أَلَدَّلُوْكَ" (*ad-dalook*): to rub perfume or balm etc.

"بَعِبْرٌ مَدْلُوكَ" (baeerum medlook): a camel which has been used for traveling constantly.

"الدَالَيْنَ" (*ad-deek*): to walk fast without the full feet touching the ground $\{T\}$

All these meanings show that the real meaning of this root is movement. As such when the sun rises to its peak in the noon, is also called "کُلُوْکُ" (*dulook*) (as has been mentioned with reference to *Nawadarul Airaab* above). And when it starts setting after reaching its peak, will also be called "کُلُوْکُ" (*dulook*) as mentioned above.

Raghib too, says it means leaning towards the sunset

Ibn Dureed says in Jamharatil Lagha that it means to set and disappear.

The Quran says:

| 17:78 | Establish the <i>salaah</i> from <i>duluk</i> of the sun to <i>ghasaqil lail</i> , and Quran is of the <i>Fajr</i> . (ordinary | اَقِعِ الصَّلُوةَ لِدُلُؤَكِ الشَّمْسِ الٰي غَسَقِ اللَّيْلِ وَ قُرْآنَ الْفَحْرِ |
|-------|--|---|
| | meaning) | |

If "نُلُوْكُ" (*dulook*) here is taken to mean ordinary movement then it covers the entire time from sunrise to sunset, and "غَسَوَ اللَّيْلِ" (*Quran-ul-Fajr*) i.e. before sunrise to "غَسَوَ اللَّيْلِ" (*ghasaqil lail*) i.e. after sunset. The meaning is obvious that this whole period is available to you for *salaah*. And if "نُوُكُ" (*duluk*) is taken to mean from the sun's decline to sunset then (according to the above meaning) the time between sunrise and half the day will be eliminated.

At another place regarding establishment of *salaah* it is said:

| 11:114 | both ends of the day and night (in the earlier part) | طَرْفَي النَّهَارِ وَزُلَفاً مِنَ اللَّيْلِ |
|--------|--|---|

Both ends of the day are *fajar* which is before sunrise, and *maghrib* which is time of sunset. The earlier part of the night is *ghasaqal lail*.

Surah *An-Noor* says:

| 24:58 | The salaah of fajar | صَلُوةُ الْفَحْرِ |
|-------|-----------------------------------|--------------------|
| 24:58 | the <i>salaah</i> of <i>ish'a</i> | صَلُوةُ الْعِشَاءِ |

These have been mentioned specifically. It is obvious from the above then that in the time of *Mohammed* (pbuh), *salaah* congregations were held at these two timings which was the time from morning to evening, or from the time of the decline to evening.

"دُلُوْکُ" (*dulook*) according to the earlier meaning (i.e. the time from morning to evening) seems more appropriate linguistically.

"غَسَنَ" (ghasaq) means twilight. See heading (Gh-S-Q).

Salaah does not only mean timely congregations. It also means the Quranic system or the life as determined by the Quran. According to this, if in this verse (17:78) too, **salaah** is taken to mean the duties imposed by the Quranic system, then it would mean that from the first day consider what guidance the Quran gives you (this will be **Quran ul-fajr**), and then engage in complying with the Quranic program from morning till evening. This will be establishing of **salaah** from early morning to late night.

تَكُ الْمَرْأَةِ وَدَ لَا لَٰہَا عَلَى زَوْجِهَا" (*dall ul-mar'ati wa dalaluha ala zaujiha*): for wife to be coy with her husband, to act as if she is defying her husband, without really doing so.

تَنَلَّهُ عَلَى الشَّيْءِ" (dallahu alash shaiyi): told him something, led him to something.

"أَدَلَّ عَلَيْهِ" (*adalla alaih*): became informal with him, became bold with him, due to complete trust on his loye even committed excesses on him/her.

"أَلَدَّالَّةُ" (ad-d'allah): coyness.

"اَلدُّلَى" (ad-dulla): distinct path.

"الدَلِيْلَ" (ad-daleel): landmark which leads to a destination and the thing that clarifies something.

"أَلَدُلالَ:" (ad-dalalah): to show someone the way, and to herald something with the signs.

Raghib says it means something which leads to an understanding of something else $\{T, M, R\}$ Ibn Faris says it means to disclose something by its signs which you conclude after much deliberation. That is, the expression of truth through signs. It also means for movement or unease to be present in something. The Quran says you do not ponder upon the " \sim 2" (hikmah) or scheme of your Sustainer. That, for instance causes the elongation of shadows.

Later it is said:

| 25:45 | The elongation or shortening of the shadows is due to the sunlight. | ثْمَّ جَعَلْنَا الشَّمْسَ عَلَيْهِ دَلِيْلاً |
|-------|---|--|
|-------|---|--|

If there is no sunlight, then there would be no shadow, and its reduction or elongation would not be visible.

Surah Saba says:

| 34:14 Nothing made aware of <i>Suleman's</i> death except | مَادَ لَمُّمْ عَلَى مَوْتِهِ اِلَّا |
|---|-------------------------------------|
|---|-------------------------------------|

I.e. that thing, after long deliberation, led to the conclusion that *Suleman* had actually expired.

(Details will be found under the heading *Suleman*). As such, reasoning is something which upon deliberation can lead gradually to a conclusion.

| D-L-W/Y | د ل و /ې |
|---------|----------|
|---------|----------|

"أَلْدَلْنُ" (*ad-dalwu*): bucket (of a well). When it is filled with water, it is called "ذَنُوْبٌ (*zanoob*) {M, T}, but it is not a rule.

"تَلْنِيْتُ" (*daloot*), "أَذَلْيَتُ" (*adlait*): I dropped the bucket into the water *{T}*, or brought it out filling it with water *{L}*. This led to "أَدُلْى" (*adla*) which means to provide the means to reach something. Just as to reach the water of the well, one has to drop the bucket inside the well.

"أَدْلَى اللَيْهِ بِمَالِم" (adla ilaihi bimaalehi): gave him his wealth {T}.

أَدْلَى جَاجَتَهُ نَلْوَا" (dala haajatuhu dalwa): he demanded what he wanted or needed.

"کلی بِرَحِمِ(adla berahmehi): he used his relationship as a means to getting his work done $\{T\}$.

Ibn Faris says it basically means to approach something with softness and ease.

The Quran has said:

| 2:188 | To reach the authorities through wealth (via bribe) and to | تُدْلُوْابِحَالِلَى الْحُكَّام |
|-------|--|--------------------------------|
| 2.100 | receive a judgment in one's favored. | لللوافي الحجام |

"تَدَلِّى" (*tadalla*) also means to hang, to be near.

| Surah Ar | <i>n-Najam</i> mentions: | |
|----------|---|-------------------------|
| 53:8 | He got near, became of the same color, and was lost in the depths of the truth. | ثُمَّ دَنَا فَتَدَّلِّی |

This is a particularity of messenger-hood.

| Surah <i>Al-Airaaf</i> has this: | |
|----------------------------------|--|
|----------------------------------|--|

| 7:22 | Deceived them to fall into the depths. | فَدَاهَمُ بِغُرُوْرٍ |
|------|--|----------------------|
|------|--|----------------------|

"دَالَاهُ" (*dalaahu*), تَدَالَاهُ" (*mudalaah*): was soft (courteous) to him *{M}*. (*daliya*), "يَدْلَى" (*yadla*): to be surprised *{T*}.

| م د م | د د |
|-------|-----|
|-------|-----|

"دَمْدَمَ الْقَوْمَ وَدَمُدَمَ عَلَيْهِمْ" (damdamal qauma wa damdama alihim): the nation was destroyed and annihilated. "دَمْدَمَ عَلَيْهِ" (damdama alaih): was angry at him and talked to him angrily {*T*}.

تَمْدَمَ عَلَيْهِمْ" (damdama alihim): they were annihilated and troubled {T}, {Latif-ul-Lugha}.

الدَمْدَمَّةُ: (ad-damdamatu): troublesome talk, anger {T}. It also means to destroy {Latif-ul-Lugha}.

"ٱلدَّمْدَمُ" (*ad-damdam*): dry grass *{T*}.

"دَمْدَمَ الرَّعْدُ" (damdamar raad): there was strong thunder {L}.

The Quran mentions:

| 91:13 | Their Sustainer (the natural turn of events) killed them in | فَدَمْدَمَ عَلَيْهِمْ رَ تُهُمْ |
|-------|---|---------------------------------|
| 91.15 | such a way that even their traces were obliterated. | فلمدم عليهم ربهم |

D-M-R

دمر

"اَلَدُمُوْرُ" (*ad-damaar*): "اَلَدُمُوْرُ" (*ad-damaar*): to be killed, to kill. (*at-tadmeer*): to kill, to root out.

Raghib says it means to instill destruction into something.

تَمَرَ عَلَيْهِمْ" (*damara alihim*): he came near him without permission (and with malicious intent). He suddenly attacked him *{T}*.

| The Qura | an says: | |
|----------|--------------|--------------|
| 7:137 | We destroyed | وَدَمَّرْنَا |

Ibn Faris says the basic meanings are to enter a house etc. Some add that this entry is without permission.

D-M-Ain

دمع

"أَلَدَّمْعُ" (ad-dam'o): tears, whether they are of joy or sorrow.

أَدَمَعَتِ السَّحَابَةُ" (dam'atis sahabah): it rained from the clouds {T}.

[&]quot;أَلدَّمْعَةُ" (ad-dam 'atuh): a tear.

[&]quot; تَمَعَتِ الْعِيْنُ (dama'atil ain): the eyes became moist {T}.

| Surah Al- | -Mai'dah says: | |
|-----------|--|--|
| 5:83 | You will find that tears begin to roll down their eyes | تَرَىٰ أَعْيُنَيُمْ تَفِيْضُ مِنَ الدَّمْع |

"اَلدَّمَاغُ (*ad-dimagh*) means he brain.

"يَدْمَغُ" (*damagha*), "يَدْمَغُ" (*yadmagh*): he injured him in such a way that the wound reached the brain. (*ad-damogh*): the thing which breaks or destroys something else.

"نَمَغَّرُ" (damagha hu): he overpowered him {T}.

"دَمَعَ الْحَقُّ الْبَاطِلَ" (*damaghul haqqul baatil*): the truth obliterated the untruth, or destroyed it {*T*}. تُحَجَّدٌ دَامَعَةٌ دَامَعَةٌ (*hujjatun daamigha*): mind boggling reason{*R*}.

Surah *Al-Ambia* says that *haqq* (undeniable truth) destroys the *baatil* (the falsehood).

In the struggle between truth and untruth (*haqq* and *baatil*), good and evil, that is perpetual in the universe, *haqq* (the constructive element) always overpowers *baatil* (destructive element) and so on. If the destructive element was overpowering then leave alone the evolution of the universe, the universe itself would cease to exist.

| 21:18 | We strike the <i>baatil</i> with <i>haqq</i> , so that <i>haqq</i> | بَلْ نَقْذِفُ بِالْحَقِّ عَلَى الْبَاطِلِ فَيَدْ مَعُهُ فَاِذَا هُوَ زَاهِقٌ |
|-------|--|--|
| 21.10 | destroys the <i>baatil</i> . | |

So see how *baatil* is being destroyed. It is the law of nature for constructive program to overcome destructive forces. It cannot be otherwise. But the speed at which these constructive forces overcome is (according to our standards) very slow. God's single day is equal to one thousand (or rather fifty thousand of our) years (32:5, 70:4). But if man becomes a friend of God, then the results start to be formulated according to our measure.

د م و /ی

د م غ

تَدُمُ" (*dum*) means blood.

"أَلدَّمَاءُ" (*ad-dima'a*) is the plural as in 2:30 *{T*}.

"دَمَّ" (*dum*) was actually "دَمَّنٌ" (*damu*) or "دَمَىٌ" (*damu*). The Quran has declared "أَمَرُ" (*duman masfoohan*) in 6:146 i.e. flowing blood as forbidden. For more details, see under heading (S-F-H).

دن ر **D-N-R**

"نَنَانَيْرَ" (*deenar*) is the name of a gold coin. The plural is "نَنَانَيْرَ" (*dananeer*). It is a non-Arabic word that has been arabized. This was used by Arabs from the days of old, so it became Arabic *{T}*. The Quran has used this word in 3:74.

Some say that the word was actually "نِنَانِيرُ" (*dinar*). That is why its plural is "نَنَانِيرُ" (*dananeer*) {*T*}. It means a pound, or guinea which is golden as well. It is a Roman word *Dinarins* which has been arabized. Roman coins were generally used by the Arabs. (See heading dirham).

D-N-W

د ن و

"دَنْكَانَ" (*dunwa*), "دَنْكَانَ" (*yadnu*), "دَنْكَوَ" (*dunwa*), "دَنْكَانَ" (*danawah*): to get closer. "الْتُنْيَا" (*ad-dunyah*): the closest thing. The masculine form is "أَدْنَى" (*adna*). "دَنْيَ:" (*dun*), "يَدْنَى" (*yadna*) means to be old and weak. َ الْنَاءُ (adnar rajulu idna): that man lived a life of deprivation and poverty. الأَدْنَى الرَّجُلُ الْنَاءُ (adnash shaiya): to bring something closer.

أَذْنَتْ تَوْبَبَا عَلَيْبَا" (adnati saubiha alaiha) he covered himself with a cloth {L}.

| 33:59 They should cover themselves with their shawls. | يُدْنِيْنَ عَلَيْهِنَّ مَنْ جَلَا بِيْبِهِنَّ |
|---|---|
|---|---|

"أَلْانْنْنَى" (*aladna*) means closer. Sometimes it means small as "أَصْغَرُ" (*asghar*) and comes opposite to "أَلْانْنْنَى" (*akbar*) which means big. Sometimes it means bad or demeaning "أَرْنَالْ "(*arzal*) and comes opposite to "أَخِيرُ" (*khair*) which means good. Sometimes it means first "خَيرُ" (*awwal*) and comes against "خَيرُ" (*aakhir*) which means last. Sometimes it means closer "أَقْرَبْ" (*aqrab*) and comes opposite to "أَقْرَبُ" (*aqsaa*) which means far *{T, R}*.

| The Qura | an says: | |
|--------------|-------------------------------|-------------------------|
| 30:3 | the land nearby | فِيْ أَدْنِي الْأَرْضِ |
| 53:8-9 | he again got close, or closer | شَمَّ دَنَا اَوَّادْنٰی |
| 55:54 | Close | ۮؘٳڹٟ |
| 69:23 | Close | قُطُوق فْهَا دَانِيَةٌ |
| 37:6 67:5 | The nearest sky | ٱلسَّمَاءَ الدُّنْيَا |

Also see heading (S-M-W).

"الْنُنْيَا" (*ad-duniya*) (closest) has come against "الْقُصُوَىٰ" (*al-quswa*) (farthest) in 8:42. This word has been used against "الْحَيْرُ" (*akbar*) (big) in 32:21, against "الْحَيْرُ" (*aksar*) (most) in 58:7, against "الْحَيْرُ" (*khair*) (good) in 2:61.

The Quran has used "أَحْيَوةُ الْذُنْيَا" (*al-hverseid dunyiah*) as against "أَخِرَةٌ (*akhirah*), meaning the life of this world against the Hereafter. It has appeared at many places and this is the comparison which is most noteworthy, because in this comparison, life in this world "أَحْيَوْةُ الدُّنْيَا" (*al-hverseid dunyiah*) has been declared very small or of less significance than the Hereafter "أخرَةٌ" (*akhirah*).

In religions in general, where the concept of soul and materialism exists, the world of *duniyah* and its possession have been termed very belittling and insignificant. According to the Hindu religion, the world is nothing but *maya* or deceit, and getting rid of this deceit is *mukti* or emancipation. According to the Buddhist religion, every wish is the precursor of some difficulty or ill. Therefore, real life, it says, is to give up any desire. This is shared by the Christians where the real kingdom is in the Heavens. As such for them, giving up the world is very acceptable. This is the very core of *tasawwuf* and some of our own Muslims have been influenced by this concept and the world or *duniya* is condemnable and little. Therefore, worldly and sinful have come to mean almost the same.

To the contrary, world or *duniya* and *deen* are said to be opposites. But this concept is against the teachings of the Quran. It teaches a *momin* to pray for "فى بُذِهِ الدُنْبَا حَسَنَة" (*fi haazehid duniyah hasanah*) in 7:156 (i.e. wellbeing in his world), and says clearly:

| | The result of good deeds is not only the good | |
|-------|---|---|
| 16:30 | things or pleasantness in the <i>aakhirah</i> (hereafter) | لِلَّذِيْنَ أَحْسَنُوْا فِيْ هٰذِهِ الدُّنْيَا حَسَنَةٌ |
| | but this world too | |

Against it, it terms:

| 7:156 Ignominy in this world, as God's wrath | ذِلَّةٌ في الخُيوةِ الدُّنْيَا |
|--|--------------------------------|
|--|--------------------------------|

Such verses have appeared at different places in the Quran. As such this concept is *baatil* or untrue that this world and its luxuries and comforts are sinful.

But the Quran also contains certain verses which have termed the life of this world as transitory or impermanent and the life here as "ليو" (*lahu*) and "لعب" (*la'ab*). To understand this point, see under heading (*A-Kh-R*) and (*Ain-J-L*) in which it has been explained as to what is meant by "مَقَادِ عَاجِلَة" (*mufaadi aajila*) or immediate benefits) and "مَتَاعَ أَخَرَنَ» (*mufaadi aajila*) or the wealth of the Hereafter. There you will find that the Quran strongly opposes those who have "مَقَادِ عَاجِلَة" (*muffadi aajila*) i.e. immediate benefits of this world in sight and ignore the pleasantness of the Hereafter. This temporary benefit has been called "مَتَاعَ الْدُنْتِاعَ (*mata-id duniya*) or immediate benefits of this world. As such, according to Quran condemnable is for man to ignore the lasting benefits of the world. That is to consider real life only to be in this world, and it is also condemnable to give up this world and set about building the future. This is called monasticism which according to the Quran is not permissible. See under heading (R-H-B).

The Quran says:

| 2:201 | The good things in this life as well the good things in the life hereafter. (Good immediate benefits as well as benefits in the future) | رَبَّنَا أَتِنَا فِي الدُّنْيَا حَسَنَةً وَفِي الْأَخِرَةِ حَسَنَةً |
|-------|---|---|
| | wen as benefits in the future) | |

It has also said that if the present of somebody is not good, then his future too is bleak:

| 17.72 | he whoever is blind here (unseeing the truths) will | وَمَنْ كَانَ فِيْ هٰذِمْ أَعْلَى فَهُوَ فِيْ الْأَخِرَةِ أَعْلَى وَأَصَلُ |
|-------|---|---|
| 17.72 | be blind there too, or rather worse | سَبِيْلاً |

For the meaning of "أَعْمَى" (*aama*) see under heading (Ain-M-Y).

As such:

- 1) The concept that this world's pleasant things are hateful is wrong
- 2) It is wrong too that only this life is everything, and only these world's benefits or gains should be kept in mind.
- 3) The right concept is that the gains of this life are also attained and human personality due to its capabilities becomes able to reap the benefits in the Hereafter too. Also not to concentrate only on personal benefits but keep an eye open for the betterment of the entire human race and coming generations too. This will be this life's future and the rest in the lie to come. (More details under heading (*A-Kh-R*).

The entire teachings of the Quran are focused on establishing values for man. It tells him what the value of everything is in the scale of humanity. After that, it advises to sacrifice petty gains for greater gains. It tells us that no doubt the pleasant things of this life are indeed attractive and they should be attained or strived for, but when the interests of this life and the life hereafter clash, then the petty interests of this physical life must be sacrificed for the greater goal in the hereafter. These are the places where Quran has termed the interests of this world lowly as compared to those of the Hereafter. This in no way means that this life is hateful. This is the Quran's teaching about this world and the Hereafter.

D-H-R

دهر

"لَدَّهْنُ" (*ad-dahr*) is the period from the beginning of this world till the end. Then it began to be mean a long period as against "زَمَانُ" (*zaman*) which means both a short or long period *{R*}.

The Quran says:

| جيْنٌ مِنَ الدَّهْرِ that is, a period, or the duration of a period |
|---|
|---|

Ibn Faris says it means overpowering (or hold) or forcible.

Present time conditions are called "نَفْنُ (*dahr*) because it encompasses everything and has a hold over it. "الدَّهَارِ بْرُ" (*ad-dhariribrur*): the vicissitudes of time.

تَبَرَبُمْ أَمْرٌ '' (*daharahum amr*): some misfortune befell them {*T*}.

The Quran has recalled what some people say:

| 45:44 | This is only the passage of time which causes our deaths. | وَمَا يُهْلِكُنَا إِلاَالدَّهْرُ |
|-------|---|----------------------------------|

As time passes one's limbs weaken and deterioration ends in his death and life ends there. There is no other life after this. This is the very concept which in today's world is known as the materialistic concept of life.

The Quran says:

| 45:24 | This concept is not based on knowledge. | وَمَا لَعُمْ بِذَالِكَ مِنْ عِلْمٍ اِنْ عُمْ اِلَّا يَظْنُوْنَ |
|-------|---|--|

This is only guess work and goes back fourteen hundreds years or so. In our time, the new concepts and philosophic and scientific that have been formulated, state that the reality of time is quite different. This is only the beginning of research on this very difficult and sensitive topic. Now research says that life continues onwards. The passage of time weakens human body indeed, but it does nothing to his personality. It is not affected by time.

According to the Quran, Man is not only the physical being, but his personality. If it is developed according to the dictates of the Quran, then death can have no effect on it and it moves ahead to cover the other stages of life. That is why "دهر" (*dahr*) or time can not affect it.

The Quran has also termed the period when man had not even come into existence as "الْذَبْرُ" (ad-dahr).

| 76:1 | There has been a time for man when he was not | عَلْ أَتِّى عَلَى الْإِنْسَانِ حِيْنٌ مِّنَ الدَّهْرِ لَمْ يَكُنْ شَيْاءً |
|------|---|---|
| /0:1 | even a subject to be mentioned | مَّذْكُوْراً |

But this does not mean that time itself is to be mistaken as God. However, the debate about time or "دهر" (*dahr*) is very complex and is out of our purview. The Quran has used this word in the above meanings at two places only. At these places its meanings are very clear and distinct and simple, and to understand them no philosophical debate is required.

D-H-Q

د ه ق

"دَهَقَ الْكَاسَ" (dahaqal kaas): he filled the cup.

َ مَهَاءٌ دِبَاقٌ (*ma un dehaaq*): abundant water.

"كَأْسٌ دِبَاقٌ (kaasun dihaaq): clean cup, filled cup.

''الدَّبْقُ' (*ad-dahq*): to press hard.

"أَلدَّهَقَ" (ad-dahaq): vice.

أَلْمُدَهَّنُ (al-muddahaq): that which is pressed hard {T}.

(dihaaq): something stuffed, probably because something is filled in it by pressing hard.

The Quran says "كَأُ ساً دِبَاقًا" (*kasan dihaqan*) in 78:34 that is, clean and full to the brim cup. That is, this is the particularity of a *jannati* (heavenly) society. The right life should be like this. Full and pure, which contains everything that increases life, purity and movement and everything is abundant and pure. In which aside from catering to his physical needs, his latent capabilities are fully developed and purity of heart and sight are also present. The cups of life are full of pure and strengthening pleasantness.

Ibn Faris says this also contains the element of spilling over or movement aside from being full to the brim.

ألدُهْمَةُ (ad-duhma): blackness.

نَا السَّيَّْىُّ: الْسَيَّْى، (idhaamash shaiyi): the thing turned black.

(*idhaamaz zar'ah*): due to being watered the field became blackish. "الدُبَامَ الزَّرْعُ"

"خَدِيْقَةٌ ذَهْمَاءُ وَمُدْبَامَةٌ" (*hadeeqatun dahma-oo wa mud hammatah*): a green garden which seems blackish due to the vegetation. The Arabs also call dark green color as "نُبْمَة" (*duhma*) because the color resembles black, while light black color is called "خُضْرَرَة" (*khuzrah*) because it comes close to green {*T*, *M*, *R*}.

Ibn Faris says it means to cover something in darkness. Later, due to much usage the condition of blackness or darkness was also removed. The Quran, due to the heavy vegetation in the gardens of *jannat* (heaven) have called it "مُدْبَامَتُنَى" (*mud hammataan*) in 55:64. It also means a life which has reached the peak in freshness, flowering and delightfulness.

D-H-N

د ه ن

د ه م

``الَّذَبْنَةَ' (*ad-duhna*): slipperiness, greasy. (اَلَّتُبُنَّ): oil. (*أَهْدُبُنُ*): (*ak-mudhun*): bottle of oil.

(*idhan*): he rubbed oil (on his body) {*T*, *M*, *R*}.

The Quran says about the olives:

| 23:20 | It comes out with oil. (It has oil inside it). | تَنْبُتُ بالدُّهْنِ |
|-------|--|---------------------|

Ibn Faris says it means softness, ease and shortage.

(*ad-han*) means to misappropriate (from something which is kept in trust).

"أَلْمُنْدَابَتَنَ" (*al-mudaahana*): deceit, make believe, false, showy (as far as clever talk) is concerned. (أَلْإِدْبَانُ (*al-idhaan*): to deceive, to be a hypocrite, to be soft, to concede, to be unserious and untruthful *{T, M, R}*.

Surah *Al-Qalam* says:

| 28:9 They want you to shift a little then they too will shift a little. | وَ دُّوْالَوْتُدْ هِنْ فَيُدْهِنُوْنَ |
|---|---------------------------------------|
|---|---------------------------------------|

It means that they want to compromise their positions if you to do the same. But the person who is on right, by shifting embraces falsehood (*baatil*). Conversely, if *baatil* or falsehood shifts from its position, then it does not matter. It remains false.

Supposing *Zaid* says three plus three are six and *Bakar* says this is not so. Now an arbitrator tells one of them to move up a little and the other to move down a little so that three and three become five. *Bakar* stands to lose nothing because he was wrong the first time and would still be so. But Zaid will move from the truth to untruth or falsehood. This is the reason that *haqq* (truth) cannot move even a little from its position. It is fixed in its position. The established principles of this way of life do not have any capacity for any leeway.

In surah *Al-Waaqiah* at first it is said how great a book the Quran is and after that it is said in (56:81):

"أَفَبِإذَا الْحَدِيْثِ أَنْتُمْ مَدْبِنُوْنَ" (afabihaazal hadisi antoom mudhenoon) can have two meanings.

One is, "do you make any changes in this book by your glib talk?" Second is "do you use this book to move people away from the right path?" The meaning of both is actually the same. Monasticism does indeed do this. It amends the teachings of the Quran and moves people away from the right path, and only because they want to make a living (out of monasticism).

| 56:82 | You make this untruth the means of your earning? | وَبَحْعَلُوْنَ رِزْقَكُمْ أَنَّكُمْ تُكَذِّبُوْنَ |
|-------|--|---|
|-------|--|---|

"اَلِدَّبَانُ (*ad-dihaan*): red skin, or the dregs of oil *{T*}.

The Quran says that the sky will:

| 55:37 | (The sky) will be torn asunder | وَرْدَةً كَالِدَّهَانِ |
|-------|--------------------------------|------------------------|
| 70:8 | will become like molten metal | ػٙڵؠٛۿڸ |

| D-H-W/Y | د ه و /ی |
|---------|----------|
|---------|----------|

"دَهْياً" (dahah), تَدَهْياً" (dahya): he picked holes in it, criticized it, hurt him a lot.

"الدَّبِيَة" (ad-daahiyah): great thing, great misfortune.

"دَوَابِيَ الدَّبْرِ" (dawahiya addahr): the misfortunes or ills that time brings.

"أَلدَّبَاءُ" (ad-dahyo), "أَلدَّبَاءُ" (ad-dhaha): surprising cleverness, fine opinion.

"دَهِيَ" (*dahiya*): he worked very cleverly {*T*, *M*}.

"زَجْلُ دَاوَ" (*rajulun daahin*) means a very astute and clever person {*T*, *M*}. Most of the ills of this world are created due to the deceits created by people's intellect.

The Quran says:

| 54:46 | that moment of revolution will be extremely | وَالسَّبَاعَةُ أَدْهُم |
|-------|---|------------------------|
| 34.40 | misfortune and will come surprisingly | والساعة أدهى |

Ibn Faris says that "دَهْى" (*dahyun*) means for something unpleasant to make its appearance, but it comes before man so suddenly and in such a way that man is awestruck. A revolution or is something which appears suddenly and surprises onlookers.

D-W-R

د و ر

"دَوْرًا" (daar), پَدُوْرُ" (vadura), دُوْرًا" (daar): to revolve.

أَلَدَّوَّارَةُ (ad-dawarah): compass.

"ذَوَاءِرُ" (ad-dairah): circle. Plural is "دَوَاءِرُ" (dawa-ir).

"الدَّار" (*ad-daar*): house. Plural is "بَيالَ" (*diyaar*), because people move around in it, or come back to the place they have left from. It also means neighborhood, city, area, a place to stay or residence, as well as the world, and also time which keeps moving.

"ذارة (daarah): cycle of misfortune.

"أَلْمَدَانُ" (*al-madaar*): orbit {*T*, *M*, *R*}.

Ibn Faris says it means for one thing to surround another from all sides.

The Quran says:

| 9.98 | Annihilation and destruction surrounded them | مَانٍ. ٥ جَافِيهُ ال |
|------|---|----------------------|
| 9.98 | from all sides. (Surrounded them like a circle, | عليهم دايره السوء |

| encircled them). |
|------------------|
|------------------|

| يَتَرَبَّصُ بِكُمُ الدَّوَائِرَ |
|---------------------------------|
| |

In surah *An-Nooh* "نَيْارًا" (*diyaara*) in 71:26 means resident, one who dwells. It is also used to mean any one after a negative {*T*, *M*, *R*}.

"ذَاتُ الْأُلْخِرَةِ" (*daarul aakhirah*) in 2:94 has been used by the Quran several times as in 2:94. It means the house of the hereafter or the residence in the hereafter. That is, the life of the future and its comforts. See under heading (*A-Kh-R*).

Surah *Al-Baqrah* says about trade "تُديْرُوْنَبَا" (*tudeerunaha*) in 2:282, which you give and take. That is which you exchange mutually, move goods around.

D-W-L

د و ل

"أَلَدَّالَةُ" (*ad-dalah*): fame. "الدَّوْلَةُ" (*ad-daulah*): turn. "الدَّوْلَةُ بَيْنَبُهُمال" (*saaral fai'o daulatan bainahum*): the war booty was divided and began circulating {*T*}. "دَاوَلَ" (*dawaal*): to turn away.

Ibn Faris says it basically means for one thing to move to another place.

The Quran says:

| | These are the conditions which we keep changing | |
|-------|---|--|
| 3:139 | among men. (Sometimes it is one's turn, | تِلْكَ الْآيَّامُ نُدَاوِلُهَا بَيْنَ النَّاسِ |
| | sometimes it is another's). | |

تَدَاوَلُوْهُ" (*tadawalu*): they took it in turn *{T*}.

"خُوْلُمَّ" (*doolah*) and "خُوْلُمَّ" (*daulah*): some say they mean the same thing, that is, to revolve or move around, but others contend that "خَوْلُمَّ" (*daulah*) means for two armies to win in turn, that is, first one army is victorious then the defeated army overpowers the victorious one {*T*}.

"خُوْلُتَّ" (*doolah*) means the customs that keep changing. Some say it means something which keeps changing hands, while تَوَوْلُتَّ" (*daulah*) is the change that takes place {*T*}.

About the revolving of wealth, the Quran has said:

| 59:7 so that it does keep changing hands only among the rich or wealthy | كَيْ لَايَكُوْنَ دُوْلَةً بَيْنَ الْأَغْنِيَاءِ مِنْكُم |
|---|---|
|---|---|

This is a great economic principle which the Quran has related so simply. There is unease in the society due to wealth moving around only in the wealthy circles. According to the Quran, no one should possess extra wealth nor should wealth remain confined to certain circles. The government's money too should not only be spent among the wealthy circles. It should be spent for the common good.

D-W-M

د و م

تَوَامُ" (*dawaam*) means for something to stay as it is.

تَدَامَ الشَيَّةُ" (daamash shaiy'o) means when a thing lasts for a long time {T, R}.

"أَلْمَاءُ الذَّاعِمُ" (*al-maaud-dayim*): standing or stagnant water. "أَلْمَدَامُ" (*al-mudaam*): continuous rain.

Ibnul Aerabi says "دَامَ ٱلشَّىْءُ" (*daamush shaiyi*) means the thing revolved or turned. This word is also used for getting tired or to stop.

اللَوَّامَةُ (ad-duwamma) is a top which kids use to spin.

Ibn Keesaan writes that in "مَاذَامَ زَيْدٌ قَاءِماً" (*ma-dama zaid qaima*), ma means that when Zaid stands up, you do same {*T*, *R*}.

Surah *Ar-Ra'ad* says about the *jannat* (heaven), "كَانَا عَانَ" (*ukuluha daayim*) in 13.35, its fruits will last (forever). That is, the gainful things of the heaven will be lasting, will never cease to exist, there will be no shortage of Sustenance.

Surah *Hoodh* says:

| 11:108 | As long as the sky and earth remain in their | خَالِدِيْنَ فِيْهَا مَادَامَتِ السَّمُوْتُ وَالْأَرْضُ |
|--------|--|--|
| 11.108 | present state. (for a very long time) | حالِدِين فِيها مادامُكِ السموت والأرض |

For details see heading (*Kh-L-D*).

Surah *Aal-e-Imraan* says:

| 3:74 | Except if you stand at his head. (Pester him by | اِلَّا مَادُمْتَ عَلِيْهِ قَاءِماً |
|------|---|------------------------------------|
| 5.71 | your presence). | - * - , |

D-W-N

د و ن

َنُوْنَنُ (*doon*) is used for several meanings. As against 'نُوْنَنَ (*fauq*) or up, it means down.

بۇ دُوْنَه" (huwa doonahu): he is under him, below him. Sometimes it means near.

تزَيْدُ دُوْنَكَ" (zaidun doonak): Zaid is near you (in stature etc.). It also means to be in front.

"مَسْلَى دُوْنَه" (*masha doonahu*): he led from the front, walked ahead of him. It also means being beyond as "بُوَاَمِيْرٌ عَلَى مَادُوْنَ جَيْحُونَوه" (*huwa ameerun ala ma doona jaihoon*): he is the *ameer* (head) of the area beyond *Jihoon*.

It is also used to mean 'beside'.

وَيَعْمَلُونَ عَمَلاً دُوْنَ ذَالِكَ" (wa ya'malkoona amlun doona zaalik): they do other things beside it.

Muheet says the word means the opposites, such as in front and in back, up and down etc.

"تَنَيْنُ دُوْنٌ" (*shaiyun doon*): it means a lowly thing but it also means something respectable and good thing *{T}*.

مِنْ دُوْنِ" (*min dooni*) means beside.

The Quran says:

| 72:11 Some of us who do good deeds and some are at a lower level. | وَ أَنَّامِنًا الصَّالِحُوْنَ وَمِنًا <mark>دُوْنَ</mark> ذَالِكَ |
|---|---|
|---|---|

To mean except or to mean first, this word has appeared in 33:21 where it is said:

| 33:21 | We will make them taste the great punishment aside from or first, the smaller <i>azaab</i> (punishment). | وَلَنُذِيْقَتَّهُمْ مِنَ الْعَذَابِ اِلْادْنٰي <mark>دُوْنَ</mark> الْعَذَابِ اِلْاكْبَرِ |
|-------|--|---|
| 3:37 | Let not the <i>momins</i> make friends with other than <i>momins</i> . (not to be friendly with the deniers) | لاَيَتَّخِذِ الْمُؤْمِنُوْنَ الْكَافِرِيْنَ أَوْلِيَاءَ مِنْ دُوْنِ الْمُؤْمِنِيْنَ |

Likewise if the believers get friendly to the deniers then they too will be counted among them.

The Quran has used "مِنْ دُوْنِ اللَّهِ" (*min dooni-llah*) at several places. This phrase may means that they worship others beside Allah, and also that they do not reach (or observe) the laws of Allah. Before reaching there, they believe on man's self-made laws and *shariah* (way of life). There are many lords that man worships instead of Allah. These are not the gods of statues or idols but that of human emotions. These are gods of religious entities, the gods of powerful people, etc. These are the gods, which prevent man from reaching the only God and His laws.

Raghib says "نُوْنَ (*doon*) is used when somebody is unable to reach something. Hence, "مِنْ دُوْنِ اللَّهِ" (*min dooni-llah*) would mean to worship other things even before being able to reach God.

After the revelation of the Quran, there is no question of not being able to reach God, because following the instructions in this Book, which is before everybody, is the means to reach Him.

| D-Y-N | |
|-------|--|
|-------|--|

د ی ن

"بَالْنُوْنَ" (*deen*): this word is used for a lot of meanings as overpower, power, government, state, constitution, law and order, decision, solid result, reward and punishment, return etc. This word is also used for obedience and faithfulness $\{T\}$.

Lataif-ul-Lugha too says it means accountability, overpower, habit etc. *Kitaab-ul-Ashqaq* says it means obedience, way "دَأَبُ" (*daa-b*) and nation.

The Quran has used the word in all these meanings.

Surah Al-Baqrah says:

| r | | |
|------|---|----------------------------------|
| 2:13 | I have submitted myself to the Lord of the Worlds | ٱسْلَمْتُ لِوَبِّ الْعَالَمِيْنَ |

To bow the head before the universal Sustainer has been called "الَدَيْنُ" (*ad-deen*) in 2:131, 2:132. It has been called "الْإِسْلَامُ" (*al-islam*) in 3:18.

| The Qur | an says: | |
|---------|--|--|
| 56:86 | 86 those who are not under anybody | غَيْرَ مَادِيْنِيْنَ |
| 9:29 | they do not follow the law of God | وَلَايَدِيْنُوْنَ دِيْنَ الْحَقِ |
| 12:76 | the law of the authority holder | دِيْنِ الْمَلِكِ |
| 24:2 | God's law or the law of the government | دِيْنِ اللَّهِ |
| 9:36 | That is the law of stability | ذَالِكَ الدِّيْنُ الْقَيِّمُ |
| 24:25 | In that period, Allah's shall give them their justified way of truth | يَوْمَئِذٍ يُوَفِّيهِمُ اللَّهُ دِينَهُمُ الْحَقَّ |

As you see in 9:36, when surah *At-tauba* talks about the twelve months on which 4 are of prohibition, there too the word of "بَيْنٌ (*deen*) has been used for laws and authority. But in 24:25 "بَيْنٌ (*deen*) means the tern or results of ones deeds.

(deen) means the return or result of the deeds (that is, reward or punishment).

Ibn Qateebah says that it may also mean accountability. {Ibn Qateebah - Al-qartai vol. 1 page 4)}

Surah *As-Saffaat* says:

| 37:53 | Will We be accountable for your deeds? | ءَ إِنَّا لَمَدِيْتُوْنَ |
|-------|--|--------------------------|
| 57.55 | Will We get the return for your deeds? | ء آن لمدِينون |

The Quran has made the meaning of ''يَوْمُ الدِّيْنَ' (*yaumud deen*) clear by asking ''مَا أَذْرَاكَ مَايُوْمُ الدِّيْنِ' (*adraaka yaumud deen*) Do you know what the Day of the *Deen* is?

And proceeded to answer it as "يَوْمَ لَا تَمْلِكُ نَفْسٌ لِنَفْسِ شَيْاءً وَالْأَمْرُ يَوْمَءِذِ شَنْ (yauma la tamliku nafsun linafsin shaiyan wal amru yaumaizinlillah) in 82:18-19. During which time no man will hold any power or right.

In surah *Al-Fateha*, it is said:

| 1:3 | Time during which human life will be spent according to the law of Allah | لملِكِ يَوْمِ اللَّيْنِ |
|-----|---|-------------------------|
|-----|---|-------------------------|

The basic characteristic of such a life will be that no man will be superior to any other. The only authority will be that of Allah. This is a great freedom which man will enjoy under Allah's laws.

"نَيْنُ" (*deen*) also means habit, as well as the rain which habitually comes down in one place $\{T\}$. This meaning too holds the connotation of a sort of rule. Allah's laws are called the laws of nature in the universe, while i human world Allah's laws are received (by the messengers) through the revelation. This law is safe in the Quran in its completed and unalterable form. It is called "الدَينُ" (*ad-deen*), and to act according to it is called "الْالْسُلَامُ" (*al-islam*).

The fact is that in this world many different terms are used such as social system, rule of life, laws of government, constitution of the state etc. But the Quran has used one composite term instead of them all, and that is "لَدَينَ" (*ad-deen*). This is our social system, the rule or order of our lives, the law of our government and the constitution of our state. According to this constitution, only Allah can determine the limits of man permanently. Nobody else has this right, and Hence, in this way of life, the sovereignty belongs only to Allah. This sovereignty of His is exercised through the Quran. Therefore, practically speaking, sovereignty belongs to Allah's Book (the Quran) in this world. The Islamic government is only the means through which Quranic principles are implemented in this world, and since the criteria for man's deeds to be right or wrong is also this Book. Therefore, reward and punishment is also according to it. This brings Islamic justice in focus which means not only court justice but justice in all aspects of life. The constitution of an Islamic state is in other words the unalterable rules of the Quran. All matters of this Islamic state take place within the parameters of these rules. The purpose is to maintain a system of balance and justice. This is what *DEEN* is.

As such, *deen* would mean the God given system of life which determines the limits of our freedom and according to which our deeds are judged. In the era in which men become followers of this system, they will be free of all hegemony and only be subservient to Allah's laws, because the Lord of the period of *Deen* is no one else but Allah. Every decision in that period will be according to the laws of Allah, will be a *deeni* (according to the *deen*) decision and will be based on the norms of Quranic justice.

In surah *Al-Fateha*, along with the attributes of Allah of being the Sustainer, His system of justice has also been mentioned (*maaliki yaumiddeen* – the Lord of the Day of Judgment). It means that Allah has granted the accoutrements of life to man without any effort, but the determination of his stages will be according to his deeds. It is called a life according to Allah's law and justice, and this is what distinguishes man from animals.

About *Al-Medina*, some think that this word has come from the word *this* way of life meaning law and order. Since *Medina* is the central place from which law and order is controlled, some also think that it has come as a follow up of the word meaning obedience or following. Because in the city of *Medina* one has to be obey the law $\{T\}$.

Kitaab ul-Ashfaq says that this word was derived from Deen and was originally madinah.

Ibn Faris says deen basically has the connotation of obedience and the city is called Medina because the government in that city is obeyed.

"نَيْنُ" (*dain*): a loan because a borrower has to bend before the lender. "تَكَالُيْنَ" (*tadayun*): to deal in loan mutually, as in 2:282.

(*dain*) is that loan which has a time frame for repayment. The loan which has no time frame for repayment is not "دَيْنُ (*dain*) but called "فَرْضٌ (*qarz*) {*T*}.

Muheet, with the agreement of Taj says commonly "دَيْنَ" (dain) is a loan which is given for a fixed period on interest, but since the Quran has forbidden interest, as such for mutual loans among muslims, the word loan is for interest free loans only (2:282).

| 3:19 | The way of life which is close to Allah, is al-Islam | إِنَّ الدِّيْنَ عِنْدَ اللَّهِ الْإِسْكَرُمُ |
|------|---|--|
| 5:3 | And I have approved for you al-Islam as your way of life | وَرَضِيْتُ لَكُمُ الْإِسْلَامَ دِيْناً |
| 9:33 | He is the one who have sent His messengers with guidance and this way of life of truth to manifest it over all other systems of life. | هُوَ الَّذِيْ ٱرْسَلَ رَسُوْلَةٌ بِالْحُدَىٰ وَدِيْنِ الْحَقِّ لِيُظْهِرَةٌ عَلَى الدِّيْنِ كُلِّهُ |

As said earlier, the Quran has used the word several times and it means the order of life.

Also see 38:28

This is the *Deen* with which the Messenger (pbuh) was endowed. God is the one who sent His Messenger with the *deen of truth (deen-al-haqq)* so that he may implements it (system of life) over all the prevailing systems, no matter how abhorring it may be for the *mushrikeen* (those who follow other systems).

The word *mazhab* or religion has not been used even once by the Quran, Therefore, the word *mazhab* or religion must not be taken for *deen-e-Islam*. *Mazhab* is the way of life that has been designed by man, while *Deen* is the system which has come from God. This is the reason that there are many sects in religion whereas *Deen* considers sectarianism as '*shirk*' which is the greatest of sins (30:32). The *Deen* given by God is the same for everyone and there is no question of any sect in it. Sects are created by man by following different paths of life. God's *Deen* came to earlier dynasties of man (through the prophets) but they destroyed their celestial Books and instead adopted the ways of life created by men. Thus, they lost the *Deen* which was replaced by Religions.

But in the Quran, God has made the **Deen** secure in its original form. This **Deen** was the constitution of the state that was later created by the Messenger **Mohammed** (pbuh). We sidetracked the Book of God and started following the teachings given by man. Thus, we too, adopted religion in place of **Deen**. We are like the earlier nations in this respect, but we are still different in a way. They do not have the God given **Deen** in its original form and cannot replace their religions with the **Deen**. But we do have the Book of God in its real form. Therefore, we can replace our religion with the original **Deen** of Allah at any time we want (similarly other nations too, if they want, can adopt the God given **Deen** in the Quran). Until we do so, we cannot reach life's destiny.

"نَوْنُوْنَ" (zai): this. The feminine is "خَوْنَ" (zih). "خَوْنَ" (zihi), "خَوْنَ" (zihee): up to. For two it is "تَوْنُوْنَ" (zaan) or "تَوْنُوْنَ" (zain). For feminine it is "تَوْنُوْنَ" (taan), "تَوْنُوْنَ" (tain). And plural is "وَلَاءِ" (oolaa-i) which is generally preceded by "بَانَ (haaza) for masculine and "بَلْذَا» (haazehi) for feminine. This pontification is for a near thing. For a distant pontification, it is "دَلِكَ" (zaalika) with feminine "تَلْكَنُ" (tilka). If we are addressing a man we will say see that thing or "دَالِكُمْ" (zaalika). If we are addressing two men we will say "دَالِكُمْ" (zaalikuma). If there are many men, we will say. "دَالِكُمْ" (zaalikum). If the addressee is a woman, we will say "دَالِكُنَ" (zaalikun).

| 2:255 | <u>Who</u> can dare stand with anyone in his place (who can dare to support anyone in His kingdom). | مَنْ ذَاالَّذِيْ يَشْفَعُ عِنْدَهُ |
|-------|---|--|
| 2:219 | They ask you what should be kept open (available). | يَسْعَلُوْنَكَ مَاذَ يُنْفِقُوْنَ |
| 20:63 | They are merely sorcerers | اِنْ لْهَذَانِ لَسَاحِرَانِ |
| 2:2 | This is the book | ذَالِکَ الْکِتَابُ |
| 2:141 | This was a group or party which has passed away. | <mark>ىِلْكَ</mark> أُمَّةٌ فَدْحَلَتْ |
| 28:32 | These two are clear reasoning (signs). | قَنَانِكَ بُرْهَانْنِ |

"نَذَا" (*za*) has different uses. For instance:

As said earlier, "ذَالِكَ" (zaalika) is used for pointing at a distant thing as well as a near thing.

Surah Ar-Room says:

| 30:30 | With the nature of Allah's laws that He has created for mankind. There can not by any change in what Allah's law creates | فِطْرَتَ اللَّهِ الَّتِيْ فَطَرَ النَّاسَ عَلَيْهَا لَا تَبْدِيْلَ لِخَلْقِ اللَّهِ |
|-------|--|---|
| 30:30 | This is the lasting <i>deen</i> | ذَلِكَ الدِّيْنُ الْقَيِّمُ |

Or in surah Bani Israel:

At all these places "ذَالِكَ" (zalika) is for pointing to a near thing i.e. "this".

As against this in the tale about *Moosa*, it is said:

| 18:64 that was the place we were looking for | ذَالِکَ مَاکْنَّانَبْغِ |
|--|-------------------------|
|--|-------------------------|

Here "ذَالِك" (zaalik) is for pointing at a distant thing i.e. "that".

Raghib says "ذَالِک" (*zalik*) is indeed used for a distant thing but that is not the only thing meant by it. It is also used for anything which is on a higher plane and Thus, distant. No matter if that thing is physically near. So "ذَالِكَ الْحَيَّابُ لأَرَيْبَ فِيْمِ" (*zalika la raiba feeh*) in 2:2 would mean "*this book, about which there is no uncertainty*".

ذَالْكِفْلِ Dhalkifli

This name has been used by the Quran in respect of a messenger (21:85, 38:48), but he has not been mentioned besides these verses. He is probably the messenger *Ezekiel* who has been mentioned in the *Torah*. Also see under heading (*K*-*F*-*L*).

It is the nick name of Messenger *Yunus* who probably is the same as Jonah in *Torah* (21:87). For details see headings '*Yunus*' and '*Noon*'.

ذأب Dhaab

"اَلَذَعِبْ" (*az-zeib*): wolf, as in (12:13).

(*az-zaab*): to frighten, to condemn, using harsh voice $\{T\}$, to use impolite talk.

"ذَأَبَ الرَّجْلُ (zaabar rajul): the man shouted loudly {M}.

Ibn Faris has said that it means transition, unease.

It also means a moment of a thing which is from no particular direction. "تَذَابَت الرَّبْح" (*tazabbatir reehu*): the breeze came from all sides.

A wolf is called "نَوْعَبُ" (zeib) because it sometime approaches from one side sometimes from the other.

ذأم Dh-A-M

''يَذَاَمَتُ'' (*zamah*) ''يَذَأَمَّرُ'' (*yazaamuh*): to consider somebody lowly or condemnable. It also means to accuse, or defame, or to harshly tell someone to get out *{T, M*}.

Raghib says it means condemnable.

(*azaamah*): Frightened and awed him {*T*, *M*}.

The Quran says about the *Iblees*.

| 7:18 | Told insulted and belittled (or harshly) to get out. | قَالَ اَخْرُجْ مَنْهَا مَذْئُوْماً مَدْخُوْرًا |
|------|--|--|
|------|--|--|

ذب ب Dh-B-B

"نُبَابُتْ" (zabaab): flies. Singular is أَنْبَابُتْ" (zubaba).

Muheet says with reference to *Jaahiz* that in addition to all kinds of common flies"دُبَّابٌ (*zubaab*) covers bees and mosquitoes {*M*}.

The Quran has said:

| كَنْ يَخْلَقُوْا دُبَاباً they will not be able to create even a fly |
|--|
|--|

Flies are called "نَبْتَكُ (*zubaab*) because they are driven away, or because they are never at rest in one place. This root contains both connotations.

Ibn Faris says the root basically means unease and movement.

Raghib says that "أَلَنَّبُدُبَة" (*az-zab-zaba*) means the sound of something that is hanging. Then this word began to be used for every movement and unease (that is fluctuation and uncertainty) **{***R***}**.

"بَعِيْرُ ذَابٌ" (*bayeerun zaab*): a camel which does not stay in one place {*T*}.

"خَبْنَابَة" (*zab-zabah*): This word should perhaps be under heading Dh-B-Dh-B, but many linguists have placed it under Dh-B-B. Because of its meaning of being a share of something, we have also included it under this heading.

| | an says about the <i>munufiquen</i> (the hypothics). | |
|-------|--|---|
| 4:143 | Wavering between that | مُذَبْذَبِيْنَ بَيْنَ ذَالِكَ |
| 4:143 | neither wholly on this side nor wholly on that side | لَالِي هُوءُ لَاءٍ وَلَا اِلْ هُوءُ لَاءِ |

The Quran says about the *munafiqeen* (the hypocrites):

It is these very people about whom it is said:

| 22:11 | who sit on the fence and observe the laws of Allah | مَنْ يَعْبُدُ اللَّهُ عَلَى حَرْفٍ |
|-------|--|------------------------------------|

If gains are received on this side, they lean here, and if gains are perceived on the other side, then they lean towards it. Like a fly, nobody can predict where it will go next.

| 41:30 | Once they accept God as the <i>Rabb</i> (Sustainer) then they stick to it. | إِنَّ الَّذِيْنَ قَالُوْا رَبُّنَا اللَّهُ ثُمَّ اسْتَعَامُوْا |
|-------|--|--|
|-------|--|--|

Belief and stability are the hallmark of a *momin* (peace maker). As against a hypocrite who is opportunist.

"نَبْحَ" (*zabah*), "يَنْبَحْ" (*yazbah*): to slaughter, to split, to tear apart {*T*}.

Ibn Faris also says that these are its basic meanings.

"ذَبَحَتْهُ الْعِبْرَةُ (zabahatul abrah): tears choked him.

"التَنْشِيخ" (*at-tazbeeh*): to slaughter deeply, to bend the head so much that it gets lower than the waist. (*at-tazbeeh*): the thing that is slaughtered $\{T\}$.

The Quran says about *Bani Israel* that:

| 2:49 | (the people of the Pharaoh) killed your sons (<i>ibna</i>) and kept your daughters (<i>nisa</i>) alive. | يُذَبِّحُوْنَ ٱبْنَاءَ كُمْ وَيَسْتَحْيُوْنَ نَسَاءَ كُمْ |
|------|---|---|

This is generally taken to mean that the *Pharaoh* had ordered to kill every son that was born and to keep the baby girls alive. The question to ponder is whether "يُذَبِّحُوْنَ (*yuzabbihoona*) means actually to slaughter or something else.

Surah *Al-Airaaf* has used "يَدُبَّقُوْنَ" (*yuqteloona*) instead of "يَدُبَّحُوْنَ" (*yuzabboon*) in 7:149. Here it says that they used to kill your sons and kept your daughters alive. It is Therefore, clear that the Quran has used "تَدَبِّخٌ" (*zabah*) and "تَدَبِّخٌ" (*qatal*) in similar meaning.

It has to be seen what "قَنْلُ" (*qatal*) means. This word has been debated in detail under the heading (Q-T-L). There you will see that it means not only to kill, but also to weaken or demean or make ineffective. It means to make something so ineffective that its presence or absence is made the same. It means to belittle somebody. It also means to deprive someone of knowledge and training. See these meanings under heading (Q-T-L). It is thought that here "قَنْلُ" (*qatal*) means not to kill (the sons of *Bani Israeel*), but to weaken them, demean them or make them ineffective.

The arguments against the notion that is really means "to kill" are as following.

- 1) In the time of *Moosa*, the nation of *Bani Israel* was huge. If the male kids in any society are killed and only the females are allowed to live, then after a time the nation will cease to exist. *
- 2) Moosa's elder brother Haroon was alive and present and Moosa too was not killed immediately after birth. This also shows that the boys of the Bani Israel nation were not killed immediately after birth
- Surah Yunus says in 10:83 that the youth of *Moosa's* nation believed in him. See under heading (Z-R-R). If the boys of the *Bani Israel* were killed immediately after birth then this youth would not exist.
- 4) When *Moosa* came to the *Pharaoh*, he said, we have nurtured you and were your benefactors and you are repaying us Thus,. In reply *Moosa* said: "you remind me of the benevolence but you have enslaved the nation of Bani Israel (26:22)". Here *Moosa* has accused the pharaoh of enslaving the nation of *Bani Israel*. If he had also ordered killing of new born boys of that nation, *Moosa* would have certainly accused the Pharaoh of this deed first. Because killing children was a much more severe crime than enslaving. But, nowhere in the Quran has *Moosa* accused the Pharaoh of so doing.

* Some books claim that Pharaoh killed 90.000 children of Bani Israel.

These facts show that the Pharaoh and his ilk did not kill the boys of the Bani Israel. It may be argued if this was not the case then why did *Moosa's* mother leave him to drift in the river in a box? First, bear in mind that the Pharaoh is said to have ordered killing of new born males at the time when *Moosa* had come with his revolutionary message. (As long as the right meanings of these verses are not made clear, we will continue with the traditional meaning i.e. to kill the children of the Bani Israel.)

Surah *Al-Airaaf* says, that seeing the effectiveness of *Moosa's* message, the leaders in the Pharaoh's nation asked the Pharaoh why no harsh measures were taken against him? Why was he left free to do as he wanted? In reply the Pharaoh said he had a plan! And that is: "we will murder their boys and let the girls live" (7:127). From this it can be seen that this was said when *Moosa's* message spread. This order did not prevail at the time of *Moosa's* birth. Surah *Al-momin* makes this clearer where it is said that when *Moosa* went to the Pharaoh with the message of God, he said: ""those who trust in *Moosa's* God, kill their sons and let their women live" (40:25). Thus, it is clear that this order was issued at the time when *Moosa* came with the message, and not at his birth. Besides, this order was not for the entire Bani Israel nation but only for those who entrusted themselves to *Moosa*, or his God.

These facts show that at the time of *Moosa's* birth, this order was not in force. When this order was not in force then it is not right to believe that God wanted to keep him alive in this manner. Why was then *Moosa* set out to drift in the river? The Quran has answered this question. The *Bani Israel* had entered Egypt in the time of Yusuf who gained an exalted position in Egypt. This respect would have reflected positively on his nation, the Bani Israel, and would have lasted some time even after Yusuf. But *Bani Israel* were later enslaved by the rulers. Even today, subjugated nations are worth almost nothing but in those days subjugated nations were almost like slaves. According to God's plan, *Moosa* was born to oppose the Pharaohs. For this purpose, he needed to be educated and trained at a high level. For this aim, it was destined that he grows up at the Pharaoh's palace itself. He should spend the early years as the Pharaoh's adopted son. This was the reason that he was set to drift and land at the Pharaoh's palace. The Quran says this was done so that he could be brought up under our watch (20:39). This meant good training from which the children of Bani Israel were barred. This was a link to the program and *Moosa* was being readied for this campaign. A little further, it is said "in this manner, O *Moosa*, you came up to Our standards" (20:41).

It will be related further ahead that those who had belief in *Moosa's* God were spared by the Pharaoh, then why did he order killing of the new born babies? What was their fault?

Surah *Al-Qasas* says that *Moosa's* mother was told to:

| 28:7 keep feeding him in the riv | nim, and when you fear for him, then put er | ٱرْضِعِيْهِ فَإِذَا خِفْتِ عَلَيْهِ فَٱلْقِيْهِ فِيْ الْيَمِّ |
|-------------------------------------|--|---|
|-------------------------------------|--|---|

This is taken to mean that the Pharaoh had ordered the killing of male children. But Quranic evidence is there to refute this line of thinking because the Pharaoh's order came when *Moosa* was a grown man and had brought Allah's message. We have to attribute some other cause for this fear. Further ahead it is said that when Pharaoh's people found the box (with *Moosa* in it in his infancy), the pharaoh's wife said "do not kill him, we shall adopt him" (28:9). This too is taken to mean that in those days, Israeli kids were killed. But this is not a right guess because how was it known that the baby that had been rescued from the waves, was an Israeli kid and not a kid from among the Pharaoh's nation?

As such "لَا تَقْتُلُونُ" (*la tuq tulu*) in 28:9 would not mean "do not kill him", but "do not throw him out as an insignificant being". See heading Q-T-L.

So what is the right meaning of "مُوَيَسْتَحْيُوْنَ نِسَاءَ مُمْ وَيَسْتَحْيُوْنَ نِسَاءَ مُمْ "(yuzabb-oona abna ahum wa yastahyoona nisa ahum)?

We have seen that this was during the time that *Moosa's* message was spreading and the Pharaoh perceived this as a threat to his dominance. In addition when his advisers had asked him why nothing was being done about it, he had replied that he had a plan (7:127), and this was the plan (to perform *qatal* of *ibna*). The Quran has termed this scheme as "غَنِيْ (*kaidun*) in 40:25 which means a deep conspiracy.

About the Pharaoh, surah *Al-Qasas* says:

| 28:4 ł | he used to divide and rule | وَجَعَلَ أَهْلَهَا شِيَعاً يَّسْتَضْعِفُ طَائِفَةً مَنْهُمْ |
|--------|----------------------------|---|
|--------|----------------------------|---|

Later it is said:

| | He used to yuzabbuh (tear apart) their ibna | |
|------|---|--|
| 28:4 | (strength), and let the <i>nisa</i> (weak) to be <i>yastahi</i> | يُذَبِّحُ أَبْنَاءَ هُمْ وَيَسْتَحْي نَسَاءَهُمْ |
| | (live). | |

He wanted to divide the nation of Israel into different parties so that they would be busy in struggling against each other. Every ruling nation indulges in this kind of conspiracy. Later after dividing them into parties he used to subjugate the party which he perceived was a strong threat to his rule. He used to humiliate and demean them, while he used to elevate the foppish or weak people. This too is practiced by every conquering nation. A dictator nation always keeps the subordinated nation divided. The strong section is always ridiculed and demeaned, while the weak and insignificant portion which they fear no danger from, get promoted.

The Quran has defined the strong and brave portion of a nation as "أَبْنَاءٌ" (*ibna*) and the weak portion of a nation as "أَيْنَاءٌ" (*ibna*). Hence, by "قَتْلُ أَبْنَاءَ" (*qatl-ibna*) the Quran means demeaning of the strong and brave section of a nation, while "وَيَسْتَحْي نَسْنَاءَهُمْ" (*yastahyai nisa'akum*) means to elevate weak section of a nation. In this way, he was weakening the *Bani Israel's* entire nation. The Quranic evidence points to this that *qatal* or *zabah* of *ibna'a* means this.

But this is only an assumption and can be given more thought. One can understand what the Pharaoh's order to kill the sons of those who believed in *Moosa* means (40:25). That is, his plan was to divide the entire Bani Israel into different parties so that those who were a threat to him could be made ineffective so that nobody listened to them. See this meaning of *qatal* under heading (*Q*-*T*-*L*). Otherwise, it is not reasonable to kill the sons of those who believe in Moses (and spare the believers themselves). In addition, this is a fact too that when the sorcerers of his court said that they had started believing (in *Moosa's* God), he ordered them to be hanged, not to kill their sons.

This shows that the phrase "نَبْح ٱبْنَاءَ" (*zabhi abna'akum*) and "السُتِحْيَاءِ نِسَاء" (*istahya'i nisa'akum*) has been used as a metaphor. This does not mean actually to slaughter them.

But as said earlier, this is an educated guess. If this reasoning is considered weak then "نَبْح اَبْنَاءَ" (*zabha abna'a*) will be taken to mean what its literal meaning is i.e. the Pharaoh used to kill the boys of *Bani Israel* but up till now the history of ancient Egypt mentions no such murder or killing. Perhaps history may yet reveal such incidents. Up till now the *Torah* relates that the Pharaoh had ordered the killing of *Bani Israel's* boys (*Kitaab Khurooj*). But we all know historically how correct the *Torah* is.

In surah *Al-Ma'idah* the animals which were sacrificed on the altar of statues (gods) were called " مَانُبِحَ (*ma zubha alan nusub*) in 5:3.

Surah *As-Saffaat* says that when *Ibrahim* got ready to sacrifice his son, and his son Ismail became ready to be sacrificed, then We called out to him to desist and "فَدَيْنَهُ بِذِبْحٍ عَظِيْمِ" (*wafadainahu bizibhin azeem*) (37:107): saved Ismail in exchange for a great sacrifice.

As is evident from various places in the Quran, this "بَنِيْحَ عَظِيْمَ" (*zibhi azeem*) (great sacrifice) was that instead of the ruler ship of the green area of Syria, he was chosen for the caretaking of Kaba in the desolate land of Arabia. This was a lifelong sacrifice, not only for his own whole life, but also for the coming generations.

| 37:108 | And We left for him among the later folk | وَتَرَكْنَا عَلَيْهِ فِي الْأَخِرِيْنَ |
|--------|--|--|
|--------|--|--|

(For more details see my book *Jooye Noor* and the matters about the Bani Israel in my book *Barq-e-Toor*).

ذخر Dh-Kh-R

"نَخْرَ" (*zakhar*), "يَنْخَرُ" (*yazkhar*): to take something, to make it one's own, to hide something so that it may be used when required.

Ibn Faris says to keep something hidden for its safety.

```
الِدَّخَرَ" (ad-zakhara), "لِدِّخَارَ" (id-zikhaar): also means the same as "نَخَرَ (zakhar). "الدَّخَرَ ال
```

(id-zikhaar) was actually "اِذْتِخَارً" (id-zikhaar). "اِدْجَارً

"الْمُدَّخِرُ" (*al-muzakhir*): a horse who does not use all of his strength in running but preserves some *{T}*. (*al-zakhir*): plump, fat. *{M}*

Surah *Aal-e-Imran* says:

| 3:49 And what you hoard in your houses | وَمَا تَدَّخِرُونَ فِي بُيُوتِكُمْ |
|--|------------------------------------|
|--|------------------------------------|

It seems that Jesus (since he had come with a true revolutionary message) was averse to the hoarding habit of the Jews. This is a pontification of that.

ذرأ Dh-R-A

"ذَرَأَلأَرْضَ (zaral ard): sowed the seed (in the ground) $\{T\}$.

تَذَرَ اللهُ الخَلْقَ" (zara allah-ul-khalq): Allah created the creatures and increased them, made it abundant.

The Quran says:

| 42:11 He ke | ps increasing you and spread you | يَذْرَؤُكُمْ فِيْهِ |
|-------------|----------------------------------|---------------------|
|-------------|----------------------------------|---------------------|

Surah *Al-mominon* says:

| 23:79 | He is the One who increased you and spread you on | بي الآرية في المراجع ا |
|-------|---|--|
| 25.19 | this on this earth. | هُوَ الَّذِيْ ذُرَّاكُمْ فِي الْأَرْضِ |

Some think that "نَرْرَيْنَ" (*zurriyyah*) has come from "نَرْرَأَ" (*zara*) but others say it has come from "نَرْرَيْنَ" (*zarr*) that we have mentioned under (*Dh-R-R*).

ذرر Dh-R-R

"الْذَرُ" (*az-zarr*): very small ants. The specks (dust) particles we see in the sunlight. The singular is "الذَرُ" (*az-zarru*). A very small and light thing is also called "ذَرَعَّ" (*zarrah*). (*zarrah*): "ذَرَعَّ" (*zarrah*):

Surah Al-zalzalah says:

| 99:6 And whose doeth good an atom's weight | مَنْ يَعْمَلْ مِثْقَالَ ذَرَّةٍ |
|--|---------------------------------|
|--|---------------------------------|

Ibn Faris says it means finesse and spreading.

نَزَرَّالْمِلْخَ عَلَى اللَّحْمِ" (zarral milha alal lahm): He sprinkled the meat with salt.

َنَرَ الْحَبَّ فِي الْأَرْضُ: (zarral hubba fil ard): He sprinkled the seeds in the ground {T}.

"أَلْدُرِ بَنْ" (*az-zuriyyah*): a man's progeny whether male or female. Sometimes it is also used for one's parents and grandparents. This word sometimes means the opposites $\{T\}$. (We will read more about it further ahead).

Raghib says it actually means young children but sometimes it also means both young and older children, and is used as plural as well as singular. Some say the root of this word is (zara) which means to create and increase $\{L\}$.

َنَرَ الْبَقْلُ: (*zarral baql*): the vegetable budded.

The Quran has used the word "تُرَيِّنَة" (zurriyah) to mean descendants or generation (2:124).

Surah Yasin says:

| اِنَّا حَمَلُنَا ذُرْتِتَهُمْ فِي الْفُلُكِ (36:41 And We bear their offspring in the laden ship | 36:41 And We bear their offspring in the laden ship | اِنَّا حَمَلْنَا ذُرَّيَّتَهُمْ فِي الْفُلْكِ |
|--|---|---|
|--|---|---|

Here "الذَّرِيَّة" (*zurriyah*) means all, big and small. Because of this verse (36:61), some attribute the meaning of progeny and grandparents to the word "الذَّرِيَّة" (*zurriyah*), and this is why it has been accepted to mean the opposites. But research shows that the Quran has never used this word for grandparents, but only for descendants (6:88).

Verse 36:41 also clarifies the meaning if we take "الْفُلُّك الْمَسْحُوْن" (*al-foolkil mash hoon*) as the arc of *Nouh* which was built according to the revelation and "خُرَيَّة" (*zurriyah*) to mean the young generation of humans of that time. This will leave no ambiguity in the meanings of the verse.

Surah Yunus says:

| 10:83 | So nobody believed <i>Moosa</i> except the youth of his | فَجَامَهُ الْمُدْسِلُ الْأَرْبَيَّةُ مِنْ قَوْمِهِ |
|-------|---|--|
| 10.05 | nation | کتا میں دِمهومیتی رو فرید مِن مورمدِ |

Some say it means very small number of people {*Ibn Abbas*}. Others say it means the youth of that nation {*Abul Kalam Azad*}. We think the second meaning is clearer. The youth accept a revolutionary program more readily. The older people are more dogmatic about their previous dogmas. Also, due to the age factor, they have little capacity for adopting new things. It is the youth that accept a revolutionary program which is against oppressiveness without any fear. Also see under heading (*Dh-B-H*).

"لَذَرَاغ" (az-zara'a): the part of the arm from the elbow to the end of the middle finger. It is also used to mean the wrist, and also a measure $\{T\}$.

Surah Al-Kahaf says:

| 18:18 | Their dog had both forelegs on the ground | وَكَلْبُهُمْ بَاسِطٌ ذِرَاعَيْهِ |
|-------|---|----------------------------------|
|-------|---|----------------------------------|

"نَرْعُمْ كَذَا" (zarohu kaza): it is of such length {M}.

| 69:32 | it is seventy hands long | ذَرْعُهَا سَبْعُوْنَ ذِرَاعاً |
|-------|--------------------------|-------------------------------|
|-------|--------------------------|-------------------------------|

Ibn Faris says it basically means to be long and move forward.

"مَالَى بِهِ ذَرْعٌ" (*maali bi zarun*): I do not have recourse to it *{T*}. "سَعَقَلَتُ بِهِ ذَرْعٌ" (*zdiqtu bi zar'a*): to have no capacity for doing something.

| Surah <i>Hood</i> says about Loot: | | |
|------------------------------------|--|----------------------|
| 11:77 | In their matter, he found himself in capable | ضَاقَ بِحِمْ ذَرْعاً |

"النَّزَرِيْعَة" (*az-zuriyah*): the she-camel which is used as a shield while hunting *{T}*. It means any means which is used to reach the goal.

ذر و Dh-R-W

"ذَرَت الرِّيْح الشَّيْءَ وَرُوَّا" (zaratir-raehoosh-shaiya warwa): the wind blew it away.

الْحِنْطُةَ يَذْرُوْبَا ذَرُواً" (*zaralhintata yazruha zarwa*): he threw the wheat in the air to separate it from the chaff.

"فَقَذَرَتْ (fatazarrat): the wheat became free of the chaff.

َّذُرَاوَةُ النَّبْتِ" (*zarawatun nabt*): the dry parts of a plant which fall away and are blown away by the wind. تَذُرُوَةُ السَّيْءِ" (*zurwatush shaiyi*): the higher part of a thing *{T*}.

| Surah Al-Kaif say | s: |
|-------------------|----|
|-------------------|----|

| 18:45 the winds blow it around | تَذْرُوْهُ الرِّلِحُ |
|--------------------------------|----------------------|
|--------------------------------|----------------------|

Surah *Az-Zarriyat* says:

| 51:1 | By those scattering, dispersing | وَالَذَّرِيْتِ ذَرْوًا |
|------|---------------------------------|------------------------|
|------|---------------------------------|------------------------|

"ذَرْوٌ (zaru) means to disperse, spread around.

"بَالَزَّارِیْ" (*zaar*), "لَذَارِیْ" (*az-zaari*): one who spreads, one who disseminates, the forces which are the means of dissemination, the force which spreads the word around in the world, the means of communication and dissemination (media).

ذعن Dh-Ain-N

"لَدْعَنَ" (*az'an*): to be quick in obedience, in following, to obey a command with alacrity.

"نَاقَةٌ مِذْعَانٌ (*naaqatun miz'an*): an obedient camel.

"مُذْعِنِيْنَ" (mud'ineen): those who became followers or obedient quickly (22:49) {T}.

"أَذْعَنَ لَمَ" (*az'ana lahu*): bowed before him and became obedient to him {*T*}.

Muheet while quoting the literal meaning of "لَاذْعَانُ" (*al-iz'an*) says it means heartfelt intent and solidity after deliberation or hesitation.

"ألإِذْعَانْ" (*a-liz'an*) has different stages and the lowest is called opinion and the best is called *Iman* (trust/conviction), and between these two is the stage of mere custom and tradition $\{T, L\}$.

ذق ن Dh-Q-N

(*az-zaqan*): chin *{T}*. Plural is ''أَذْقَانَ'' (*az-zaqan*) as in 36:8. It figuratively also means the face.

| 17:107 They fall on their faces | ؽؚ <i>ؚ</i> ؖٷ۠ۏ۫ڶڸڵٳ _ۼ ۮؙڡٙٵڹؚ سؙۥڿۜٙۮ۠ٵ |
|---------------------------------|--|
|---------------------------------|--|

"الَتَذْكُرُ" (*az-zikru*) and "التَذْكُارُ" (*at-tazkaar*): to make something safe, to make something present in the heart (to imagine something as present). This word has been used against "نَسْئَى" (*nasee*) in 6:68. (*nasiyun*) means to forget something, and as such "نَكْكُرَ" (*zikr*) would mean to recall something. (*izkarahu*), "نَدَكَرَهُ" (*istazkarah*), "نَدَكَرَهُ" (*tazakkirah*): ordinarily mean to memorize something,

but scholars say there is a slight difference in the meaning of the words.

"زِنَكَرَ" (*izkar*) is actually "زِنَتَكَرَ" (*iztutakar*). The "''" (*z*) has been omitted because it is heavy on the tongue. Then "''" (*taa*) was amalgamated in "'2" (*daal*). Ergo this word was created.

"أَلَتَذَكِرَة" (at-tazkirah): something which reminds one of the need (79:29).

"الِذِّكْرِي" (*az-zikra*): reminder.

تَكَرَحَقَّ: (zakara haqquhu): his right was protected, not lost.

"أَ ذَكُرُونِغْمَةُ اللَّهِ عَلَيْكُمْ" (*ozkuru ne'matallahi alaikum*): do not waste the benevolence (favors of) Allah on you and protect them *{T*}.

"ذِكْرُ" (*zikr*): fame as well as to speak kind words about someone, and to respect. It also means "a lesson". *Zikr* also means the book which contains the details about *Deen* and laws about the nation $\{T\}$.

"الْنَكَرُ" (*az-zakar*): a strong and brave man, the hardness and sharpness of a sword *{T}*, also means male when used against "أَنْنَى" (*unsa*), as in 3:35.

"مُذَكِّر" (muzakkar): masculine, the opposite of feminine, severe troubles which only men can face {T}.

The Quran has been called "الذَّكُرُ" (*az-zikr*) as in 16:42, because it contains the laws about nations and also historic events. Those who deliberate about the things in the universe have been called "التَّحُرُونَ" (*liqaumin yaz zakkaroon*) as in 16:13. The struggle against anti-God forces has also been called *zikr*. That is, the struggle to bring the laws which they (the *mushrikeen*) have ignored (20:42, 20:34). Hence, to be steadfast in the battlefield and Thus, strive to give dominance to Allah's laws have been called *zikr*, as in 8:25. It also means not to ignore the laws of Allah, even in the battlefield, and to always keep them in mind. The laws of Allah themselves are *zikr* as mentioned in 39:23 to mean respect and greatness.

This word has been used in 23:70 as well as in 43:44 where it has been said about the Quran:

| 43:44 | The secret of your greatness and that of your nation is in following the Quran. | اِنَّهُ لَلَبِحُرٌ لَکَ وَلِقَوْمِکَ |
|-------|---|--------------------------------------|
|-------|---|--------------------------------------|

Surah Al-Qamar has said "مُذَكِرُ" (muzakkir) to mean "one who recalls" in 54:15.

Surah *Ad-Dahar* says that there has been a time when man was unremembered "الْمُ يَكُنْ شَيْاءً مَذْكُوْرًا" (*lam yakan shaya mazkoora*) (76:1). Here *mazkoora* means something which has come into existence by itself and which is established *{T, L}*.

In surah *Al-Baqrah*, (2:152) God says "نفَاذْ كُرُوْنِى ٱذْكُرْكُمْ" (*fa azkuruni azkarkum*). This means that if you uphold my laws then I will protect your rights and grant you greatness and grandeur.

That is, if you follow My laws then their delightful results will certainly be in front of you. Here, it must be noted that the initiative is from Man while God only answers it. The sort of deed that is committed by man gets the same sort of result (i.e. good result for good deeds and bad result for bad deeds). Therefore, "خُنُ (*zikrullah*) or the *zikr* of Allah means the following of Allah's orders (and not merely turning the beads of the rosary). The definite result of following these orders is respect and greatness and domination over anti-God forces. For *Ibrahim* to go and confront the Pharaoh (with God's laws) is *zikr* and "تَسْبَيْتُ" (*tasbeeh*). For the meaning of "تَسْبَيْتُ" (*tasbeeh*), see under heading (S-B-H). To be steadfast in the battlefield is *zikr*. To deliberate upon the things of this universe is *zikr*. To keep Allah's laws before one, at every step in every aspect of life is *zikr*. To propagate these laws is also *zikr*. This in today's world is called broadcasting and publishing.

This is the very "نِكْرُ اللَّهُ" (*zikrullah*) which gives "real" peace to a man (13:28). The 'real' has been added because transitory and artificial peace or satisfaction can be obtained through untrue religions as well. Real peace is obtained through deep insight. The only time we reach the conclusion that something is true

is when we have deliberated on something deeply, or when the final results of deeds are before us. Only under these circumstances do we achieve real peace, which is peaceful both for the heart and mind. False peace (satisfaction) is obtained by deceiving oneself. Real peace accrued to the group of *momineen* in the battlefield of *Badr* when they defeated an army three times their size (3:125). Peace is not obtained in secluded rooms or places.

"نَكَاعْ" (dhaka) basically means for a thing to be completed.

Khalil says ''الذَّكَاءُ فِي السَّنِّ' (*al-dhaaka'o fis-sin*) means mature age in which a man's capabilities reach their peak.

"اللَّكَانُ" (*adh-dhaka'o*) means the sharpness and completion of intellect and wit. "دَكِيٌ" (*dhakki*) is one who understands quickly, one who has very sharp intelligence. "دَكَتَ النَّارِ" (*dhakatin naar*): the fire flared *{T*}.

Ibn Faris says it basically means sharpness and implementation.

"اللَكَكِيَّةَ" (*adh-dhakiyyah*) means to slaughter an animal. "دَكَكَانَّ" (*dhaka*) means temperature and "دَكَكَانَّ" (*dhakka*) means the temperature was taken out.

| The Qu | ran says: | |
|--------|------------------------------------|------------------------|
| 5:3 | Excepting that which you slaughter | اِلَّا مَا ذَكَّيْتُمْ |

ברך Dh-L-L

نَزَلَعُ: (*dhillah*), ''ذَلَالَةُ'' (*dhalalah*): when hardness and dogmatisms of something gets to its end, and it becomes obedient.

Raghib says "الذَّلُ" (*adh-dhull*) means to bend, because when anger and power bow or bend, the harshness becomes mellow on its own. He has also written that when "الذَّلُ" (*adh-dhill*) is not due to external pressure, it is no more a condemnable trait.

تَلُوْلُ" (*dhalool*), plural is "نَأَلُّ" (*dhulul*): one who becomes obedient {*T*}.

| | Surah | Al-Bag | rah | says |
|--|-------|--------|------------|------|
|--|-------|--------|------------|------|

| 2:71 | The ox which has not been harnessed in the plough. | اِنَّهَا بَعَرَةٌ لاَّذَلُوْلٌ |
|------|--|--------------------------------|

تَعَيْرُ الْمَنَأَجِ" (*air-ul-muzillah*): an ass which is laden heavily and who is being driven with the help of a stick *{M*}. This brings the right concept of "نَاِلَتُ (*dhillat*) before you, which is used for "disgrace".

تَذُلِّلُ الْكَرْمُ تَتَلْيُلاً.» (dhullilal karmu tazlila): the bunches of grapes were made low (bent down) {T}.

The Quran has used "تُعِزُ" (*tudhillu*) against (ألل نُوْلُ) in 3:25.

"غِزَّت" (*idhat*) means as described therein, to get the government and state (i.e. power) and "غِزَّت" (*dhillat*) means as also described therein, to be deprived of power.

Surah *Yasin* says about cattle:

| 36:70 | Humans have domination over them. | وَجُوهُ لَمَا يَرُوا المُحْدِينَ المُؤْتِينَ المُؤْتِينَ المُؤْتُ المُوالِقَالَ المُوالِقَالَ المُوال |
|-------|--|---|
| 36:71 | They have been made subservient to man | فهم ها مارمون- ودلسها |

Surah *Taha* says "نَذِلَ وَنَخْزَىٰ" (*nadhilla wa naanadhraa*) in 20:134. It means that in the battlefield this word has come to mean weakness. Also see (3:122).

In surah Al-Ma'idah the particularity of the momineen has been described as:

| 5.51 | Humble towards <i>momineen</i> and stern towards | اَذَاًته جَابِ الْمُعْدِينَ أَمِنَّة جَالِ الْكَافِرِينَ |
|------|--|--|
| 5:54 | kafireen | الجِلَةٍ على المومِرِين أغرزه على الكافرِين |

Ibnul Airabi says here "أَذِلَّةٍ عَلَى الْمُؤْمِنِيْنَ» (*azillatin alal Momineen*) means the same as "رُحْمَاءَ بَيْنَبَّهُمْ (*ruhama bainahum*) as in 48:29. That is, they are friendly and kind to one another, while hard on the enemy.

جَنَاحُ النَّلِّ: (janahadhul): It has appeared for softness and hospitality and kindness.

The Quran has termed a life of "نذلت" (*dhillat*) and weakness as punishment of God (2:61). This ignominy is in this world and can be seen by everybody (7:152). As against it, it has been said that the life of the *momineen* is a life of power and greatness.

| 63:8 | Power and domination is for Allah, his Rusool, His | وَلِلَّهِ الْعِزَّةُ ولِيَسُوْلِهِ وَلِلْمُؤْمِنِيْنَ |
|------|--|---|
| 03:8 | group or party. | وليه الغرة وترشونه وللموميين |

The life of the *momineen* is "أَعْلُوْنَ" (*a'loon*) as it has been said in 3:138. It's a life of domination and power (24:55). Thus, a life which does not have power and domination is not a life of the *momineen*.

The ignominy in this world is a punishment from Allah.

| 2.61 | And humiliation and misery struck on | وَضُرِبَتْ عَلَيْهِمُ النَّلَّةُ وَالْمَسْكَنَةُ وَبَاءُ وْ بِغَضَبٍ مِنَ اللَّهِ |
|------|--|---|
| 2:61 | them and they drew wrath on themselves | وصربت عليهم الكلة والمسكنة وباء وتتبعضب مين اللهِ |

They were hit by ignominy. That is they became deserving of Allah's punishment.

To believe that by handing this world over to others and to live a life of helplessness and deprivation and ignominy, one can attain spiritual development, is a false concept. This is a mirage that is passed on by the stronger nations to the weak and subjugated nations.

The Quran has come to shatter this false concept. It has openly declared that power, respect, grandeur, wealth, etc. is the natural result of trusting Allah's laws and doing good deeds. A life of deprivation, poverty, ignominy and subjugation is Allah's punishment. It is also said that whoever is in a bad condition in this world, cannot be near Allah in the Hereafter. He whose present is dark will also have a bleak future.

| 20:124 | He who ignores our laws, his earnings will beconstricted and on the Day of the Judgment. We will raise him blind | وَمَنْ أَعْرَضَ عَنْ دَكْرِيْ فَإِنَّ لَهُ مَعِيْشَةً ضَنْكاً وَّخَشُرُهُ يَوْمَ الْقِيٰمَةِ أَعْمِي |
|--------|---|---|
|--------|---|---|

We can all judge ourselves against this criterion.

ذمم Dh-M-M

"مَدَّتَّ" (*dhammah*), "يَدُمُ" (*yadhummah*), "يَدَمَّتَ" (*dhamma*), "يَدَمَّتَ" (*madhamma*) are all opposite of "مَدَّتَ" (*madah*) which means to praise. It means that these words mean to bad mouth someone. (*istadham*): he did a condemnable thing.

(*bi dhamimah*): he cannot go out of the house due to some sickness or some misfortune {*M*}. "تَمْدُوُمْ" (*madhmoom*) has been used in 68:49 in these meanings.

(*dhimmah*): any responsibility, pact, agreement, or oral agreement that is not fulfilled and Hence, is condemnable $\{M\}$. It is also used for breaking a pact a man is liable to, and Hence, condemned $\{R\}$.

"اللفَمَّة" (adh-dhimmah): protection, patronage, guarantee.

"لِنْمَى" (*dhimmi*): the man who is under a pact, he who has been assured of protection, or he who has been guaranteed in every way.

| يَنْقُبُوا نِيْكُمْ إِلاَوَلاَذِهَةً they do not respect any agreement or pact | The Qur | an says: | |
|--|---------|---|--|
| | 9:8 | they do not respect any agreement or pact | لا يَرْقُبُوْا فِيْكُمْ اللَّوَّلَاذِمَّةً |

For details, see heading (A-L-L).

(*adh-dhanab*): tail. تَنَنَبَّهُ" (*dhanbahu*): he tailed him (followed his tail). "مَسْتَذَنِبَّ" (*mustadhnib*): a man who follows right behind a camel. "الَذُيَابُ" (*adh-dhinaab*): the back part of anything. "دَنَنِبَهُ الْوَادِىْ (*dhanbatul wadi*): the last part of the valley. "لَذَنَابَهُ" (*adh-dhunabah*): one who follows behind.

Raghib says that "النَّنْبُ" (*adh-dhunb*) basically means the back part of anything or the tail. Hence, it means every deed which has a bad ending. The result of any deed is Therefore, called "نَنْبُ" (*dhanb*) because it follows the act {*M*}. This word is also used to mean sin and crime.

The Quran says:

| 91:14 | they were destroyed by their Sustainer due to their crimes | فَدَمْدَمَ عَلَيْهِمْ رَبُّهُمْ بَذَنْبِهِمْ |
|-------|--|--|
| | | |

So in the above verse, the meaning is of crime.

"نَنْتَبْ" (dhanab) also means a mean person.

Since a tail is always behind an animal, Therefore, "نَنُوْبٌ (*dhunub*) is also those allegations which are in a way stuck to somebody's back. "أَقَفُوَنُ (*al-qifwah*) means a tail but it also means allegation. See heading (Q-F-W)

Surah *Al-Fateh* says about the Messenger *Mohammed* (*pbuh*):

| | _ | This great victory is being granted so that you are | |
|-----|---|--|---|
| 48: | 2 | protected from all the allegations that your opponents | لِيَغْفِرَ لَكَ اللَّهُ مَا تَقَدَّمَ مِنْ ذَنْبِكَ وَمَاتَاخَّرَ |
| | | level against you or will level against you. | |

The opponents used to say that the Messenger's claims (God forbid) are false. He is demented. Somebody had worked a spell on him. He paints rosy pictures with no basis and deceives people. God says this great victory, which has broken the back of the opposing forces, is proof of the fact that at last you were proven right. See more under heading (Q-D-M).

"نَنُوْبٌ" (*dhanoob*) means a horse with a bushy tail. It also means a big bucket (used to fetch water from a well) which is full of water, while if it is empty then it is called "نَنْوُ" (*dalu*). It also means a day of unending miseries.

Surah Adh-dhurriyaat says:

| 51:59 | those who are being oppressive will share the fate of those who were like them | فَإِنَّ لِلَّذِيْنَ ظَلَمُوْا ذَنُوْبٍاً مِثْلَ ذَنُوْبٍ أَصْحَاكِمِمْ |
|-------|---|--|
|-------|---|--|

Taj, *Muheet* and *Raghib* say that "نَنُوُب" (*dhanub*) means share or luck. It is Therefore, that the above verse has been translated as such.

Some people out of humbleness call themselves sinners etc. "مُذْنِبْ" (*mudhanb*) or sin is a crime against God's laws. When we do not like being called criminals, then why call ourselves sinners (even if it is only out of humility)? If we have actually committed some crime then we should be ashamed of it rather than make it a distinguishing mark!

"نْهَابْ" (*dhahaab*): to go, to pass by. "ذهبَ بِهَ" (*dhahaba behi*): to take away. "ذَهَبَ عَلَى كَذَا" (*dhahaba alayya kaza*): I forgot that thing.

If "غَنْ" (*un*) appears with "نَبْبَ" (*dhahab*), then it means to leave, while if "غَنْ" (*ila*) comes with it then it means to be attentive $\{T\}$.

Kashaaf says that "زَنْبَيْنَ" (*adhaabahu*) means eliminated it, pushed it away or took it away (46:20). "زَنِبَتَ بِهِ" (*dhahaba behi*): took him away along with him. That is, went with him {*M*}.

The Quran says "نَبَبَ اللهُ بِنُوْرِبِمْ (*dhahaballahu benoorihim*) in 2:17. Here it means to take away, not to go along with him.

"أَلْمَنْبَبْ" (*al-madh-hab*): to go, a place to go to, the way to go, the method to follow, the concept towards which one leans, religion to follow. It also means the latrine where one goes for defecating. The Quran has not used this form of the word "مَذْبَبَنُ" (*madh-hab*) anywhere. For "Islam" the word "فَذُبَنُ" (*deen*) has been used.

"تَمَذْبَبُ" (madh-hab) actually means "a school of thought".

In the beginning the word for Islam was only "يَدِيْنَ" (*deen*), when different sects were created due to thoughts of different scholars, religion or *madh-hab* replaced *deen*.

"ذَبَبَ فِي الدِّيْنَ مَذْبَباً" (*dhahaba fiddeen madh-haba*): he followed a certain concept about *Deen*. "فَلَانٌ يَذْبَبُ الِلَى قَوَّل اَبِيْ حَنِيْفَةَ" (*falanun yazhabu ila qaului abi hanifah*): man follows the sect of *Imam Hanifa {L}*.

This way the **Deen** (the way of life which Allah had given us) was lost and various religions which were attributed to different personalities began to flourish. Until and unless these religions are not erased, **Deen** will be pushed kept hidden in the background. By "erasing" the religions, it means that they should only be given the importance that they are a way of thinking, not a way to live by as **Deen** is. Alternatively, these were the details which they had determined according to their time. They were not permanent. Permanence is only for **Deen** which is contained in the Quran. As such, whatever has come to us in the form of religion from our forefathers must be judged on the criterion of the Quran. Whatever the Quran says to be right must be taken to be right, and whatever it says is false must be rejected.

As far as philosophical details are concerned, they cannot be permanent because they will be determined according to the time we are passing through, under the overall guidance of Quranic laws. Since in the West, Christianity only holds the status of a religion, Therefore, they also call Islam a religion (whereas it is a *Deen*). The concept of *Deen* has been eradicated, and Islam too was understood to be a religion among other religions of the world, although Islam is a *Deen* (way of life) not religion.

About the basic meaning of the word religion, there is a difference among scholars but they agree on the meaning "respect for the gods". Thereafter the worship of any meta-physical being was called religion and this is the meaning which currently holds sway. (See the Century Dictionary). Obviously, Islam is not a religion in this sense, because it is a complete code of life. Therefore, Islam must not be called "religion".

Religion or *madh-hab* is the product of the times when the human mind or knowledge was in its infancy. Man could not understand that the events in this universe take place according to the laws framed by God. Since he did not understand their cause, he genuflected before them and tried to woo them with presents and sacrifices. He used to find ways with which he could reach them, and looked for someone to intervene between him and them. Man's own superstition created the gods and goddesses and Thus, he began to worship them. Those who were cleverer made themselves out to be near the gods or their friends and exploited simple folk. They began to be worshipped themselves. Thus, were the institutions of religious leadership and spiritual rulers. The ruling clique too came close to them and Thus, became the 'avatar' (incarnations of God). The simple folks were taught that they (the religious and temporal rulers) had been granted powers by the gods. All these concepts together made up religion that prevails even today among humans.

To dispel this falsehood of religion, *Deen* continued to be presented by God through the Messengers. It made man realize his true place in the universe. It also said everything in the universe is working according to the laws made by God and man had been given the knowledge to harness these forces and utilize them for the benefit of the entire human race. It (*Deen*) has supported its claims with reasoning and invited man to accept them with his knowledge and insight. God's *Deen* is completely secure in the Quran and is a living challenge to religion. Since man's knowledge and insight is increasing, the supremacy of religion is being eroded. Thus, the path for the establishment of the *Deen* is being prepared. The world is gradually becoming frustrated with the concepts of capitalism, hegemonies and religious leadership. These are signs to that God's *Deen* will one day bloom with all its delights. Now man is reaching a mature era and can neither be frightened of his own superstitions nor be content with false happiness. Now it can only be content with the solid facts of life which cannot be found anywhere else but in the Quran.

"الَنَبَبُ" (*adh-dhahab*), as used in 18:31, means the gold which has been purified after being mined. The gold which is still within the mine and which has not been melted and purified is called "ثِنْرُ" (*tibr*). "ثِنْرُ" (*mudhahab*): anything which has gold plating.

"نَبِبُ الرَّجُلُ" (*dhahabir rujul*) is said when a man is awestruck by seeing a lot of gold in a mine. "لَلْأَبْبَةُ" (*adh-dhihbah*): slight rain or largesse *{T*}.

Ibn Faris says it basically means to go, as well as beauty and freshness.

ذ ه ل Dh-He-L

"دَبْلُ عَنْهُ" (*dhahlah*), "دَبْلُ عَنْهُ" (*dhahala unhu*): to leave, to give up something even though there is some contact, or to give up knowingly, or to forget due to being engaged in something else.

Some say " \underbrace{i}_{i} (*dhuhool*) means for the memories of the beloved to fade away and despite its absence, for the heart to be happy and feel no loss $\{T\}$.

Muheet has added that "نَبُوْلُ" (*dhuhool*) means to give up one's beloved one due to some fright. "نَبْكُ" (*dhahil*) means for someone to lose his/her senses *{M*}.

Ibn Faris says the word basically means to forget about something due to worries and troubles.

The Quran says:

| 22:2 | When you see it (<i>Qaiyamah</i>) every mother will stop feeding her child and every pregnant woman will abort her fetus. | يَوْمَ تَرَوْنَهَا تَذْهَلُ كُلُّ مَرْضِعَةٍ عَمَّا اَرْضَعَتْ وَتَضَعْ كُلُّ ذَاتِ حَمْلٍ حَمْلَهَا |
|------|---|---|
|------|---|---|

This is said about the frightening aspect of that 'moment' (the Day of the Judgment). But if it is taken to mean the revolutionary era, then it draws a picture of our times in which no woman wants to feed her baby and no woman (despite being married) is willing to be pregnant. And they do not feel any compution at giving up these feminine duties but instead they are very happy. They consider these things to be a hindrance in their other engagements.

"نَيْتَلْ" (*dhahal*) connotes all these meanings. It also means the troublesome lives that we lead and in this way become oblivious of our other responsibilities.

"نُونُونُ" (*dhaween*) and "نُونُونُ" (*oolu*). Feminine form is "نُونُونُ" (*dhaat*). Feminine plural is "نُواتَان" (*dhawataan*). According to a rule "نُوَ" (*dhu*) can sometimes become "نُونٌ" (*dhee*) or "نُواتَان" (*dhaa*).

| 2:280 | one who is poor, has poverty | ۮؙۅ۠ۛڠؙؙڛ۠ۯٙۊ۪ |
|-------|---|-----------------------------------|
| 41:51 | one who prays for long | فَذُوْ دُعَاءٍ عَرِيْضٍ |
| 2:177 | Relatives | دَوِيْ الْقُرْبِي |
| 18:18 | on the right and left side | دَاتَ اليعِيْنِ وَذاتَ الشِّمَالِ |
| 3:153 | whatever is inside the heart (whatever thoughts are in the mind) | بِذَاتِ الصُّدُوْرِ |
| 55:28 | scholars of different sciences and arts | ذَوَاتَا أَفْنَانٍ |

Dhulqarnain (

ذوالقرنين

"نوالقرنين" (*Dhulqarnain*) was the kind king of Persia who liberated the Jews from the captivity of the Babylonians, and allowed them to settle down in Jerusalem. The Quran has discussed him in detail in surah *Al-Kahaf* 18:83-101. For details see heading (Q-R-N).

ذود Dh-W-D

أَلْذُوْدُ" (*adh-dhud*): to drive, push away, to scold and oust, to remove.

"أَلْمِذُوَدُ" (*al-midhwad*): the place where the animals are fed; it also means the horns of the ox with which he defends himself or keeps others away from him $\{T, M, R\}$.

Ibn Faris says it basically means to separate something from another and make it one sided.

Surah *Al-Qasas* says that when *Moosa* reached *Madyan*, he saw that people's animals (which came later) drank their fill and departed, but two girls stood there and waited with their animals (presumably for their turn). "تَدُوْدَان" (*tadhudaan*) as used in 28:23 means that those animals strained at their leash to get a drink but the girls restrained them. This has been termed as "اللَذَوْدَنَ" (*adh-dhood*). *Moosa* was surprised as to why these girls had been restraining their animals from getting a drink. He asked the girls about this and they replied:

| 28:23 | We cannot let our animals get a drink as long as these (powerful shepherds) do not return after that their animals have had their drink. | حَتَّى يُصْلِوَ الرِّعَاءُ |
|-------|--|----------------------------|
|-------|--|----------------------------|

They also told him the reason for this:

| | (We are girls and weaker than men) and our father is | |
|-------|--|----------------------------|
| 28:24 | very old. Therefore, we cannot dare to let our animals | وَٱبُوْنَا شَيْخٌ كَبِيْرٌ |
| | drink before these others. | _ |

Note how the Quran has told the entire human story in a few words. This has been happening all over the world that the animals of the strong or wealthy drink first (these people are prioritized) and if later anything remains, then the poor animals can have a lifesaving drink.

QES-Norway

Only those who come with a celestial program are the exception to this rule. It is their duty to let the weaker animals drink in their turn, exactly as *Moosa* did.

| 28:23 (Without any remuneration) arranged for the girls' animals to have a drink. | فَسَقَى هُوَ |
|---|--------------|
|---|--------------|

This is what the Messengers came for, and their left system will do likewise (7:22). That is, the sources of sustenance that are currently dominated by a few will be made available to entire mankind. *Moosa* had not been declared a messenger yet, but he was naturally inclined towards such (good) deeds.

ذ و ق Dh-W-Q

"ذَاق" (*dhaaq*): to find out the taste of something, to taste $\{T\}$.

Raghib says this word actually means to eat a little.

Ibn Faris says it means to eat something and find out about its internal condition.

Then it began to be used for every experiment $\{M\}$. That is, to have the experience of something.

| 7:22 when they had experienced the "شجره" (<i>shajarah</i>) (fraction) | فَلَمَّاذَاقًا الشَّجَرَةَ |
|--|----------------------------|
|--|----------------------------|

"ذَاق" (adhaaq): to let someone have a taste of something (16:112).

"دَايِفَة" (*dhaaiq*): one who tastes, one who gains the experience (3:182). Feminine form is "دَايِفَة" (*dhaaiq*): *iqah*)

In the Quran, this word has generally been used with punishment, although at some places it has also appeared with "رَحْضُ" (*rahmah*). This means that man should feel his deeds in such a way as to have tasted or experienced them, so that he knows firsthand what may be the result of that deed.

ذىع Dh-Y-Ain

"کَاعٌ" (*dha'a*), "کَاغٌ" (*yadhi'o*): to spread something, for something to become common. (اَذَاعَ سِرَّهُ): he disclosed his secret and made it public knowledge.

Zajaj says it means to call out and tell the people, to announce {T, M}.

The Quran says:

| 4:83 | When some information about peace or | وَلِذَاجَائَهُمْ أَمْرٌ مِنَ الْأَمْنِ أَوِ الْخَوْفِ أَذَاعُوْابِهِ |
|------|--|--|
| 4.05 | fear reaches them, they spread it around | وإدابت كلهم الكر نين ألا لكن أو الحوث التاعوابي |

"لَرْزَاسْ" (*ar-raas*), plural is "رُنُوْسٌ" (*ruoos*) basically means head, or the top part of anything. "رَيْئِيْسٌ" (*raiys*) can therefore be used for head or leader of a nation.

Ibn Faris says it basically means to come together and to be elevated or high.

``رَأْسُ الْمَالِ`` (*raasul maal*): capital. '`الَرَّ الْسُ '`الْمَرْ لُغُسْ): the subjects (the ruled) *{T*}.

The Quran says in context of the performance of *Hajj*:

| 2:196 | Do not shave off your heads. | وَلا تَحَلِقُوا رُثُوسَكُمْ |
|-----------------------------|------------------------------|-----------------------------|
| (See under heading (H-L-Q). | | |
| | | |

| For capital wealth it is said: | | |
|--------------------------------|----------|------------------------|
| 2:279 | Capital. | رُتُوْسُ أَمْوَالِكُمْ |

R-A-F رأف

"ألرَّأَفَّهُ" (*ar-rafah*), "رافت" (*rahma*) and "رافت" (*raaft*) are words with similar meanings.

Muheet says "رَأَفَة" (*rafah*) means to free you of matters that are harmful, and "رَأْفَة" (*rehmah*) is to benefit you.

This has been supported by *Al-minar* which says that the result of "رَافَة" (*rafa*) is to banish the ills, while "رَحْمَة" (*rahmah*) is to grant benefits in abundance. {*Al-minar* vol-II page 122}. Therefore, "رَحْمَة" (*raoof*) and "رَحِيْمَ" (*rahim*) together cover both negative and positive aspects.

Hence, it means to remove or banish such things or matters which are harmful, and prevent the smooth development of one's being, and together with that, provide such things that are helpful for development.

As to how Allah's "رَافَت (*rafat*) and "رَحْمَت (*rehmat*) are, it is said in surah Al-Bagrah:

| 2:143 | Allah never lets someone's eeman (faith) go unprotected and never leaves him with no result, He is | وَمَاكَانَ اللَّهُ لِيُضِيْعَ إِيْمَانَكُمْ- إِنَّ اللَّهَ بِالنَّاسِ لَرَقُوْفٌ |
|-------|---|--|
| | raoofur raheem. | ڗۜڂؚؿؗؠٞ |

That means, He removes all the obstacles that hinder a man's faith bearing result and creates good results of the faith. Therefore, his *rafat* and *rehmat* are the result of faith. This is the right way for humanity to develop. Faith means to believe in the veracity of God's laws and to make it one's life's duty to obey Him.

Since generally the feeling to banish someone's ills is created by the softening of the heart. As such " \hat{c} is " \hat{c} " (*raafeh*) also means softness.

In surah *An-Noor*, it has been said regarding the punishment for fornication:

| | Do not be soft in implementing God's orders. (Do not | |
|------|--|---|
| 24:2 | be soft thinking that the punishment will hurt them | وَلَا تَأْخُذْ كُمْ بِمِمَا رَأْفَةٌ فِي دِيْنِ اللَّهِ |
| | and thus not punish them (the fornicators) at all) | |

Because, if the criminals are not punished, then how can the victims be redressed. Christianity was soft on the criminals out of pity which made them brazen and gradually the religion had to be confined to the churches and politics became unbridled. The Quran has said about monasticism that it was a fabricated sect (or concept) and the wrong interpretation of "رَئُوفْ رَحِيْمٌ" (*raofur-reheem*). 57.27 Islam teaches justice for which the forces that commit excesses have to be broken. Therefore, it requires harshness along with kindness. See under heading (Gh-L-Zd).

رأى **R-A-Y**

َرُؤْيَةٌ (rooyah): to comprehend some material thing.

This word is used for seeing with the eyes, or have insight, or to dream or think about it.

Johri says that when it appears with one subject, only then it means seeing with the eye, and when two subjects appear with it then it means to acquire knowledge or to know.

Raghib says that when it is followed by two subjects then it means knowledge and when it is followed by "(ila), it means to look at a thing (or deliberate on something) so that it imparts a lesson $\{T\}$.

Muheet says that "رَأَى رُوْيَةً" (*ra-ai rooyah*) means to see with the eyes. "رَأَى رُوْيَةً" (*rowayah*) means to dream and "رَأَى (*raaya*) to deliberate or see from the heart. That is, deeply deliberate on something.

"أَلْمَرْ أَقْ" (al-marai, "أَلْمَرْ أَةْ" (al-mar'ah): scene.

َ (*al-mirah*): mirror.

"اَلرُّؤْيَا" (arrooyah): dream.

"لَرَأَى" (*arrayu*): opinion, thought, to have an opinion about a matter which is not definite *{T}*. "لَرَ أَيْتَكَ" (*araaitak*) as used in 107:1 is the way the Arabs usually say: "will you inform him?", or "will you tell me?"

"نَائَمْ تَرَ الْلَّهُ تَرَ اللَّهُ عَنَ اللَّهُ عَنَ اللَّهُ عَنَ اللَّهُ عَنَ اللَّهُ عَنَ اللَّهُ عَنَ اللَّهُ عَنْ اللَّهُ عَنْ اللَّهُ عَنْ اللَّهُ عَنْ اللَّهُ " (alam tara ila) is said at a time of surprise. It means "do you not see?" That is, don't you wonder about it? $\{T\}$. But at the times when these words are spoken, it is also an invitation to look at the thing with a view to learning a lesson.

Surah *Aal-e-Imran* says:

| 3:12 | They were seeing them twice of them with the sight of their eves | يَرَوْنَهُمْ رَأْى الْعِيْنِ |
|------|--|------------------------------|
| | | |

Here it comes for reiteration and to clarify, as we say "seen with my own eyes" etc.

Surah *Maryam* says "نَرِنْياً" (*ri'ya*) in 19:74 where it means a scene or apparent condition. "رِنَائَالنَّاسِ" (*ria-annaas*) as in 2:264, means "for people's sake", i.e. only to show people.

| 4:142 sho | now the people | ڔؚٵٙٵڶڹۜۜٳڛ |
|-----------|----------------|-------------|
|-----------|----------------|-------------|

"بَمْ يُرَاءُ وْنَ" (*hoom yuraoon*): they show the people that they are true followers but they have lost the soul of *salaah*. That is, the fountainheads of sustenance which should be kept open are blocked (for personal gains) and denied to people (107:7)

Surah *Al-Momin* says:

| 40:29 | I tell you only that which I comprehend | مَاأُرِيْكُمْ إِلَّا مَا أَرِي | |
|-------|---|--------------------------------|--|
| | | 1 | |

Surah *Ash-Shura* says:

"بَادِيَ الرَّأَى" (baadiar ra'ya) as in 11:27, but for its meaning, see under heading (B-D-W).

"زَبْنَ" (*rabb*) means to nurture or to develop. That is, to pass a thing through ever-new changes or stages so it gradually develops and reaches its ultimate destination $\{R\}$. It can be explained just as Mother Nature passes a particle through several stages and changes it into a pearl while gradually nurturing it on its way $\{T\}$.

This method of nurturing is called "ربوبيت" (raboobiyat).

"رَبَّ وَلَدَهُ رَبَّا وَرَبَبَّہ" (*rabba waladahu wa rabb wa rabbanah*): he brought up the child, looked after him till he became an adult.

Hisaan bin Saabit's verse says the (one who is praised) is more beautiful than the pure and white pearl that has been nurtured in the depths of the sea.

Ibn Faris says it basically means

- to look after something and beautify it.

"ألرَبْ" (*ar-rabbu*), "خَالِقٌ (*maalik*), "خَالِقٌ (*khaliq*), all mean one who looks after and improves a thing.

- to stay unmoved and stable.

"أَرَبَّتِ السَّحَابَةُ بِبِذِهِ الْبَلَدَةِ" (*arabbatis sahabatu behaazehil baladah*): the cloud kept hovering over the city or kept raining.

- To join something with something. Therefore, to continuously nurture and fine tune a thing is called "ربوبيت" (*raboobiyat*).

Figuratively, patting a child to sleep is called "رَبَّتِ الْمُرَأَةُ صَبِيبًا" (*rabbatil mar'atu sabiyyaha*) {*T*}, because the time a child sleeps peacefully has a direct bearing on his growth.

For correcting something and establishing its solidarity, it is said "رَبَّ" (*rabba*), "يَرْبُّ (*yarubbu*), "رَبَاً" (*rabba*) {*T*} and also to gather something and increase it continuously.

''رَبَابَةٌ' (*ribaaba*) is the pack in which a lot of arrows are kept. (رَبَّ الدَّهْنَ) (*rabbud duhn*): he improved (refined) the oil and made it perfumed {M}.

Since the result of nurturing is positive flowering, " $i \notin (arribbah)$ also means the plants which do not wither even in winter but they are evergreen $\{T\}$.

"أَلْمَرَبُ" (*al-marabbu*) is the land which is evergreen with trees and plants $\{T\}$. "الْحُرَّبُ" (*ar-rubbah*) means a lot of bushy trees, a very big party (nearly of ten thousand or so) or the abundance of luxuries $\{T\}$.

Al Qateeba writes that a party is called "رِبِّي (rabbiyi). Its plural is "رَبِيُّن (ribiyyoon) {T} (See 3:145).

"ألَّرْبَابَ" (*ar-rababah*): layer upon layer of the clouds {*T*}. "أَلَرْبَبُ" (*ar-ribab*): sweet (potable) water which has gathered somewhere in abundance {*T*}. "الَرْبِيْبَة" (*ar-rabibah*): pact or agreement. It also means the state, because in a state one nation mingles with the other {M}.

"أَلَرْ بِيْبَنُ" (*ar-rabibah*) is the singular of "زَبَائِبُ" (*rabayib*). It means a girl who comes with a woman and who are the progeny of the woman's first husband. The she-goat which is nurtured at home rather than the grazing fields so that its milk can be had when required *{T*}.

The above makes the meaning of "رَبِّ" (*rabb*) clear, as the one who nurtures. It means one who takes something to completion, one who arranges, and one who improves. Therefore, the nation's leader is called "رَبُّ الْقَوْم" (*rabb-ul-qaum*), and the man of the house is called "رَبُّ الْقَوْم" (*rabb-ul-gaum*) means that he took the affairs of the state in hand and led the nation {*T*}.

"رَبْ" (*rabb*) can also mean elder brother {*Muntahil Arab*}. When the *Bani Israel* said to *Moosa*: 5:24 you and your elder brother (Haroon) should go and fight the enemy.

It is possible that they were being sarcastic when they said that.

"لَرَبَّانِيُّ" (*ar-rabbani*): that which is attributed to Rabb, or the teacher who first nurtures the mind of his pupils by first giving them small doses of knowledge before giving really big ones. Every scholar is called "رَبِّيَّنَ" (*rabbani*), as well as those with the right knowledge {*T*}. "رَبِّيَّنَ" (*rabbani*) is also used in these meanings.

The Quran begins with:

| 1.1 | every beautiful aspect of the universe is an epitome of | اَلْحُمْدُ لِلَّهِ رَبِّ الْعَالَمِيْنَ |
|-----|---|---|
| 1.1 | praise for the Sustenance by the Rab | احمد للهِ رب العالمِين |

Everything in the universe is testimony to the fact that a wonderful program or scheme is at work. In this program a seed, while traversing different stages of nurturing, reaches fruition. This is what the system of God's sustenance is. Allah is praiseworthy because He nurtures everything.

Just as this system of God's sustenance is at work automatically in the internal and external universe, so should human beings implement and establish His *Nizaam-e-raboobiyat*, that is, the system of sustenance in their social lives. The way to do it is to make the fountainheads of sustenance as well as the capabilities of the humans available to all. Thus, all of humanity's latent capabilities will flourish and reach their completion or peak. Those who establish such a system will be called *rabbaniyyoon* (3:78) and this system can be established by following the Quranic system. This is the crux of all Quranic teachings. That is, the establishment of God's sustenance. Since this involves man's physical being as well as his personality, it is the duty of an Islamic state to establish a system which caters not only to every individual's needs but is also conducive equally for the development of his capabilities. When a man's personality is nurtured in this way, then death too makes no difference, because life goes ahead to traverse other stages, i.e. the life hereafter. God's sustenance continues there as well.

Universal sustenance is the purpose and aim of an Islamic society. That is, the sustenance of mankind regardless of caste, race, color, creed, or religion. Until such system of sustainance is reflected in a human society, it cannot be called an Islamic society. This is the beginning of Quranic teaching.

He, in whom this trait of *raboobiyat* is reflected, uses all his strength to earn. Whatever part of his earning which is beyond his needs, he gives to the central authority of this system for the sustenance of others (a welfare state). That is why in such a society, no concept of building estates or accumulating wealth takes root. In such a system no one tries to hold dominance over the fountainheads of sustenance, neither does anyone usurp the fruits of others' labor. This is the sort of society that the Quran wants to build, and only such a system can show the world how praiseworthy Allah's system can be. This is the manifestation of "ألحَمَدُ بِنَّرِ رَبَّ الْعَالَمِينَ" (*al-hamdo-lilla-hi rabbil aalameen*) or all praise is for Allah.

"رُبَ" (*rubba*), "رُبَ" (*ruba*), "رُبَ" (*rubbama*), "رُبَ" (*rubbama*). It is used to express as we say 'most of the time'. 'it happens often,, 'generally, this is the condition,' etc. This is also used for reiteration and for expressing intensity, like we say "no matter how much he wanted", or "no matter how many times they tried" etc.

| 15:2 | The deniers will wish very much to have been Muslims too | رْبَكَا يَوَدُّ الَّذِيْنَ كَفَرُوْا لَوَكَانُوْا مُسْلِمِيْنَ |
|------|---|--|
|------|---|--|

Alternatively, these people will always wish that they had been Muslims. This word is also used to mean "sometimes". The context in the Quran can determine what the word means.

R-B-H ربح

"رَبْحٌ" (*rabih*): the profit that accrues in a trade {R}

Ibn Faris too says it means success or increase in trade or business.

"رِبْخ" (*rabah*): increase and progress in trade {*T*}.

"أَرْبَحَ النَّاقَةَ" (arbahan naaqah): it is said when a man milks the she-camel in the morning, or at noon.
"تَرَبَّحَ الرَّجُلُ" (tarabbahal rajul): the man was surprised, awestruck {T, M}.

The Quran says:

| ع الرَّجُلُ Their trade gave them no profit | 1 1.10 |
|---|--------|
|---|--------|

ر ب ص R-B-Sd

"تَرَبَّعْنَ" (*tarabbas*): to wait for some good or bad thing $\{T\}$, or to wait for something to be cheaper or dearer or for something to happen or disappear $\{R\}$.

In surah *Al-Baqrah* this word has been used to wait:

| | Those who swear not to sleep with their | |
|-------|---|---|
| 2:226 | women should abstain or wait for four | لِلَّذِيْنَ يُؤْلُوْنَ مِنْ نِّسَاءٍ هِمْ تَرَبُّصُ ٱرْبَعَةِ ٱشْهُرٍ |
| | months. | - |

Within four months, they will have to decide whether they want to keep the women in their wedlock or divorce them. They cannot leave them in the lurch indefinitely.

"مُتَرَبِّصٌ (*mutzarabbisun*): one who waits.

ربط R-B-Te

"رَبَطَ" (rabatahu): tied him up.

"ألرِّبَاطَ" (ar-ribaat): that which is used for tying.

"أَلرَّبِطَة (ar-rabitah): relation, ties.

Ibn Faris says this root means tying or securing something tightly as well as solidarity.

"أَلْرِبَاطُ" (*ar-ribaat*): to do something continuously, to watch out for the enemy permanently. "رِبَاطُ الْخَيْلِ" (*ribaatul khail*): to make army posts at the border to guard the frontiers *{T*} (8:60).

Surah Aal-e-Imraan says:

steadfast

| 3:200 | Be steadfast and patient and constant | اِصْبِرُوْا و صَابِرُوْ وَرَبِطُواً |
|-------|---------------------------------------|-------------------------------------|
|-------|---------------------------------------|-------------------------------------|

Here "زابَطُوْا" (*raabitu*) means to make foolproof arrangements for one's security, or to remain united, or to continuously strive for a purpose.

"رَبَطَ اللهُ عَلَى قَلْبِ" (*rabatullahu ala qalbehi*): Allah gave him patience and strengthened his heart {*T*}.

Surah *Al-Anfaal* says: 8:11 So that he strengthens your hearts and makes you وَلِيَرْبِطَ عَلَى قُلُوْبِكُمْ وَيُثَبَّتَ به الْأَقْدَامَ

(*irtibaat*): to be tied with one another, to be in a relationship *{T*}.

R-B-Ain ربع

"أَرْبَعَنْ" (*arba'ah*): the figure four (4). It is the masculine form (2:260). "أَرْبَعَنْ" (*arbaton*) is the feminine form (24:6). "أَرْبَعُوْنَ" (*arba'on*), "أَرْبَعُوْنَ" (*arba'een*): forty (2:51). "أَلَرْبُعُنْ" (*ar-rub'o*): one fourth (4:12). "تُرْبَاعَ" (*ruba'a*): four each (3:2). "رَابِعٌ" (*raabi-un*): fourth (18.22).

Ibn Faris says that besides meaning the figure four, the word means to be stolid, or to last and to elevate.

ربو **R-B-W**

"رَبَنَ" (raba), "يَرْبُو" (yarbu): to exceed, to be more, to be in excess, to increase, to swell {T, M}.

| 30:39 | So that the people's wealth grows | لِيَرْبُوًا فِي أَمْوَالِ النَّاسِ |
|-------|-----------------------------------|------------------------------------|
|-------|-----------------------------------|------------------------------------|

It also means for a vegetable to grow and swell {T, M}.

"رَابِيَةٌ" (raab) with its feminine form "رَابِيَةٌ" (raab): that which climbs to the top.

زَبَدًا رَّابَيًا" (*zabadar raabia*): the scum that comes up on top (13:17).

"أَخْدَةُ رَابِيَةً" (*akhzatan raabia*): strong grip, a grip which has grown very strong {T, M}. It means a grip which overshadows a man and overpowers him (69:10).

َرْبَغَةُ (*rabwah*): high part of land, i.e. a plateau {T, M}.

[&]quot;أَرْبْ" (*arba*): too much, very wealthy $\{T, M\}$ 16:92.

ترَيْبَتُ⁽ (*rabbaituhu*): I fed him. (See heading (*R-B-B*)), as in 17:24.

"الْرِيَّا" (*ar-riba*): interest which is received on a loan. To take more than the capital {M} (details further ahead).

Surah *Aal-e-Imran* says:

| 3:129 | Do not take interest. | لَا تَأْكُلُوْا الرِّلُو أَضْعَافاً مُضْعَفَةً |
|-------|-----------------------|--|

You may think that it increases your wealth but in fact it decreases your national wealth. See under heading (Zd-Ain-F). The economic system proposed by the Quran has no place for interest. When in this system, the accumulation of wealth is forbidden, then the question of even loans hardly arises, leave alone interest,. In this system, nobody has any surplus money. It is distributed among the society. Whatever laws about loans are contained in the Quran belong to the era when a Quranic economic system had not taken shape.

Let alone interest, in this system no one can even make a gift hoping that he would get a bigger present in return.

| | Whatever you give people more than what is due, | |
|-------|---|--|
| 30:39 | hoping that it would be increased (in return) then in | وَمَا اتِيْتُمْ مِنْ رِّباً لِيَرْبُوَا فِي أَمْوَالِ النَّاسِ |
| | the system of God, it cannot be increased. | |
| | | |

Taj has said it means gift but we believe that this is said for everything that is more than due.

This has been explained at another place as follows:

| 74:6 | Do not do someone a favor in the hope of getting a | لَامَّئُنْ تَسْتَكْثِرْ |
|------|--|-------------------------|
| | better return | |

This system is based on "النَيْنَا زَكَوْهَ" (*iyta zakat*). That is, to provide the means for others' development or nurture. That is why in 30:39 (*izakat*) has been used opposite to (رَكَوْةُ (*riba*) as interest.

The Quran has declared interest as forbidden by saying:

| · · · · · | | |
|-----------|--|---|
| 2:275 | Allah has made trade as permissible and interest as forbidden. | وَاحَلَّ اللَّهُ الْبَيْعَ وَحَرَّمَ الرِّلْو |

The question is what *riba* or interest is? *Riba* according to the Quran is the opposite of business and trade. As to what business is, has been explained under heading (B-Y-Ain). Let us go over it briefly once more.

Whatever we get or take from others can be many different things as gift, remuneration, interest, profit in a business or a win on gambling. Let us see how they are different.

- Gift: One has to do no labor or employ any capital for it. The giver gives it without any thought of getting anything in return. Thus, it cannot be brought under the category of give and take. Therefore, it is out of our present purview.
- Remuneration: This is the payment for labor. No capital is needed to employ in it.
- Interest: In this, capital is provided to somebody and something more than the capital given is received. There is no employment of labor in it.
- Profit (in business and trade): In this, capital as well as labor is employed.
- Gambling: Neither capital nor labor is employed in it.

The principle as related by the Quran is:

| 53:39 | For a man there is nothing but the fruit of his labor | لَيْسَ لِلْإِنْسَانِ إلَّامَاسَعٰى |
|-------|---|------------------------------------|
| | | |

That is, only the compensation for labor is permissible while the compensation for the use of capital is not permissible. Since at that time this principle was not before the people at that time, they were unable to understand what the difference between profit and interest was.

A man purchases something for a hundred bucks, sells it for ten bucks more, and earns a profit of ten bucks. Another man lends a hundred bucks to someone and receives back a hundred and ten. He too receives ten bucks more. They argued that ten bucks were received by both over the principal amount. So where is the difference?

| 2:275 | They used to consider both bai and riba as the same | ذَالِكَ بَٱنَّهُمْ قَالُوْ اِنَّمَا الْبَيْعُ مِثْلُ الرِّيو |
|-------|---|--|
|-------|---|--|

But the Quran said that they are not the same. In *bai*, i.e. trade and business, both capital and labor are employed, the capital is returned and the profit in the form of compensation for the trader comes back. This is permissible. But in *riba* (interest) only capital is employed. There is no labor required from the investor. Therefore, whatever more is received back is the compensation for the capital which is forbidden. Therefore, according to the Quran, remuneration for labor is permisable but it is *haraam* to take back more than the capital.

If in trade too, one takes more than the compensation for his labor then that is interest (*riba*) which is forbidden. As to what is the correct remuneration for his labor, will be decided by the society. He can- not take above that. Therefore, any trade or business in which somebody only by employing capital gets back more than the capital is *riba* and according to the Quran it is forbidden, whether it is trade on land or being a sleeping partner in some business. This is called un-earned income. That is, the income which is received without any labor.

When neither capital nor labor is employed, then that is gambling. See heading (Y-S-R). Generally, it is though that business involves risk. That is, both profit and loss can be expected. And *riba* has no risk involved. This criterion is not right. If the criteria for an income be risk to make it permissible, then gambling should also be permitted because every hand involves a risk. The difference between *bai* and *riba* is that which has been explained above.

In trade or business, capital plus remuneration for labor is received back. And in *riba* capital plus the remuneration on the utilization of capital is received. The remuneration for capital is forbidden, whether it is called interest or profit. According to the Quranic economy, remuneration for capital can in no case be allowed. If an Islamic system is yet to be established in a society, when the responsibility for the needs of life is not on society, then the return of capital plus a day's labor of a shopkeeper can be compensated. Moreover, when the Islamic society fulfills the needs of a shopkeeper, then things will be supplied free of cost. God knows how much time man needs to establish an Islamic system. Nevertheless, whatever time it takes, man can get out of his self-made hell (*jahannum*) when he does establish such a system. The present system in which the remuneration for the utilization of capital is thought permitted and not impure, is a war against Allah's system (2:279).

رتع R-T-Ain

"زَنْتَعْ" (*rata*), "زَنْتَعْ" (*yarta-o*), "رَتْعاً" (*rataa*): to eat and drink in a green spot and to move around at will. "رَنْعٌ" (*rat-un*) is actually used for grazing of animals but later it began metaphorically to be used for humans too {T, M, R}.

"جَمَلٌ رَاتِعٌ" (*jamalun rati-un*), with plural "لِبِلُ رِتَّاعٌ" (*iblun rita un*): a camel which eats and drinks freely. "أَلْمَرْتَعُ" (*al-marta-u*): grazing land.

"أَرْتَعَتْ الْأَرْضَ" (arta atil ard): the grass and fodder grew in the land in abundance {T, M, R}.

Surah *Yusuf* relates that *Yusuf's* (Joseph) brothers asked their father to allow them to take *Yusuf* out with them to the jungle:

| 12:12 So that he eats and drinks happily and plays around. | يَرْتَعْ وَيَلْعَبْ |
|--|---------------------|
|--|---------------------|

(*yartah wa yal'ab*): practically means what we call 'picnic' today. يَرَنَّعُ وَ يَلْعَبُ'

َرِنَقٌ" (*ratq*): to fill a hole. It also means a joined thing.

الرَّنتَقَ السَّنِيئُ" (irtataqash shaiyi): the thing was found and joined. There was no gap or hole left in it {T}.

Raghib says "الرَتْقُ) (ar-ratq) means to join whether in creation or artificially.

| The Qu | ran has said about the earth and the skies: | |
|--------|--|----------------------------------|
| 21:30 | in the beginning this universe was all joined together | كَانَتَا رَبُقاً فَفَتَقْنَيْمَا |

Then different planets separated from this mass (79:30). The time is the 6th century AD, when nobody could even conceive this. Science has today confirmed this theory. However, at that time this truth could not be related by anyone except God!

ر ت ل R-T-L

"لَرَقَلْ» (*ar-ratal*): teeth that are sparkling white, even and very beautiful. It basically means for something to be very properly balanced or arranged.

(ar-rutaila): a kind of spider which spins a very proportionate and beautiful web {T, M}.

It is said about the Quran:

| 25.22 | We have revealed the best of arrangements, | |
|-------|--|----------------|
| 23.32 | proportion and arrangements. | و رکلنه کریپار |

The Messenger (*pbuh*) has been addressed as:

| 73:4 | You too implement it with that sort of administration and proportion. | وَ رَبِّلِ الْقُرْانَ تَرْتِيْلاً |
|------|---|-----------------------------------|

R-J-J נישי ד

''لَرَّ جُ'' (*ar-raju*): to shake, to shake violently, to cause a sort of quake, to shake something out of its place, to displace it.

" (*irtajjal bahr*): the sea became rough. (*irtajjal bahr*): the lion's den {T, M, R}.

The Quran says:

| 56:4 | when the earth will be shaky due to a violent movement | اِذَارُجَّتِ الْأَرْضُ رَ <mark>ج</mark> ّاً |
|------|--|--|
| 99:1 | When the earth will be shaken | اِدَ ا زُلْنِلَتِ الْارْضُ نِلْزَالَهَا |

That is, it will be shaken with full force. Such utterances by the Quran could mean physical revolutions as well as social revolutions.

R-J-Z رج ز

"رُجْزُ" (*rijz*) and "رُجْزُ" (*rujz*) both mean continuous unease and permanent movement. (*ar-rajaz*): it's a kind of camel sickness in which its hind legs or back become so weak that when he tries to get up his legs begin to wobble and he can't stand up in first two or three attempts *{T}*.

"زبجْزُ" (*rijz*) is the permanent unease that a nation suffers and it becomes so weak gradually that it is difficult to stand up again.

| 34:5 | The punishment which gives continuous unease | عَذَابٌ مِنْ رِجْزٍ ٱلِيْمٌ |
|-------|---|-----------------------------|
| 29:34 | The destruction that comes from external events | رِجْزاً مِنَ السَّمَاءِ |

In surah *Al-Airaaf* such various types of destructions has been termed as "بِجْنُ" (*rijz*), and that were faced by the nation of the Pharaoh (7:134).

Surah *Al-Anfaal* says that We (in the battlefield of Badr) removed the "بِجْنُ" (*rijz*) from you that were created by the *shaitaan* (the resistance) and made you stable (8:11). This makes the meaning of "رَجْنُ" (*rijz*) clear, which is to become unstable, or for such weakness to develop which creates weakness in the hearts and wavering the legs.

In surah *Al-Mudassar* when the Messenger (*pbuh*) was told that "you can now take up this revolutionary cause (invitation) to the people".

Along with it was said:

| 74:5 | shake off the weakness that produces wavering in the | وَالْمُجْزَ فَاهْجُرْ |
|------|--|-----------------------|
| | legs | |

Muster up the courage along with your friends to take up such heavy responsibility (of spreading Allah's message). This surah apparently addresses the Messenger (*pbuh*) but actually, the whole nation is being addressed. Such a revolutionary message (as of God's supremacy) can only be spread by a group or party that never wavers from its path.

رجس R-J-S

''لَرَّجْسُ' (*ar-rijs*): a harsh sound, a big and mixed sound, like an army on the move, or the onrushing of flood or thunder.

"رَجَسَتِ السِّمَاءُ" (*rajatis sama*): the thunder clapped loudly.

"أَرْتَجَسِ الْبِنَاءُ" (artajasil bina'u): the building moved audibly.

"ألرَجَّاسُ (ar-rajaas): the sea, because it not only has the unease but also noise.

" (*rijs*) means the same as "التباس" (*iltibaas*) i.e. doubt, sixes and seven, unease, not to be one-sided. " إلتباس" (*iltibaas*) i.e. doubt, sixes and seven, unease, not to be one-sided.

Ibn Faris says it basically means doubt and unease. Dirt is also called "ريجُسُ" (rijs).

The Quran says:

| 10:100 | those who do not employ their intellect and thought, Allah puts filth over them | وَيَجْعَلُ الرِّحْسَ عَلَى الَّذِيْنَ لَا يَعْقِلُوْنَ |
|--------|--|--|
| | Than puts min over them | |

Here " (\dot{rijs}) is the result of not using one's intellect. Therefore the meaning seems obvious i.e. doubt, unease. It also means such matters that are despicable to describe $\{T\}$, or unpleasant affairs.

The Quran says that:

| 5:90 verily intoxication, gambling, sacrifice at alters and diving arrows are abomination from work of the | إِنَّمَا الْخُمْرُ وَالْمَيْسِرُ وَالأَنصَابُ وَالأَزْلَامُ رِحْسَ مِّنْ عَمَلِ |
|--|--|
|--|--|

| shaitaan | الشَّيْطَانِ |
|----------|--------------|
|----------|--------------|

It shows dislike, execration, unease too. Similarly forbidden edibles are called "نفَانَّهُ رِجْسٌ (*fa innahu rijsun*) in 6:146.

(*rijs*) are those deeds (رَجَسَتُ عَنَ الْأَمْرِ) (*rijs*) are those deeds which create hurdles in the way of human development and which are a hindrance.

Taj-ul-urus says it means those deeds which take man towards destruction.

"مِرْجَاسٌ" (mirjaas) means a stone that is made to hang in a well to judge the depth {T}.

Surah *Al-Ahzaab* says about the family of the Messenger (*pbuh*):

| | | | - | - | , | |
|-------|----------------------------|-------------------|---|---|---|--|
| | Allah wants to remove rijs | from you | | | | |
| 33:33 | (Those hindrances that are | an obstruction in | ı | | | يُرِيْدُ اللَّهُ لِيُذْهِبَ عَنْكُمْ الرِّجْسَ آهْلَ الْبَيْتِ |
| | your development) | | | | | |

About those with faith, it is said that their chests open for Islam. Conversely, those who are on the wrong path, their chests are constricted. They pant for breath. After that, it is said:

| 2:129 | Thus places Allah obstructions on those who do not believe | كَذَالِكَ يَجْعَلُ اللَّهُ الرِّجْسَ عَلَى الَّذِيْنَ لَا يُؤْمِنُوْنَ |
|-------|--|--|
|-------|--|--|

This shows that "رَجْسٌ" (*rijs*) means narrowness of the heart, bias, narrow mindedness, dogmatism, not employing one's intellect and power of reasoning, doubts, unease. All these meanings are included in the connotation. This is why the hypocrites have been called "رَجْسٌ" (*rijsun*) in 9:95. That is, doubts, and being unsure, and obstruction in the right path, as against those with faith (9:124-125).

R-J-Ain כ, ד

"زُجُوْعٌ" (*ruju*): to turn back and return, to come back *{T*}. "رَجْعٌ" (*raj'a*): to turn back.

The meanings in which we [the Urdu-speakers of the sub-continent] use "رجعن" (*ruj'at*), is not the right one. We use this word to mean to fall back [retreat]. For somebody to move back from his position or for someone who is re-actionary. This has deterioration, lowliness and falling back in the connotation. However, in the Arabic language, it means to return to the former state, or in a better condition than before.

"أَلَرَ جُعَ^{*}" (*ar-raja*) means to re-marry a woman after divorcing her. That is return to the prior state. " لَيُسَ لِىْ مِنْ فَلَانٍ رَجْعٌ" (*laisa li fulanin raj'a*): I have had no benefit from that man. That is, nothing ever was returned by him.

The Arabs have a saying: "مَابُوَ اِلَّاسَجْعُ لَيْسَ تَحْتَّمُ رَجْع" (*ma huwa illa sajun laisa tahtahu raj'a*). This is only "رجع" (*raj'a*) and there is no benefit in it.

"أَرْجَعَتِ الْإِبِلَ" (*arja'atil ibl*) means for a camel to fatten again after becoming weak.

تسفَرْحَةٌ مُرْجِعَةٌ (safratun marji'ah): is a journey in which there is some benefit.

"مَتَاعٌ مُرْجِعٌ" (mata`un murje'un): very beneficial thing.

(*raji*): a rope which has become unraveled but twined again {*T*}.

"زَجْعَ" (*raj'a*) means to return, a thing which revolves comes back to the place it travelled from. In this manner, every revolving thing has "زَجْعَ" (*raj'a*).

Surah *At-Tariq* says:

| 86:11 | the heavenly bodies which are high in the atmosphere | وَالسَّمَاءِ ذَاتِ الرَّجْع |
|-------|--|-----------------------------|
| 00.11 | are revolving (and return to the place they have | والشفاع تربب |

| | | traveled from) | |
|--|--|----------------|--|
|--|--|----------------|--|

Alternatively, it means the high atmosphere which turn backs (to their starting point) the heavenly bodies or things. And in their revolution, new aspects come forth. In meaning of turning back, this word has appeared in 67:36, where it has come opposite to "مُضِيرًا" (muziyvah), which means to go forward.

(rajal ilaih) means to turn for help towards, to have recourse to {Lane}.

"رَجْعُ" (*raj`un*) also means reaction and for the results to be formulated. As such, it is said "رَجَعَ الْعَلْفُ فِي الدَّابَيَرِ" (*raja`al alfu fid dabbah*): the effect of the fodder was evident on the animal {T}. "رَجَعَ كَلَامِي فِيْرِ" (raja'a kalami fieeh): my talk affected him {T}.

(raja a kalami fieen). By talk affected Bill [17]. (ar-rajee-o minal kalami): the talk which is returned to the speaker {T}.

"" (rajj'a) also means hail, because it gives back to the earth what it took from it (water). It also means rain {*T*}, as well as water which is on a surface {*Kitaab-ul-Ashfaa*}

The Ouran says:

| 86:11 | the height that returns vapors to the earth (in the form of rain) | وَالسَّمَاءِ ذَاتِ الرَّجْعِ |
|-------|---|------------------------------|
|-------|---|------------------------------|

The Quran says "صُمِّ بُكْم عُمْي فَبُمْ لَا يَرْجِعُوْنَ (summun bukmun umyun fahum la-yarjioon) in 2:18. To understand the meaning of "بَرْجِعُوْنَ" (varjioon) at such places, one thing must be understood as a prelude.

When Messenger *Mohammd (pbuh)* presented his message, there were two sorts of people in front of him. One party was of those with divine Books who at one time were on the right path but had later digressed. They were told to return to the right path. They denied doing so. Secondly, there were those for whom truth had been presented for the very first time. When they refused to come towards the truth, it was said that they do not turn towards the truth, but rather that they do not come to it at all. They do not pay attention towards it.

For this too, the Quran has used the word "لاَيَرْجِعُوْنَ" (*la yarjeoon*). At the places where this word has appeared, the right translation would be 'to refer'.

Surah Taha says about *Moosa*:

| 20:40 | We returned you towards your mother | فَرَجَعْنُكَ اِلَى أُمِّكَ |
|-------|-------------------------------------|----------------------------|
|-------|-------------------------------------|----------------------------|

Surah An-Noor says:

| 24:28 | If the inmate of the house (or the man of the house) | وَإِنْ قِيْلَ لَكُمْ ارْجِعُوْا فَارْجِعُوْا |
|-------|--|--|
| | tells you to go back, then turn back. | ورف فيل للم أرجعوا فارجعوا |

"نَفَلَمَارَجَعُوْا اللِّي اَبِيْبِمْ" The returning of Yusuf's brothers to their father has been explained by words like (falama raja-oo ila) in 12:63.

Surah An-Namal says that when Suleman (Solomon) sent his envoy towards Saba (Sheba), he was told to return after giving her a letter, and not to wait for her reaction. "نَفَانْظُرْ مَاذَا يَرْجِعُوْنَ (fanzur maaza varjioon) 27:28.

In surah **Qaf** the life after death has been called "رَجْعَ" (rajun) in 50:3. That is, to return to life after death. Not return to this world but return to life after death in the hereafter.

Here it is necessary to dispel the wrong meaning that might have cropped up in people's minds due to the non-Quranic meaning of "رَجْعَت اللي اللهِ" (raj'at ilal laah). When we hear of someone's death, we say وَ إِنَّا الَيْهِ رَاجِعُوْنَ (inna lillahi wa-inna ilaihi raajioon), as it appears in 2:156. By this, we mean "we belong to Allah and will return to Him". This leads the mind to make two conclusions. One is that we were with God before being born (into this world) and after death will be gathered in a ground on the Day of the Judgment where God too will be present and thus we will return to Him. This concept is non-Quranic because it confines God to a certain place. This concept is false because God is not confined to a particular place.

He is everywhere - "بُوَ مَعَكُمُ أَيْنَمَا كُنْتُمْ (*hua ma'akum ainama kuntum*) as stated in 57:5. What will be the condition of the life hereafter, how will good deeds be rewarded and bad deeds punished, these are things which cannot be understood in this world.

Whatever the Quran has said in this context shall not be discussed here, but one thing is clear that for the dead to go towards a place where God will be present is not a Quranic concept.

The Quran says:

| 89:22 | Your Sustainer and the malaikah will come row upon row | وَجَاءَ رَبُّكَ وَالْمَلَكُ صَفاً صَفاً |
|-------|--|---|
| 89:33 | That day jahannum will be brought. | وَحِالَيْ يَوْمَئِذٍ بِجَهَنَّمَ |

The second situation that arises has been born due to Sufism. Vedant (Hindu Sufism) believes that the human soul is a part of the greater soul (God). This part, after being separating from the whole, has been bogged down and is impatient to join with the whole again. At last, the part will rejoin with the whole as birds return to their nests in the evening. This concept is shared by us in Muslim mysticism.

Virtuous people's souls will rejoin with their whole (God) and this is the success of life. Such people call death '*wisaal* (reuniting) because they think that a part will shall one day rejoin the whole.

This too is a non-Quranic concept because man and God are not part and whole. If a part departs, from a whole then the whole is incomplete and this signifies some fault in God. Therefore this concept cannot be accepted.

The concept of the human soul is wrong as well. For details, see under heading (R-W-H).

The meaning of direction or way is created by "زَاجِعُوْنَ" (*raajioon*) beside "اللَيْب" (*ilaih*), or towards Him. Because we consider "اللَيْبَ" (*ilaih*) or "اللَيْبَ" (*ilaina*) to mean direction. Although everywhere in the Quran, it does not mean this.

For example, the Quran says:

| Have you not noted how your Sustainer elongates the shadows | اَلَمْ تَرَ اللِّي رَبِّکَ کَيْفَ مَدَّ الظِّلَّ |
|--|---|
| If He wanted the shadows would neither be elongated or shorten. But he did not do so. He created the sun so that it was the cause of their lengthenin or shortening. | وَلَوْشَاءَ لَجَعَلَةٌ سَاكَنَاتُمَّ جَعَلْنَا الشَّمْسَ عَلَيْهِ دَلَيْلاً |

After this it is said:

| 25:45 | then we pull (ilaina) it (the shadow) towards ourselves. | ثُمَّ قَبَضْنَاهُ إِلَيْنَا قَبْضاً يَسِيْراً |
|-------|--|---|
| | ourserves, | |

Here the word "أَلْيَنَا" (*ilaina*) clearly shows that it does not mean any particular direction but it means that according to the laws of Allah, the shadows become shorter. Therefore, "الَيْبُ رَاجِعُوْنَ" (*ilaihi raajeoon*) may mean to move according to the law of Allah.

Surah *Aal-e-Imran* says:

| 3:82 | Whatever is in the heights or depths of the universe, | وَلَهُ أَسْلَمَ مَنْ في السَّمٰوٰتِ وَالْأَرْضِ طَوْعَا وَّكَرْهاً وَإِلَيْهِ | |
|------|---|---|--|
| 5:82 | bows to him, whether it likes it or not | يُرْجَعُوْنَ | |

And thus everything is revolving around that centre (of Allah's laws).

Surah Yasin says:

| 36.83 God's personality is far beyond man's concepts of Him. Everything is run by Him | فَسُبْحْنَ الَّذِيْ بِيَدِهِ مَلَكُوْتُ كُلِّ شَيْءٍ وَإِلَيْهِ تُرْجَعُوْنَ |
|---|--|
|---|--|

Therefore, everything moves according to the laws created by Him. Everything operates according to His law, it cannot move away from it, and since man is included in 'everything', he too is not an exception to this rule. Every deed of his is tied to the natural chain of events. Thus, every step he takes is going towards Him.

We now go to the natural results of the human world (not the physical universe). In this connection the Quran has several dictums in which "وَالَئِهِ تُرْجَعُوْنَ (*wa ilaihi turje-oon*) or similar phrases have been used.

| As it is said: | | |
|----------------|---|--|
| | When a man thinks he needs nobody (is independent | |
| | of everybody) then he becomes rebellious. | |

| ى- أَنْ رَّأَهُ اسْتَغْنَى | لا إنَّ الْإِنْسَانَ لَيَطْ | كآ |
|----------------------------|-----------------------------|----|
|----------------------------|-----------------------------|----|

Although the truth is that no matter how independent he thinks himself to be "أَنْ اللَّى رَبِّكَ الرَّجْعُ (*inna ila rabbikar ruj'aa*) (35:4), he cannot go out of the circle of natural results. He has to come back to this law. This truth has been acknowledged as "وَتَقَطَّعُوْا آَمْرَبُمُ بَيْنَبُمُ سَنَّعَمَّا (*wataqatta'oo amrahum bainahum*) in 21:93, that is, here every human being is a member of the universal brotherhood. However, for the sake of their own interests they have divided it into many parts. "وَتَقَطَّعُوْا آَمْرَبُمُ بَيْنَبُمُ مَنْ اللَّهُ عَالَيْهُ اللَّهُ عَالَى اللَّهُ عَالَى اللَّهُ عَالَيْهُ اللَّهُ عَالَى مَعَالَى اللَّهُ عَالَى اللَّهُ عَالْهُ عَالَى اللَّهُ عَالَهُ عَالَيْ اللَّهُ عَالَى اللَّهُ عَالَهُ اللَّهُ اللَّهُ عَالَى اللَّهُ عَالَى اللَّهُ عَالَهُ عَالَهُ عَالَى اللَّهُ عَالَى اللَّهُ عَالَى اللَّهُ عَالَى اللَّهُ عَالَى اللَّهُ عَالَى اللَّهُ عَالَهُ عَالَهُ عَالَهُ مَالِهُ عَالَهُ عَالَهُ عَالَى اللَّهُ عَالَهُ عَالَى الْعَالَةُ عَالَهُ عَالَهُ عَالَهُ عَالَى اللَّهُ عَالَهُ عَالَةُ عَالَهُ عَالَةُ عَالَهُ عَا

After that it is said "كُلُّ اللَيْنَا رَاجِعُوْنَ (kullun ilaina raaji-oon), and after that:

| 21:94 | Thus he who stays steadfast on the enabling program and he is also a momin (believer) then his efforts do not stay without result. We keep noting all of them (his efforts) | فَمَنْ يَعْمَلْ مِنَ الصَّلِحْتِ وَهُوَ مُؤْمِنٌ فَلَا كُفْرَانَ لِسَعْبِهِ وَ إِنَّا لَهُ كَاتِبُوْنَ |
|-------|---|---|
|-------|---|---|

This explains the meaning of "كُلُّ الْيَنَا رَاحِعُوْنَ" (*kullun ilaina raajioon*). That is, all efforts of all men produce results according to the laws of Nature that nobody can escape. As the Quran appears to say, "By violating Our orders they think that they are going beyond our grasp, but they are in fact automatically being drawn to Us as per the laws of Nature." See also 2:281, 2:282 and 6:165, where the meaning of Law of Nature is made explicit.

About the results of deeds, it is generally believed that results will come before us in the life hereafter. This is a wrong notion. The results of deeds start to be compiled along with the commitment of the deeds, and then some results appear in this very life and some in the hereafter.

The Quran says:

| 29:9 | You have to return to Me, then I will let you know about your deeds | إِلَى َّ مَرْجِعُكُمْ فَأُنَّبَّتُكُم بِمَا كُنتُمْ تَعْمَلُونَ |
|------|---|--|
| | doodt your doods | |

It does not mean that when a man stands in front of God after dying, the results of his deeds will appear. It means that all your deeds circle around His laws of Nature, all results are formulated according to them. You cannot remain outside the purview of his laws. And, your results come before you according to it.

The Messenger (*pbuh*) himself was told:

| | Some of the punishment which we are promising to | |
|-------|---|---|
| | the opponents may appear before your eyes too. And | فَاِمَّا نُرِيَنَّكَ بَعْضَ الَّذِيْ نَعِدُ هُمْ أَوْ نَتَوَ قَيَنَّكَ فَالَيْنَا |
| 40:78 | it may also possibly be after your death. But sooner or | / |
| | later, their deeds will result according to our law. | يُرْجَعُوْنَ |
| | They cannot go out of its purview. | |

But those results which do not appear in this world do appear in the hereafter. This is the place where it has been said that even after death you will "اللَيْمِ تُرْجَعُوْنَ" (*ilaihi turjaoon*): will return towards Allah. i.e. do not think that now that you are dead, nobody has a grip on you or you are not accountable to anyone. You will be ruled by the law of Allah even after your death and you cannot escape it. This is the meaning of "اللَيْمِ تُرْجَعُوْنَ" (*ilaihi turjeoon*) according to the Quran.

At certain places the word "زُجُوْعٌ (*ruju*) has appeared to mean what we mean turning towards someone. For example:

| 36:31 | These people do not ruju (refer or turn) to their | اَنَّهُمْ إِلَيْهِمْ لَابَرْجِعُوْنَ |
|-------|---|--------------------------------------|
| 50.51 | messengers | اللهم إليوهم لا يرجعون |

In the light of these clarifications, the right meaning of "أَنَّا الْيَبْ رَاحِعُوْن" (*inna ilahi raajeoon*) will now be explained. In the Quran where it is said "أَنَّا الْيَبْ رَاجِعُوْن" (*inna ilahi raajeoon*), the verse before it mentions that in the establishment of Allah's system, there are a lot of difficulties. The difficulties are so extreme that one has to even lay down one's life in its path. After this the group of *momineen* has been told that you too will face various things. From the opponents or because of the opponents, you will face the fear of oppression, hunger, loss of life and property.

After that it is said:

| 2.156 | Give the news of good results to those, who face such | اللَّهُ جَهَدِ اللَّهُ مَا يَعْدُ مُعَدَّ مُواللَّهُ اللَّهُ عَلَيْهُمُ اللَّهُ عَلَيْهُ مَا مُعْهِ و |
|-------|---|---|
| 2.130 | events by saying that one should be ruffled by them. | الكرين إدا أصابتهم مصيبة فأنوا إنا كتبه وإنا ألية والجعون |

Our entire life is dedicated to establishing Allah's system and we turn to Allah's laws to be able to meet these challenges. In order to encounter these difficulties successfully, we turn to His laws, or since our entire lives are dedicated to establishing His system, these difficulties cannot make us waver from this path. Besides this, our every step moves towards Him.

Every move of ours revolves around this axis of "اللَّا اللَيْمِ رَاجِعُوْن" (*inna ilaihi raa'jeoon*) and the results of our struggle will also be formulated as per His laws on which we have unwavering belief. Let as many difficulties come as they may. Let anyone put as many hurdles in our way as possible. We will not turn away from this path by being frightened or brow beaten. Our every step will in any case move towards this destination, which our God has determined for us and which is the aim and purpose of our lives.

After this, it is said:

| 2:155-157 | these are the people who are congratulated by Allah And these are the people who are on the | أَلَئِكَ عَلَيْهِمْ صَلَوتٌ مَنْ رَبِّحِمْ وَرَحْمَةٌ وَأُولَئِكَ هُمْ الْمُهْتَدُوْنَ |
|-----------|--|---|
| | right path | المهندون |

These verses make it clear that "اللَيْمِ رَاجِعُوْنَ" (*ilahi raa'jeoon*) does not mean that God is at any particular place and we have to return to that place to meet Him. Neither that our soul is a part of that whole (God) and will ultimately reunite with that whole. Instead it means that our entire life is dedicated to Allah's system "اللَّذَ اللَّهُ (*inna lillah*), and despite all the difficulties and travails in the world, our steps move towards this very system. It gives us strength and the results of our deeds are formulated according to them. Every move of our lives moves around this axis. It is the centre of our lives. All our efforts are aimed towards this centre. Every deed of ours moves towards the natural cycle of events, and it cannot be detracted. It has to produce a result, whether the result becomes visible in this world or in the hereafter, because His laws are not confined only to this world.

رجف R-J-F

"أَلَرَ جْفُ" (*ar-rajf*): for something to become mobile, or to shake up. Movement with unease or worry is included in this word's connotation.

ترَجْفُ الْقَلَبِ" (rajful qalb): severe palpitation of the heart due to unease {T, M}.

Raghib says it means severe unease $\{R\}$.

"ألرَّاجْفُ (ar-raajif): fever with shaking.

َ الْأَرْجَفَتِ الرِّيُحُ الشَّجَرَ (*ar-rajafatir reehush shajar*): the wind shook the trees. الْأَرْخَفَتِ الأَرْضُ (*rajafatil ard*): the earth moved, or shook.

'' ٱلرَّجْفَةُ (*ar-rajfah*): earthquake. ''الأرَاحِيْفُ'' (*ar-rajeef*): instigating news, news that makes one uneasy {T, M}.

| The Qu | ran says: | |
|--------|--|-----------------------------------|
| 33:60 | people who spread news that causes unease or chaos without any reason | ٱلْمُرْجِفُوْنَ فِي الْمَدِيْنَةِ |
| 7:78 | They (nation of Samood) were caught (trapped) by the earthquake. | فَاحَذَتْهُمُ الرِّجْفَةُ |
| 79:6 | the day when that which shakes will shake | يَوْمَ تَرْجُفُ الرَّاحِفَةُ |
| 73:14 | the day when the common folk will be in an agitated state (the day on which the earth will shake up) | يَوْمَ تَرْجُفُ الْأَرْض |

"رَجْلٌ" (*rajlu*): foot. Plural is "رَجْلٌ" (*arjul*): feet as used in 38:42. "رَجَالٌ" (*rijaal*): pedestrian. It is the plural of "رَجَلٌ" (*raajil*), as against "رَجَالٌ" (*rukbana*) – 'mounted' as in 2:239. It is also used against "خَيْل" (*khail*), which means cavalry (17:64). "رَجُالٌ" (*rajul*): man. Plural is "رَجَالٌ" (*rijaal*): people, as used in 2:228 and 72:6.

Muheet says a man is called "رَجْلٌ" (*rajul*) because of his bravery and strength. *Raghib* says that the meaning of "رَجْلٌ" (*rajul*) in 36:20, and 40:28 will be of a brave man {T, R, M}.

Ibn Faris says it basically has been derived from a word which means 'leg'. But 'زَجْلْ' (*rajul*) is different from this meaning.

R-J-M رجم

Ibn Faris says "رَجْمُ" (*rajm*) basically means to hit with stones, but later it began to mean kill as well. It is also used for accusing or abusing, or to scold and oust.

Taj says it means to leave someone or break relations with someone.

(ar-rajm) also means to give someone a dressing down {T}.

"أَلْرِّجَامُ" (*ar-rijaam*) means stones, and "مِرْجَامٌ" (*mirjaam*) means a sling which is used to throw stones {Lane}.

Surah Yasin says:

| 36:18 if you do not cease, we will stone you (to death). | لَئِنْ لَمْ تَنْتَهُوْا لَنَرْجُمَنَّكُمْ |
|--|---|
|--|---|

Surah *Ash-Shura'a* says:

| 26:116 | You will be among those who are stoned to death or killed | لَتَكُوْنَنَّ مِنَ الْمَرْجُوْمِيْنَ |
|--------|---|--------------------------------------|

In surah *Al-Hijr* (15:34-35), the *Shaitaan* (the oppsition) has been called "رَجِيْمُ" (*rajeem*) which has been explained as "تَلْعُوْنُ" (*inna ilaikal la'naa*). As such "رَجِيْمٌ" (*rajeem*) and "أَنْعُوْنُ" (*mal-oon*) are of the same meaning. For the meaning of "مَلْعُوْنُ" (*mal-oon*) see heading (L-Ain-N). It means he who is deprived of God's benevolence, who is distanced from Him, with whom no connection whatsoever is maintained.

َرَجْمٌ" (*rajm*): guess work.

تَحَدِيْتُ مُرَجَّمٌ'' (*hadeethum- murajjam*) is a thought which cannot be verified *{T}*. (رَجَّمَ الرَّجُلُ بِالْغَيْبِ): that man has said something about the unknown. (*qaalahu rajma*): he simply made a guess {Lane}.

Surah *Al-Kahaf* says that people who state the number of people in the cave, is only "رَجْماً بِالْغَيْبِ" (*rajman bilghaib*) that is, mere guessing (18:32). Hence it means that they make guesses without knowing the truth.

In *Lataif-ul-Lugha* too, the meaning of "الرَّجْمَ" (*ar-rajm*) is 'to guess'.

In the old days, temples had astrologers used to tell people about the unknown. This is still the practice of the priests of temples and religious leaders in religious institutions. They used to claim that they got the news from the heavens. The Quran has said at several places that all this is mere guesswork.

Sometimes something comes true. For instance 2 out of 10 guesses may become true but they have no knowledge about the truth. (15:17-18, 37:69, 67:5, 72:8-9). After the advent of the Quran, the time for knowledge and awareness had arrived. Thus these superstitions had no place in human psyche. Now this nonsense "gets fiery whips by celestial forces".

As will be disclosed under the heading (L-Ain-N). According to the Quran, "أَلْعَنْتُ" (*laa'nat*) does not mean demeaning or curse word but a statement of reality. That is, due to the wrong way of life, deprivation from all those delights of life, those are a natural result of living according to the laws of Allah. Anybody who is deprived of these delights will be called "أَلْرَ جُمْ" (*ar-rajm*). This is the meaning of "أَلْرَ جُمْ" (*rajeem*) as well. That is, he who is flung away or who is deprived of the delights, we are told to shun him. Any emotion that obstructs us from the right path or violates the principles of Allah (such people are the *shaitaan*, or the resistance, and must be stayed away from. This is "أَلَارَ جُمْ" (*ar-rajm*) or "رَجِيْمُ" (*rajeem*).

رجو **R-J-W**

(*ar-raja-u*) means hope, which is the opposite of "الرَّجَاءُ" (*yaas*). It is a hope that is not faint.

Raghib says this is a hope in which success is expected, but since hope and fear are inevitable together, later it started to be used for 'hope' that had fear in the expectation as well.

Muheet says that difference between "أَمَلَ" (*amalun*) and "رَجَاءً" (*rija'un*) is that (*amal*) is used for pleasant hopes but "رَجَاءً" *rija* for both good and fretful hopes.

Azhari says when "زَجَاءٌ" (*raja*) is accompanied by a negative word it means fear *{T}*. *Ibn Qateeba* too says that "لَايَرْجُوْنَ" (*la yarjoon*) means "لاَيَخَافُوْنَ" (*la yakhafoon*). *{Alqartain* Vol.1}. *Ibn Faris* also says that "لاَيَخَافُوْنَ" (*raja'a*) at times means fear.

"لَا يَخَافُوْنَ" (*al-irja'a*): to put off for later, to delay, to remove something, to postpone something. "الَرْجَا" (*ar-raja'a*): edge, or edge of a well from top to bottom {*T*}. The plural is "أَرْجَا" (*arja*) as used in 69:17.

"مَرْجُوُ" (*marju*): with which hopes are linked (11:62).

"مُرْجَوْنَ" (*murja-un*): those who are kept waiting, those whose affair is postponed (9:106)

Surah Ash- Shu`ara says:

| 26:36 | They said postpone his affair | قَالُوْا ٱرْجِحْ |
|-------|-------------------------------|------------------|
| | | |

See 7:11 as well. Surah *Al-Ahzaab* says:

| 33:51 | You may defer whom you will of them, or you may take to yourself whom you will. | تُرْجِيْ مَنْ تَشَاءُ مِنْهُنَّ وَتُؤْوِيْ الِّيْكَ مَنْ تَشَاءُ |
|-------|---|--|
|-------|---|--|

Here "تُرْجِى" (*turji*) means to keep something back, to remove away, and to put it off towards the edge. "تُوُوِىْ" (*tuwi*) means to place close by, near oneself. "رَحُبَ الشَّيْيَّ رَحْباً" (*rahabas shaiy-u rahba*): to be vast. (رُحْبَ) (*arhabah*): he expanded it.

Ibn Faris too thinks that the root has the connotation of vastness or expanse.

"طَرِيْقٌ رَحْبٌ (*tareequn rahb*): broad path.

"مُرْجَابِكَ" (*marhaba bika*): you came to a vast place, you will be treated here broad mindedly. "مُرْجَابِكَ" (*rahbah*): the open space in a house *{T*}.

The Quran says:

| 9:25 | The earth, despite its expansiveness, became narrow for you | وَضَاقِتْ عَلَيْكُمُ الْأَرْضُ بِمَا رَ حُبَتْ |
|------|---|---|

Surah *Saad* says about the dwellers of *jahannum*:

| 38:10 | There is no broad mindedness for you. Nobody | * \$. 1 5 * 1 |
|-------|--|---------------|
| 36.10 | welcomes you | و مرجب بالم |

In a hellish life, nobody is pleased to see anybody, nobody welcomes a newcomer. Here there is no large heartedness, no lips smile at somebody's arrival. If it is, then it is only artificial, only for the sake of appearances. On the contrary, in their heart everyone is thinking "where did this trouble come from?"

رحق R-H-Q

"زَحِنْقَ" (*raheeq*): very old, very pure, unadulterated and excellent wine. Every pure thing is also called (*c*حِنْقَ" (*raheeq*).

تَحَسْبُ الرَّحِيْقُ" (*ĥasabur-raheeq*): thoroughbred.

"مِسْكٌ رَحِيْقٌ" (miskun raheeq): pure, unadulterated fine perfume {T, M}.

The Quran (83:25) has said about those in *janna* that they shall receive "رَحِيْقُ مَخْتُوْمٍ" (*raheeqin makhtoom*) which means 'a pure drink', such that even later there is no chance of adulteration. Hence, this word means life's pure delights and happiness.

R-H-L נכל

"الرَّحْلُ" (*ar-rahl*): anything that is tied to the camel's back with the intent of sitting in it while traveling. "رَحْلٌ" (*rihaal*) is plural of "رَحْلٌ" (*rahl*).

"الرُحْلَة" (ar-rihlah): journey, to the place where one travels to.

With time, this word has also been used for camel, camel seat, or where one alights, or for the house $\{T, M\}$. This word is also used for anything which is for loading goods on to the camel's back, or sacks (bags) $\{T, M\}$.

Surah Yusuf says:

| 12:62 | In their sacks (Bags). | فِيْ رِحَالِمِمْ |
|-------|------------------------|------------------|
|-------|------------------------|------------------|

Ibn Faris says that the basic meaning of this root is to keep on travelling or to continue with the journey.

| The Quran says: | | |
|-----------------|-----------------------------------|---------------------------------|
| 106:2 | The journeys of summer and winter | رِحْلَةَ الشِتَّاءِ وَالصَّيْفِ |

"أَلْمَرْحَلَّةُ" (*al-marhalah*): the distance that a man travels habitually towards his destination *{T}*.

(*rihm*), (رَحْمُ) (*rahm*), (رَحْمُ) (*ruhm*): the womb of a woman in which a child is nurtured and is protected from external effects {*T*, *R*}.

"حَمَّة" (*rahmah*) is the gift that completes some shortcoming (and which is given according to the need) *{T}*. It means to gift a thing, which is given without any considerstion, as a benevolence. As such, "رَحْمَة" (*rahmah*) is the sustenance which man gets from God without any cost.

Surah *Ar-Rom* says:

| 20.26 | And when people experience Our benevolence, they | وَإِذَا أَذَقْنَاالنَّاسَ رَحْمَةً فَرِحُوْابِهَ وَ إِنْ تُصِبْهُمْ سَيِّنَةٌ بِمَا |
|-------|--|---|
| 30:36 | start acting up, but when they land in trouble because | قَدَّمَتْ أَيْدِيْهِمْ إِذَا هُمْ يَقْنَطُوْنَ |
| | of their own deeds, they become disappointed | ****** |

Here "رَحْمَة" (*rahmah*) has been used against "سَيَيَّنَهُ" (*sayyia*). Therefore, it would mean all the delights of life. But the next verse mentions vastness or expanse, or large heartedness. It is obvious then that here "رَحْمَة" (*rahmah*) means the goods or accoutrements of life which we get from God without asking and at no cost.

In surah Bani Israel, the longing for parents by their progeny is mentioned:

| 17:24 | O God, look after them (nurture them) as they brought | وَقُلْ رَّبِّ ارْجُهْمَا كَمَا رَبَّنِيْ صَغِيْراً |
|-------|---|--|
| 17:24 | me up in childhood | وقل رب ارجمهما كما ربيني صغيرا |

"رَحْمَةٌ" (*rahmah*) also means rain which produces sustenance from earth (30:46, 42:28). Life's delights ("نَعْمَاءُ" - *na'maa*) which we get from God without any charge, are also "رَحْمَةٌ" (*rahmah*), as in 11:9-10.

In the tale about *Moosa*, it is mentioned that the treasure belonging to two orphan kids was buried under a wall, which had been so buried as to be discovered by them when they became adults. This arrangement by God is called "رَحْمَةٌ (*rahmah*) in 18:82.

"حْمَةً" (*rahmah*) also means to cover something or to provide with the means of protection *{T}*. That is why the noble Quran has used "رَحْمَةً" (*rahmah*) against "مَنَزَرٌ" (*zarar*) which means 'harm' (30:33, 10:21), and against "مَنْئَكُ" (*sayyia*) (30:31) and against "مَنْئَكُ" (*ahlaka*) (67:28).

Since God's sustenance is not only for a man's physical being, instead, it is also for human personality's development, which is the product of the life's order which Revelation gives us, therefore Revelation has also been called "رَحْصَرُ" (*rahmah*) in 43:23, 2:105. The truth which is the biggest source of man's development is the revelation which is totally given by God, which is why it is a special "رَحْصَرُ" (*rahmah*).

Since God is "رَبُّ الْعَالَمِيْنَ" (*rabbil aalameen*), or the one who provides development of the entire universe and develops the human personality as well, therefore He has taken upon Himself to provide Revelation through His Own sources.

Thus, He covers the entire universe in His blanket of benevolence (40:7). This is why in surah *Al-Fateha*, along with "تَلَرَّحْمَنِ الرَّحِيْمِ" (*rabbil aalameen*) also says "الرَّحْمَنِ الرَّحِيْمِ" (*ar-rahman-ir-raheem*).

"رَجْمَرُ» (*raheem*) means linguistically one who provides means of sustenance on continuous basis. (*rahman*), on the other hand, is one who provides means of sustenance at a time of great need with overwhelmingness {*Al-Minar*}. The first can be said to be an evolutionary means of provision of sustenance, while the second as an emergent provision.

Surah Ar-Rahman says:

| 55:29 | Whatever there is in the heavens and on earth, is | يَسْءَلُهُ مَنْ فِي السَّمٰوٰتِ وَالْأَرضِ كُلَّ يَوْمٍ هُوَ فِيْ شَانٍ |
|-------|---|---|
| 33.29 | dependant on God for its sustenance | يسءنه من في السموكِ والأرضِ كل يومٍ هو في ساكٍ |

These things do not stay in one state and do not require the same sort of sustenance always. They keep changing with time. Thus, their demands for nourishment change as well with time. The needs of a foetus inside a mother's womb are quite different from the demands of bringing up a kid, and again for an adult, quite different. As long as something stays in a state, its sustenance is done by God's kindliness in a certain way. But as soon as it changes, its sustenance changes as well according to God's law. Thus in this way, everything reaches its completion from its beginning. This is the meaning of *Rabb*, *Rahman* and *Raheem*.

"رَحْمُ" (*rihm*) also means kith and kin, relatives **{T, R, M}**. "بَيْنَبُهُمَا رَحْمٌ" (*bainahuma rihm*): those two are closely related. "أَرْحَامٌ" (*ar-haam*) is the plural of "رَحْمٌ" (*rihm*) (3:5) which also means relatives (60:3, 2:1). "أُولُوا الأَرْحَامِ" (*oolu al arhaam*): relatives (8:75).

Since "رِحْمُ" (*rihm*) involves softness, therefore it also means that.

| 48:29 | very hard against the opponents and very soft against each other | أَشِدَّاءُ عَلَى الْكُفَّارِ رُحَمَاءُ بَيْنَهُمْ |
|-------|--|--|
|-------|--|--|

Surah *Al-Kahaf* says:

But *Ibn Faris* says that "الرَّحْمَّنَ" (*ar-ruhm*) and "الرَّحْمَةَ" (*ar-rahmah*) are of the same meaning. This will make the meaning as one who is extra kind, extra sympathetic and faithful. *Ibn Faris* says it basically means softness and leaning.

Christians believe that every human child is born as a consequence of the sins of the parents and since this sin cannot be more than the deeds, therefore a man can be delivered only with God's mercy. This concept of mercy is against the Quranic teachings. According to the Quran, success is the natural result of deeds, and all this takes place according to the divine laws which are called the laws of nature.

| The bas | ic principle of these laws is that: | |
|---------|---|------------------------------------|
| 53:39 | a man gets (in return) whatever he does | لَيْسَ لِإِنْسَتانِ إِلَّامَاسَعْی |

This means that good results for good deeds and bad results for bad deeds. Although for such deeds various capabilities are received by man as also guidance from God, free of cost, and these are included in "رَحْنَ" (*rahm*). That is, all this for the development of man is received from God, free of cost.

Now the man, who benefits from these things and develops his personality according to the laws of God, will be the beneficiary of life's blessings. He, who will not do so, will be deprived of them. This is the law of God (Nature). Therefore, man can reach his ultimate destiny, not due to the mere benevolence of God, but because of the result of his own deeds, in accordance with the laws of God. Based on this fundamental principal, Quran modifies such a nation that creates a heavenly society for itself with its utter most dedication.

"تَحْمَلْنَ" (*rahman*) rhymes with "تَعْلَانَ" (*fa'lan*), as "تَطَشَّانَ" (*tatshan*) to "تَحْمَلْنَ" (*ghasban*), while "تَعَلَّدُمْنَ" (*raheem*) rhymes with "قَعْلَانَ" (*fa'eel*), as "عَلِيْمٌ " (*aleem*) with "حَكِيْمٌ" (*hakeem*) etc. "قَعْلَانَ" (*fa'lan*) is used for qualities which are intense and of emergent, and "تَعَيْلُنَ" (*fa'eel*) which are a must and continuous.

(*ar-rikhwu*): soft thing. (*rakhush shaiyi*), 'رَخَىْ'' (*rikhi*), 'رَخُوَ الشَّيْءُ'' (*rakha*): for something to become soft or loose. (*istarkha*) also means the same as above. (*arkhah*), 'رَاخَاهُ'' (*arkhah*), ''رَاخَاهُ'' (*arkhah*): he made him soft. (*arkha dabbatah*): he left the animal loose and let it have its way. (*ar-rukha*): softened the speed {T, R, M}.

The Quran says: 38:36 The (wind) used to blow softly and freely on His order تَحْرِى بَآمَرِهِ رُحَاءً

نْفَرَسٌ رِخْوَةٌ " (*faras-un rikhwah*): speedy and soft natured horse {T, R, M}.

R-D-A ردأ

"الْرَدْءُ" (*ar-ridu*): heavy loads which are equal to each other in weight. "رَدَاَالشَّيْنَدِيَّرَ" (*radish shaiyi bihi*): he boosted something with something, supported it, helped it.

Actually, " $i \downarrow j$ " (*arid-u*) means helper {*T*}. When an animal is laden with weight on both sides in such a manner that both sides weigh the same, then each load is called " $j \downarrow i$ " (*rid-un*). When loads on each side are of the same weight, they support each other to maintain balance {*T*}.

 The Quran says:

 28:34
 send him as my helper

 فَارَسِلُهُ مَعِيَ رِدْاً

"زَدِىْ (*radi-un*): one who follows, but later it came to mean a condemned thing *{R}*, because generally that which comes behind is something with a fault.

Ibn Faris says it has two basic meanings, which are almost opposite. He says it means for something to deteriorate or become bad, and secondly to help.

ردد **R-D-D**

"ردد" (rud), "يَرْدُّ" (yarud): to return (something) to somebody.

If it is followed by "علیٰ" (*ala*), then it has an element of insult and demeaning. "رَدَّعَلَيْهِ الشَّيْءُ" (*radda a'laihi-shai'i*): he turned his back on that thing.

But if it is followed by "اللی" (*ila*), then it has the elements of respect, but it is not a principle 28:13 We retuned Moosa honorably to his mother

"اَلرَّدُ" (*ar-rud*) means garbage.

"دِرْبَمٌ رِدً" (*dirham rudd*): coin.

"لَمَرَدَّةَ فِيْبِ" (*la maraddata feeh*): it has no return (profit).

أَرْنَدَ الشَّيْءُ" (*irtadd ash shaiyi*): the thing returned, went back {T}.

Raghib says that "أَلِار تِدَادُ" (la-irtidaad) means returning by the same path that one has come by.

"تَرَدَّدَ الْنُبِ" (*taraddada ilaih*): he came to him and returned repeatedly. (*taraddad fil amr*): to be undecided on something {R}

Surah Al-Baqrah says:

| 2:228 | Their husbands have more right to take them back | وَبُعُوْلَتُهُنَّ احَقُّ بِرَدِّهِنَّ |
|-------|--|---------------------------------------|

The Quran says:

| 42:47 | the day which will not go away (which cannot be avoided or returned | يَوْمٌ لَا مَبَرَدًّلَهٌ |
|-------|--|--------------------------------|
| 19:76 | beneficial in the end, as a result | خَيْرٌ مَرَدًاً |
| 42:44 | Can there be some way in which it will turn back? | هَلْ إلى مَرَدٍّ مِنْ سَبِيْلٍ |

"فَرَدُوْا أَيْدِيَهُمْ فِى أَفُواَبِهِمْ فِى أَفُواَبِهِمْ فِى أَفُواَبِهِمْ فِى أَفُواَبِهِمْ فِي أَفُواَبِهِمْ heading (Y-D-Y).

This word has the connotation of 'at last'. Therefore, it is used generally for the result of deeds.

Surah *As-Sajdah* says:

| 41:47 | When the revolution shall take place, is known to | اِلَيْهِ يُرَدُّ عِلْمُ السَّاعَةِ |
|-------|---|---|
| 41.4/ | none other than Allah | أيية يرد علم الساعة |

We have to return to Him, and no one else. Only He knows how and where. Others can only make guesses. See heading (S-W-Ain).

تمَرْدُوْدٌ (*mardood*): that which has been turned back, returned (79:10).

Surah Hoodh says:

| 11:77 | دود Chastisement which cannot be turned back or returned | عَذَابٌ غَيْرُ مَنْ |
|-------|--|---------------------|

A verse in surah *An-Nahal* relates one of the basic principles of the system of sustenance of the Quran. God has said in it that different people have different capabilities for earning, due to which the different sectors in society run. This has been explained further in (43:23). See heading (S-K-R). But this does not mean that those who have capability to acquire more sustenance keep that which they acquire to themselves. That is, they should not believe that they have acquired it because of their capability and hence they should be the owners of it, regardless their need. This is a wrong concept.

| | Those who have received this excess capability do not | |
|-------|---|---|
| 16:71 | let the sustenance reach those who are downtrodden. | فَمَاالَّذِيْنَ فُضِّلُوْا بِرَادِّى رِزْقِهِمْ عَلَى مَامَلَكَتْ أَيْمَانُهُمْ |
| 10.71 | They fear that they will become holders of equal | فَهُمْ فِيْهِ سَوَاةٌ |
| | shares (despite their lesser capabilities) | 5 241 |

"بَرَادِّنَ" (*biraddi*) here is notable. The verse did not say that eyes should be given as alms. What is said is that the excess sustenance is for those who need it and are under them (the strong people). Therefore, the sustenance should be turned towards them. If you do not do this, it would mean that you think that the power or capacity for earning is not granted by God, or that you have received it from God, free of cost.

| 16:71 Do these people, who do not return their excess wealth to those who are needy, deny God's benevolence? | أفَبِنِعْمَةِ اللَّهِ يَجْحَدُوْنَ |
|--|------------------------------------|
|--|------------------------------------|

This is Quran's social order. (Details will be found in my book 'Nizaam-i-Raoobiyat').

"لَرَّدْفُ" (*ar-radf*), "اَلرَّدِيْفُ" (*ar-radef*): one who rides double behind a rider. Similarly, anything that is behind another is called so as well.

"رَدِيْفٌ (*radafah*): to come behind something {*T*}.

| The Quran says: | | |
|-----------------|--------------------------------------|------------------------------------|
| 27:72 | Perhaps it is approaching behind you | عَسىٰ أَنْ يَّكُوْنَ رَدِفَ لَكُمْ |

This means, is very near you. It can also mean that it may have followed you.

"مُرْدِفٌ" (murdif): to make someone ride behind, and one who follows somebody {T}.

" يَمِنَّ الْمَلَاعِكَّةِ مُرْدِفِيْنَ" (*minal malaiki murdifeen*): those who come one after the other, continuously (8:9). (*raadif*): one who comes behind, or close up on you.

"ثَنْبَعْبُا الرَّادِقَة" (*tatba-uhar raadifah*): the follower will follow him (79:7). That is the moment of reward and punishment, or God's law of natural results, the time for the results to appear, the result of deeds which follows inevitably.

Raghib says that "الْمُرْيِفُ" (al-murdif) means the rider in front who lets somebody ride behind him.

R-D-M ردم

"نَكْرُخُمْ" (*ar-ridm*): to close some gap or hole. "أَسَدُّ" (*sadda*) is its alternate, but "رَدْمُ" (*radm*) is somewhat stronger than "سَدَّ" (*sadd*).

تَرَدَمَ ٱلْبَابَ" (radamal baab): to close the door, to shut one third of it {T, R}.

Ibn Faris says it basically means to close some gap with some sort of barrier.

Surah *Al-Kahaf* says:

| 18:94 | They said "O Dhulqarnain, indeed Yajooj and Majooj are corrupters in this land. We would like to make a request to you that you create a barrier (sadda) between us and them. | قَالُوا يَا ذَا الْقَرْنَبْنِ إِنَّ يَأْجُوجَ وَمَأْجُوجَ مُفْسِدُونَ فِي الْأَرْضِ فَهَلْ نَجْعَالُ لَكَ حَرْجًا عَلَى أَن بَخْعَلَ بَيْنَنَا وَبَيْنَهُمْ سَلًّا |
|-------|--|--|
| 18:95 | (He said) I will make a strong barrier (radma) between you and them. | أَجْعَلْ بَيْنَكُمْ وَبَيْنَهُمْ رَ <mark>دْمًا</mark> |

ردى R-D-Y

"رَدَى" (*radaa*) and "تَرَدَّى" (*taradasa*): he fell into the well. "رَدَى" (*raddi*) is also used in this meaning. It may also mean that he fell from the mountain and died *{T*}.

| 92:11 | When he will fall head over heels in the jahannum (state of destructions) his accumulated wealth will do | مَايُغْنِيْ عَنْهُ مَالُهُ إِذَا تَرَدَّىٰ |
|-------|--|--|
| | him no good | |

Raghib says that "تَرَدَّىٰ" (*taradda*) means to present you to destruction. That means, he who accumulates wealth and does not use it for the benefit of mankind calls in a way on forces of destruction to come his way.

"اَلْمُنْتَرَدِيَّة" (*al-mutaraddiyah*): an animal which falls to death. It has been declared by the Quran as forbidden for eating (5:3). Thereafter the word also means death in the ordinary sense. "تَدَدِى فَلَانَ" (*raddi falanun*): he was killed. "فَبُوَرَدِ" (*fahuwarid*): he is to be killed.

"أَرْدَاهُ عَيْرُهُ" (*ardahu ghairahu*): he was killed by someone *{T}*.

"لَلْرَدَى" (*ar-radaa*): destruction, annihilation {R}.

"ألرِّدَاء" (ar-radaa'u): sheet of cloth to cover oneself, especially the one used by Muslim women.

Surah *Taha* says "نَفَتَرُدَىٰ" (*fatardaa*): may you be annihilated or killed (20:16) Surah *As-Sajdah* says: "اَرُدَاكُمْ" (*ardaakum*): to destroy and destruct (41:23). "اَلْمَرُدِىُ" (*al-mardiyyo*): a thrown stone *{T*}.

Ibn Faris says the root basically means to throw. He says that "الْتَرِدِّى" (*at-taraddi*) means to go to one's death playfully.

"رَادَىٰ عَنِ الْقَوْمِ" (*raada unil qaum*): he threw stones in defense of the nation *{T}*. For the meaning of "رَدْعٌ" (*rid-un*), see heading (R-D-A).

R-Dh-L رذل

"الرَّذْلَ" (ar-razl): a thing which is not liked or disliked for its uselessness {R}.

"لَارَذَكْنَ" (*ar-razel*), "الَرَذَكَانَ" (*ar-ruzal*), "الَرَذَكَانَ" (*ar-razeel*): a man who is of lower stature than others, i.e. a man of low stature {*T*}. It also means garbage, or something out of which the good things have been extracted, and the useless things are left behind {M}.

"أَلْأَرْذَلُونَ" (*al-arzal*): very lowly, cheap and useless. Plural is "أَلْأَرْذَلُ" (*arzaloon*).

The Quran says that the leaders of the nation of Nooh told him that the people who have joined his group were "نَعْمُ أَرَانِلْنَا "(*hum arazilona*), meaning that they are people of lower class (11:27).

"أَرْ ذَلِ الْعُمُر" (*arzalil umur*): the fag end of life (16:70), or that part of old age.

"لَا يَعْلَمُ بَعْدَ عِلْمٌ (*la ya'lama baada ilm*): the age when a man forgets even things which he once knew, i.e. when he becomes senile.

رزق **R-Z-Q**

"زِرْقٌ" (*rizq*): anything from which benefit can be derived, or the sustenance that living beings get from God. Rain is "زِرْقٌ" (*rizq*), and so is a fixed income. Therefore, "مُرْتَزِقَّةٌ" (*murtaziqa*) are those people who have fixed salaries, ration or allowances. "زَرَدْقَةٌ" (*razqah*) is the ration which soldiers get {*T*}.

Ibn Faris says it means to give something at a fixed time. Thereafter the word began to be applied to every gift without regard to any time.

The Quran has termed all edibles as "بَوَنْقُ اللَّهُ" (*rizqullah*), or Allah's *rizq* (2:60). In surah *Al-Hijr* "رَوْقُ اللَّهُ" (*ma'ayish*) and "رَوْقُ اللَّهُ" (*rizq*) have been used in similar meaning (15:20), but for the Quran, life is not only man's physical life but this existence continues (in another form) even after death. That means that development is not only needed for the nurturing of the physical being but also for man's personality. Therefore the Quran has termed these means of sustenance even after death as "رَوْقُ" (*rizq*) (22:58). This also shows that life in heaven is one of the evolutionary stages of life. There too, human life will continue to be developed. Details can be found in heading (J-N-N).

Thus, "بَرْنَقْ" (*rizq*) is those means of sustenance which are required for the development of Man's physical being as well as his personality. The truth is that if the distribution of life's necessities takes

place according to the law stated by Revelation, which is called the system of *Raboobiyah* or welfare, then a man's personality and his body can develop effortlessly.

Such a system is established by those about whom it is said:

| 2:3 | whatever means of sustenance We give them, they keep available for humanity at large | وَبِمَّا رَزَقْنَهُمْ يُنْفِقُوْنَ |
|-----|--|------------------------------------|

This means that they do not collect it for themselves, nor do they block them (again for themselves). They keep them open. See heading (N-F-Q). Since this system is in obedience of Allah's laws, therefore it has been said:

| 17:31 | it is Us who give this rizq | نَحْنُ نَزُرُقُكُمْ وَايَّاهُمْ |
|-------|--|---------------------------------|
| 2:152 | We give rizq to you as well as to your progeny | ڪن ترزي هم |

In this way it is the responsibility of the establishment based upon Allah's laws to provide for every individual citizen (11:6), otherwise, if the division of *rizq* is according to man-made laws then (as we witness in the world today) millions of people die of starvation. There are further millions who are unable to feed themselves and their families properly. In the wrong sort of society there is hoarding, and the lower class is deprived of the means of sustenance. In a right kind of (Quranic) society, all sources of sustenance are available for everybody (41:10), because whatever is produced employs only man's labor. Everything else happens according to the law of Allah.

Therefore Man has right only to the remuneration for his labor. All the rest belongs to Allah, therefore it should be distributed according to His laws (56:64-73). Details will be found in my book *Nizam-e-Rabboobiyat* where this division of sustenance has been dealt with from different angles.

The government which is established to enforce the laws of Allah is called an Islamic government. The basic principle of which is that the responsibility for providing every individual with the necessities of life rests with the state. In such a system, the fountainheads of sustenance are owned not by individuals but by the state and nobody has extra wealth. Therefore, every person works hard. He keeps what is needed for him and gives the rest for the sustenance of others. Thus, the state can fulfill the responsibility of providing for every individual. The purpose of an Islamic government is to distribute the sustenance given by God according to His laws among people who follow his laws.

Surah *Al-Waaqia* says "وَتَجَعَلُوْنَ رِزْقَكُمْ" (*wataja 'aloona rizqakum*) in 56:82. *Raghib* says that here it means luck or share, but the clear meaning is that you deny a book like the Quran, just so you may maintain your hegemony and keep your earning intact!

رسخ R-S-Kh

"زَسَخَ" (*rasakha*), "يَرْسُخُ" (*yarsukhu*), "رُسُوْخاً" (*rusukha*): for something to be solid in its place. "رَسَخَ الْمَطَرُ" (*rasakhal mataru*): the rainwater was absorbed in the ground *{T*}. This is said when the water has gone so deep as to reach the ground's dampness.

The Quran has said:

| | (| |
|-----|--|------------------------------|
| 3:6 | the people who deeply imbibe knowledge (who become mature in knowledge) | ٱلرَّاسِخُوْنَ فِي الَعِلْمِ |

Raghib says "رَاسِخٌ فِى الْطِلْمِ" (*raasikhul fil ilm*) is one who has done so much research as to leave no doubt about the findings $\{T\}$.

The Quran presents its invitation or message on the basis of intellect and insight, and stresses on accepting it on the basis of deliberation and knowledge and research. Thus "رَاسِخٌ فِى الْعِلْمِ" (*raasikul fil ilm*) is one who reaches the truth of the results with research and thus his belief on God becomes solid.

For the meaning of verse, 3:6 see heading (H-K-M).

ر س س R-S-S

"لَرَسُ" (*ar-rus*): to dig, to bury. That is why to bury a dead man is also called "رَسٌ" (*rus*). It also means an old well, whether paved or unpaved.

"الْلَرَّسْ" (*ar-rus*) also means the beginning of something.

ترَسَّ الْحُمِّى وَرَسِيْسُہ'' (*russul huma wa raseesah*): the initial indications of fever, such as yawning etc. *{T}*.

Raghib says it means the little effect that is present in something.

"نَبْنُ الرَّسَ" (*ahlu- rus*): people who fabricate a lie first and then propagate it. This has been derived from "" (*russa bainal qaum*): to create chaos and enmity *{T*}.

Ibn Faris says it means 'to solidify'.

The Quran says "أَصْحَابُ الرَّسِّ" (*as-habar-rus*) in 25:38. It has been used for some nation beside nations of *Aad* and *Thamood*. There are quite a few stipulations about it in the dictionary. One is that "الَرَّسُ" (*ar-rus*) is the name of a valley. Maybe this name was given to it due to some old well in this valley. $\{R\}$.

But if figurative meaning is taken then it would mean that nation which used to fabricate wrong sort of talk and created chaos or unease among their people. Or, it was a nation with very little effect of their messengers left in them.

ر س ل R-S-L

"رُسْلْ" (*risl*) means for an obstruction to be removed and for a thing to proceed ahead smoothly with peace and ease {R}.

"نَاقَةُ رَسْلَةٌ (naaqatun raslah): slow camel.

"إبِكُ مَرَ اسِيْكُ (ibl maraseel): slow camels.

"رَسُوْلٌ" (*rasool*): one who gets going, one who departs. Sometimes "رَسُوْلٌ" (*rasol*) is used to mean to get going. {R}.

تعلى رسلك، (ala rislik): live peacefully as you want.

"أَلرَّسْلُ" (ar-rasl): slow in speed.

"ألإستر (al-istirsaal): slowness in the animal's speed.

Ibn Faris says it basically means to get going. A group or herd is also called "ألرَّسَلْ" (*ar-rasl*)

زسَالاً»: أَرْسَالاً»: أَخَيْلُ أَرْسَالاً»: أَخَيْلُ أَرْسَالاً»: أَخَيْلُ أَرْسَالاً»: أَخَيْلُ أَرْ

"الارسال" (al-irsaal): to send (towards somebody)

"أَرْسَلَهُ عَلَيْهِ" (arsalahu alaih): he imposed himself on someone.

"نَائَرَسُوْنُ" (*ar-rasul*): the person who is sent towards men from God, as well as the message he conveys. "الرَسُوْنُ" (*rasul*), "رَسُالَةً" (*rasul*) and "مُرْسَلُ" (*mursal*) appears for both messenger and the message itself *{T*}.

َ ٱلْتَرْسِيْلُ فِي الْقِرِاءَ َ $(at-tarseelu\ fi\ alqira'ah)$: to read slowly and beautifully $\{T\}$.

"لَلرَّسُوْلُ" (*ar-rasul*) would mean a person who gives the message from his sender continuously, gradually and with softness. His message too is called "اَلْرَّسُوْلُ" (*ar-rasul*).

Men who got revelation from God and took it to the people are called Allah's "ألرَسُوْلْ» (*ar-rasul*). The Quran has called them "أنْبِيَاءُ" (*ambia*), as well as "رُسُلُّ» (*rusul*). There is no difference between a *nabi* and a *rasul*.

Nabuwwa is to get the revelation from God and *risala* means to take it forward to the people. The details will be found under heading (N-B-A) where it has been clarified that the belief that a *nabi* is without *sharia* and *rasul* is with a *sharia*, is false. The Quran has made no such distinction. Every *nabi* had a holy book (2:213) and every "*rasul* did so as well (57:25).

As said above, a *rasul's* duty is to take Allah's message that he gets through Revelation, to the people.

| Nooh told hi | s nation that he w | as a <i>rasul</i> of Allah: |
|--------------|--------------------|-----------------------------|
|--------------|--------------------|-----------------------------|

| تى 7:62 I bring you the messages from my Sustainer |
|--|
|--|

About *Muhammed* it is said:

| 5:67 Whatever that has been revealed to you by your Sustainer, take it to others | بَلِّغْ مَا أُ نْزِلَ اِلَيْكَ مِنْ رَّبِّكَ |
|---|--|
|---|--|

As such, whatever *Muhammed (pbuh*) had received from God, he conveyed to people himself. He did not leave this task to others.

Rasul, who were selected to take Allah's message to the people, were human beings (18:110) and they were all men (16:43, 12:09, 21:7). **Rasul** was the first believer of the revelation that it was from God and was the truth (2:285). He was also the first member of this group (believers), that is, he would be the first member of the party that he would organize for establishing Allah's laws on this earth (40:66). He himself was a follower of the revelation and used to strive for establishing a system for practical life based on its teachings (4:64). He would never ask anyone to follow his own orders (and not that of Allah). Nor was this sort of things befitting for a messenger, such as to make people obey his own orders instead of Allah's (3:78-79). Thus obeying *rasul* was in a way obedience of Allah's orders (4:80), therefore this obedience was the obedience of the system which was established for implementing Allah's laws on this earth.

The revelation ended with *Muhammad* (*pbuh*), and thereafter followed the system which was established under the Quranic laws.

In this system, the successor (*khlifa*) of the *Rasul* performed the duties, which the messenger (pbuh) performed in his lifetime. That is, obeying Allah's laws and inducing others to follow them as well. But this system of following *Allah and Rasul* did not last very long. If that system is established once again, then that obedience can be established as well. This shall be equivalent to following Allah and *Rasul* in practical terms. These matters have been explained in my book "*Islami Nizaam*" (Islamic System), where it is said that *Allah and Rasul* have been mentioned together at many places in the Quran. But after that, the pronoun used is singular. It means that obedience to *Allah and Rasul* are not two different obediences, but the same. What is meant by them is the obedience to Allah's laws which is done by following the system established by the *Rasul* and which after his death is carried on by his followers.

Taj-ul-Uroos says that "الْرَسُوْلُ" (*ar-rasul*) also means a fellow archer although *Lissaanul Arab* says that the word "رَسِيْلُ" (*rasel*) means this, but not "رَسُوْلُ" (*rasul*). But Allah and His *rasul* are in fact fellow archers, because Allah's orders are implemented in this world by the strength of the *rasul* and his companions or followers.

That is why that at the time of the battle of *Badr*, God had said that:

| 8:17 | it was not you who was shooting the arrows, but God | وَمَارَمَيْتَ إِذْ رَمَيْتَ وَلٰكِنَّ اللَّهَ رَمِيٰ |
|------|---|--|
| 0.17 | himself | ومارميت إد رميت ولكن الله رمي |

This is the closeness between God, His *rasul* and his companions and followers that brings into force the system of Allah. More details about this can be found in "قَابَ قَوْسَيْنِ (*qaaba qauseen*) (53:9). See heading (Q-W-S).

As mentioned earlier, *nabi* and the *rasul* are two sides of the same coin. That is why the characteristics related by the Quran of a *nabi* do not differ from that of a *rasul*.

Note. There are letters about the obedience of *rasul* in "*Letters to Saleem* - vol. II"

For confirmation of this, view the many places where the characteristics of a *rasul* or *nabi* are defined in the Quran. For example, a *rasul* never orders anyone to follow his personal commandments, but only wants you to obey the laws of Allah (3:78). If he makes some mistake, then that is personal fault (not Allah's). He shows the right path in the light of Revelation (34:50). A *rasul* does not have the power even for his own good or bad (10:49). He never asks anyone to compensate him for the messenger-hood (10:72). Rasuls also had wives and children (13:38). All rasul came in their respective times and died as well (3:143), but after the advent of *Muhammad* (*pbuh*), deliverance can only be obtained by following his dictum (7:158). Rasul always appeared in central places (28:59). Before getting into messenger-hood, the *rasul* were totally unaware that they would get such a task. (42:82, 28:89). Messenger *Muhammad* was illiterate before becoming a messenger, not afterwards (29:48). Messenger Muhammad (pbuh) was Allah's last *rasul* (33:41), therefore no *nabi* or *rasul* can come now. *Rasul* only guided to the path of God, made others to follow it, but to make that happen was not in their power or their responsibility (28:56). To have trust in some messenger and to disbelieve others is *kufr* (denial) (4:150). These traits or characteristics and others have been ascribed to rasuls and nabis at different places in the Quran. This too has been said that (supposing) if the *rasuls* made any changes or amendments to the revelations, then they would face consequences as well as others. (17:74, 11:113, 10:5, 68:9).

Since the Quran is a complete code of life and since God has guaranteed its protection, the guidance of the human race does not end with the messenger-hood coming to an end. The question is of establishing the same system of God which the Messenger *Muhammad* (*pbuh*) had established. This system can be reestablished even today.

"أَرْسَالٌ" (*irsaal*) means to leave or let go. "أَرْسَلُ الْخَيْلَ فِي الْغَارَةِ" (*arsalal khail fil gharah*): reigns of the horses were let loose in the attack {T, M}.

The Quran has used this word to mean the opposite of "إِسْسَاكَ" (*imsaak*) which means to restrain.

The Quran has used this word to mean the opposite of "مستك" (*imsaak*) which means t "أرُسْلَ عَلَى" (*imsaak*) to impose on someone (19:83).

ر س و **R-S-W**

"رَسَالشَّيِيّْ يَرْسُوْ" (*rasash shaiyi yarsu*), "رَسَالشَّيِيّْ يَرْسُوْ" (*irsaa*): for something to come to rest, to become immovable.

رَسَتِ السَّفِيْنَةُ تَرْسُوْ" (rasatis safaeenatau tarsu): the boat anchored {T, M}.

أَرْسَى السَفِيْنَة" (arsas safinah): anchored the boat, made it stop.

"أَلْمِرْسَاةً" (*al-mirsaah*): a boat's anchor {T, M}.

تَمَجْرِبًا وَمُرْسْلَمًا»: for a boat to sail and anchor (11:41).

Surah Al-Airaaf says:

| 7:187 When shall it happen? When will it come before us? | اَيَّانَ مُرْسٰيَا |
|--|--------------------|
|--|--------------------|

"مُرْسَى" (*mursa*) can mean both the time to stop, as well as the stopping place.

تَخُوُرْ رِ أَسِيَاتٍ " تَخُورْ رِ أَسِيَاتٍ (*qudurir raasiyaat*): big cooking pots which are strongly fixed at one place (32:13).

"زَوَاسِيَّة" (*raasia*): fixed mountains (13:3). Singular is "زَوَاسِيَّة" (*raasia*).

"زَشْدَّا" (*rashad*), "زَشْدَا" (*varshud*), "زَشْدَا" (*rushda*), "زَشْدَا" (*rashid*), "زَشْدَ" (*varshad*), "زَشْدَ" (*rashada*), "زَشْدَا" (*rashada*): the right solution of a matter, or to find the right path {T, M}. "زَشْدَ" (*ar-rushd*): to be firmly on the right path {T, M}.

Ibn Faris says it means to firmly adopt a path.

"نَالرَّشُدُ" (*ar-rashadu*), "الرَّشُدُ" (*ar-rushdu*): the opposite of "غَیِّ" (*ghayyio*), and is used to mean the right guidance {R} (2:256).

Surah *An-Nisa* has used "رُشْدًا" (*roshda*) in 4:6, which means the ability to get to the bottom of things, or mature intellect.

"اسْتَرْشَدَ فَلَانٌ لِأَمْرِهِ" (*istarshada fulanun li-amrih*): that man found the right solution to his problem. "اَرْشَدْتُهُ" (*arshadtuhu*): I guided him to the right path.

"أَلَنَّ شَيْدُ" (*ar-rasheed*): one who shows the right way (11:87), and also a person who can judge things rightly or whose estimates can reach their climax without any help or failure *{T*}.

Surah *Al-Kahaf* says:

| that the young men prayed to God, for them to be benevolent in the revolutionary struggle and to guide | وَهَبِّيءٌ لَنَا مِنْ أَمْرِنَا رَشَدًا |
|---|---|
| them on the right path | |

After this it is said:

| 18:16 | your benefactor will also give you the goods of His benevolence (And will also facilitate the successful | ويُهَيِّئْ لَكُم مِّنْ أَمْرِكُم مِّرْفَقًا |
|-------|---|---|
| | completion of purpose) | |

This shows that "زَسْتَدًا" (*rashada*) means not only to guide towards the right path but also to provide the tact and ease for reaching the destination successfully.

"أَسْرَ اللَّذَرُ اللَّذَرُ اللَّذَرُ (*al-marashid*) are the ways which lead to the destination. In the Quran, "أَسْرَ اللَّذَرُ "(*rashada*) has been used against ضر (*darru* – 'loss' (72:21). Thus "رُشْدَ " (*rooshd*) is a composite word which involves the tact and all measures to avoid loss on the way. That is why the messengers (i.e. those people who used to invite towards God) had been given "رُشْد" (*rooshd*) (21:51), and the group of *momineen* was called "رَاشِدُوْنَ" (*rashedoon*) (49:7). All this is received by obeying Allah's laws. That is why the Quran has made it clear that there is no "مَرْ شِدْ سَالَ nor "مَرْ شِدْ اللَّهُ (*murshid*) except Allah (18:17), but we still consider some human beings as our religious leaders, or holy men, and hence are suffering because of that too!

R-Sd-D ر ص د

Ibn Faris says its root basically means to lie in ambush.

"رُصَدَه" (rasadah): he waited for him.

"ألرَّ اصدُ" (ar-rasid): one who waits and watches the movements of someone.

"ألر صِيْدُ" (*ar-raseed*): a wild animal that lies in wait to attack $\{T\}$.

"أرْصَادٌ" (*irsaad*): to wait and while waiting, to prepare $\{T\}$.

The Quran says:

| 72:9 | he will find a ball of fire waiting for him | يَجِدْله شِهَابًا رَّصَدًا |
|-------|--|---|
| 9:107 | for lying in wait for those who fight against Allah and His Rasul (i.e. against Allah's system) | اِرْصَادً الِّمَنْ حَارَبَ اللَّهَ وَرَسُوْلَهُ |

(al-marsad): "أَلْمِرْ صَادُ" (al-mirsaad): to ambush, or the place where the enemy is ambushed from. (89:14, 9:5){*T*}.

For God to be in "مِرْصَادً" (mirsaad) or to ambush, means that His law of Nature keeps full track of everybody and when the need arises, that is, when the time for result comes, then it clutches people in its grip (89:14). Nobody can escape this law. Every human deed travels the path fixed by the law of Nature created by God to reach its destination, and which is called its end or result. Therefore, no deed can be without a result, good or bad.

> R-Sd-Sd ر ص ص

"رَصََّلَّ (rassahu), "رَصََّلَّ (varussuh), "رَصََّلَّ (rassahu), "رَصََّرَ مَنَّا" (rassahu) (رَصَّ they were iron clad. "ألرَّ صَاصُ (ar-rasaas) means 'lead' (the metal).

The Quran says that *momins* fight in the way of their Sustainer:

| 61:4 | as if they were parts of a lead wall (i.e. an unshakeable wall) | كَأَنَّهُمْ بُنْيَانٌ مَرْصُوْصٌ |
|------|--|----------------------------------|
|------|--|----------------------------------|

This can only happen when the hearts are integrated and when there is complete unity of thoughts and actions. The union of hearts comes from the code of life being homogenous. Consider the fate of the Muslim nations which are divided into different sects today, against this advice! But still we believe that we are the torch bearers of the system of Quran!

R-Zd-Ain ر ض ع

"رَضِعَ" (razia), "رَضَعًا" (varzih), "رَضْعًا" (razia), "يَرْضِعُ" (raza'a), "رَضَعَ" (razia), "يَرْضَعُ" (razun), "رَضِعَ (raza'a): for an infant to suckle from its mother's breast {T. R}.

| 4:23 | your sisters who have suckled the breasts of the same | اَحَوَاتُكُمْ مِنَ الرَّصَاعَة |
|------|---|--------------------------------|
| 4.23 | woman (and which are forbidden for you to wed) | الحوالكم مين الرصاغة |

''زَضْنَعَ'' (*arza'a*): to suckle a child. ''الإِسْتِرْضَاعُ'' (*al-istirza-u*): wanted to suckle *{T*}

| 4:23 | those mothers (those women) who have breast-fed | وأمَّهْتُكُمُ الَّتِيْ ٱرْصَعَنَكُمْ |
|------|---|--------------------------------------|
| 4.23 | you (they are also forbidden for you to wed) | والمهتجم أنيى أرضعتجم |

"مَرَاضِعْ" (maradih): the place where you suckle, i.e. breasts {Kishaf}. Singular is "مَرْضَعْ" (marza'a).

Surah *Al-Qasas* says:

| 28:12 | we stopped Moosa from suckling | وَحَرَّمْنَا عَلَيْهِ المرَاضِعَ |
|-------|--------------------------------|----------------------------------|
|-------|--------------------------------|----------------------------------|

Here "مَرْضِعَة" (marazi'h) could also be plural for "مَرْضَعٌ" (marza'), as well as of شمرُضِعَة (murziah). In the first instance it would mean breasts. In the second those women who let a child suckle, that is, those who breast-fed the children.

تمرضيعَة" (marazih): a woman who breast-feeds (22:2). The plural here too is "مَرْضِعَة" (marazih). "أسْتَرْضَعَ" (istarzah): wanted the (woman servant) to breast-feed the child (2:233).

"رَضِیَّ" (*razia*), "يَرْضَىَ" (*yarzi*), "رَضْوَاناً" (*rizwana*), "رَضْوَاناً" (*rizan*): to agree with someone, to approve someone. But there is heartfelt agreement and willingness in it and no compulsion whatsoever. "تَرَاضِيَانَ" (*taraziayah*): both have agreed on something, with mutual agreement, both are agreed upon it.

| 2:232 | when the two (husband and wife) mutually agreed | اِذَا تَرَاضَوْا بَيْنَهُمْ بِالْمَعْرُوْفِ |
|-------|---|---|
| 2.252 | when the two (husbund and whe) matually agreed | |

"رَضِيَةُ لِبُذَا الْأَمْرِ" (*raziahu lihaazil amr*): considered him capable of it. Considered him capable of serving him and selected him for the job.

"الرُتْضَا ة لِصُحْبَتِم وَخِدْمَتِم" (*irrazahu lisuhbatihi wakhidmatihi*): considered him to be worth of companionship and service and hence recruited him for this purpose. "رَضِيْتُ الشَّيْءَ وَبِه" (*razeetush shaiya wa behi*): I liked that thing and adopted it {T, L}.

| 2:120 | The Christians and the Jews will never agree with | لَنْ تَرْضِي عَنْكَ الْيَهُوْدُ وَلَا التَّصْرِي |
|-------|---|--|
| 2:120 | you. They will never be in agreement. | كن ترضى عنك اليهود ولا النصري |

The Quran says that *momineen* will be "رَضِى اللهُ عَنْهُمْ وَرَضُوْا عَنْهُمْ وَرَضُوا عَنْهُمْ وَمَعْتَى اللهُ عَنْهُمُ وَرَضُوا عَنْهُمُ وَحَمْعُوا لَعْهُمُ وَحَمْعُوا لَعْهُمُ وَعَنْهُ عَنْهُمُ وَحَمْعُوا لَعْهُمُ وَحَمْعُ مَعْتَى وَعَنْهُمُ وَحَمْعُوا مُعْتَعَالَهُ وَعَنْهُمُ وَحَمْعُ مَعْتَى وَعَنْهُ وَحَمْعُهُمُ وَحَمْعُوا مُعَنْهُ وَحَمْعُوا لَعْهُ وَحَمْعُوا مُعْتَعَا وَحَمْعُ مَعْ مَعْتَى وَعَنْهُ وَحَمْعُوا مُعْتَى وَحَمْعُوا مُعْتَعَالَهُ وَحَمْعُوا مُعْتَعَا وَعَنْ وَعَنْ وَعَنْ مُعْنُ وَحْمَنُهُ مُعْرَضُوا عَنْهُ وَحَمْعُوا مُعْتَعَا مُعْتَعْتُهُمُ وَحَمْعُوا مُعْتَعَا مَعْتَ مَعْتَ مُعْتَعَا مَنْ عَنْهُمُ وَحَمْعُوا مُعْتَعَا مُعْتَعَا مُعْتَعَا وَعَنْهُ وَعَنْهُ وَعَنْهُ وَعَنْ عَنْ عَنْهُمُ وَحَمْ وَعَنْ وَعَنْهُ وَعَنْ مُعْتَى وَعَنْهُ وَعَنْهُ وَعَنْ عَنْ مُعْتَعَا مُعْتَعَا مُعْتَعَا مَنْ وَعَنْ عَنْهُ وَعَنْ عَنْ وَعَ He too is happy about something and displeased with some. Allah is free of all such emotions. Therefore the meaning of this verse is different. One thing should be clarified first here. When the human mind was in its infancy, it had the concept of god, goddesses or Allah as the king or ruler before him and in which there was nobody stronger than the king. His mind too sat Allah on a throne like the king. Allah too had those close to him who have some say in his rule. Also he has guards etc. and His subjects who have no right against him.

If a human being wanted to present some request before Him, he would also have to accompany it with presents and all. Also the request would have to be presented before God through one of His close ones. So that he could intervene on his/her behalf. These requests (or the king's other orders) were not subject to any rule. They depended on the king's whims. If he was happy then he could well grant a person an entire village. If he was angered then the man would face his wrath. This state of the king's happiness or displeasure was not according to any rule. As such man should strive to maximum to keep God happy. Presents, gifts, sacrifice, all this was aimed at keeping the Deity happy and in agreement. So that He remained in agreement with his subjects.

The Quran (and before it the holy scriptures of the messengers through revelation) dispelled this superstitious concept of God and replaced it with the right concept. This was that God was not like a hedge monist ruler. He has fixed a rule for everything, and the entire affairs of the universe are conducted according to the laws formulated by Him. For human affairs too, He has formulated principles (which are now safe in the Quran and have come through the prophets). Every human deed results according to those laws. He, like the kings, does not reward anyone for nothing or on a whim, nor does he get angry on a frivolous thing and punish him.

Along with this, the Quran also said that God has a fixed purpose for the human life, and the laws He has given are ones according to which a human must live, and thus reach his ultimate destiny. This road for humans is favored by God. That is, if man takes this path then he lives according to God's wishes, and if he does not then he goes against God's wishes. "God's agreement" or his displeasure as mentioned in the Quran signifies these meanings.

As for example, surah *Al-Ma'idah* says:

| 5:3 I have chosen Islam (security) as your way of living | وَرَضِيْتُ لَكُمُ الْإِسْلَامَ دِيْناً | |
|--|--|--|
|--|--|--|

If man lives according to this code of conduct, then he traverses a way that is favored by God. This has been said as "رَضِي اللَّهِ عَنْهُ" (*raziallahu unhu*). On the other side, a *momin's* state is such that he loves the path of God, and dislikes other ways against it.

| 49:8 | But God has made trust beloved in your hearts and one to believe, and made denial, and hypocrisy, and sins as disliked. Such people are on the right path, this is a benevolence from Allah. And Allah is aleem | وَلٰكِنَّ اللَّهَ حَبَّبَ الَيْكُمُ الْاِيْمَانَ وَزَيَّنَهُ فِيْ قُلُوْبِكُمْ وَكَرَّهُ الَيْكُمُ الْكُفَرَ وَالْفُسُوْقَ وَالْعِصْيَانَ- أُولْعِکِ هُمُ الرَّاشِدُوْنَ- هَتْ الَّهِ مَنَا الَّهِ مَنْهُ مَا " حَكْ |
|------|--|--|
| | | فَضْلاً مِنَ اللَّهِ وَنِعْمَةً - وَاللَّهُ عَلِيْمٌ حَكِيْمٌ |
| | and hakeem (He knows and is tactful) | |

For trust to become so enamored in the hearts is "رَضُوْا عَنْهُ" (razu unhu).

This will make one understand the meaning of "رَضِى اللهُ عَنْبُمُ وَرَصْوُا عَنْمُ" (*razi Allahu unhum wa razu unhu*) as in 9:100, for Allah to be in agreement means to traverse the path set out by Allah. And to agree with humans means for Allah's recommended path to become the beloved path in their hearts.

The Quran explains this matter at another place as well. As in surah *At-Taubah* it is said about the hypocrites:

| 9:8 | They agree with you by word of mouth but their hearts deny it | يُرْضُوْنَكُمْ بِاَفْوَاهِهِمْ وَتَأْلِى قُلُوْبُهُمْ |
|-----|---|---|
|-----|---|---|

Here "أبلى" (*irzaa*) has come opposite "رضى" (*aabaa*) which means to refute strongly. As such "رضى" (*raziun*) would mean to agree from the heart. This meaning is also explicit in surah *Al-Baqarah*, when these hypocrites are told "التَّقُوْ اللَّهُ" (*ittaqillah*) in 2:206, or protect the laws of Allah, they do not do so. After that the *momineen* are mentioned. That they live a life of "الَبُنُّيُّا مَرْضَاتُ" (*ibtigha'a marazatillah*) in 2:208, which means according to Allah's laws. Further ahead it is said:

| 2:208 | Enter into (the domain of) God's obedience entirely | ٱدْخُلُوْا فِي السِّلْمِ كَافَةً |
|-------|---|-------------------------------------|
| 8:2-6 | do not follow ungodly orders | لَاتَتَّبِعُوْا خُطُواتِ الشَّيْطنِ |

When all these pieces are kept in mind, it becomes clear what "مَرْضَاتِ اللهِ" (*marzaatillah*) means. That is, the obedience of Allah's laws with full willingness.

This is also the meaning of "رَضِى الله عَنْبُمُ وَرَضُوا عَنْهُ). That is, due to following Allah's laws, these people live peacefully and in harmony. Their entire life is spent according to these laws, and the happy results of following Allah's laws accompany them. The good results accompany them and due to this, their love for the love of Allah's laws increases.

This is called 'ز *ittaba'a rizwanillah*) in 3:161 ز (*ittaba'a rizwanillah*) in 3:161 ز Against which has been stated 'بَاءَسِخَطٍ مِنَ اللَّهِ'' (*ba'a bisakhatin minallah*). See heading (S-Kh-Th).

Surah *Mohammed* makes it clear that "رَضُوَانَہُ" (*rizwanahu*) means the same as "مَانَزَلَ اللهُ" (*ma nazzalallahu*) (47:28). That is, the Quran.

Earlier it has been stated "تَكْرِبُوْا مَانَزَلَ اللهُ" (*karihu ma anzalallah*) in (47:26) and after it has been said "كَرِبُوْا رِضْوَانَہُ" (*karihu rizwaanahu*) in 47:28. This means that "رَضُوَانَہُ" (*rizwaanahu*) is to follow the Quran and "سَخَطٌ" (*sakhatun*) is following ungodly laws. Therefore *momineen* are wont to fully obey and follow the Quran "مَالَنْزَلَ اللهُ" (*ma anzalallah*). They tune their entire life to the Quranic laws. And the result as per the laws of Nature is the delights and pleasantness of life which accompany them. This sort of life is "عِيْسَةِ رَاضِيَةٍ" (*eeshatir raaziyah*) (101:7).

Surah Maryam says that Zikaria prayed to God for a son and said:

| 19:6 A | And make him pleasing of my Sustainer | وَاجْعَلْهُ رَبِّ رَضِيًاً |
|--------|---------------------------------------|----------------------------|
|--------|---------------------------------------|----------------------------|

Here "رَضِيًا" (*raziyyah*) means either beloved or favored or that he (the son) may be a person who lives his life according to Your laws.

Taj-u-Uroos says that "رَضِيٌ (razzi) means obedient.

Surah *At-Taubah* says that the *momineen* have been promised "جَنَّات" (*jannaat*) by Allah, and " مَسَاكِنَ " (*massakinit tayyibah* – decent residences). Later, it is said:

| 9:79 Allah's 'rizwaan' is greater than all this. And this is a great achievement. | وَرِضْوَانٌ مِّنَ اللهِ أ |
|---|---------------------------|
|---|---------------------------|

This verse points to a great truth. The question is what happens due to trust and 'righteous deeds? The human being is a compound of this physical life and his ego or personality. Life's success is that his physical being is good as well as the development of his ego. The development of a human being means that whatever latent capabilities he has, develops and is manifested. Allah's personality or persona is a complete persona, in which all His qualities are in full bloom. These very same qualities are present in humans too, but only to the extent a human being can have them. That is, on a much smaller scale. The development of human personality means that those traits grow. Now it is obvious that the more developed a human personality will be the more qualities of Allah he will reflect and to a greater degree.

With trust and good deeds the human personality is developed while he also gets the benefits of a good life. The Quran says that life's delights are very valuable too, and to get them is a big achievement. But the real success is that the human personality reflects the traits of God. "ذَلِكَ بُوَ الْفَوْزُ الْعَظِيْمُ" (*zalika huwal fauzil azeem*).

The result of good deeds is that on one's life becomes successful and delightful, and secondly his internal self also experiences a great change. This revolution (i.e. for human personality to be developed) is a very great success. This has been said in another way:

| 50:35 | There will be everything in jannat which you may | لَيُمْ مَايَشَاؤُنَ فِيبَا وَلَدَيْنَا مَرْيُدٌ |
|-------|--|---|
| 30.55 | desire, and We have even more than that | ليم مايساون وييا ولدينا مزيد |

This means that man's wishes can only be according to his mental level but in the life of *jannat*, this level will be raised and then they will wish for, and get that which is much beyond the level at present. That is, his personality will be developed in such a way that the present level of his comprehension is unable to grasp it.

But we should not overlook the fact that such development of a human personality can take place only in a Quranic society, not in secluded worship houses. Thus we see that "رضوان من الله" (*rizwaan minal lah*) or "مرضات الله" (*marazaatillah*) is the name of living according to the Quran and the good results that follow from it.

Surah *Al-Ambia* says:

| | And they do not put in words for anyone, except for those who has His good pleasure | وَلَا يَشْفَعُوْنَ الَّا لِمَنَ ارْتَضٰي |
|--|--|--|
|--|--|--|

See heading (Sh-F-Ain).

رطب R-Te-B

"نَائَرَطْبُ" (*ar-ratb*), is the opposite of "يَابِسٌ" (*yaabis* - dry): i.e. moist, or fresh and dewy. Hence it means soft, fresh branch, green grass, green land etc. (*ar-rutab*): a kind of date *{T*}.

The Quran says:

| 19:25 | selected dates | رُطباً جَنِيَّاً |
|-------|--|--|
| 6:59 | Freshness of everything is found in the code of life for | وَلَارَطْبٍ وَّلَا يَابِسٍ الأَفِيْ كِتَاتٍ مُبِيْنٍ |

| the universe. | |
|---------------|---|
| | I |

For "رَطْبٌ وَ يَابِسٌ (*ratbi wa yabisun*), see heading (Y-B-S).

In verse 19:25, it is said that *Isa* (Jesus) was born in a season when trees were laden with ripe dates. This means that according to the Quran, *Isa* was not born in December, as generally believed. In that month there is a harsh winter in Palestine and it is not the season for fresh dates. Nowadays even the Christian historians are agreeing with the view that Jesus was not born on 25th December (Christmas). The Christians had borrowed this idea from the Iranians who thought that 25th December is Jesus' birthday. And 25th March as the Day of the resurrection. They also believed that *Mithra* (Zoroastrian deity) would return during the last days of the world. (See page 51 of by book *Meraaj Insaaniyat*).

R-Ain-B رعب

"زَعَبَ الحَوْضَ" (*ra'abal hauz*): filled the (small) pool. "زَعَبَ السَّيْلُ الْوَادِىَ" (*a'abas sailul wadi*): the flood filled the valley; to cut something. "زَعَبَ السَّنَامَ" (*ra'abas sanaam*): he cut the hump (of the camel). "التَّرْ عِيْنَةً" (*attareeba*): the hump that was cut {*T*}.

Raghib says that due to being filled with fear, "الرُعْبُ" (*ar-roab*) means to become speechless {R}. This word is also used for just fear.

Surah *Al-Kahaf* says:

| 18:18 | lest you become fearful due to it | ولَمُلِثْتَ مِنْهُمْ رُعْب اً |
|-------|-----------------------------------|--------------------------------------|
|-------|-----------------------------------|--------------------------------------|

The *momineen* should be so powerful that their opponents, upon seeing them in battle, shake with fear. But this is only possible when they bow before Allah's laws and of none else. This is what we know as توجيد" (*tauheed*), while *shirk* (to follow other rules as well) definitely results in fear.

Surah *Aal-e-Imran* says:

| 3:150 | We will put fear into the hearts of these deniers, because they include others with Allah (in following laws) | سَنُلْفِيْ فِيْ قُلُوْبِ الَّذِيْنَ كَفَرُوْا الرُّعْبَ بِمَامَثْرَكُوْا بِا اللَّهِ |
|-------|---|---|
|-------|---|---|

رعد R-Ain-D

َرْعَتْ" (*raad*): thunder. It also means to shake or tremble. It figuratively also means scolding or dressing down.

"أَلَرَ عَادُ" (*ar-raʿad*): a man who talks tall, talks too much *{T*}.

Ibn Faris says it means basically movement and unease.

In the Quran this word has been used as meaning thunder (13:13, 2:19)

| 13:13 | Raad is busy in carrying out its ordained task | وَيُسَبِّحُ الرَّعْدُ بِحَمْدِهِ |
|-------|--|----------------------------------|
|-------|--|----------------------------------|

This means that it is an epitome of Allah's praise with its positive result See headings (S-B-H) and (H-M-D). Every force of the universe is engaged in its ordained task, and the collective result of their efforts is a constructive addition to the universe. When viewed separately, some of these forces evoke fear (like

lightning and thunder) but collectively their result is constructive. And this is the manifestation of Allah's praise.

R-Ain-N נפט

"أَلَرْ عُوْنَةً" (*ar-rao'nah*): means foolishness. It is also said that "أَلَرْ عُوْنَةً" (*rao'na*) means sparseness of thought and "حُمْقٌ" (*humaq*) means refutation of intellect or thought {M}.

"لَأَرُ عَنَّ الْأَرْ عَنَّ الْأَرْ عَنَّ (*al-arun*): a man who talks nonsense, fool, lazy and lackadaisical. "رَعْنَ الرَجُلُ" (*ra-unir rajul*): that fool talked nonsense and became loose. "رُعْنَ (*ro'in*): he fainted {*T*}.

Ibn Faris says its basic meanings are to be projected ahead and to be high or elevated. Second meaning is of nonsense, worries and unease.

"زاعِنَا" (*ra'ina*): the Jews used to address the Messenger (*pbuh*) by this word (4:46). It was meant to tie him up with "راعِنَا" (*ra-oonat*) but they used to say it as "رَاعِنَا" (*ra'ina*) which means to condescend, to bear with us {R}, or as they say in English, "I beg your pardon".

For detailed meaning of "رَاعِنًا" (ra'ina), see heading (R-Ain-Y).

رعى R-Ain-Y

: (*ar-riou*): grass) الرَّعْيُ "

"أَلْمَرْعَى" (ar-raayou), "أَلْمَرْعَى" (al-mar'aa): to graze grass.

"أَلْمَرْ على" (al-mar'aa'a): grazing land, also the grass which is grazed.

"رَعْيَّا" (*rayuia*): the animals grazed, or left the animals to graze. " رَعْياً" (*var'aa*), " رَعْياً" (*rayuia*): the animals grazed, or left the animals to graze.

"لَرْ اعِنْ" (*ar-raee*): shepherd, one of the plurals is "رِعاءً" (*riaa-un*). See 28:32 {*T*}.

Raghib says "رغي" (*ray'un*) actually is to look after an animal and protect it in every way, whether it is to preserve its life by feeding it, or by protecting it from enemies etc. {R}. But later this word came into use for protecting and looking after everything.

"رَعَى أَمْرَهُ" (as-raee amrahu): looked after his affair and protected it.

"رَعَى النَّجُوْمَ وَرَاعَابًا" (*raeen nujum wara'aha*): he kept track of the stars and their speed and looked after them *{T*}.

شُرَاعَاةً" (mura'atun) means to look after something specifically, to protect someone.

"زَاعِيٰ أَمْرَهُ" (*raaya amruhu*): he looked after his affair very well and kept an eye on his wealth. "الرَّعِيَّة" (*ar-raeeyah*): the animals which are looked after or which are left to graze. It also means those people who have some administrator for their affairs and who are watched over by someone {*T*}.

Ibn Faris says it basically means to protect and oversee.

| Surah | Taha | says: |
|-------|------|-------|
|-------|------|-------|

"أَلْمَرْ عَىٰ" (*al-mar'aa*): grass or fodder (87:4).

Surah *Al-Hadees* says about Monasticism:

| 57:27 | they could not protect it the way it should have been | فَمَارَعَوْهَا حَقَّ رِعَايَتِهَا | |
|-------|---|-----------------------------------|--|
|-------|---|-----------------------------------|--|

| protected |
|-----------|
|-----------|

Surah *Al-mominoon* says:

| 23:8 | those who protect their goods and keep their promises sacred | وَالَّذِيْنَ هُمْ لِأَمْنَتِهِمْ وَعَهْدِهِمْ <mark>رَاعُوْنَ</mark> |
|------|--|--|

In surah *Al-Baqrah*, the group of *momineen* have been asked not to say "زاعِنَا" (*raa ina*) like the Jews (2:102). The Jews used to twist the words while addressing the Messenger (*pbuh*) in order to change the meanings of the spoken words. The word "زاعِنَا" (*ra'ina*) was among such twisted words. This was the peak of their lowliness that they had even given up normal courtesy and came down to street language.

They used to say the word in such a way, as to make it a derivative of "رُعُوْنَت" (*ra'onat*). See heading (R-Ain-Y). But *Al-Minar* says that "رَاعِنَا" (*raa ina*) is derived from "مُرُاعَات" (*mura ah*). In this way "رَاعِنَا" (*ra'ina*) would mean that you concede to us and then we will concede to you. To use such words for the Messenger (*pbuh*) is open disrespect and unbecoming. {*Al-Minar* vol.1 page 410}. That is, the prophet should be obeyed unconditionally which actually is obedience of Allah and their life's duty. They should say "نُظْرُنَا" (*unzarna*) to the Messenger (*pbuh*) prophet. It means, look after us lest we become wayward, and they should not only listen to all his orders but obey them as well. "وَاسْتَعُوْا" (*wasma'o*) (2:102).

But in my opinion, this verse tells even those who trust, to abstain from such acts and talk in which good and bad are mixed, or their difference is difficult to comprehend readily. If some saying or act has even a doubt that anything (word or deed) insulting the Messenger (*pbuh*), then that should be avoided and the purity of intent must not be cited for saying or doing them. Everything a Muslim says or does must be clear and unambiguous. There is no room for a poetic license sort of thing here.

رغ ب **R-Gh-B**

Ibn Faris says it means basically to demand or wish, and vastness.

(*raghbah*): actually it means for something to become vast or wide.

َرَغُبَ الشَّيِيْءُ (raghubash shaiyi): the thing became vast.

"حَوْضٌ رَغِيْبٌ (*raghiba hauzun*): a vast pool.

"ألرَّغْبَ" (*ar-raghbaha*), "الرَّغْبَ" (*ar-raghbu*): to wish very much, the vastness of intent {R}.

وَادٍ رَغِيْبٌ» (*raghib waadin*): a broad valley which can hold a lot of water.

تَرَاغَبَ الْمَكَانُ (*taraghabal makaan*): the place widened, became vast.

الرُغَبَ اللهُ قَدْرَكَ" (arghabal lahu qadraka): May God increase your respect or rank.

"ألرِّغَابُ" (*ar-righaab*): animals which give a lot of milk and are very beneficial.

"رَغِيْبُ" (ragheeb): every vast and broad thing {T}

Raghib says "رَغِبَ فِيْدِ يا رَغِبَ الْيُمِ" (*raghiba fihi ya raghiba ilaih*): to wish for something and to long for it (with the broadness of intent). "اللَّهُ رَاغِبُوْنَ" (*inna ilal lahi raaghiboon*) as in 9:59 also means the same. Also in 68:32 and "رَغِبَ عَنْهُ" (*raghiba unhu*) means to turn away one's liking from it {R}.

| 2:130 Who can turn away from the leadership of Ibrahim? | وَمَنْ يَرْعَبُ عَنْ مِلَّةِ ابْرَاهِيْمَ |
|---|---|
|---|---|

Also in 19:46 "رَاغِبٌ" (*raghib*) has been followed by "عَنْ" (*un*). At these places, this word means to take away liking from.

Surah *An-Nisa* says:

| 4:127 they sh | not want to give widows and orphan girls what ould be given according to God's laws, and yet nt to wed them | |
|---------------|---|--|
|---------------|---|--|

Taj-ul-Uroos explains further that "زغِبَ فِيْهِ" (*raghiba feeh*) means liked him, intended it.

رغ د **R-Gh-D**

"زَغَدٌ" (*eeshatun raghadun*) "زَغَدٌ" (*raghadah*): good, abundant and delightful earning. (*ici عِنْشَابُمُ*ُنَّ) (*raghida aishehum*): their lives became delightful and their earning (income) abundant or vast.

أَرْغَدُوْا مَوَاسْيَبُمْ (arghdiu mawashiahum): they left their cattle to graze freely.

"أَرْغَدُوْا" (arghadu): they reached a fertile land {T, M}.

"ألرَّ غَنْ" (*ar-raghadu*): abundant wealth, water, grass, earning etc. which causes no constriction and which is no cause for any worry $\{T\}$.

In surah *Al-Baqarah*, the characteristics of *janna* (heavenly society), have been detailed as that in which earnings will be "رَغَدًا حَيْثُ شَرِعْتُمَا" (*raghadan haisu shai'tuma*) (2:35). That is, life's necessities can be easily fulfilled from anywhere.

Surah *Taha* says in this context that in such a society the edibles, clothing and the basic necessities of life will be available without any effort (20:118), and man shall not be deprived of these.

Surah An-Nahal says:

| | The basic characteristic of such a heavenly society on | |
|--------|---|---|
| 16:112 | earth is that every necessity of life is easily available | يَأْ تِيْهَا رِزْقُهَا رَغَدًا مِنْ كُلِّ مَكَانٍ |
| | to everybody, everywhere and in abundance | |

In such a society, people cannot inveigle the fountainheads of sustenance for themselves only. All means for development of the human being and his capabilities are freely available to all and it is the responsibility of that system that it ensures that nobody is deprived and everything is available to him in abundance.

ترَغَدًا حَيْثُ شِنْتُمَا" (raghadan haiso shai'tuma): available feely from wherever he wants.

(*ar-righm*): dislike, abhorrence. "اَلَرَ غُمُ" (*ar-rughm*), "اَلَرُ غُمُ" (*ar-righm*): dislike, abhorrence.

"أَلَرَّ غَامُ" (ar-raghaam) actually means 'dust'.

"(*arghanaz-zullu*): his face was rubbed in the dirt. This also means to make one obey forcibly. "الْمَرْ غَمَّ، الذَّلْ" (*al-margham*) means 'nose' *{T*}.

"أَلْمُرَاغَمْ" (*al-muragham*): a place where one may go after running away, or after being angry with someone. Later it also came to mean fort, path, and spaciousness and abundance {*T*}.

Ibn Faris says it has two basic meanings. One is of dirt, while the other is of a path or a place to run away to.

The Quran says that anyone who migrates in order to establish Allah's system:

| 4:100 | will find | lots of sai | nctuaries in the wor | rld where he will | مَرْ ذِ الْأَنْجَ فِرَاخَ أَ |
|-------|-----------|-------------|----------------------|-------------------|------------------------------------|
| | find abun | dance | | | یجِد قِبی الارضِ مراعما |

And if the opponents have closed one door for him, then dozens of doors will open up.

رفت R-F-T

"رُفَاتٌ" (*rufaat*): chaff or that which falls off from a dry thing. Hence it means old pieces and bits. "رُفَاتٌ الحَبْلُ" (*irfattal hubl*): the rope broke into pieces.

"رَفَتَّر" (*rafatah*), "يَرُفَّتُم" (*varfutuh*): to break something, to pound or turn into small pieces. Like earth or old bones {*T*, *R*}.

Surah *Bani Israel* says:

| 17:49 will we be raised even after our bones turn to dust? | اَلِذَ أَكُنَّا عِظَا ماًوَّ رُفَاتاً |
|--|---------------------------------------|
|--|---------------------------------------|

Like today's materialists, they too thought that their life was confined only to their physical being. If the elements of life disintegrate, then life can't go on. Their thoughts have been dispelled by saying that God, who created them the first time, is capable of maintaining life without these physical elements as well (17:51). This is what life after death is.

رفث R-F-Th

"أَلَرْفُتْ" (*ar-rafas*) is a composite word and means everything to do with sexual intercourse, from the initial conversation to the climax $\{T\}$.

Muheet says it means a man who performs the intercourse *{T, R}*. It also means cases of sexual intercourse.

Raghib says it means sexual intercourse or talk about it, the mentioning of which is deemed improper.

Ibn Faris says it actually means sexual intercourse but is used for anything which a man feels shame to express.

"ألرَفَّ" (rafas) means abuse or inappropriate talk as well.

In the context of *Hajj*, it is said "فَلَارَفَتْ (*fala rafas*) in 2:197. It means that during *Hajj* no dirty thought should enter the mind. No such act should be committed nor should any conversation which has a sexual overtone, be made.

About fasting, the Quran says:

| 2:187 | you can go to your wives for sexual intercourse in the nights of the month of fasting | أُحِلَّ لَكُمْ لَيْلَةَ الصِيَامِ الرَّفَتُ الَٰي نِسَاءِكُمْ |
|-------|---|---|
| | | |

Here the Quran by using "لِلَى نِسَاءِكُمْ" (*ila nisaikum*) (your women), has made it clear that it means sexual intercourse.

رفد R-F-D

ن اللر فَنْ (*ar-rifd*): Gift, compensation. It also means something with which one gives support, help, share or luck.

"رَفْدَه" (*rafadah*), "رَفْدَه" (*yarfiduhu*), "رَفْدَه" (*rafadah*): he helped him, or gave him aid.

"أَلْارْفَادُ" (*al-irfaad*): to help, to gift, to endow. It is actually the cloth or other soft material under the camel's seat so that it does not hurt the animal's back.

(*rifadah*).): piece of cloth to wipe the wound. It also means the contribution that was gathered in the days of ignorance by the *Quresh* tribe for the needy pilgrims forage.

"أَلْاِرْتِفَادُ (al-irtifaad): to labor, to strive, to earn {T, R}.

Surah *Hood* says:

| 11:99 | how bad a gift or compensation it is | بِئْسَ الرِّفْدُ الْمَرْفُوْدُ |
|-------|--------------------------------------|--------------------------------|
|-------|--------------------------------------|--------------------------------|

That is, how bad is the help which has been given them or with which they have been supported.

رفع R-F-Ain

"تَرَفَعُ" (*raf'a*), "يَرْفَعُ" (*yarf'a*): to elevate.

Raghib has said sometimes " \tilde{c} and \tilde{c} (*rafa*) means to lift a material object, sometimes to build up a wall at the time of construction and take it to a height, sometimes to elevate fame or mention or sometimes to elevate the grade $\{T, R\}$.

Ibn Faris says it means basically means to elevate and pick. It also means to bring a thing closer, or to spread or make manifest.

"رَفَعَ" (*raf'a*) is used in various meanings. Its basic meaning contains the sense of intensity or exaggeration. That is to do whatever, quickly and intensely.

(*as-rafaal baeeru fi sairihi*): the camel increased his speed. (رَفَعَ الْبَعِيْرُ فِيْ سَيَّرِهِ:

رَفَعَ الْقَوْمُ» (raf'al qaum): the people went up to the heights.

بَرْقٌ رَافِعٌ: (*barqun raaf'ih*): the lightning which shines high above.

"ألرّ فَاعَة" (ar-rifa 'ah): the harshness of sound and intensity.

"رَفْعَة" (*raf'u*), (*rif'ah*): to be gentlemanly and of high stature {*T*}.

The Quran says:

| 2:63 | We raised the mount of Toor near your head | رَفَعْنَا فَوْقَكُمُ الطَّوْرَ |
|------|--|--------------------------------|
|------|--|--------------------------------|

That is, you were at the bottom and the mount was above you. In connotation of being the height of a building, it says in the context of the construction of the *Kaba*:

| | , | |
|-------|--|--|
| 2:127 | when Ibrahim was raising the foundations of this house | اِذْ يَرْفَعُ اِبْرَاهِيْمُ الْقَوَاعِدَ |

"رَفَعَ صَوْتاً" (rafa'a sautan): raised voice.

"رَفَعَ صَوْتَہُ فَوْقَ صَوْتِہُ فَوْقَ صَوْتِہُ): literally, it means to raise one's voice above another's, but figuratively it means to impose one's opinion over another's (49:2).

About the elevation of grade, it is said about *Idrees*:

| 19:57 | We granted him elevated grade | وَ رَفَعْنُهُ مَكَاناً عَلِيّاً |
|-------|-------------------------------|---------------------------------|
|-------|-------------------------------|---------------------------------|

God has himself called himself "زَفِيْعُ الدَّرَجَاتِ" (*rafiud darajaat*) in 40:15, that is, he did not reach His elevated position gradually, but He is there from the beginning. That is, He is above the process of evolution and progress. It also means supremacy and authority.

"رَفِيْعُ الدَّرِجْتَ" (*rafud darjaat*): of high grade, that is, of high ranks. It could also mean one who elevates stages or grades or ranks.

In surah *Al-Waaqiah* where "رَافِعَة" (*raafiah*) has come opposite "خَافِضَة" (*khafizah*), there too, it means this. That is, the one who gets elevated to great heights.

About *Isa* it is said "بَلْ رَفَعَ الللهُ اللَّهِ." (*bal rafahul lahu ilaih*) in 4:158, there too the meaning is that Allah elevated him and brought him close to Himself. If "رَفَعَ (*rafa*) is taken to mean that he was lifted physically, then one would have to accept that God is at a certain place. Because whenever it is said that something has gone towards something, the thing towards which it has gone, has to be at a fixed place. It is against the Quran to believe that God is confined to any one place.

That is why "بَلْ رَفَعَهُ اللهُ إِلَيْهِ" (*bal rafahul laahu ilaih*) would mean that Allah elevated him and brought him closer to Him. Details will be found in my book *Sholayi Mastoor* in the tale about *Isa*.

About the Messenger (*pbuh*) it is said:

| وَ رَفَعْنَالَكَ ذِكْرَى 94:4 we elevated your greatness |
|--|
|--|

For "رَفَعَ" (*rafa'a*) and "مَعِدَ" (*sa'ida*) as in 35:10, see heading (Sd-Ain-D).

رفف R-F-F

"رَفْرَفْ" (*ruff*) has a lot of meanings but the Quran only uses "رَفْرَفْ" (*ruff*) has a lot of meanings but the Quran only uses

"رَفَّ الطَّائِرُ" (rafraf): the bird opened up its wings in the air.

"أَلرَّ فْرَفَ (*ar-rufruf*): scattered leaves.

"لَرَقُرُفُ" (*ar-rafrufu*): mat, beddings, pillows, also green colored mattresses which are laid over floor covering to sleep. Some say it means the hem etc. of a tent's curtain, but generally it means floor covering or bedding *{T, R}*.

Ibn Faris says it means gardens, beddings, and green clothing.

رفق R-F-Q

َالْمِرْفَقُ'' (*al-mirfaq*): elbow. Plural is "مَرَافِقُ' (*marafiq*). It also means softness and facility.

(*rafaqan naaqah*): the camel's elbow was fastened so that it does not run away. (رفَقَ النَّاقَةُ: (*rifaaq*): the rope with which one's arm is tied (to its hind legs). This led to الرَّفْقَهُ: (*al-rifqah*) meaning companion in the group (because while walking, their elbows touch each other). When the group disperses then the word (رفَقَةُ: (*rifqah*) is not used for them, but every companion can be called (*rafiq*).

ألرَّفَاقَةُ (ar-rufaaqah): group or party.

"ار ثقق" (irtafaq): he leaned on the elbow.

"أَمْرْتَقَقَ" (*al-murtafaq*): anything which is leaned on, such as pillow or any other support {M}. Since this sort of leaning gives comfort, "لِا تُقْقَ بِهِ" (*irtafaqa behi*) means benefited from it. "رَفَقَ عَلَيْهِ" (*rafaqa behi*) or (تَوَفَقَ عَلَيْهِ، " (*rafaqa behi*): dealt with him softly *{T*}.

Ibn Faris says that this root basically means to be close to one another and agree mutually without any violence or coercion.

The Quran says:

| 4:69 | They are good companions | حَسُنَ أُولَٰئِكَ رَفِيْقًاً |
|------|--------------------------|------------------------------|

Hence it means companions whose companionship during travel completes one's shortcomings so that the balance in his personality and the society is maintained. For 'elbow' this word has been used in 5:6.

Surah *Al-Kahaf* says:

| 18.16 | He will facilitate or provide ease in the purpose before | يُهِيٍّ عُ لَكُمْ مِنْ أَمْرُكُمْ مَرْفَقاً |
|-------|--|---|
| 10.10 | you | يهيىء فأشم مِن أمرِض |

The same surah calls *janna* (heavenly society) as "أَعَنَّاتُ مُرْتَقَعَاً" (*hasunat murtafaqa*) in 18:31 and *jahannum* (hellish society) as "أَنْتَاتُ مُرْتَقَعَاً" (*sa'at murtafaqa*) in 18:29, that is, a place to lean on, or on whose support one can rise. Life in *jahannum* is such that man cannot traverse the evolutionary stages with its support. Life in *janna*, however, is such that it is the best support for rising high and going towards the heights. It is a support which never lets the balance be unbalanced, that is, "خَسُنَتُ مُرْتَقَعَاً" (*hasunat murtafaqa*). Supports are present in a *jahannami* or hellish society too, but they are quite uneven. That is why they cannot support a man for standing on his own two feet. His personality's development can't be helped by them. Only *jannati* society's supports can help a man do so. And while keeping their balance, they progress ahead.

رق ب **R-Q-B**

"أَلرَّقَبَة (ar-raqabah): neck.

(*raqabahu*): tied a rope around his neck, since when a man's necked is roped, he becomes obedient and thus this word generally began to mean a slave. Plural is "الرَقْبَر" (*ar-raqab*).

(*ar-riqaab*) means 'slave' as used in 2:177. Singular is "ألرَقَابُ" (*raqabah*) as used in 4:92 {*T*}.

"رَقَبَ" (raqab), "يَرْقُب" (yarqub): to wait for, and to protect and look after.

"دَوَلَمْ تَرْقُبْ قَوْلِى" (*walam tarqub qauli*), as in 20:94. Here it can mean wait for, as well as to look after, and to consider. "يَتَرَقُبُ" (*yataraqqab*) in 28:18 also has this meaning but with reference to the context, it may mean to wait anxiously, or more appropriate, be looking for something.

Taj-ul-Uroos says it means to expect something and to wait for it.

Raghib says it means to avoid something while waiting for something. That is, they used to raise their head to see whether someone was coming or not.

"الْرَقِيْبُ" (*ar-raqeeb*) means the protector, or one who looks after something, or one who waits for something, or one who looks after (1:4, 33:52)

Ibn Faris says it means basically to oversee something. The neck is also called "الْرَقْبَة" (*ar-raqabah*) because it remains erect and at attention when looking for something.

It may also mean to consider someone's feelings and to uphold someone's words. This word has been used in 9:8 and in 20:94.

"اَرْنَقَبَ السَّنْيَىُ" (*artaqabash shaiyi*): to wait for something. "اَرْتَقَبَ الْمَكَانَ" (*irtaqabal makaan*): to climb to some place, or to be raised. "مَرْقَبَةً" (*marqabah*): a place to climb.

(ariqbah): protection and to fear, apprehend. It is used in both these meanings {T}.

Surah Ad-Dukhaan says "نفَارْ تَقَبْآلِا" (fartaqabaaya) in 44:59, 44:10. Here it means to wait for.

Surah *Yunus* says: 10:102 Tell them to wait, and you as well wait with them.

رقد **R-Q-D**

''الْرُقُوْدُ'' (*ar-raqd*), ''الْرُقَادُ'' (*ar-ruqaad*), ''الرُقُوْدُ'' (*ar-ruqad*): to sleep. In the Quran, this word has been used opposite ''يَقَظُّ' (*yaqaz*), or awakening.

| 18:18 | you think they are awake whereas they are sleeping | وَتَحْسَبُهُمْ أَيْقَاظاً وَهُمْ رُقُوْدٌ |
|-------|--|---|
|-------|--|---|

"مَرْفَدٌ" (marqad): bedroom, sleeping place.

Surah *Yasin* says:

| 36:52 | who awakened us from our sleeping places | مَنْ يَعَثَّنَا مِنْ مَرْقَدِنَا |
|-------|--|----------------------------------|
| | (bedrooms) | لى بىنا بى مرمون |

Raghib says "أَلرُقَادُ" (aruqaad) means a good nap {R}.

This clarifies the context of 18:18 in surah *Al-Kahaf* that they did not take a long sleep, they used to nap but that too with the caution that outsiders think that they were awake. This means that they were not oblivious of their safety at any time.

رقق **R-Q-Q**

"أَلرَقْنَ" (*ar-raq*), "أَلرَقْنَ" (*ar-riq*): thin membrane or skin used for writing. "أَلرَقْ" (*ar-raq*): white page, white page with some writing on it *{T, R}*.

Ibn Faris says it basically means fineness and softness.

''أَلْرَقَيْقَ'' (*ar-raqeeq*): thin or fine thing. ''اَلْرَقَيْقَ'' (*ar-raqeeq*): thin or fine thing. ''اَلْرَقَةُ'' (*ar-riqqah*): softness of the heart. ''اَلْرَقَّةُ'' (*ar-riq*): slavery *{T, R*}.

| The Quran says: | | |
|-----------------|-------------------------------------|---|
| 52:2-3 | written book on fine, thin membrane | وَكِتْبٍ مَسْطُوْرٍ فِيْ رَ ق ٍ مَنْشُوْرٍ |

َرَقُمَ^{*}) (*raqam*), "رَقُماً" (*yarqam*), "رَقُمَ" (*raqma*): to write.

"رَقَمَ الْكِتَابَ" (raqamal kitaab): wrote the book with punctuation so that the book was crystal clear {T}.

| The Quran says: | | |
|-----------------|----------------------|--------------------|
| 83:9 | clearly written book | كِتَابٌ مَرْقُوْمٌ |

"رَقَمَ النَّوْبَ" (*raqamus saub*): to make lines on the cloth and make marks to determine the price. "دَابَةٌ مَرْقُوْمَةٌ" (*da-abbatun marqumah*): the animal which has branding marks on his legs or lines {*T*}.

Ibn Faris says it basically means writing and to make lines.

With reference to *Khalil*, he says "أَلرَقْمُ" (*ar-raqm*) means to make clear the writing with the help of punctuation, and a book is called "كِتَّابٌ مَرْقُوْمُ" (*kitabum marqum*) when it is well punctuated. The Quran says "أَصْحَابُ الْكَبْفِ والرَقِيْمِ" (*ashaabul kahfin warraqeem*) in 18.9. It is generally taken to mean that the affairs about the caved people was written on a metal plate and affixed outside the cave. Thus they were called "أَصْحَابُ الرَّقَيْمِ" (*ashabur raqeem*).

"مَرْقُوْمْ" (marqum) means written, but recent research says that this is the same word which has been termed as "مَرْقُوْمْ" (raaqeem) in the Torah. This was the name of a city which became famous as Petra and which the Arabs called Batrah. It was situated north of the Sinai and Bay of Aqaba on a plateau. When in the second century A.D, the Romans merged Syria and Palestine, this city became famous as a Roman colony. After the First World War, big caves were discovered there with ruins of buildings in and outside caves. It is believed that according to 18:9, the "أَصْحَابُ الْمَبْفُو والرَّقْيْمِ" (ashaabul Kahafi war raqeem) had taken shelter in one of these very caves where later a statue was built to commemorate them. Also see heading ashaabul kahaf wir raqeem.

رق R-Q-W

نَالرَقُوْ" (*ar-raqwu*): small, sand dune.

''أَلرَّقُوَة'' (*ar-ruqwah*): the upper part of the chest below the throat where one sees a man breathing, the collar bone. Plural is ''اَلتَرَاقِیْ'' (*taraq*) and ''اَلتَرَاقِیْ'' (*at-taraaqi*) {T, M}.

| 75:26 | When the breath comes above the chest (when you are | إِذَ بَلَغَتِ التَّرَاقِي |
|-------|---|---------------------------|
| /5:20 | about to die). When the end is near. | اِدْ بْلَغْتِ الْتُرْقِي |

The real meaning here is to climb.

رَفَالطَائِرُ" (raq at tair) means the bird rose in its flight. See heading (R-Q-Y).

ر ق ی R-Q-Y

"رَقِينًا" (*raqya*), "رَقِينًا" (*raqya*), "رَقِينًا" (*raqya*), "رَقِينًا" (*raqiyya*): to climb, or to progress and prosper {T, M}.

| The Quran says: | | |
|-----------------|-------------------------|----------------------------|
| 17:93 | Or, climb up to the sky | أَوْتَرْفِي فِي السَّمَاءِ |

"اَلْتَرْ قُوَةً" (*at-tarquwah*): collar bone where one can see the breath climbing.

Plural is "تَرَاقِ" (*taraqin*) and "ألتَّرَاقِ" (*at- taraaqi*).

| The Quran says: | | | |
|-----------------|-------|---------------------------------|-----------------------------|
| | 75:26 | When it reaches the collar bone | إِذَا بَلَغَتِ التَّرَاقِيَ |

See also heading (R-Q-W).

"زَفَاهُ رَقَاهُ رَقَاءُ), "زَفَاهُ رَقَاءُ) (*raqaho raqiya*) a sort of thing. "وَرُقْيَةً" (*wariqah*), "وَرُقْيَةً" (*varqiyah*): He cast a spell over him or dispelled a spell. "وَرَاقَ" (*raaq*): one who cast spell.

The Quran says:

| 75:26 And is there anyone who can save himself by casting a spell? |
|--|
|--|

Note: Some scholars of the dictionary accept " $\dot{}$ " (t) in the word but I think that " $\dot{}$ " (t) is additional and the root of the word is (R-Q-W).

Ibn Faris has said that "رَقْیٌ (*raqi*) means to climb, or spells etc.

''أَلْمَرُ قَاةُ'' (*al-mirqaat*): climbing ladder *{T}*. ''الْمَرُقَاءُ'' (*ar-raqa'u*): mountain climber *{T*}.

R-K-B ركب

"رکِبَ" (*rakibahu*), "رَکُوْباً" (*yarkubuh*), ژکُوْباً" (*rukuba*): to climb something, to rise, to mount *{T}*, either on an animal or on boards a boat etc.

| 18:71 | when the two got on board the boat | اِذَا <mark>رَكِبًا</mark> فِي السَّفِيْنَةِ |
|-------|------------------------------------|--|
|-------|------------------------------------|--|

"رَاكِبٌ" (*raakib*): passenger. The plural is "أَلرَّكْبُ" (*ar-rakb*) as in 8:42. "رُكْبَانٌ" (*rukbaan*) as in 2:239, is the opposite of "رِجَالاً" (*rijaala*), which means on foot.

"الْرَكَابُ" (*ar-rikaab*): the camels which are ridden (59:6). The singular is "رَاحِلَةٌ" (*raahila*) which is from a different root.

"رَكُوْبٌ" (*rakub*): an animal which is used for riding (36:72).

"ز كُبّ" (*rakkaba*): to put one thing on top of another, or to fix $\{T\}$. To make something climb $\{M\}$, to arrange (82:8).

"أَمْتَرَاكِباً (*mutraakiba*): one on top of another (6:100).

About man it is said in the Quran, that he has traversed various stages and will keep on traversing evolutionary stages and rise through them.

That is why surah *Inshiqaaq* says:

| 84:19 | You climb from one condition to another and rise (up) | الَتَّرِحَبُنَّ طَبَقاً عَن طَبَق |
|-------|---|-----------------------------------|
| 04.19 | in stages | الكريبي طبقا عن طبق |

The present stage of the human life is not its ultimate. It has to go much further and be elevated. Therefore death does not end the system of life. Dust (earth's) particles have evolved biologically to evolve to the human form. But within this form the human personality is not the result of evolution.

Thereafter the next stage of evolution develops, i.e. instead of the evolution of the human form (body), the evolution of the human personality. This evolution begins in this life but continues in the life

hereafter. That is, physical death does not stop it from going ahead. This verse may mean that humanity itself is rising by stages. History is a record of these stages.

R-K-D رکد

··آلرُكُوْدُ (*ar-rukud*): to be motionless.

"لَارَّاكُ" (*ar-rakid*): immobile thing {T, R, M}.

تَرَكَدَتِ السَفِيْنَةُ (rakadatis safeenah): the boat anchored {T, R, M}.

"أَلَرَّوَ لَكُنَّ" (*ar-rawakid*): the three stones (or bricks) used by the Arab gypsies as a make-shift stove, the stones are immobile *{T*}.

| | J | |
|-------|---------------------|--------------------------|
| 42:33 | stay put on the sea | رَوَاكِدَ عَلٰى ظَهْرِهِ |

Become unable to move. That is, if God orders the winds to stop, then the sailing boats will stop moving.

R-K-Z ركز

"أَلَرْ كُوْ⁽ ar-rikz): soft sound, tread, or sound which is low. Or human voice heard from afar like the bay of the hounds *{T}*.

Surah Maryam says:

| اَوْنَسْمَعُ لَمُمْ رِكُوْلُ Or do you even hear them making a whimper? |
|---|
|---|

"رَكَزْتُ كَذَا" (rakaztu kaza): I buried him secretly.

"الرَّكَارُ" (*ar-rikaaz*): buried treasure, as well as minerals which have been buried by God {R}.

"زَنْتَكُنَ" (*irtakaz*) means he stayed put and became stolid, because anything that is buried stays in its place *{T}*.

{T}. (*rakazar rumh*): he dug the spear into the earth.

"أَلْمَرْكَزَ" (*al-markaz*): the place where the spear has been dug in {*T*}.

Ibn Faris says it basically means to bury (dig) something into something so that it become immobile or static.

ر ک س R-K-S

"الرَّكْسُ" (*ar-raks*): to bend something in such a way that the front end meets its rear end {M}.

"ریکاس" (*rikaas*): a rope, one end of which is tied to the camel's nose ring and the other end to its leg, and it is kept so tight that the camel's head remains bent and is in severe pain. All this is to train it. "الرنتَكس" (*irtaks*): his head bent, he turned *{T}*.

The Quran says about the hypocrites:

| 4:88 | Due to their (bad) deeds Allah made them lower their | وَاللَّهُ أَرْكَسَهُمْ عِمَا كَسَبُوْا |
|------|--|--|
| 4.00 | heads | والله ارتسهم بما تسبوا |

It means that Allah's laws insulted and demeaned them, or put them into severe trouble, or turned them back to their state of denial. This meaning appears in 4:91 as well.

ر ک ض R-K-Zd

"ألرَكْضُ" (*ar-rakz*): to spur a horse so that it runs fast. It also means for a bird to prepare its wings to fly. It also means to run fast.

| The Quran says: | | |
|-----------------|------------------------|--------------------------------|
| 21:12 | They fled away from it | إِذَا هُم مِّنْهَا يَرْكُضُونَ |
| 21:13 | Do not flee. | لَا تَرْكُضُوا |

"أَلْمَرْكَضَ" (al-mirkaz): the thing which is used to stoke the fire to make it burn brighter {T, R, M}.

| In surah <i>Saad</i> , it has been said about <i>Ayub</i> : | | |
|---|---------|------------------|
| 38:42 | move on | أرمحض بِرِحْلِکَ |

To make your steps go fast. It can also mean put your leg into the water and move it.

Ibn Faris says "رکض" (rikz) basically means to move forward or to make mobile.

Surah *Al-Ambia* says "لَتَرْكُضُوْا" (*la tarkuzu*) which points to a big truth. Its earlier verse says that the nations which have their social system follow other than God's laws, create chaos in society. It makes the distribution of wealth severely unbalanced and this leads to destruction. But they are drunk with power and wealth and do not realize that they are proceeding towards destruction. Until that destruction stares them in the eye, they try to run away from it. But at that time God's consequential law calls out to them and say "لَكَرْ كُضُوْا" (*la tarkuzu*) which means "do not try to run away, you cannot escape anywhere".

| 21:13 | Go back to those places | لاَتَرْكُصُوْا |
|-------|-------------------------|----------------|
|-------|-------------------------|----------------|

Go back to your palatial houses which you had adorned with the color of the blood of the poor. Go back so that you may be asked: where all this wealth came from and what right had you over these luxuries?

This is indeed a true picture of the result of capitalism which the Quran has drawn.

Verses before 21:13 say that those nations that build their economic systems on other bases than those given by Allah, contribute in spreading disorder which ultimately results in destruction. But they are so blinded by their wealth that they never realize their path towards destruction. Instead when destruction starts to knock at their doors, they try to run away from its wrath. That is the time when the consequential law of Allah calls them "don't try to run away, you can't escape your consequences".

| 21:13 Return to your palaces which you have created from the earnings of the needy | وَارْجِعُوْا الِّي مَا أَنْوِفْتُمْ فِيْهِ وَمَسْكِنِكُمْ |
|--|---|
|--|---|

Now go back to your previous states so you may be asked where your wealth came from and if you had any right to keep it as your own.

The Quran has made the whole system of capitalism with its many disadvantages crystal clear.

"زَكَعَ" (*raka'a*): to bend face down or to fall down, whether the knees touch the ground or not, but the head should bow.

Raghib says "زُكْوَعٌ" (*rukuh*) means to bow. This word is spoken sometimes to bow physically and sometimes used for humility and submission whether that be in worship or not.

"رَكَعَ السَّيْخَ" (*raka ash sheikh*): an old man, because in old age one bends a little due to weakness. If a man's condition becomes weak then too it is said "رَكَعَ فُلَانٌ" (*raka'a fulan*).

Ibn Faris too has said that it means to bow.

Taj-ul-Uroos says that in the era before the advent of Islam, the Arabs used to call a man "زابخ (*rakiun*) when he was not a worshipper of idols. Then they would say "زابخ إلى اللهِ" (*rakiun ilal lah*) to him which means "the one who does not bend"

Zamkhishri has said that it means "he was content to turn towards Allah" {*T*}.

"رَاكِعٌ" (rukka-un) has the plural as دَرَكَعٌ (rukka-un).

"رُكُوْغٌ" (*ruku-un*) and "سَجُوْدٌ" (*sujod*) actually means to bow in submission to Allah's laws. In "سَجُوُدٌ" (*sujod*), there is more intensity (of submission) than "رُكُوْغٌ" (*ruku-un*), i.e. total submission and obedience. See heading (S-J-D).

In surah *Al-Baqrah* the Jews have been told:

| 2:43 | the group which is genuflecting before Allah, you too join them and follow My laws like them | وَاَقِيْمُوْا الصَّلُوةَ وَاتْوْا الزَّكُوةَ وَارْكَعُوْا مَعَ الرَّاكِعِيْنَ |
|------|---|---|
| | Join them and follow wy laws like them | |

Since man's movements are an indication of his emotions (for instance, when we say 'no', our head automatically turns from side to side and when we say 'yes' then it automatically moves up and down), the display of bowing before Allah's laws is done by "خُوْعٌ" (*rukuh*) and "سَجْدَة" (*sajdah*), i.e. by bending and genuflecting in prayer.

| 48:29 | you see them in rukuh and sujud (bending and genuflecting) the effects of their submission are | تَرَاهُمْ أَكَّعاً سُجَّدًا سِيْمَاهُمْ فِيْ وُجُوْهِهِمْ مِنْ أَثَّرِ |
|-------|--|--|
| 40.29 | evident from their faces | السُّجُوْدِ |

It is obvious that if a person bends and genuflects before Allah, but he actually follows other laws, then his *rukuh* and *sujud* will not be according to Allah's will, i.e. for a few minutes, he bends before Allah, but in his entire practical life he follows ungodly laws. Therefore his *rukuh* and *sujud* are not a true indication of his subservience to Allah. True *rukuh* and *sujud* are such that a man's heart submits to Allah's laws and along with his heart his head bends before Allah as well. This is what is desired by the congregations of prayer.

ر ک م R-K-M

"أَسْرَكُمْ" (*ar-rakm*): to put things over each other and to build them into a layer by layer heap. "فَيَرْ كُمُ" (*fayarkumuhu*): he will turn them into a heap (8:37). (*rukaam*): a heap of layer by layer {*T*, *M*, *R*}.

| 24:43 | then they are turned into layer upon layer of cloud | ثُمَّ يَجْعَلُهُ زَكَامًا |
|-------|---|---------------------------|
|-------|---|---------------------------|

| سَحَابٌ مَرْكُوْمٌ |
|--------------------|
| |

تْنَاقَةٌ مَرْكُوْمَةٌ" (*naaqatun markumatun*) is a camel which is very plump, which has layer upon layer of fat in its body {T, M, R}.

"زَكِنَ" (rakin), "يَرْكَنُ" (varkan): to lean towards someone and attain peace {T, M, R}.

Surah *Hoodh* says:

| 11:113 Do not lean towards the rebellious people. (Do not be attracted to them) | 11:113 | | وَلَاتَرْكَنُوْا اللِّي الَّذِيْنَ ظَلَمُوْا |
|--|--------|--|--|

Surah *Bani Israel*:

| | If We had not kept you firm then you might have | وَلَوْلاَآنْ ثَبَّنْكَ لَقَدْ كِدْتَ تَرْكِنُ الَيْهِمْ شَيْعاً قَلِيْلاً |
|-------|---|---|
| 1/.4/ | leaned a little towards them | وتوديها فبتناف فعنا ترجنات فرص أيتهم شيته فبيدر |

Messengers of Allah do not bend (from their stand), even though an ordinary man may (may it be for his mission's sake) bend a little. See 68:9 and 10:15.

"الرُكْنْ" (ar-rukn): a thing which strengthens someone, support {T, R, M}.

Ibn Faris says that its basic meaning is strength.

"زُكْنُ" (rukn) means the strongest element or part of a thing.

Surah *Hoodh* says:

| 11:80 | let me take the help of a strong support | اوِيْ اِلَى رَحْنِ شَدِيْدٍ |
|-------|--|-----------------------------|
|-------|--|-----------------------------|

Ibn Faris says "رُكْنٌ شَدِيْدٌ" (*ruknun shaded*) means respect and overpowering due to which nobody has the courage for opposition.

"اَرْكَانُ الشَّيْءَ" (arkaanash shaiyi): a thing's surroundings, the supports of that thing.

R-M-H رمح

"رماخ" (ar-rumh) means spear. Its plural is "رماخ" (rimah) {T, R, M}.

The Quran says:5:94that which your hands and your spears can reachتَنَالُهُ آيْدِيْكُمْ وَ رِمَاحُكُمْ

Figuratively also this word "الرَّمْخَ" (*ar-rumh*) is used to mean poverty and starvation {M}.

Taj-ul-Uroos has mentioned it as "رَ مَال (rammah) instead of "رُ مُعَال" (rumh).

رمد R-M-D

Ibn Faris says anything that is colored ash or dust is called "ألأرْهَدُ" (al-armadu).

"ألرَّمَادُ" (*ar-ramaad*) means ashes {T, R, M}.

ترَمَادَةً "(ramadah): annihilation, destruction.

َارْمَدَالْقَوْمُ (armadal qaum): people faced drought and their animals were destroyed.

The Quran has likened the deeds of those who tread the wrong path as "زَمَالً" (*ramaad*) over which strong wind blows. Obviously if strong winds blow, ashes do not leave even a trace and are scattered. Wrong systems and deeds can't stand the strong currents of the times and like a heap of ashes which may seem to be very big, disperses easily.

رمز **R-M-Z**

"ألرَّمْزُ" (*ar-ramz*) means movement {M}.

Ibn Faris says it basically means movement or unease.

"ألرَّ (*ar-rameez*): means with a lot of movement *{T}*, this leads to its meaning signals, be it by lips, eyes, brows, mouth, hand or by the tongue, but there is no sound. Even if there is a sound it must be very low like that of whispering.

Surah *Aal-e-Imraan* says about *Zakariyah*:

| 1 1 <u>1</u> | you will not be able to talk to people for three days except in sign (language) | اَلًا تُكَلِّمُ النَّاسَ ثَلْثَةَ آيَّامِ الأَرِمْزَا |
|--------------|---|---|

In the traditions of the Jews, even talking was prohibited during fasting, or there was fasting in which the intent was to abstain from speaking. See 19:26.

"نَلْرَ مَضَ' (*ar-ramz*): means for sand etc. to heat up in the sunlight. (*ar-ramzu*), "اَلْرَ مُضَاءُ" (*ar-ramza'u*): intense heat *{T*}. (*shahru ramazaan*): the month of *Ramadan*.

In ancient Arabic, this month was called "نَاتِقَ" (*naatiq*), when the names of the months were changed (that too was before the advent of Islam) this month was called "رَمَضَنَانُ" (*Ramadan*) because it fell in the months of intense heat {*T*}.

The Quran began to be revealed during this month (2:185).

According to the lunar year, no month can fall in the same season every year. Hence this month of *Ramadan* can fall in winter as well as in summer, but it is called "رَمَضَنَانُ" (*Ramadan*) nevertheless. See heading (N-S-A).

R-M-M رمم

تَرَمَّ الْعَظْمُ» (rammal azm): the bone became aged, and purified.

"رَمَّ الشَّيْءَ رَمَّا وَارتَمَّه" (rammash shaiyi ramman wur tammah): he ate the thing completely.

"لَلْرِّمَّةُ" (*ar-rimmah*): old bones.

"الرُمَّة" (ar-rummah): old rope, whatever is left of the past year's plants.

"ألرَّمِيْمُ" (ar-ramim): any old and decrepit thing.

(*ar-rimmu*): broken or mashed dry grass, the garbage which floats on the surface of the water.

"أَلْإِرْمَامُ" (*al-irmaam*): to become quiet, silence.

"ألرَّمْ" (ar-rammu): to mend a decrepit thing {T, M, R}.

Ibn Faris has four basic meanings for it.

1) To mend or correct something

2) For a thing to become decrepit

3) To be quiet

4) To talk (this word means the opposites of the above).

The noble Quran says:

| 36:78 | When the bones become decrepit, then who can make | مَنْ يُخى الْعِظَامَ وَهِيَ رَمِيْمٌ |
|-------|---|--------------------------------------|
| 30.78 | them live again? | من يحي العِظام وهِنِي رَمِيم |

Surah *Zaariyaat* says about the destructive storm that had blown on the nation of *Aad*:

| | It did not spare anyone who came within its range and whoever did was reduced to smithereens (sawdust). | مَا تَذَرُ مِنْ شَيْءٍ أَنَتْ عَلِيْهِ الأَجْعَلَتْهُ كَالَرَّمِيْمِ |
|--|--|--|
|--|--|--|

رمن R-M-N

"أَلرُّمَانُ" (*ar-rummaan*): pomegranate, whether tree or the fruit. Singular is "رُمَانَةٌ" (*rummanah*), probably due to the effect which it has on the heart (it calms it down). "زَمَنَ بِالْمَكَانِ" (*raman bilmakaan*): he resided there {T, M}.

The Quran has mentioned orchards of grapes, olives and pomegranates:

| 6:100 | In jannat (heavenly society) there shall be grapes, | وَجَنّْتٍ مّنْ أَعْنَابٍ وَالزَّيْتُوْنَ وَالرُّمَّانَ |
|-------|---|--|
|-------|---|--|

| olives and pomegranates |
|-------------------------|
|-------------------------|

َرَمٰى لِشَّىْءَ'' (*ramash shaiyi*), "رَمْي بِمِ" (*rami behi*): to throw something or lay it aside i.e. to discard. (*ramas sahma unil qaus*): shot the arrow from the bow.

أَلْمِرْمَاةُ '' (*al-mirmah*): small arrow.

"خَرَجَ يَرُ تَمِيْ" (*kharaja yartami*): he went out to hunt with his bow. (*al-marma*): the target *{T*}.

Surah *Al-Murselaat* says:

| | 77:33 | it throws sparks | اِنَّهَا تَرْمِيْ بِشَرَرٍ |
|--|-------|------------------|----------------------------|
|--|-------|------------------|----------------------------|

Surah *Al-Feel* says:

| | J | | |
|-------|-----------------|----------------|-------------------|
| 105:3 | you stoned them | <i>ڂ</i> ارٙۊؚ | تَرْمِيْهِمْ بِحِ |

Surah *Al-Anfaal* says:

| | The shooting of arrows which was taking place from | , |
|------|---|--|
| 8:17 | your side in the battle of Badar was actually being | وَمَا رَمَيْتَ اِذْرَمَيْتَ وَلَكِنَّ اللَّهَ رَمِٰي |
| | shot by Allah. | |

All these battles were fought for establishing the supremacy of Allah's system. When a commander fights a battle at the command of a government, he fights the battle on behalf of the government, or when the army attacks the enemy, the attack is deemed as an attack by the commander.

If "ترَمَيْتُ (*ramait*) is followed by different verbs, it has different meanings but here the talk is about battle and it has been made clear by saying "فَلَمْ تَقْتَلُوْنُمْ" (*falam taqtuluhum*) that here the killing of the enemies has been talked about. Therefore, "رَمَيْتَ" (*ramait*) would mean shooting arrows.

William Lane has written with different references, that when "رامَنْتُ" (*ramaituhu*) or "مُرامَاة" (*muramah*) appears alone, it means archery or stoning.

"رَمَاهُ بِقَبِيْح" (*ramahu beqabeeh*): he linked her to evil *{T*}.

The Quran says:

| | Those who accuse puritan women, to accuse some | |
|-------|---|---|
| 24:33 | puritan woman is worse than shooting arrows at her or | اِنَّ الَّذِيْنَ يَرْمُوْنَ الْمُحْصَنٰتِ |
| | stoning her | |

That is why the Quran has suggested very strong punishment for this crime (24:2).

(*rauh*), "رَوْحٌ (*rauh*), "رَوْحٌ (*rooh*), "رَاحٌ (*reeh*): these all derived from the same root, and from it are also "رَوْحَة" (*rahah*), "رَاحُتُ" (*rauhah*), "رَاحُتُ" (*raihaan*) etc.

" \tilde{c} "

Ibn Faris says it basically means vastness, expanse or large heartedness.

"أَلْرَوْحُ" (*ar-rauh*) means comfort, bliss, happiness, benevolence, vastness. "مَكَانُ رَوْحَانِیٌ" (*makanun rauhaani*): a good and pure house *{T}*. "لَلرَيْحُ" (*ar-reeh*): wind. "رِيَاحٌ" (*ar-reeha*): some part of the wind. "رَيَاحٌ" (*rivah*) is its plural.

Raghib says the Quran has used "رياح" (*riyah*) to mean benevolence and happiness at various places, and "رياح" (*reeh*) for punishment.

Lataif-ul-Lugha says that when "الرِّيْخَ" (*ar-reeh*) or the wind is strong, it is called "الرَّيْخُ" (*al-aasif*). "أَنْعَاصِفُ" (*al-aasif*). "مُبَشَرَاتٌ

"أَلْمُعْصِرَ اتْ" (al-mu'seeraat): those winds which bring rain.

"عَاصِفَ" (aasif): winds in the valleys and deserts, or devastating winds.

"أَلْقُواصِفْ" (al-qawasif): those winds which raise a storm in the sea.

"ألرنيخ" (*reeh*): victory, power and overpowering, circulation, revolution, and turn $\{T\}$.

| 8:26 | You will be out of wind, | میں بڑھ میں |
|------|------------------------------|---|
| 8.20 | (your strength will be lost) | وللهب ريحكم |

تَرُوِيْحَةٌ ''تَرُوِيْحَة'' (*tarviha*): to sit and rest, to take a rest. Later it means the four sections prayer of *taraveeh* because after every four sections of it, there is a short rest period.

"ألرويْحَة" (ar-raviha): to get some ease after constriction.

(raaha): for the cattle to come back home in the evening for rest.

"ألزَوَاخ" (*ar-rawah*) means evening or the period from when the sun starts setting till evening $\{T\}$.

In surah **Saba**, "زَوَاحٌ" (*rawah*) or evening journey appears opposite to "غُذُوَّاح" (*ghuduw*) or morning journey (34:12).

The *Muheet* says "الْرَوْحَ" (*ar-rauh*) means besides happiness and comfort and benevolence, also breeze and help.

It also means justice which gives the prosecution contentment and peace.

"كَلُوْنَ" (*ar-rooh*) means the human soul, as well as benevolence and revelation from God, and the noble Quran itself {M}. In verse 16:2, the meaning of "الْرُوْنَى" (*ar-rooh*) means Revelation. In Surah *Ash-Shura* verse 42:52, "رُوْحاً" (*roohan*) means the noble Quran itself.

Surah *Bani Israel* says:

| 17:85 | they ask you about ar-rooh, tell them that ar-rooh is my Sustainers concern | وَيَسْتُلُوْنَكَ عَنِ لَرُوْحُ مِنْ أَمْرِرَ بِّيْ |
|-------|---|--|
|-------|---|--|

Here "لَارُوْخُ) (*ar-rooh*) does not mean human soul, but Revelation, or Quran itself. The next verse explains this when it says "اَوْحَيْنَا الْيُكَ" (*auhaina ilaika*). The meaning is that these people want to know about what revelation is, tell them that it is a matter that belongs to the meta-physical world, it has no

connection with the physical world so you cannot comprehend it even if you were to be explained. You will have to believe in it regardless, although you can understand its teachings.

They wanted to know about Revelation, and what the relationship between God and his Messenger is, etc. These things cannot be understood by someone who is not a messenger $\{Al-Minar\}$.

"رَوْحُ الْقُدُسِ" (*ruhul qudus*) as appeared in 2:87 means whose strength was available to *Isa* and which was the orders in *Torah* and *Bible* which he was endowed with through revelation. And which were the cause that a human being became exalted. Some think that "رَوْحُ الْقُدُسِ" (*ruhul qudus*) means *Jibrael* and have taken "رَوْحُ الْأَمِيْنُ" (*ruhul amin*) (26:193) to mean the same. {Al-Minar}.

Here the Quran has been said to be:

| 26:193 | the trusted Spirit descended with it on your heart | نَزَل بِهِ الرُّوْحُ الْآمِيْنُ عَلَى قَلْبِكَ |
|--------|--|--|
|--------|--|--|

This is supported by the verse of surah *Al-Baqrah* in which it is said about *Jibreel*:

| 2:97 Then indeed we brought it down on your heart by the announcement of Allah | فَاِنَّهُ نَزَّلَهُ عَلَى قَلْبِكَ بِإِذْنِ اللَّهِ |
|--|---|
|--|---|

This clearly shows that "رُوْحُ الْأَمِيْنُ" (*ruhul amin*) is another title of "جبريل" (*Jibreel*).

Surah *An-Nahal* says "رُوْحُ الْقُدُسِ" (*qul nazzalahu ruhul qudus*) in 16:102, thus "رُوْحُ الْقُدُسِ" (*ruhul qudus*) also means *Jibreel*. Since we cannot understand what Revelation is, we also cannot understand what *Jibreel* is. The word "الْرُوْحُ " (*ar-rooh*) points it to be a metaphysical being which reveals the Quran unto the Messenger's heart, and "مَلْأَيْكَمُ" (*malaika*) are those forces of nature in the universe which bear witness to God's being.

Therefore the Quran has used the terms *malaikah* and *rooh* separately as in 97:4, 78:38 and 70:4.

The initial links in the Quran about the creation of Man are the same as those which are known about common animals, but after that the humans have been elevated by saying:

| 32:9 | God breathed His soul into it | وَنَفَحَ فِيْهِ مِنْ رُوْحِه ِ |
|------|-------------------------------|---------------------------------------|
|------|-------------------------------|---------------------------------------|

And the result has been said to be:

| 32:9 The humans were endowed with e | esight and hearing | وَجَعَلَ لَكُمْ السَّمْعَ وَالْاِبْصِارَ وَالْأَفْئِدَةَ |
|-------------------------------------|--------------------|--|
|-------------------------------------|--------------------|--|

This means that the means of gathering knowledge were induced in the mind and heart. It is obvious that here God's breath is that Godly strength which is known as personality or one's self, and which determines a man's characteristics. This self has been granted equally to each human being. It remains to be seen to what extent a man then develops it to. This is known as spiritualism and this development takes place only in an Islamic society.

Here it must be understood why God has called this 'force' as our soul. Is it a manifestation of God's personality? There are forces everywhere in the universe. They are more pronounced and visible in living things, this force is the result of materialist cause and effect, (or it comes into being as a consequence of physical laws). That is why it is called physical force. Human energy can also be classified under it, but humans have another sort of energy too which is manifested through his intent and authority. This force is stronger than the physical force and the physical force is subservient to it. This superior force has been attributed by God towards Himself. He has called it "روخا" (*rohna*) or God's soul or force. What is meant to portray by this is that this force has no connection with the physical laws, but has been given to us directly by God. This is the character of human personality, and is attributed to divine force.

"لوبياتى" (*aluhiati*) means a force which is not the product of matter but attributable directly to God. It must be noted here that the force which is not "الوبياتى" (*aluhiati*) or divine is also created by no other than God. But it is created as per the laws which have been formulated by God in regard to matter. The human energy He has attributed to Himself in order to discriminate it from the physical forces.

This force is not a part of God's personality. The personality cannot be divided into parts; to think that it is a part which has separated from God, is a Hindu philosophy and a concept out of *Vedant*. Human personality is a gift of God which is not part of His overall personality, nor is its ultimate aim to reunite with the whole. This force is received in an undeveloped form and to develop it is the purpose of human life.

For this reason the Quranic society is formulated. Every human deed has an effect on his personality, and his personality does not end with the death of his corporeal self. The basic difference in the materialistic concept of life and the Quranic concept is this very thing. The materialistic concept believes that this corporeal self is all there is, that the machinery of this corporeal self is kept in motion by physical laws and when they cease to function then that individual is finished. According to the Quranic concept, human life consists of his corporeal self and his personality. His personality is not subject to physical laws, and therefore when the corporeal being ceases to function, even then nothing happens to his personality, it lives beyond.

Just as there are laws according to which a human body develops, so are there laws according to which a man's personality develops. These principals are called Permanent Values and are not a product of human intellect. They are received through Revelation and are now safe in the Quran. The difference between the developments of the two is that man's body develops when he himself eats or uses things, but the personality develops when a man helps others to develop. According to the Quran, the system of Quranic welfare is built on this very basis. As the human personality develops, it starts reflecting more and more the divine qualities (to a human extent, of course). More details can be found under heading (N-F-S).

The Quran has nowhere talked about the human "soul", but has always talked about the "soul of God". When this "God's soul" or the divine force is endowed to man, then in Quranic terms it is called "(nafs) as in 91:74-79. This is what is known as the human personality, Self or Ego.

When we say that the purpose of human life is the development of its personality, it does not mean that the human body and its development have no significance. According to the Quran the development of the human body is also very important because at the present level the human personality is developed through the development of the human body. As such, it is as important for the human body to be as healthy as for an egg to be healthy enough to become a strong chick. Although if it so happens that there is a tie between the interests of the body and the personality, then it is wiser to sacrifice the interest of the body over that of personality, as it becomes a test for belief and human dignity, just like the chick which breaks the shell when it gets too big for the eggshell. This is the essence of Quranic teachings, that is, to sacrifice physical demands for permanent values whenever there is a tie between them, this is what character building is.

The Quran has also used "الرَيْحَانُ" (ar-raihaan) as in surah Ar-Rahman:

|--|

"لَرَيْحَانُ" (ar-raihan) is a sort of fragrant grass, also initial vegetation if it is sweet smelling and flowering.

Faraa has said that the stalks are called "عَصْفٌ (asf) and their leaves "رَيْحَانٌ (rehaan).

"لَرَّيْحَانُ (ar-raihaan) also means progeny and sustenance.

"رَ احْ (arah): he rested, left the cattle to rest in the pen in the evening.

"رَوْدُ" (*raud*): to come and go several times in quest of something, that is, to keep searching for something, to be continuously in movement.

"ألرَّالدَّ" (ar-ra'id): means the handle of a grind wheel,

"رَائِدُ الْعَيْنِ" (*raa-idul ain*): the straw in the eye which keeps moving from one place to another {T, M} "رَائِدُ الْعَيْنِ" (*riyaadul "ا*لْمَرَادُ" (*al-maraad*): the place or path where camels come and go, this path is called "رِيَادُ الْأَبِلِ" (*riyaadul ibl*).

"الرَّالَدُ" (ar ra-id): the man who is sent ahead of the caravan to look for water or fodder {T, M}.

Since "(iaid) has the connotation to strive or struggle for something, "(iraadah) came to mean to desire something. But then "(icid)" (*iradah*) and demand were differentiated that desire is manifested by a man's talk or deed, but "(iradah) is sometimes undisclosed and sometimes disclosed $\{T\}$. "(iradah) actually means for the heart to be drawn towards something or hidden intent, or such leaning as a result of which some benefit is expected $\{M\}$

Raghib says "أرارانة" (*iradah*) means a force which includes desire, need, and wish, all, thereafter it also means for the heart to be drawn towards something or for decision only {R}. This led to "زاوند" (*ra-audawah*) meaning wanted him, or asked for him time and time again. If it is followed by "غَنَ" (*un*), then it means to demand a thing of someone against his willingness, as in 16:12 where it is related about **Yusuf's** brethren who said:

| | We will ask for him against his father's will | |
|-------|--|---------------------------------------|
| 12:61 | (our father does not want us to take Yusuf with us but | سَنُرَاوِدُعَنْهُ أَبَاهُ |
| | we will ask for him against his wishes) | · · · · · · · · · · · · · · · · · · · |

"يُرِيدُ" (yureed): he intends, it has meant this in 36:23 that is:

"زاودَهٔ عَنْ نَفْسِمٍ وَ عَلَيْبَا" (*rawaddahu un nafsehi wa alaiha*) means to deceive, to induce, to persuade {T, M}. It also means to have the desire to have sex with someone {T, M}. This makes the meaning of the verses such as 12:32 and 54:37 clear. The first verse points to the wrong intentions of *Aziz's* wife towards *Yusuf*, and the second towards the wrong ways of the nation of *Lot*.

(*arwada fis sair*): he traveled at a peaceful pace {T, M}. أَرْوَدَ فِي السَّبْرِ» (*arwada fis sair*

From this it led to "زُوَيْدَ" (*ruwaid*) meaning to give time, breathing space. The Quran has used "زُوَيْدًا" (*ruwaida*) in this meaning,

| 86:17 | so give the Deniers some time, a little time | فَمِهّلِ الْكَافِرِيْنَ أَمْهِلْهُمْ <mark>رُوَيْد</mark> ًا |
|-------|--|--|
|-------|--|--|

God's intentions, which are mentioned at several places in the Quran, should not be taken as Man's intentions. Human intents are fulfilled and broken too. They are right and even wrong, are practical and sometimes while poetic at other times. But God's intentions are those truths according to which everything in the universe is working.

روع R-W-Ain

"لَرَوْغُ" (*ar-rau*): awe that is inspired by something's beauty or abundance.

"ألرو عَنْ" (*ar-rau'a*): awe, or the effect of something's beauty.

"ألرَوْغُ" (ar-ru): heart, fear and the place for palpitation {T, R}.

The Quran says:

| | When Ibrahim's heart overcame his surprise and | فَلَمَّا ذَهَبَ عَنْ اِبْراهِيْمَ الرَّوْعُ |
|-------|--|---|
| 11./4 | palpitation | فلما دهب عن إبراهيم الروع |

روم Rom

"أَلْرَّوْمُ" (*ar-room*): the Roman Empire.

Surah Rom or Rome says in 30:2 that the Romans were overpowered. This is the tale about the defeat which the Romans suffered at the hands of the Persian king *Khusru Pervaiz*, in which, province after province of the Romans fell to the Persians, and this continued till 615 A.D. At the very time when the Romans were in a weak condition, the Quran predicted that in a few years they will overpower the Persians, as such in 624AD. *Herkel* not only took his areas back from the Persians but also entered Persia and destroyed their place of fire worship. This happened in the year 2 H when the Muslims were victorious for the first time in the battle of *Badr*. The closest opponents of the Arabs were Persians. When the Persians were overpowering, even the Romans, the Arabs were distraught and worried, but within a short period of time, the Arabs, due to the Quranic system, became so strong that neither the Persians nor the Romans could stand up to them. This was all due to the strength that their Faith gave them.

ر ه ب R-He-B

"رَ هُبُ" (rahbah), تَرُبَّبَانَ (rahbah), "رَبْبَةُ" (rahb), "رَبْبَةُ" (rahb), "رَبْبَةُ" (rahbah), "رَ هُبُ

This root means a fear which has caution in it, like one is afraid of burning and that is why we fear fire.

"الْمَرْبُوْبُ" (*al-marhoob*), "الْرَبِبُ" (*ar-rahib*): lion {*T*}. It also means to become weak. "الْرَبْيُلَ" (*arrabu*) "الْرَبْيلِي" (*ar-ruhba*) means a she-camel which is weak and tired after a journey. "الْرَبْياتِيَّة" (*arraba jamal*): camel rose or stood up but again sat down due to weakness {*T*}. "رَبِبَ الْجَمَلَ" (*ar-rahbaaniyyah*): includes all elements such as fear, caution, weakness, etc. in monastic, i.e. due to the fear of God, giving up all the pleasures of life ["الْرَبْبَاتِيَّة" (*ar-raahba*): birds who do not prey {*T*}] and thus become weak, this sort of puritan is called "الْرَابِبُ" (*ar-raahib*), its plural is "رُبْبَانَ" (*ruhbaan*) in 9:31. Some think that "رُبْبَانَ" (*ruhbaan*) is a Persian word, and it is a compound of the words "رُبْالَ" (*uh*) and "بَانَانَ" (*baan*) which means a puritan {*T*}. This could be a Persian word because they too used to practise monasticism.

The Quran says:

| 7:116 | they tried to frighten the people | | وَاسْتَرْهَبُوْ هُمْ |
|---------|-----------------------------------|--|----------------------|
| Surah A | 11-Hashar says: | | |

| لا ٱنْتُمْ ٱشَدَ رَهْبَةً فِي صُدُوْرِهِمْ their fear of you is great |
|---|
|---|

Here too "رَبْبَةٌ (*rahbah*) means fear.

Bani Israel were told:

| 2:41 | you must fear Me only | اِيَّاىَ فَارْهَبُوْنِ |
|------|-----------------------|------------------------|
|------|-----------------------|------------------------|

To fear God means to fear the devastating results of violating God's laws and to uphold them and avoid rebelling against them.

"رَبَبُ" (*rahaba*) basically means to fear and avoid.

Surah *Al-Ambia* says that the prophets were wont to:

| | · ···································· | |
|-------|--|--------------------------------|
| 21:90 | they used call on God (for help) to attain life's benefits | يَدْعُوْنَنَارَغَباً وَرَهَباً |

This means that they used to call for help to attain life's benefits "رَغَبُ" (*raghaban*) and to avoid its unpleasantness "رَبَبَاً" (*rahaban*). They used to refer towards Him in both cases. Obviously removing the ills and accruing the benefits are the emotions which motivate man or act as incentives for man.

Messengers used to obey the laws of God in both conditions, something which all *momins* should do as well. As far as "رَبْبَانِيَّتَ" (*rahbaniyaat*) or monasticism is concerned, that is, to give up on this world, the Quran says that it was created by the Christians themselves (it was not ordered by God) (57:27).

Along with it, the Quran has said:

| 57:27 | then they could not fulfill even this self-created | فَمَا رَعَوْهَا حَقَّ رِعَايَتِهَا | |
|-------|--|------------------------------------|--|
| | condition | , | |

This is what the Quran says about monasticism and which is the basis of Sufism and which (unfortunately) is considered to be our respectable Deen! When the Muslims let go of the Quran then all those ungodly elements to remove which the Quran had been sent, became part of Islam one by one. The total aneurism of the Romans, the racism of the Persians, the religious leadership and traditionalism of the Jews, and the monasticism of the Christians, all became part of Islam! Nowadays Islam is thought to be an amalgamation of all these! But this is no cause for hopelessness because God's *Deen* (way of life) is safe and intact with us within the Quran. As such, we can easily separate pure Deen from these adulterations, if we really intend to do so.

R-He-Th رهط

"أَلَرَّ بْطُّ" (*ar-raht*): someone's nation, tribe. Some say that "تَرَبْطُ" (*raht*) is the party which has a membership of three to ten or seven to ten, but some say it is said even for less numbers or more but only men are included in it, not women.

Ibn Faris says it means a congregation of humans etc.

| Surah <i>Hoodh</i> says: | | | |
|--------------------------|---|--------|--|
| 11:92 | brotherhood or tribe | رَهْطٌ | |
| Surah A | <i>n-Nahal</i> says about the nation of <i>Samood</i> : | | |

| انَ فِي الْمَدِيْنَةِ تِسْعَةُ رَهْطٍ يُّفْسِدُوْنَ فِي الْأَرْضِ and there were nine men who used to raise chaos in the city | وَكَانَ فِي الْمَدِيْنَةِ تِسْعَةُ رَ <mark>مْطٍ</mark> يُفْسِدُوْنَ فِي الْأَرْضِ |
|---|--|
|---|--|

It is a reference to the leaders of the nation who held the reins of power, every nation, government or country is ruled by some people in power and who are responsible for creating the imbalance in the country, and the rest of the country is destroyed by them.

R-He-O ر ہ ق

"رَبَعَّلَ" (*rahiqah*), "رَبَعَّلَ" (*yarhaquhu*), "رَبَعَاً" (*rahaqa*): to cover something or overshadow it. *Raghib* has added, with force. It means as well to join with something, to overtake it and besiege it {*T*, *R*}.

| 10:26 Their faces do not turn | eak | وَلَا يَرْهَقُ وُجُوْ هَهُمْ قَتَرٌ |
|-------------------------------|-----|-------------------------------------|
|-------------------------------|-----|-------------------------------------|

"رُبْعَه" (arhaqahu): he forced him to do something beyond his power, put him into difficulty {M}.

Surah Al-Kahaf says:

| 18:80 | Make rebellion overpower them. | المحقرة المراجعة المراجعة المحافظ المحا |
|-------|--------------------------------|---|
| 10.00 | (or involve them in rebellion) | يرونتهما طعيان |

ترَبَقٌ" (rahaq): foolishness, nonsense, impoliteness, harshness, commitment of evil deed {T, R}.

Ibn Faris says it means cheating, hastiness and oppression,

| 72:6 | so they increased their unawareness | فَرَادُوْهُمْ رَهَعاً |
|------|-------------------------------------|-----------------------|
|------|-------------------------------------|-----------------------|

Azhari says it actually has been derived from "الرثباق" (*irhaaq*) which means to coerce a man for doing that of which he is not capable {*T*, *R*}.

| 74:17 | I will involve him in great difficulty or stress | سَأَرْهِقُهُ صَعُوْدًا |
|-------|--|------------------------|
|-------|--|------------------------|

دەن R-He-N

"نَائِرَيْنُ" (*ar-rahn*): Something which is kept as a guarantee for something that you have taken temporarily. (*rihaan*) is plural of "اَلْرَيْنُ" (*ar-rahn*). It also means a guarantee. In the dictionary "رَبْنُ" (*rahn*) means proof and stability (to be stolid).

Raghib says "رَبْنَنَ" (*rahn*) and "رَبْنَنَ" (*rihaan*) are things which are kept as guarantee for a loan, but "رَبْنَنَ" (*ar-rihaan*) is a thing which is kept as a guarantee in a bet. It is usually used in horseracing.

"الْرَابِنُ" (*ar-raahin*): proven and ready, stolid and permanent. "الْرَابِنُ" (*rahanash shaiyi*): the thing remained stolid *{T}*.

Ibn Faris says it means to stick to one thing whether it is right or wrong.

"رَجْلَہُ رَبِيْنَةٌ" (*rijluhu rahina*): his foot is imprisoned or trapped *{T}*. "رَيْنَةٌ" (*anaraheen bikaza*): I am involved in that thing {M}.

The Quran says:

| 52:21 everybody is hostage to his deeds (his life is dependent upon his deeds for results) | کُلُ امْرِيْءٍ بِمَا كَسَبَ رَهِيْنٌ |
|---|--------------------------------------|
|---|--------------------------------------|

In surah *Al-Baqarah*, the advice that is given for lending says that if you are traveling and find no one to write down (the loan agreement) then:

| 2:283 | you must hold onto something as mortgage for the things that are lent | <u>فَرِ</u> هْنٌ مَقْبُوْضَةٌ |
|-------|---|-------------------------------|
|-------|---|-------------------------------|

To make this the basis for 'keeper's property' is an injustice (to God's laws), for example, a farmer takes a loan from somebody and mortgages some of his land for it. Thereafter the land will remain with the lender who will own the produce of the land till the loan is returned and will not even deduct the cost of the produce from the loan. If this is not a type of interest, then what is it? This means that it is indeed a type of interest, which is forbidden. "لَارَبْوَ" (*ar-rahwu*): the space between the two legs, a place where water accumulates, also peace which is tranquil.

(*arraha-u*): level and expansive land.

"عَيْشٌ رَاهِ" (aishun rah): a content and peaceful life.

"أَلْرَبُوْانْ (ar-rahwaan): low land, a horse whose back while riding is soft {T, R}.

Kitab-ul-Ishteqaaq says that this word means the opposites, that is "ببوط" (*haboot*) or to come down, as well as "ارتفاع" (*irtafaa*), or to go up.

Ibn Faris says it has two basic meanings. One is of peace and contentment, and second is of a place which becomes high sometimes and at others becomes low. The Quran says when *Moosa* was taking along the nation of *Bani Israel* then he was told:

| 42:24 | to leave the sea in a calm state | وَاتْرُكِ الْبَحْرَ رَهْواً |
|-------|----------------------------------|-----------------------------|
|-------|----------------------------------|-----------------------------|

One meaning of this is verse is:

When *Moosa* reached it, the sea was peaceful, it was in ebb and it had receded and left some dry land behind.

Surah *Taha* says:

| 20:77 | for them take the dry path in the sea | فَاضْرِبْ لَهُمْ طَرِيْقاً فِي الْبَحْرِ يَبَسًا |
|-------|---------------------------------------|--|
|-------|---------------------------------------|--|

Even if (\tilde{y}, \tilde{y}) (*rahwa*) is taken to mean broad or expansive, it will mean the path which has been broadened by the sea (by receding), take them by that way. The place where there was the sea at first would be low, when the sea recedes from there, then that land will be (as compared to the land which is still under water) be higher.

"رَوْضَنَّهُ" (*rauzah*): the land where there are beautiful flowers, trees and water, beautiful garden with a canal, any green place which has a canal adjacent to it. The plural forms are "رَيْاضٌ" (*rauzun*), "رَوْضَاتٌ" (*riyazun*) and "رَوْضَاتٌ" (*rauzat*). If there is no water, then it is not called "رَوْضَاتٌ" (*rauzah*). It is a place where water collects.

َنَرَضَ الْقَوْمَ (*aradal qaum*): he watered the whole nation, i.e, he benefited the entire nation. (*ar-riyazah*): to make somebody work hard to make him an expert at it, to train {*T*, *R*}.

Ibn Faris contends that its basic meanings contain vastness and expanse, as well as to soften something or to make some chore easier.

The Quran says:

| 30:15 42:22 | they will enjoy music in a green spot | فَقَدْ هُ فَهُ مَا مُوْمَ مَا مُوْمَ مَا مُوْمَ مُوْمَ مَا مُوْمَ مُوْمَ مُوْمَ مُوْمَ مُوْمَ مُوْمَ |
|----------------|---------------------------------------|--|
| 42:22 | they will enjoy music in a green spot | ڪهم چي روضي يعبرون |

Its plural is "رَوْضَاتٌ (rauzaat).

روغ R-W-Gh

QES-Norway

"زَاغَ الرَّجْلُ" (*raghal rajulu*), "زَوْغاً" (*raghal rajulu*): for some expedience, to turn to one side quietly, lean or to avoid *{T, R}*.

Ibn Faris says it basically means to lean and not to remain in one state.

رَاغَ فَلَانٌ اللَّي فَلَانٍ»: (*raagha fulanun ila fulaan*): that man secretly leaned towards him.

Faraa says that "رَاغَ اللَّي ٱبْلَى ٱلْلَي ٱللَّي اللَّي اللَّي اللَّي اللَّي اللَّي اللَّي اللَّي اللَّي المُ

"زرَاغَةً" (*aragha*), "ارْتَاغَ" (*iraagha*), "ارْتَاغُ" (*wartaagh*): he intended and demanded. "روَاغَةٌ" (*riwagha*), "روَاغَةٌ" (*ruyagha*): ring (as in boxing or wrestling) {T, R, M}.

In the tale of *Ibrahim*, the Quran relates "فَرَاغُ الَّى الْبِبَيْمِ" (*faraagha ila aalihatihim*) in 37:91 and " فَرَاغُ الَى الْبَيْبِمْ تَقُرَاغُ اللَّى الْبَيْبِمْ" (*faraagha alaihim*) in 37:93. "رَاغ الَّى" (*ragha ila*) means to keep your intentions to yourself while attending to someone, and "رَاغ عَلَى" (*raagha ala*) means to attack somebody overwhelmingly. As such, *Ibrahim's* tact was such that it contained the element of secrecy of intent and overpowering strength as well. "نَيْتُ" (*raib*): actually it means psychological confusion, and uneasiness of "نفس" (*nafs*) {*Aqrabal Muwarid*}.

It also means doubt, and restlessness $\{T\}$, also guess or opinion and accusation $\{T, R, M\}$. Besides it, it also means the vicissitudes of life and need $\{T\}$.

Ibn Faris says it basically means doubt or doubt and fear.

"الَرَيْبُ" (*ar-raib*): anything which creates confusion. It also means need. (*rabanial amru raiba*): that matter put me in doubt *{T*}.

In surah At-Taubah, in the context of Masjid-e-Zarar, it is said:

| 9:110 | restlessness and confusion | رِيْبَةً فِيْ قُلُوْكِمْ |
|-------|----------------------------|--------------------------|
|-------|----------------------------|--------------------------|

In surah *Ibrahim* 14:9 and in surah *Saba* 34:54 and at other places, "مُرِيْبٌ" (*mureebun*) has come as an adjective of "مَرِيْبٌ" (*shakk*), which means doubt.

"مَرْنَّابٌ" (*shakkun mureebun*): doubt which creates uneasiness and confusion. In 40:34 "مَرْتَابٌ (*murtaab*) has appeared, that is, one who doubts. In 29:48 is (*irtaab*), that is, doubted.

Surah *At-Toor* says:

| 52:30 | The vicissitudes of life which can be faced by realities | رَيْبِ الْمَنُوْنِ |
|-------|--|--------------------|
| 52.50 | but not by poetic or idealistic emotionalism. | ريب المتوع |

Therefore, "زَيْبَ" (*raib*) would mean uneasiness of the mind due to doubt. The Quran has said about itself in the very beginning:

| | this is the code of life which leaves no doubt or create | |
|-----|---|-------------------------------------|
| 2:2 | any confusion or unease in the minds (its teachings create complete peace and calm, it has | ذَالِکَ الْکِتَابُ لَارَيْبَ فِيْهِ |
| | no place for unease and confusion) | |

Aqrabal muwarid says that these meanings are cited for the word *ar-reebah*, because it is entirely based on logic and reasoning, and it is obvious that only reasoning can create complete peace, not by blind faith and superstitions.

رى ش R-Y-Sh

"اَلَرْ يُشْنُ" (*ar-reesh*), "اَلَرْ يَشْنَ" (*ar-reash*): the feathers of the birds with which their bodies are covered *{T}*. "الَرْ يُشْنُ" (*ar-rish*): human clothing and beautification. It also means wellbeing and economic freedom. "رَاسُ فَلَاناً" (*raasha fulaana*): helped him earn and strengthened him, corrected his condition and benefited him.

"رَاشَ الرَّجُلُ» (raashar rujul): the man became rich and well to do {T}.

Ibn Faris says that the root basically means wellbeing, as well as the good things that one acquires in life.

The Quran says that your clothing covers your body and "ريْسْتَّا" (reeshan), also adorns you (7:26).

The Quran not only presents the utilitarian aspect of things but also gives equal importance to their aesthetic values. The beauty in the universe is a manifestation of this aspect of the creator. This means utilitarian and aesthetic values in everything. A *momin's* life too must be an embodiment of both these two aspects,

"زَيْتُخ" (ree'a): the projecting part of anything, also everything's best and first part.

"زاع الطَّعَام" (*ra'at tu-aamu*): there was an increased production of crop, the crop production increased, was in abundance.

"زَيْخٌ" (*ri'a*), "رَيْخٌ" (*ra'a*): high land or high place. Every path or the path between two mountains, also mountain.

"كَمْ رِيْعُ أَرْضِكَ" (*kum ree-u ardika*): how high is your land?

"لَلرَّيْعُ" (*ar-ree* '): high dune, the high place of the valley along which water flows down, it is also used for church.

"رَيْعَانُ الْشَبَّابِ" (rai'aanus shabaab): the early part of youth.

تَاقَةُ رَيْعَانَةُ" (naaqatun rai'aanatun): a camel which gives a lot of milk {T}.

The Quran says:

| 26:128 | Do you make a monument to yourself at every | ٱتَبْنُوْنَ بِكُلِّ رِيْعٍ آيَةً تَعْبَقُوْنَ |
|--------|---|---|
| | elevated place? (And that too unnecessarily?) | |

This means memorials are only for remembrance and have no utility as such. Only such things are good memorials which are beneficial to the coming generations.

رىن R-Y-N

"رَيْنْ" (*rayn*): rust or dirt etc. {*T*}.

"رَانَ بَوَاهُ عَلَى قَلْبِ يَرِيْنَ" (*raana hawahu ala qalbehi birayn*): his wishes controlled his heart. "زِيْنَ بِالرَّجُلِ" (*reyna bir rujul*): the man was so involved in the confusion that it became difficult to extricate himself. It also means liquor, because it overwhelms the intellect {M}.

Ibn Faris says it basically means to cover.

| Quran says: | | | |
|-------------|--|---|--|
| 83:15 | their deeds overwhelmed their hearts as rust | رَانَ عَلَى قُلُوْمِمْ مَاكَانُوْا يَكْسِبُوْنَ | |

Hearts are not sealed or close externally. A man's own deeds act as seals and rust for the heart. This is what has been described as "خَتَّمَ اللهُ عَلَى قُلُوْبِهِمْ" (*khatamallahu ala qulubihim*) in 2:7, because everything takes place according to the laws of God. The results of a man's deeds, which occur due to the law of nature, is that the man loses the ability to think rightly. He is so submerged by surface emotions that the road to thinking is closed to him.

"ألزَبَذُ" (*az-zabad*): the foam that comes to the top of the water or other liquid {*T*}.

| The Quran says: | | | |
|-----------------|-------|--|-------------------|
| | 13:17 | The foam that mounts up to the surface | زَبَدًا رَّابِيًا |

"أَنْزُبْذُ» (*az-zubd*): cream which is later made into butter. تَتَرَبَّدُهُ» (*tazabbadah*): he took the gist *{T*}.

Ibn Faris says it means for a thing to be born out of another. *Raghib* says that as a metaphor "زَنَكَ" (*zabadah*) is also for something which is in abundance.

زبر **Z-B-R**

''اَلَّزَّبْرُ'' (*az-zubr*): to write. ''اَلَتَّرْبِرَةُ'' (*at-tazbirah*): writing. ''مَزْبُرُ'' (*mizbar*): pen. ''مَزْبُوْرٌ' (*maz-zaboor*): written material, book etc. *{T}*. The plural is ''يُزْبُرٌ'' (*zubur*).

Surah *An-Nahal* says that the messengers were sent with "أَلْبَيْنَتِ وَالزُّبُرِ" (*al-bayyinaati waz-zubur*) in 16:44, 26:196.

Here "بَالْبَيَّنَتِ وَالزَّبُرِ وَالْكِتَٰبِ الْمُنِيْرِ» (*zubur*) means books. Similarly at other places i.e. "بِالْبَيَّنَتِ وَالزَّبُرِ وَالْكِتَٰبِ الْمُنِيْرِ» (*bilbayyinaati waz-zuburi wal kitaabil munir*) as in 35:25, 3:183, "زُبُرٌ" (*zubur*) is referred to the divine book providing guidance.

Surah *Al-Ambia* says:

| 21:105 | Verily, We noted in <i>Zaboor</i> after the <i>zikr</i> (mention) | وَلَقَدْ كَتَبْنَا فِي الزَّبُوْرِ مِنْ بَعْدِ الذِّكْرِ |
|--------|---|--|
|--------|---|--|

Some say that here "زَكْرُنَّ (*zubur*) means "the Book of the Psalms" revealed on *Dawood*, and "ذَكُرُنَّ (*zikr*) means *Torah*. But *Saeed Bin Jabeer* says that "زَبُوْرُ" (*zaboor*) means every Divine Book (Revelation), i.e. Torah, Bible, Quran. Any of these books is "زَبُوْرُ" (*zaboor*) {*T*}.

Surah An-Nisa says:

| 4:163 | And we gave Zaboor to Dawood | وَآتَيْنَا دَاوُدَ زَبُوْراً |
|-------|------------------------------|------------------------------|
|-------|------------------------------|------------------------------|

If "زَبُوْرُ" (*zaboor*) means the book which was given to *Dawood*, then it would not have been said "زَبُوْرُ" (*zaboora*) which means one book. It should have been "الزَبُوْرُ" (*az-zaboor*) which is a proper noun for "the book".

Ibn Faris says it basically means to read and write, and to strengthen or make something stolid. Raghib says that any voluminous book is called "زَبُوْلُ" (zaboor).

"لَزَبْرَةُ" (*az-zubrah*): a big piece of iron {*T*}. Its plural is "زُبُرُ" (*zubar*) and "زُبُرُ" (*zubur*) as used in 18:96. This led it to mean sects or separate groups, as in 23:53

Since "زَبُوْنٌ (*zubur*) is the plural of "زَبُوْنٌ (*zabur*), as in 23:53, therefore it can also be interpreted as separate books.

"الزَبْنُ (az-zabn): to push, to shut out, to remove something from someone.

"لَازْ يُنْ (az-zubun): the one who pushes away someone with strong force.

تَنَقَةٌ زَبُوْنٌ (naaqatun zabun): the she camel which kicks and pushes away who tries to milk her.

"خَرْبُ زَبُوْنٌ" (*hurbun zaboon*): severe clash in an intense battle *{T}*. A battle is called "زَبُوْنٌ" (*zaboon*) because of its violance {*Kitab-ul-Ashfaq*}.

(*az-zibniyah*): every brave or courageous person may be a soldier. The plural is (أَلَنَّ بْنِيَةَ (*az-zibniyah*) as in 96:18. It is used for the fighters who go to war in defence of Righteousness.

زجج **Z-J-J**

Ibn Faris says it basically means for something to be thin, or fine.

''اَلزُّ جُ'' (*az-zujj*) the iron piece at the back of a spear, the point of the elbow (*az-zujaaj*): things made from glass, ceramics etc. Singular is ''زُجَاجَ'' (*zujajah*) {*T, R*}.

The Quran refers to the lamp:

| 24:35 | within it a lam | p | فيى زُبْحَاجَةٍ |
|-------|-----------------|---|-----------------|

It also means a glass covering or a chandlier.

When the glass is full, it is called "كَاْسُ" (*kaas*), and when empty, is called "تُرْجَاجَنُ" (*zujajah*) {*Latif-ul-Lugha* and *Fiqah-ul-Lugha*}.

Z-J-R زجر

"زَجْرَةَ" (*zajarah*), "زَجْرَةَ" (*zajarah*), "زَجْرَةَ" (*zajarah*), "زَجْرَةَ" (*zajran*), "زَجْرَةَ" (*zajran*), "زَجْرَةَ" (*zajarah*): he stopped him (from something) and prevented and scolded him. Actually it means to shout at someone with a view to drive away or audibly scold someone or to give someone a dressing down.

(*zajaral ba-eer*): he scolded the camel and hushed it.

"الزَّجُوْنَ" (*az-zajor*): the she camel which cannot be milked unless shouted at, therefore this word has an element of scolding or talking harshly.

The Quran says:

| 37:2 Hence those who drive away with strength | فَالزَّاجِرَاتِ |
|---|-----------------|
|---|-----------------|

This means the party of those fearless men who scold (or chastise) the oppressive forces to stop them from their excesses. A little later in the same surah:

| 37:19 that will only be one chiding | فَاِنَّمَاهِيَ زَجْرَةٌ وَاحِدَةً |
|-------------------------------------|-----------------------------------|
|-------------------------------------|-----------------------------------|

Surah *Al-qamar* says:

| 54:4 | which contains such things as prevent from excesses | مَافِيْهِ مُزْدَ جَرٌ | |
|------|---|-----------------------|--|
|------|---|-----------------------|--|

Still further ahead it is said:

| 54:9 | they called him mad and ousted him chastising | بَحْنُوْنٌ وَا زْدُ جِرَ | |
|------|---|---------------------------------|--|
|------|---|---------------------------------|--|

Vested interests who have power and wealth always treat any messenger who calls them towards the Divine Guidance with contempt and arrogance.

"زَجَهْ" (*zajah*), "زَجُوْهْ), "زَجُوْهُ" (*zajwa*), "زَجُوْا" (*vazjuh*), "زَجُوْهُ" (*zajwa*), "زَجُوْهُ" (*iz ja'a*): to drive something (egg on) softly {*T*, *R*}.

The Quran says:

| 24:43 | Do you not reflect on the fact that God drives the | اَلَمُ تَرَ اَنَّ اللَّه يَزْجِيْ سَحَاباً |
|-------|--|--|
| 24.43 | clouds slowly and softly? | الم كر أن ألك يرجبي شعب ب |

"تَرَجَاالْأَمْنَ" (*zajal amr*): the matter became easy and simple or straight forward. "أَمْنُرْجَيِ" (*al-muzja*): Something in in small quantity *{T, R}*.

(biza'atun muzjah): a little capital or a small saving(12:88) {T, R}. فرْجَاةٌ مُزْجَاةٌ

Ibn Faris says it basically means to throw away something without any hesitation or to drive, which can be easily culled and sent along.

"نَضِنَاعَةٌ مُزْجَاةً" (*biza'atun muzjah*): would mean a small sum which can easily be parted with and donated. Ave h

Z-H-Z-H נקנס

"نَحْزَحَمْ عَنْ^{*}" (*zahzahahu unh*): removed it from him, put it to one side. "بُوَ بِزَ حْزَحٍ مَنْهُ" (*huwa bizahzahin minh*): he is at a distance from him. "الزَحْزَاحُ" (*az-zahzahu*): far, distant *{T*}.

Ibn Faris says these are its basic meanings.

The Quran says:

| 2:96 | but this will not save him from punishment | وَمَاهُوَ بِمُزْحِبِهِ مِنَ الْعَذَابِ |
|------|--|--|
|------|--|--|

Surah Aal-e-Imraan says:

| 3:185 | only he who is saved from the fire | فَمَنْ زُ <mark>حْزِح</mark> َ عَنِ النَّارِ |
|-------|------------------------------------|--|
|-------|------------------------------------|--|

زحف Z-H-F

زَحْفَ الَيْهِ زَحْفًا": proceeded towards him, went forward towards him {T}.

Ibn Faris says it means to keep marching forward.

"زَحْفٌ" (*zahfin*) means when a child moves forward by dragging on his bottom $\{T\}$. This word is also used to mean to move on the knees like children do $\{M\}$.

تَزَحَفَ الْبَعِيْرُ» (zahafal ba-eer): due to tiredness, the camel started to drag its feet {T}.

"أَلْزَحَافَة" (*azuh hafah*): reptiles, those creatures which crawl on ground, like a tortoise etc. {*M*}. Later it began to be used for the movement of armies because these, due to their size, move as if are dragging at a crawling pace.

ازْحْفَ لَنَا بَنُوْ فَلَانَ" (*azhafu lana banu fulaan*): that tribe came from the above stated condition to fight us. "أَزْحَفُ لَنَا بَنُوْ فَلَانَ" (*azhafu lana banu fulaan*): they came face to face in battle.

"مَزَاحِفُ الْقَوْمِ" (mazahiful qaum): battle sites where a nation has fought battles {T}.

"الزَّحْفَ" (*az-zahf*): a brave army which is advancing towards an enemy.

Surah *Al-Anfal* says:

| 8:15 | when you meet the enemy in battle | اِذَالَقِيْتُمُ الذِيْنَ كَفَمُوا زَحْفاً |
|------|---------------------------------------|---|
| 0.15 | (when they are advancing towards you) | ودالعبيدم الأدين تطروا وستعل |

زخرف Z-Kh-R-F

"لَزُخْرُفَ" (*az-zukhraf*): gold, which is used to make ornaments. This is its real meaning. Adornments were also called "زُخْرُفُ" (*zukhraf*), and as a metaphor, for every exaggerated statements e.g. propaganda *{T, M}*.

َزُخْرُنَ^w (*zukhruf*) also used to explain the extreme beauty. In 43:35, this word means the things for adornment or adornment itself

The Quran says:

| 6:113 | Decorative speech | زُ خُرُفٌ الْقَوْلِ |
|-------|--------------------------------------|---|
| 10:24 | Until the earth takes its decoration | حتىٰ اِذَا أَحَذَتِ الْأَرْضُ زُحْوُفُهَا |

زُخْرُفًا" (zukhurufa): cosmetic make up, or other things one uses for own objectification and projection.

Muheet doubts that it either means gold or adornment *{M}*.

Raghib says it means artificial beauty *{R}*.

Ibn Faris says it basically means gold and also adornment. Raghib supports him on this.

زرب **Z-R-B**

"الزَرْبِيَّنْ" (*az-zarb*): entrance, a wooden enclosure for keeping goats in, etc. "زَرْبَيَّةٌ" (*az-zarabi*): the singular is "زَرْبِيَّ" (*zurbi*) or "الزَرْبِيَّ" (*zarbiyah*) which means mattresses, bedding, any such thing which is used to lean upon or get support. "الزَرْبِيَّةُ" (*az-zurbiyyah*): good carpet or flooring *{M*}.

Fara says that "زَرَالِيُّ" (*zarabi*) means mattresses with frills. It is possible that this meaning may have developed with reference to "الزَرَابِيُّ مِنَ النَّبْتِ" (*az-zarabiyyu minan nabt*) which means yellow and green plants which bear vegetables {*T*}.

Quran says:

| 88:16 | floor covering of a high quality | زَرَابِيُّ مَبْتُوْثَةً |
|-------|----------------------------------|-------------------------|
|-------|----------------------------------|-------------------------|

Ibn Faris says that "زَرْبْ" (zarb) basically contains the connotation of some resting place.

زرع Z-R-Ain

"زَرُعَّة" (*zara*), "زَرُعًا وَ" (*zaruw*), "زَرُعًا وَ" (*zaruw*), "زَرُعَا وَ" (*zira'ah*): to put seed into the soil.

"لَازِرْغٌ" (*az-zar'u*): to grow {*T*}.

"لَازُرْاَعْ" (*az-zurra*): those who till the soil, gardeners or farmers (48:29). The singular is "زَارِعْ" (*zarih*). "لَازَرْاَعْ" (*zarih*). "تَرَرْعْ" (*zar'un*): crop, or what is produced by sowing $\{T\}$ (6:141, 13:4).

Ibn Faris says with reference to Khalil that it basically means to develop or nurture something.

Therefore, as it will be explained later, it does not just mean to put seeds into the soil but also means to grow a crop. A man cultivates the land and sows the seeds and takes various precautions, but for the seeds to grow into a sapling and then into a plant is all according to Allah's laws and in this process no human effort is involved. That is why Allah has questioned:

| 56:64 | Do you make the crops grow or it is Us? | ءَ أَنْتُمْ تَزْرِعُوْنَهُ أَمْ نَخْنُ الزَّارِعُوْنَ |
|-------|---|---|
| | - · J · · · · · · · · · · · · · · · · · | |

The above verse explains that you only sow the seed while God's laws make it grow, thus how can you claim ownership of the entire produce ? Take what is due for your efforts and give Us Our share, i.e. give it to those who need it (56:73).

"لَزِّرَقٌ" (*az-zaraq*): blue color.

"لَازَرْفَة" (*az-zurqah*): bluish, whiteness, greenish color in the blackness of the eye, for whiteness to cover eye's blackness.

"زَرْقٌ" (*zariq*): his eyes' blackness was covered by whiteness. A person who has this is called "زَرْقٌ" (*azraq*). Its plural is "زُرُقٌ" (*zurq*).

"أَلْزَرَقَ" (az-zaraqu) means blondness.

تَزَرِقَتْ عَيْنُہُ تَرْرَقْ) '' (*zariqat anhu tazraq*): for the eyes to turn blue {*T*}.

The Quran says:

| 20:102 | On the day of judgment, We will raise the criminals as blind, their blackness of the eves will be covered with whiteness | نَحْشُرُ الْمَجْرِمِيْنَ يَوْمَءِذٍ <mark>زُرْقاً</mark> |
|--------|--|--|
| | blackness of the eyes will be covered with whiteness | 2 1 |

"زُرْقٌ" (*zurq*) is plural and its singular is (*azraq*). "زُرْقٌ" (*azraq*).

Raghib says that "زُرْفَاً" (*zurqa*) means blind whose eyes are bereft of sight{**R**}. Some linguists think that the Arabs had old enmity with the Romans and they were blue eyed. Thus every captive or enemy was called "زَرْدَقُ الْعَيْنِ" (*azraqul ain*) even though his eyes may not be blue {M, **Kashaf**}. But I think, the former meaning is more acceptable, because the Quran uses it in this context.

Later in the same surah, it is said:

| 20:124 | on the day of judgment we will raise them blind | نَحْشُرُهُ يَوْمَ الْقِيَامَةِ أَعْمَىٰ |
|--------|---|---|
|--------|---|---|

زرى Z-R-Y

"زَرَىٰ عَلَيْهِ عَمَلَهُ" (*zara ilaihi amalehi*): to chastise someone for his deed, to dress him down, to criticize him, to demean him and to accuse him *{T}*.

"ازْدَرَاة" (izdarah): considered him to be low and insignificant.

"ازد راه" (al-muzdari): one who thinks someone as inferior. {M, Kashaf}.

| The | Quran | says: |
|-----|-------|-------|
|-----|-------|-------|

| 11:31 | those who are lowly in your eyes | تَرْدَرِيْ أَعْيُنُكُمْ |
|-------|----------------------------------|-------------------------|
|-------|----------------------------------|-------------------------|

زعم Z-Ain-M

"أَلزَّ عُمْ" (*azza'am*), "أَلزُّ عُمْ" (*az-zoam*), "أَلزَّ عُمْ" (*az-zeem*): such a saying or utternace which could either be true or false, i.e. good or evil. But often it is used for things which are not true and not based on facts.

Lane has said when the Arabs say "نَكَرَ فُلَانَ" (*zakara fulanun*) then it means that the matter talked about is true, but when there is doubt about the veracity of the saying, then it is said "زَعَمَ فُلَانَ" (*za'ama fulan*). Some say that "زَعْمَ" (*za'am*) definitely means lie.

"نَتَنَقُرُا" (*at-taza'am*): to fabricate lies; linguists say "نَعَمُوُا" (*za'amu*) means such things which have no authentication or proof, but are simply hear-say *{T}*. It includes the connotations of guesswork and expectation (may be true).

Muheet says "أَنْزَعْمُ" (*azza'am*) means doubtful talk or which is secretly believed to be false, some say talk without reasoning is "زَعْمٌ" (*za'am*). Some say it means to claim knowledge, some say that "زَعْمٌ" (*za'am*) means belief whether true or false {*R*}.

Raghib says that this word has always appeared in Quran when condemnation of the speaker is intended.

| The Qura | n says: | |
|----------|---|---|
| 64:7 | The unbelievers think that they can't be raised | زَعْمَ الَّذِيْنَ كَفَرُوْا أَنْ لَنْ يُبْعَثُوْا |

In Surah *Al-Anam* says:

| | in Salah Ar Andrew Sajs. | | |
|-------|--------------------------|---------------|--|
| 6:137 | false belief | ؚڹڒؘڠ۠ڡؚؚۼؚڂ۫ | |

"زَعَمَ بِهِ" (*za'ama bihi*): guaranteed it, accepted the responsibility for it. "الَّذَعِيْمَ" (*az-za'eem*): responsible for and patron (68:40, 12:72).

Ibn Faris has said that the root has two basic meanings. Firstly to say something which has not been verified, and secondly to accept the responsibility for something and become its patron.

زفر **Z-F-R**

(*zafar*), "زَفِيْرَ " (*yazfir*), "زَفِيْرَ " (*zafeera*): to take the breath out *{T*}.

Raghib says it means to breathe heavily, as while sobbing the breath comes and goes. It is mostly used for the initial gasping sound of a donkey's braying. The last part of its voice is called "شَرِيْقُ" (*shaheeq*), while "زَافَيْنُ" (*shaheeq*), while "زَافَيْنُ" (*shaheeq*), while *the breath inside {T}*.

The Quran has used both "تَسْبِيْنَ" (*zafeer*) and "تَسْبِيْنَ" (*shaheeq*) together in the same sentence 11:106. It means to sob, to cry out loud 21:100. It also means the sound of a fire flaring up (25:13), and it is also used for an unexpected misfortune.

"لَزَقُرُ" (*az-ziqr*): the load on one's back, a traveller's luggage, a skin container used by shepherds to store water, *Ibn Faris* says it can basicly mean both, load and noise.

زفف Z-F-F

"ألزَ فَيْفُ" (*az-zafeef*) basically means for the wind to blow strongly, further the fast speed of an ostrich which is a combination of running fast along with flying $\{R\}$.

"زَفَّ البَعِيْرُ" (zaffal ba-eer): the camel moved faster.

"الزَّفْزْفْ): a fast moving ostrich or a camel

"الزَّفَيْفَ" (az-zafeef) also means lightning.

نَوْفَ الْعَرُوْسَ الَّلَى زُوْجِهَا زَفَاً وَزِفَافاً³، (*zaffal uroosa ila zaujihazaffa wa zifafa*): he presented the bride before the husband {*T*} (*Here the presenter's eagerness is involved*).

Ibn Faris says it basically means to be fast and slick in everything.

The Quran says:

| 37:94 | they came towards him with alacrity | فَاَقْبَلُوْا الَيْهِ بَرَ <mark>ف</mark> ُوْنَ |
|-------|-------------------------------------|---|
|-------|-------------------------------------|---|

(Here the emotive intensity is evident).

َ ' ٱلزَّفْمُ'' (*az-zaqm*): to take a mouthful, to swallow. (*azqamahush shaiyi*): he gave him something as a mouthful and made him swallow *{T*}.

Raghib says "زَقَمَ" (zaqam) and "تَزَنَقَمَ" (tazaqqam) means to swallow something unpleasant {R}. (للرَقُوْمُ) (az-zaqqoom): means a wild plant which is bitter tasting and its small, round leaves are very ugly and it has big knots in its stalk.

| The Quran says: | | |
|-----------------|---|--|
| 37:65 | The shoots of its fruit-stalk are like the heads of devils. | طَلْعُهَا كَانَّهُ رُئُوْسُ الشَّيَاطِيْنِ |

It is obvious why the Quran has used it as an allegory for a mental state of indivduals.

Soalub has said that "الْزَقُوْم" (*az-zaqqoom*) means every edible thing that is poisonous and can kill $\{T\}$. **Muheet** says that it is used when a person eats or does something that becomes a bane for him.

The Quran declares:

| 37:64 | the tree that grows at the base of a hellish society | اِنَّهَا شَجَرَةٌ تَخْرُجُ فِيْ أَصْلِ الْجُحِيْمِ |
|-------|--|--|
|-------|--|--|

It is obvious that this does not refer to an actual tree as no tree can grow in the fires of hell. It signifies such sustenance which may turns humanity into a very unhappy state of living in this world. It refers to powerful and rich people as long branches of the tree and their means of sustenance obtained through oppressive means. This has also been pronounced "شَعَرُتُ مُلَعُوْنَة" (*shajaratun mal-oonah*) in 17:60 and "شَعَرُهُ الْأَنْيَيِنَ" (*tu'aamul aseem*) in 42:44. That is, such sustenance which makes a man weak and his potentials are stultified, and he is deprived of the true pleasures of life as defined by the Quran. This is sustenance of the people who have self-declared respect honour in a society due to the possession of wealth and power (44:49). This the group of *Mutrafeen* (56:45). The group which lives on the hard work of fellow human beings' labor (37:66). Such sustenance may temporarily satisfy their desires, but will be of no use for the development of humanity as whole.

In (17:60) which is referred above, it is also possible that it means as quoted in (14:26). This may mean wrong ideology of life; however, these all are allegorical and used to illustrate a state of a individuals and society.

زکریا Zikriya

The Quran has mentioned *Zikriyah* as one of the messengers belonging to *Bani Israel* (6:85). He is referred in surah *Aal-e-Imran* (3:37-40), surah *Maryam* (19:2-15), and surah *Al-Ambia* (21:89-90). These verses mention that he was old and his wife could not conceive, but the capability to give birth to a child was restored in her (21:90) and *Yahya* was born as *Zikriyah's* son. He was the patron of *Maryam* (3:37).

Loqa's Bible says that during the reign of king Herodis of Yahudia, this was the name of an astrologer, and his wife was from among the descendants of *Haroon* and was named *Al-yashba*. They had no child as *Al-yashba* was infertile.

The Torah (Old Testament) mentions a messenger named *Zakariah*, a very big official of the Jews was called *Nabi* (prophet) which was translated as astrologer. But the Quran's concept of a *Nabi* is entirely different from this, and the Quran has counted *Zikriyah* as one a *Nabi (messenger receiving the revelaion)*.

"زَكَالْلُمَالُ وَالزَّرْعُ" (*zaka al-maal az-zar'o*), "يَزْكُوْ[†]" (*zakuwwa*), "زَكُوَ[†]" (*zakuwwa*), "زَكُو[†]" (*azka*): for crops or animals to grow, to develop, to increase, to prosper.

"زَحَىٰ اللَّهُ الْمَالَ وَزَحَاهُ" (*azka allahu-Imala wazzakkahu*): Allah gave prosperity and multiplied wealth. "زَكَا الرَّجُلُ يَزْحُوْ" (*zakar rajuluh yazku*): someone prospered and his abilities developed. His life became happier, rich and blossomed in all respects.. {*Taj-ul-Uroos* and *Ibn Qateebah*, *Al-qartain.* Vol. I page 62}

Therefore, the basic meanings of "زكّ (zaka) are to develop, propsper, grow and blossom in all respects.

Raghib has stated this verse to prefer this meaning:

| 18:19 | | he best food and bring some that | فَلْيَنْظُرْ آيَّهَا أَزْكِيٰ طَعَاماً |
|-------|-----------------------|----------------------------------|--|
| | satisfy your appetite | | |

i.e. to select the food which has better overall nutritional value.

"أَلْزُكُونُ" (*az-zakaat*) means to develop, to grow, to increase, to blossom {*T*}. It may also mean purity, probably in order to let the trees grow properly you have to pare the branches, etc, but this is not its basic meaning. In the Quran itself, in the same verse "أَطْبَرُ" (*azka*) and "أَطْبَرُ" (*at-har*) have been used separately in 2:232. Here "أَطْبَرُ" (*at-har*) is for purity and "أَرْكُى" (*azka*) for development. Purity is a negative virtue, i.e to stay away from impurities, but "زكوا" (*zakat*) is a positive virtue, that is to blossom, to grow, to increase, to progress, to realize potentials, etc.

Muheet writes with reference to *Baizaai* that the meaning of "ألزَّكِیَّ" (*azikki*) is to grow with a view to enhance all around abilities, one who develops his potentials from one stage of life to later part of life. There is an implicit element of self-development and continuous evolvement in this term.

"أَرْض زَكِيَّةٌ" (*ardun zakiyyah*): lush green pasture which is very fertile and has abundant potential for growth.

آزكى" (azka) means very beneficial {M, F}.

"زَكَا" (zaka) means the figure which is a pair {M, F}.

Surah *Al-Kahaf* Allah commits to bestow them a son who will have better abilities than their previous son:

| 18:81 | better in character and conduct | حَيْراً مِنْهُ زَكُوةً |
|-------|--|------------------------|
| 18:74 | Individual with good character and conduct | نَفْساً زَكِيَّةً |

At another place it is said:

| 19:19 | youth with good character and conduct | عُلْماً زَكِيّاً |
|-------|---------------------------------------|------------------|
|-------|---------------------------------------|------------------|

In surah Ash-Shams, "تَسْبَا" (zakkaha) has been used against "تَسْبَا" (dassaha) (91:9-10).

"تَدْسِيَمْ" (*tadsiyatun*) means to suppress someone, to bury someone alive (16:59), or to curb human development. As such "تَرْكِيْمُ" (*tazkiah*) would mean to remove all restrictions and obstructions which may be hampering someone's progress and to facilitate path to self-development.

The Quran refers to the following term repeatedly in many places e.g. (2:83, 2:177):

| <u> </u> | | 5 |
|----------|--|--|
| | Establish <i>Salah</i> and provide <i>Zakaah</i> | ٱقِيْمُوْ الصَّلُوةَ وَ أَتُوْالرُّكُوةَ |

Indeed these are the two basic pillars of the Quranic System which lay the foundations. For the detailed meaning of this term, see heading (Sd-L-W). You will find that its meaning is to establish a Quranic social order within the defined permanent values so that the individuals living within the society have the

option to attain the aim of defined and explained self-development. The question is what then is the purpose of establishing such a social order? The aim is to "اليتائ زكون" (*eetayi zakat*) i.e. to provide self-development. In other words, to provide the opportunity and environment to the mankind with requisite means for their individual and collective growth and development. This development and growth include both aspects: the nurturing of man's corporeal being and the development of his Self (personality).

In Sura *Al-Hajj:*

| | ·· ·· <i>JJ</i> · | |
|-------|---|--|
| 22:41 | This is the group who when given power will establish the system of <i>salaah</i> and provide <i>zakaah</i> | الَّذِيْنَ اِنْ مَكَّنُّهُمْ فِي الْأَرْضِ اَقَامُوالصَّلُوةَ وَ اتَّوُ الزَّكُوةَ |

i.e. the basic responsibility of the Islamic State will be to provide **Zakaah** to others. The duty of an Islamic State would be to provide "الزَّكُو³" (*zakaah*). It will provide sustainable means of growth (both aspects as mentioned above) to all in their society and the mankind at large.

At another place *momins* are defined as:

| 23:4 | Those who strive for <i>zakaah</i> (development and growth for the mankind). | هُمْ للزَّكُوةِ فَاعِلُوْنَ |
|------|--|-----------------------------|

Now the question that comes to our mind is, how will the Islamic State fulfill this huge obligation? It is obvious that to fulfill this responsibility all means of production must remain with the state so that it can distribute sustenance according to people's needs. Secondly, the individuals keep open (available) all that they earn above their needs, so that the state can take whatever and whenever it finds necessary for the provision of this collective responsibility. For this purpose, the Quran has not fixed any amount, all that is intended is to fulfill the need, so much so that it has been said that anything and all above one's needs can be handed over to the state (2:219). Seen from this angle, the entire income of such a state is geared towards this mentioned prosperity, or fulfilling the needs of society's individuals.

However, an Islamic \system can only be established gradually and in defined stages. Until the time that it shapes up completely, individuals will give, as in today's governments, voluntary donations and income taxes will also be imposed. The Quran has used the term "صدقات" (*sadaqaat*) for them. Commonly we believe "مدقات" (*sadaqaat*) and "زكوٰة" (*sadaqaat*) to have same meaning, so much that the avenues of spending of "مدقات" (*sadaqaat*) by the Quran (9:60) are also taken to be avenues for spending "زكوٰة" (*zakat*), but the Quran has used these terms in different contexts.

It is obvious from the discussion so far that these are not simply individualistic issues according to the Quran but these are the departments of the Islamic State. Whatever one gives individually to help a fellow human beings will be charity. In an Islamic State, ultimately there is no need of individual charity because it becomes the duty of the state to provide for every ones needs which includes both aspects of self-development. Whatever the Islamic State takes is not a state tax and "زكون" (*zakat*) is not Allah's tax as explained next.

This dualism of God and the sovereign is a product of Christianity, not of the Islam as revealed in the Quran. There is no place for this dualism whatsoever in Islam. In a state which is established for following Allah's Laws, everything that is given to the Islamic State is given to Allah. For details see headings (*R-B-B*), (*N-F-Q*) and (*Sd-D-Q*).

| III Sulai | An-1 vujum the Quian declares. | |
|-----------|--|---|
| 53:32 | do not decide on your own that your Self (Nafs) has been | فَلَا تُزْكُوْا أَنْفُسَكُمْ هُوَاَعْلَمُ بِمَن اتَّقْى |
| 53:32 | purified, He knows who is righteous (as per the Quran). | فالر فرقوا العشائم مواحلم إمن العلى |

In Surah *An-Najam* the Quran declares:

| The criterion | is explained | in the Quran: |
|---------------|--------------|---------------|
| | | |

| 92:18 | he who gives his wealth for the development of others, has his Self-purified | ٱلَّذِيْ يُؤْتِيْ مَا لَهُ يَتَزَكِّي |
|-------|--|---------------------------------------|
| 92:5 | he who gives and thus attains righteousness (taqwa) | مَنْ أَعْطَى وَاتَّقَى |
| 92:7 | for him the path (of life) becomes easy | فَسَنُيسِّرُهُ لِلْيُسْرَى |

"الزُلْفَة" (*az-zalaqu*), "الزُلْفَة" (*zulfa*), "الزُلْفَة" (*zulfa*): nearness, rank or grade.

(*az-zulfah*): the part (long or short) of the initial or later night. The plural is "زُلُفٌ" (zulaf). (al-mazalif): steps, which take a man closer to his objective. This term has both connotations of nearness and stages or grades in the achievement of an objective. "تَرَجَّن (darajah) also means steps which take a man upwards.

"زَلَفَ اللَيْرِ" (zalafa ilaih): he came closer to him.

"أَزْلُفَهُ" (azlafah): brought him closer, gathered him.

Ibn Faris says it basically means to go forward in order to be closer. **Raghib** says that "زَلَفَ" (*zulaf*) means the stages of the night. *Kitabul Ashfaq* says (الزَلْفَةُ (*az-zulfah*) means stages.

The Ouran says:

| 34:37which brings you nearer to Us in stature | و باد |
|---|--|
| 54.57which of higs you hearer to US in statute | تُقَرِّبُكُمْ عِنْدَنَا زُلْفيٰ |
| 26:64 and We brought the others closer over there | وَأَزْلَفْتَا ثُمَّ الْاحَرِيْنَ |
| 11:114 both ends of the day and some parts of the night | اَقِمِ الصَّلُوةَ طَرَفَي النَّهَارِ و <mark>َزُل</mark> ُفاً مِنَ اللَّيْلِ |

Also see heading (D-L-K) and (Th-R-F).

Z-L-O زلق

(*zalaq*): 'تَرَلْقَ'' (*yazlaqu*) ''زَلْقَ'' (*vazlaqu*) ''زَلْقَ'' (*zalaq*) ''زَلْقَ'' (*zalaqa*): to slip, to waver, to move from one's place.

(*az-zalag*): smooth ground on which one may slip. Ground which has no vegetation and plants. "أَلزَ لْقَرَ" (az-zalgah): smooth rock. can also be mirror {T, R, M}.

Surah *Al-Kahaf* says:

| 18:40 | It can become a smooth and plain field which has | فَتُصْبِحَ صَعِبْدًا زَلُقاً |
|-------|--|------------------------------|
| 16.40 | no vegetation whatsoever (like a mirror) | فتصبغ صغيدا رتقا |

"أَزْلُقَ فَلَاناً بِبَصَره" (azlaga fulanan bibasirih): looked at him with sharp (angry) eyes, stared at him as if he will dislodge him from his place with his eyes {T, R, M}.

Surah *Al-Qalam* says about the non-believers:

| 68:51 | they see you as if they will dislodge you from your place (deter you) with their very looks | لَيُزْلِقُوْنَكَ بِٱبْصَارِهِمْ |
|-------|--|---------------------------------|
|-------|--|---------------------------------|

Z-L-L ز ل ل

"زَ لِيُّلٌ" (*zal*), "زَ لِيُّلٌ" (*zalil*), "مَزِلَّهٌ" (*mazillah*): to slip, to waver. (أَلْمَزَ لَمُّ^{*} (*al-mazillatu*)) (أَلْمَزَ لَمُ^{*}

"أَزَلْمْ" (azallahu): misguided him (2:36).

"اَلزَّلْمُ" (azallah): slip, to move from one's stance.

The Quran has used this word opposite "شَبَتُ" (sabat) in 16:94, which means stability, firm position based on principles.

Ibn Faris says any word in which there is a "J" (*laam*) after "J" (ze) has a connotation to move (from one's place). In mutual conversation the term is used to waver, to change one's opinion, or to make a judgemental error.

Raghib says "زَلَّة" (zallah) means a slip which is unintentional.

(*istazalla*): decide to persuade someone to move him away from his stance. (3:154).

"زَلِيْلْ" (zalil) also means to transfer from one place to another.

تَقَرْسُ زَبَّلَاءُ" (qausun zalla'u): the bow, out of which the arrow shoots with high velocity.

"زَلْزَلَة" (zalzalah): means to move or shake something very fast, or move it from its location {T}.

"زَلْزَالاً"، (zalzala), "نَالْزَلْدَ"، (yuzalzil), "زَلْزَلَةَ"، (zalzalatu), "نَارَلْزَالاً"، (zilzala): shook it {T}.

| 99:1 | When the earth is shaken to its convulsion | اِذَا زُلْزِلَتِ الْأَرْضُ زِلْزَالَهَا |
|------|--|---|
| | | |

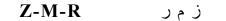
ز ل م Z-L-M

"الَزُّلُمُ" (*az-zalam*), "الَزُّلُمُ" (*az-zulam*): the wooden part of the arrow which does not have feathers at its tail. Plural is "أَزْلَامٌ" (*azlaam*).

Ibn Faris says it basically means to be slim and smooth.

"أَوْ لَأَمْ" (*azlaam*) also means the arrows which the Arabs used in the period before Islam to carry out predictions or to foretell fate. Three arrows were used to be put into a bag. On one they used to write "لَقْعَلْ" (*if'al*) which means do, on the other "لَقْعَلْ" (*la taf'al*), which means don't, and the third one did not have any writing. When a man intended to do something, he used to come to the priest and asked him to find out whether he should carry out what he intended to do. Thereupon the priest, as per his practice, used to take out one arrow and tell him according to what was written on the arrow. If the arrow without writing was picked then they would pick again. Some people used to carry such arrows and used them when the need arose $\{T, M\}$. These arrows were also used for making draws and to divide the meat of the animals, in gambling (5:3). For draw see heading (*Q-L-M*).

The Quran stopped all these practices, because in this way individuals instead of deciding according to their intellect and understanding leave themselves at the mercy of pure chance. Such practices bring them down from the level of the stature of humanity and consign them to the world of pure chances. The Quran helps man to develop his intellect, insight and understanding and teaches him freedom. Thus it prevented him from all of this which stultifies his intellect and his freedom of choice. The Quran gives him full freedom (while remaining within the bounds of Allah's laws) to exercise free will for deciding about his individual and collective affairs. However, without the guidance of the Quran the human condition has deteriorated to such extent that gambling has become common and is providing the basis of the capitalist system. Nations which are on the downfall not only give up their efforts but also leave the exercise of their intellect and reason and suffer the consequences as a result. A *momin* knows fully well that he is a living being, not a dead star. He does not depend on chances or coincidences, but acts within the permanent values and makes them subservient to his will.



"زَمْرِ" (*zamr*): sound.

أَلْمِزْمَارُ، "أَلْمَزْمَارُ» (aza zammaratu), "أَلْمَزْمَارُ» (al-mizmaar): flute.

"زَمَرَ" (zamara), "زَمْرَ (yazmuru), "زَمْراً" (yazmuru), "زَمَرَ" (zamara). تَرْمُر " (zamara). to play the flute.

"زُمْرَة" (*az-zumrah*), the plural of which is "زُمَرَ" (*zumar*), means scattered army or party, because all groups produce scattered sounds or noise $\{T, M\}$. This word is also used for gathering a group together by through blowing a bugle producing a high sound.

Raghib says it means a small party *{R}*.

The Quran says:

| The Zulu | ii buyb. | |
|----------|--|--|
| 39:71 | Those who reject the guidance will be led to hell in | وَسِيْقَ الَّذِيْنَ كَفَرُوْا الٰي جَهَنَّمَ <mark>زُمَرً</mark> ا |
| 37.71 | groups. | وسِيق الدِين هُرُوا اِلَى جَهْنَمُ رَمَرًا |

The word "زَمَرَ" (*zumar*) seems to connote small groups *{RIbn Faris* says it has two basic meanings. One is the paucity of something and the second is sound.

"لَنَّ مِيْلُ" (*az-zameel*) is a man who sits atop a camel. It also means a companion who helps in arranging affairs before and during traveling.

"زَمَلَرُ" (*zamalahu*), "يَزْمِلُهُ" (*yazamiluhu*), "زَمْلاً" (*zamla*): he made him ride behind him or made him sit on the (camel's) howdah beside him.

"أَلْزِّمْلُ (*az-ziml*): load.

"ازْدَمَلَ الحِمْلَ» (*izdamalil himl*): he lifted the entire load in one go.

"أَلْمُزَامَلَة" (*al-muzaamalah*): for riders of the same weight to ride a camel on both sides or to load the same type of loads for balancing on a camel.

There are usually two riders on a camel. On longer journeys, people who sit together on a camel, are usually of similar weight, and also compatible to each other with similar outlook to life. The reason for this is that if their weights are quite different then the camel will feel uncomfortable due to unbalance. If they do not have a psychological harmony the journey will be very uncomfortable for both of them. The leader of a caravan should be the one who is sensible and capable of selecting compatible companions in the journey from all respects.

When the Quranic system was revealed to the Messenger (*pbuh*), the most important duty before him was to adopt "زَمِيْلاَنَه" (*zammeelana*), that is, to select companions who were psychologically in tune with the message, because such a great system's success depended on selecting the right individuals. This was the duty towards which his attention was drawn by saying "يَا الْمُزَّمَّلُ" (*ya ayyohal muzammil*) in 73:1. Thereafter "تَزْمِيْلُ" (*tazmeel*), i.e. the selection of companions, carried out by the Messenger (*pbuh*) is unmatched in human history till now.

"زَمَنَ (*izdamal*), "تَزَمَّلَ (*izdamal*), "تَزَمَّلَ فِي ثِيَابِہ" (*az-zammala fi siyaabehi*) also means that he got himself wrapped in his clothes. Hence "اَلْمُرَّمَّلُ" (*al-muzammil*) could also mean someone who is careless in his affairs and is slack in his work {*R*}. Obviously in "يَا أَبْبَاالْمُزَمَّلُ" (*ya ayyohal muzammil*), this meaning cannot be taken although it is a matter of surprise that a high caliber linguist like *Raghib* has said that it this term is used allegorically and means, who are careless in their affairs and slack in their work {*R*}.

Ibn Faris has written that this root basically means one who bears the load. He also mentioned that "الْذُ مَيْلُ" (*az-zumayl*) could be a person who when faced with difficulties wraps himself tightly in his clothes and becomes like a 'bundle' of clothes.

"أَلْمُزَامَلَةً" (*al-muzaamala*) means to load a camel with equal weights on both sides. This way, "أَلْمُزَامَلَةً" (*al-muzaamail*) would mean one who is very careful and is keen in carrying out this task. "تَرْمَيْلَ" (*tazmeel*). "أَلْمُزَامَلُةً" (*al-auzammil*) also means load and "إِزْدَمَلَ الْحِمْلُ" (*izdamalil himal*) means that he loaded the entire load at once *{T}*. From this aspect "مُزَمَّلٌ" (*muzammil*) would be he who accepts and bears the responsibility which is incumbent in following the Message.

Kashaf says with reference to *Akramah*, that "يا ٱلْمُزَمِّلُ" (*ya ayyohal muzammil*) means "O you who bears a great burden of responsibility"

Tafseer Rooh Al-mu'aani says it means the bearer of the burden of the Message and its responsibilities. **Tafseer Khazin** also supports this. **Tastari** says in his book that "الْمُزَمَّلُ" (**al-muzammil**) is one who has adopted the attributes of Allah (this defines the highest scale in forming companionship with Allah to establish the Islamic System with a view to solve human problems).

Tafseer Fatahul Qadeer (Shokaani) says it means "مُزَمَّلٌ بٱلْقُرآن" (*muzammilu bil Quran*) i.e. one who takes on himself the responsibilities defined within the Quran. One who takes all guidance from the Quran.

Qurtabi has also supported these meanings and has attributed his interpretation to **Abbas (RAH)**. To conclude, when the Messenger (**pbuh**) was called "يَايَّبُ الْمُزَمَّلُ" (**ya ayyohal muzammil**), it was a reference to his great responsibilities as a messenger, the purpose of which was to bring a great revolution for the good of mankind with the willing assistance of a group of **momineen**.

Some think that "مُتَزمَلٌ (*muzammil*) is a word which has originated from "مُتَزمَلٌ (*mutazammil*).

زمەر Z-M-He-R

(*az-zamharir*): intense cold. It also means the moon {*T*, *M*}. (*az-zamharir*): intense cold. It also means the moon {*T*, *M*}.

(*iz meharral yaum*): the day became very cold. "اِزْمَبَرَ الْيَوْمُ

(*iz maharral wajah*): the face was badly distorted and the teeth were visible. "اِزْمَبَرُّ الْوَجْ

The Quran says about *jannah*:

| كَايَرَوْنَ فِيْهَا شَمَّساً وَّلَا زَمْهَرِيْراً there will not be intense cold or intense heat |
|--|
|--|

" اَلْمُزْمِبُّر" (*al-muz mahirru*) means a man with 'smiling' teeth *{T, M}*. This is probably taken from the chattering of teeth in intense cold.

Ibn Faris says it is possible that this word is based upon "زَبْرُ" (*zahr*) with an additional "م" (*meem*). "زَبْرُ" (*zahr*) means to sparkle, shine.

"الْنُمَبَرَّتِ الْكُوَاكِبُ" (*izmaharratil kawakib*): the stars sparkled. When it is winter or cold weather, stars appear to sparkle brighter.

زنجبيل Zanjabeel

"لَنَزَنْجَبِيْلُ" (*az-zanjabeel*): ginger. The Arabs used the term to define something which possess very fragrant smell *{T*}.

Muheet thinks that it was originally a Persian word "shankabeel" which got adopted in Arabic.

The Quran says:

| 76:17 | it will be a mixture of ginger | كَانَ مِزَاجُهَا زَبْحُبَيْلاً |
|------------|--------------------------------|--------------------------------|
| For detail | s, see heading (M-Z-J). | |

زنم **Z-N-M**

Ibn Faris says "تَرْنُم" (*zanam*) basically means to hang a thing onto another, to latch onto another thing.

"الزَّنِيْمُ" (*az-zaneem*): a man who does not belong ancestrally to a tribe but is attached to the tribe *{T}*. "زَنَمَتَاالْعَنْزَ" (*zanata-lghuz*): a phrase which refered to two tit like things hanging from a goat's neck.

Ancestral lineage had great importance within the Arabs. This obviously had a consequence for a man who was not from a tribe i.e no descendant lineage or of unknown lineage but was living within a tribe, was consigned to a demeaning position.

From this "النَّزَنِيْمُ" (*az-zaneem*) was referred to an individual who was known for being mean and wicked *{T}*.

 $\{T\}$. (*az-zunmah*): a tree which has no leaves $\{T\}$. The Quran has used the term "زَنِيْتُ" (*zaneem*) in 68:13. "زَنَىٰ" (*zana*), "زَنَىْ" (*yazni*), "زَنَاءً" (*ziniyan*), "زَنَاءً" (*zina*): fornication {*T*, *R*}. It means to have sexual intercourse without marriage.

| 17:32 | do not go near <i>zina</i> | وَلَاتَقْرَبُوْا الزِّنِي |
|-------|----------------------------|---------------------------|
|-------|----------------------------|---------------------------|

This means, not only stay from from *zina*, but do not even approach anything that has anything to do with *zina*.

Surah *Al-Furqaan* says:

| | ······································ | |
|-------|--|------------------|
| 25:18 | do not commit <i>zina</i> | وَلَا يَزْنُوْنَ |

"ألز أليَّ (*az-zaani*): a man who commits *zina*, "ألز أليَّ (*az-zaniyah*): a woman who commits *zina*. Each of them are to be lashed a hundred times as a punishment (24:2) within an Islamic State, as an exception if a married who was a slave in the past, (according to the customs prevalent in the pre-Islamic era) then the punishment is halved (4:25). This is because it is possible that a slave girl who has been brought up in an environment of low morality, may not show same level of character and conduct as a girl of good and strong upbringing. This serves as an indicator that how profoundly the Quran views moral conduct of human beings and takes into account the environmental factors which shape human personality and thus makes appropriate allowances. It must be noted that the Quran eliminated the institution of slavery once for all. Details can be found under the heading (*M-L-K*).

This should be noted that the punishment of stoning to death (or *rajm*) is not stated anywhere in the Quran.

This aspect has been done extensively researched in our times as to what effects sexual affairs have on the rise and fall of nations and to what extent the nations which do not respect the celibacy (before marriage) of its people descend low in character socially and morally. Anyone having an interest in this subject can refer to the book titled "*Letters to Saleem vol. III*".

زەد Z-He-D

"زَبْنَا" (*zahad*), "زَبْنَا" (*zahad*), "زَبْنَا" (*zuhda*): not to have a liking to something, turn away in dislike $\{T\}$, to avoid something, or to keep a distance $\{T\}$. The verb is "زَبِنَا" (*zahid*).

| 22:20 they did not have much interest in <i>Yusuf</i> | وَكَانُوْا فِيْهِ مِنَ الرَّهِدِيْنَ |
|---|--------------------------------------|
|---|--------------------------------------|

"اَلْزَبِيْدُ" (*az-zaheed*): little and insignificant {*T*}.

"الزَّابِذَ" (*az-zaahidu*), "الزَّبِيْدُ" (*az-zaahidu*): impolite man, somone with ill manners, or someone who eats little *{T*}.

Ibn Faris says it means the paucity of something, Something in short supply. *Muheet* says that ''تُرَبَّنْ'' (*zuhd*) means to stop taking interest in in something. Cease liking something.

The term "زَايَدٌ (*zuhd*) or "زايدٌ" (*zahid*) commonly used in the Indian Sub continent in relation to e.g. mysticism or sufisim does not appear anywhere in the Quran. This is a term of *tasawwuf (mysticism)* in which giving up necessities and responsibilities of this world has great significance. This concept is against the Quranic teachings. *Tasawwuf* itself is an alien as far as the Quranic teachings are concerned. According to the Quran, a believer has a responsibility to bring natural forces under human control for the

benefit of the mankind as a whole and enjoy the pleasures of this life within the values defined and explained in the Quranic. The Quran pronounces in no uncertain terms to challenge those who declare the bounties of this world which Allah has created for the benefit of mankind as forbidden (7:42). A *momin* only avoids those things which Allah has specifically forbidden otherwise he brings all other things of this world into use and benefits from them.

زەر Z-He-R

"أَلزَّبُرَةُ" (*az-zahrah*), "الزَّبَرَةُ" (*az-zahrah*): plant, or flower. Some say it is a flower in blossom. "الزَّبُرَةُ مِنَ الدُّنْيَا" (*az-zahratuh minad duniya*): the scenic views e.g. greenery, water, hills, etc in the world. Beauty and splendour, the means of adornment (20:131). "الزَّبُرَةُ" (*az-zuhrah*): whiteness {*T*}, beauty, brightness.

"اَلزَّبْرِيَّاتُ مِنَ الْأَيَّامِ" (az-zahriyyaat minal ayyam): the spring season {M}.

Ibn Faris says that the basic meanings of this word are beauty, light, and cleanliness.

زەق Z-He-Q

Muheet says "زُبُوْقٌ" (zuhuq) means to come out/exit with difficulty.

"زَبَعَت النَّفْسَ" (*zahaqatin nafs*): he died with difficulty (that is he breathed his last with difficulty). "زَبَعَت النَّفْسُ" (*az-zahiq*): plump animal, also an animal which is very weak. The word can have opposing meanings.

"لَازَبُوْنَ" (*az-zahuq*): means deep well and also used for the path between two lofty mountains {*T*}. Whether with difficulty or ease, it means for something to exit {*T*}.

Ibn Faris says its basic meanings are to move forward, to pass away, or to surpass.

تَزَبَقَتِ الرَّاحِلَةُ زُبُوْقاً (zahaqatir rahilatan zahuqa): the she camel overtook the horses.

َزَبَقَ السَبْمُ زُبُوْقاً (zahaqas sahmu zuhuqa): the arrow went past the target.

"زَبَقَتْ نَفْسُمَ" (zahaqat nafsuh): he died {T}.

"تَرْبَقُ ٱنْفُسَهُمْ" (tazhaqu anfusahim): they died (9:55).

"أَلزَّ ابِقُ" (*az-zahiqu*): a defeated man {T}.

"اَلْمُرِبَقَ" (al-murhaquthe murdered one.

تَزَبَقَ الشَّىٰءُ (*zahaqas shaiyi*): something was destroyed, or was ineffective {T}.

The Quran says about falsehood (batil):

| 21:18 | every concept that is against the truth (<i>haqq</i>), creates destructive results and remains unsuccessful (gets defeated) | فَإِذَا هُوَزَاهِقٌ |
|-------|---|--|
| 17:81 | and say that truth (<i>haqq</i>) has arrived and falsehood (<i>batil</i>) is banished. In reality falsehood (by nature) is bound to parish. | وَقُلْ جَاءَ الحُقُّ وَزَهَقَ الْبَاطِلُ _ اِنَّ الْبَاطِلَ كَانَ زَهُوْقاً |

In fact, *batil* is destined to be banished. Here "تَرَبُوْنَ" (*zahuq*) means the same as "تَرَبُوْنَ" (*zahiq*) but with some exaggeration. *Batil* stays only till *haqq* (Allah's constructive program) does not arrive. Once it comes, *batil* gets defeated and wiped out. It does not have the ability to stay in when confronted by *haqq*. For more details see headings (H-Q-Q) and (B-Te-L).

"أَزْبَقْتُ الإِنَاءَ" (azhaqatul inaa): I turned the pot over {T}.

Raghib says "زَبَقَتْ نَفْسُمُ (zahaqat nafsuhu) means he died due to sorrow and grief {R}.

"زَوْخَ" (*zauj*): Two things which are compatible with each other e.g. a pair of shoes. "زَوْجَان" (*zaujaan*): Or two things which are opposing each other e.g. day and night. In both cases, each one of them is called the other's "زَوْخَ" (*zauj*).

َزَوْحَ" (*zauj*) actually means someone who makes a combination or pairs with someone else, either in similarity or opposite.

َنْ وَأَحَ اللسَّنَىَّٰ بِالسَّنَىَّٰ بِالسَّنَى عَنْ (*zaujash shaiya bish shaiyi*): he paired a thing with something like similar to it. وَإِذَا النَّفُوْسُ رُوَجَتُ' (*wa izan nafusu zuwwijat*): when every person will meet his companions and counterparts (81:7).

| 44:54 | they will be made companions with <i>Hoor'een</i> | 10 |
|-------|---|------------------|
| 44.34 | (Companions with high intellect) | روجياهم بحور عيي |

For the meaning of "حُوْرٌ" (hoor) see heading (H-W-R).

Lane says that everything of a homogenous variety is called "أَزْوَاجٌ" (azwaaj).

| 37:22 | gather the oppressive parties and their ilk | ٱحْشُرُوْا الَّذِيْنَ ظَلَمُوْا وَ أَزْوَاجَهُمْ |
|-------|---|--|
|-------|---|--|

With regards to the dwellers of *jannnat*, it is delared:

| j | |
|---|------------------------------------|
| 4:57 Therein shall be <i>azwaaj</i> with pristine int | كَمُ فِيْهَا أَزْوَاجٌ مُطَهَّرَةٌ |

Here it does not only mean virtuous wives or husbands, but also companions with the same pure thoughts. In a heavenly society (*jannah*), there is existence of virtuous thoughts. Note that this heavenly society will be formed in this world. Here the relationship between husband and wife will include the responsibility of progeny as well. But such a concept of man and woman is not found in the Quran and the companionship in the hereafter will not be for progeny. This will be based on companionship; however, we cannot understand the nature of this at our present level of understanding and existence. The Quran has explained the hereafter concepts allegorically.

Because of these meanings, the species of everything is called *zauj* {Lane}.

"أَزْوَاجاً مِنْبُمَ" (*azwaaja minhum*): people who are of different kind but of the same species, or things of many kind but of the same type (20:131).

| 26:7 | We created different things of a good quality | كَمْ أَنْبَتْنَا فِيْهَا مِنْ كُلِّ زَوْجٍ كَبِيْمٍ |
|-------|--|---|
| 38:58 | similar types of various punishments | وَاَحَرُ مِنْ شَكْلِهِ أَزْوَاجٌ |
| 51:49 | We have created things which are zauj to one another, either similar or opposite | وَمِنْ كُلِّ شَيْءٍ خَلَفْنَا زَوْجَيْنِ |

For example the sky is the *zauj* of the earth. They together make a pair or a combination. Winter is the *zauj* of summer, and a shoe is the *zauj* of the other shoe. *Zauj* also means whose companion is unique. This word can be used for either one of them; however, for the combination, we will use "زَوْجَانِ" (*zaujaan*) {*Lane*}.

"تَزَاوَجَ" (*izdawaj*), "تَزَاوَجَ" (*tazawaj*): to make two parts go together; or words that rhyme; or for two problems to be related to each other.

"زَوْرَ جَنْ" (*zauj*) with plural "زَوْرَ جَنَ" (*azwaaj*) means companion or friend {Lane}. It also means either husband or wife. The husband is the "زَوْرَ جَنَ" (*zauj*) of his wife and she is the "زَوْرَ جَنَّ" (*zauj*) of her husband $\{T, M\}$. One complements the other. This is married (conjugal) life. The Quran has termed them each other's covering like a dress which covers the body. See heading (L-B-S). In verse 13:38, "أَزُوْرَاجَاً" (*azwaaja*) means wives.

تَزَوَّجْتُ اِمْرَأَةً.

As per the Quran, it will be suffice to say that the term "تَرَوَّجَ التَّرَوَّجَ التَّرَوَّجَ التَّرَوَّجَ التَّرَوَّجَ التَّرَوَّجَ التَّرَوَّجَ التَّرَوَّجَ اللَّوْمَ" (*tazawwajahun naum*) is used allegorically when one is in a blissful sleep {*T*, *M*}. The relationship of a married couple is like a blissful sleep which is a source of pleasure to both partners. See heading (N-K-H). The wives and husbands in a heavenly society on earth will also be pure of heart and soul and good companions in the journey of life extending beyond death to the next life. The Quran has described their characteristics in different chapters. As far as the heaven in the next life is concerned, as mentioned earlier and in detail under the heading (J-N-N) that we cannot comprehend it at our present level of understanding. Hence, we are unable to say what the condition will be there. We cannot deny the fact that a companionship based on similar values and interests is blissful in this life as the Quran has stated in (2:221).

زود Z-W-D

"ألزَّانُ" (*az-zaad*): something more than the present needs and which is saved for later time. $\{R\}$. It means food (provision), whether for the present or future, especially the food which is prepared for a journey $\{F\}$.

ألْمِزْوَدُ (*al-mizwaad*): tiffin carrier {T}.

زَوَتْنُهُ نَزْوِيداً" (zawwattuhu tazweeda): I gave him food for the journey.

"تَزَرَّدَ" (*tazawwad*): he took food along for the journey {*T*}.

The Quran says in respect of *Hajj*:

Ibn Faris says with reference to *Khalil*, that "تَزَوَّدَ (*tazawwad*) means to take something good from one place to another.

زور **Z-W-R**

"الزَوْنُ (*az-zaur*): the upper part of the chest where the bones confluence. It is also used for a visitor.

"زُرْنُه" (zartuhu): I bared my chest before him (confronted him).

"أَلْمَزَارُ" (*az-zaur*) and "أَلْزِيَارَةُ" (*az-ziyarah*), "أَلْمَزَارُ" (*al-mazaar*): to meet, to visit.

"الزَوَرَ" (az-zaur) also means the bent chest which leans on one side.

"أَلْأَوْوَلْ" (*al-azwar*): one who has a chest which is crooked or bent. One who leans his chest to one side more than the other while walking. One who looks from side of his eyes. The word means to lean to one side, as well as to move away from the right direction.

Ibn Faris says it means to lean to one side, as well as to move to onside.

It says in Surah *Al-Kahaf*:

| 10.17 | the sun moves towards one side of their cave | تتبايع مرة تحذفه ه |
|-------|--|--------------------|
| 18.17 | (i.e. does not shine directly into their cave) | فراور عن فهقِهِم |

تزَوَّرَ عَنْهُ» (*zawwar unhu*): he shifted or moved away from it.

"أَلْزُوْرُ" (*az-zuur*) means to tell a lie.

تَجَبْلُ لَمْ زُوْرٌ " (hablun lahu zuur): a rope with twisted fibres or threads {T, M, R}.

Surah *Al-Hajj* says:

| 22:30 | Avoid talk based on lies (traditional translation) | وَأَجْتَنِبُوْا قَوْلَ الْزُوْرِ |
|-------|--|----------------------------------|
|-------|--|----------------------------------|

The above verse actually means to avoid any act or deed which is not in line with the defined righteous path. Every thought and action one takes away from the righteous path "صراط مستقيم" (*sirat-e-*

mustaqeem), would fall under *"נ*נל" (*zuur*). Islam is a M ovement, which has a definite aim. Therefore, there is no room for *"נ*ננ" (*zuur*) in it. The next verse elaborates this:

| there is | no room for 535 (<i>zum</i>) in it. The next verse elaborates | 0 this. |
|----------|--|--------------------------|
| 22:31 | turn away from all other paths and move towards the path defined by Allah (i.e the Quran) | حُنَفَاءَ اللهِ |
| 22:31 | do not mix it with an outside thought, emotion, and preference | غَيْرَ مُشْرِكِيْنَ بِهِ |

This has also sated in Ssurah *Al-Furqan*:

| 25:4 | An injustice and a lie | طُلْماً وَزُوْرًا |
|------|------------------------|-------------------|
|------|------------------------|-------------------|

"كَلام مُزَوِّرٌ (kalamun muzawwar): fabricated talk and a pack of lies.

تَزَوَّرَ الشَّيْءَ" (*zawwarsh shaiyi*): to mix and garnish a matter with lies.

تَزُوْرُ" (*tazweer*) means to remove "زُوْرٌ" (*zuur*). Therefore it means to rehabilitate.

Ibnul Airabi says that "تَزُوِيْرُ" (*tazweer*) would be used when something is improved, whether it is good or bad *{T*}.

It also means to meet or to be confronted. It is used in 102:2:

| حتى زريم المعابِرُ until you reach your graves | 102:2 until you reach your graves | |
|--|-----------------------------------|--|
|--|-----------------------------------|--|

زول Z-W-L

"زَوَالاً" (*zaal*), "زَوَالاً" (*yazaal*), "زَوَالاً" (*yazaal*), "زَوَالاً" (*zawala*): for something to be lost, to change, to be depressed, to move to one side, to be removed, to go afar, to be parted, to desist.

The Quran has used this word opposite to "أَمْسَكَ" (amsaka) in 35:31, which means to prevent.

| | Verily Allah's law is holding the sky and the earth | 1 |
|-------|---|---|
| 35:41 | so that they do not move from their places | اِنَّ اللَّهَ يُمْسِكَ السَّمُوٰتِ وَالْأَرْضَ أَنْ تَزُوْلَا |
| | (do not leave their celestial places) | |

"زَيَّلَ" (zayyal): to separate {T, M, R}

| 2:217 | they will always be like this | لاَ يَزَالُوْنَ |
|-------|-------------------------------|---------------------------------------|
| 10:28 | We will separate them | <mark>فَرَيَّل</mark> ُنَا بَيْنَهُمْ |
| 48:25 | if they had separated | ڵۅٞؾڒؾؖڵۅ۠ٳ |

Raghib says "زَوَالَ" (*zawaal*) refers to the movement of something which is initially stable and later becomes unstable.

زى ت Z-Y-T

زَيْتٌ (zait): olive oil (24:35).

َزَ يَتُوْنَهُ (*zaitoonah*): an olive tree, or its fruit (24:35, 80:29) **{***R***}**. It is considered to be a very useful and beneficial plant **{***M***}**.

| The Qura | n says: | |
|----------|--|-------------------------------------|
| 95:103 | By <i>At-teen</i> and the <i>Az-zaitoon</i> and the <i>At-toor</i> | وَالتِّيْنِ وَالزَّيْتُوْنِ وَطُوْر |

Here "نَالزَّيْتُوْنَ" (*az-zaitoon*) means a mount named "زيتا" (*zita*) in Palestine. *Lataif-ul-Lugha* has mentioned it as *Jabalash sham*. *Isa* or Jesus was born there, and "الَذَيْتُوَنَ" (*at-teen*) is the place where *Noah* received his Message. The Quran has said that messages towards *Noah's*, *Isa*, *Moosa* and *Muhammed* (*pbuh*) are from Allah. These are the divine invitations towards the establishment of Allah's social order and to educate mankind about the ultimate truth.

| Indeed We created the Man | لَقَدْحَلَقْنَا الْإِنْسَانَ |
|---------------------------|------------------------------|
| | Indeed We created the Man |

زىد Z-Y-D

"زَيْدُ" (*zaid*) means to develop, be nurtured, to grow and blossom, to increase, to flourish.. "زَيَدَهُ اللهُ خِبْرِاً" (*zayyadahu*) means to give more or to increase {*T*}. (*izdiyada*), "زَيَدَا" (*izdiyada*): to grow more, or to produce more {*M*}.

Surah *Ar-Raad* has used "الْزُدِيَالَّ (*izdiyaad*) opposite to "غَيْضَنَّ (*ghaiz*) in 13:8, which means to decrease, or go inside, or to be absorbed.

Surah **Yunus** has used the word "زِيَادَةَ" (*ziyadatun*) in 10:26, while "نَزِيَادَةَ" (*mazeed*) has been used in 50:35, which means the addition that is made after something has been completed.

Surah Aal-e-Imran says:

| 3:89 grow more (increase) in denial. | ثُمَّ ا <mark>زْدَا</mark> دُوْ اكْفُراً |
|--------------------------------------|--|
|--------------------------------------|--|

Surah *Al-Ahzaab* has mentioned *Zaid* in 33:37. This is the only companion of the Messenger (*pbuh*) who has been mentioned in the Quran. He was the son of *Harasa* and the Messenger's beloved servant and adopted son. He was married to the Messenger's cousin *Zainab*.

For the meaning of "الزَّاد" (*az-zaad*), see heading (Z-W-D).

زىغ Z-Y-Gh

"زَيْغ[َ]اً: (*zaagh*), "نَزَيْغ[َ]َّا), (*yazeegh*), "زَيْغ[َ]اً: (*zaigha*): to lean to one side. "زَاغَب الشَّمْسُ" (*zaaghatis shams*): the sun commenced setting *{T*}.

Raghib says that although "تَالَا" (*zaal*), "تَالَا" (*maala*), and "تَالَا" (*zaagha*) express almost the same meaning, but "تَالَا" (*zaagh*) means to move away from the right path towards the wrong direction {*T*}.

Muheet with reference to the procedure has explained that wherever the Quran has used the word "زَيْنَ (*zaigh*), it means to lean to one side, except when it says "زَاغَتِ الْأَبْصَارُ" (*zaaghatil absaar*) which means the eyes to be opened wide, or to remain open (in amazement) $\{M\}$.

The Quran says:

| 61:5 | When they diverted from Allah's guidance, the law of Requital made them lean towards that very path. | فَلَمَّا زَاغُوًا أَزَاغَ اللَّهُ قُلُوْبَهُمْ |
|------|--|--|
| | Jean State | |

This verse reveals a great truth. Generally it is said that guidance or going astray is controlled by God (is in His hands). He can guide whoever He wishes and lead astray, whomever He wishes. He seals the hearts of those who are to be led astray etc. This concept is completely against the teachings of the Quran and the Law of Requital. The Quran declares that man is created with the freedom to act as he chooses, he decides for himself whether to go on the right path or otherwise. The type of decision makes him subject to the corresponding laws. If he takes the wrong path then all his abilities get utilized in traversing the wrong path and are wasted.

| 51:8 | only he who wants to turn away from the right path gets turned away | يُؤْفَكُ عَنْهُ مَنْ أَفِكَ |
|------|---|-----------------------------|
|------|---|-----------------------------|

It is not Allah's Will to coerce someone to adopt the right path if he wants to take the wrong path, or if a man wants to stay on the right path then he is not turned away from it. Only those who wish to follow the crooked ways have their hearts turned away from the truth. By virtue of possessing a free will the initiative is in man's own hands. Allah's laws help a person according to his own choice and decision to act – freedom to choose is at the heart of human functioning and with this comes the responsibility. For exmample, it is Allah's law that if we close your eyes, it will become dark for us, but if we open our eyes, we will be able to see in the light.

In Surah *An-Najam* with reference to the Messenger (*pbuh*):

| 53:17 | your sight has neither moved away from the truth nor has it crossed the limit. | مَا زَاغَ الْبَصَرُ وَمَا طَغْي |
|-------|--|---------------------------------|

Here "مَاطَغُى" (*ma tagha*) has made it clear that although a messenger's knowledge of the revelation is far greater than any other human being, it is still limited in comparison to Allah. It can't cross the limits set for it by Allah.

In Surah *Saba*:

| 34:12 | if any of them turned away from our command order | وَمَنْ يَرِغْ مِنْهُمْ عَنْ أَمْرِنَا |
|-------|---|---------------------------------------|
|-------|---|---------------------------------------|

"زَاغَتِ الْأَبْصَارُ" (*zaaghatil ansaar*) has been used at the times of chaos during a collective punishment (33:10). It either means that at times of fear, one's eyes do not stay at one point, or as *Muheet* says, it means that the eyes remain lifted (out of fear or bewilderment). In any case, the purpose is to describe a state of fear.

"زَيْخَ" (*zaigh*) has been used to describe the change in one's opinion towards someone (38:63). Its meaning is given as being crooked, and lean towards falsehood (3:9). That is, instead of concentrating and be stolid on a point described by the Quran, move away hither or thither, to turn somewhere else, to follow one's wishes, desires and wishes. This is a very risky attitude; the right path is that which is defined by the Quran, irrespective of what what our hearts and minds wish.. What the Quran says is the truth, not what our leanings are. Anyone who goes to the Quran with preconceived ideas and with the intention of getting support for those ideas, can never find the right guidance.

To get the right guidance from the Quran, the mind must be free from all the preconceptions and preconceived beliefs. This is the reason that the Quran has described "زَفِيْنَ" (*zaigh*) as the opposite of guidance (3:7). For more details see heading (H-K-M).

زى ل Z-Y-L

See heading (Z-W-L).

زىن Z-Y-N

''الزَّيْتَ'' (*az-zeenah*): the thing which is used to adorn something. Some say that something to be perceived by someone as beautiful is also called ''زَيْنَةُ'' (*zeenah*).

"نَايَنَ" (*zayyan*): to adorn something, to make something appear more beautiful, this also covers flattery *{T*}.

Iblees declared:

| | I'll make the earthly life appear so attractive (to men that they will | |
|-------|--|---------------------------------------|
| 15:39 | decide to make it their destiny) | لَأُ زَيِّنَنَّ لَهُمْ فِيْ الْأَرْضِ |
| | (the concept of life will be materialistic) | |

(*iz-zayyan*): to be adorned or beautified (10:4).

| 20:60 | the day of adornment | يَوْمُ الرَّيْنَمِ |
|-------|----------------------|--------------------|
|-------|----------------------|--------------------|

Then about *Bani Israel* the Quran quotes:

| 20:87 | those things with which people of the community used to adorn themselves | أوزارًامِنْ زِيْنَمِ الْقَوْمِ |
|-------|---|--------------------------------|
| 7:148 | their jewelry | ڂڸؾؚۨؠ |

The Quran not only takes into account the utilitarian aspect of utilities but also considers the aesthetic aspects. That is why it not only allows us to add beauty to ourselves and to our environment but goes a step further by directing us to do so.

| 7:31 | Adopt beauty and adornment while following Our laws | خُذُوْا زِيْنَتَكُمْ عِنْدَكُلِّ مَسْجِدٍ |
|------|---|---|
| | laws | |

The Quran declares: by saying:

| 7:32 | Say: who has forbidden the beautiful bounties of | ماريا خيري الله الله من من من الله الله الله الله الله الله الله الل |
|------|--|--|
| 1.32 | Allah which He has produced for His servants? | قُلْ مَنْ حَرَّمَ زِيْنَمَ اللَّي الَتِيْ أَحْرَجَ لِعِبَادِهِ |

This is for all to use:

| 18:7 | That which is on earth We have made it attractive | إِنَّا جَعَلْنَا مَاعَلَى الْأَرْضِ زِيْنَمٌ لَّيَا |
|------|---|---|
| 18.7 | and beautiful | الما جعلنا ماعلى الأرض ريتم ليا |

Nothing is forbidden on this earth; however, it must be borne in mind that the pursuit of these things should not become the sole purpose of life (18:46). These should be used for helping in achieving the real purpose of life. In short, there is no harm in enjoying the adornments of life, but whenever there is clash with the laws mentioned in the Quran, those adornments and attractions should be sacrificed for upholding the Quranic values. This is the crux of the Quranic teachings and the main aim of Islamic System(*Deen*).

For example The Quran has directed (in the context of veil) that when men and women go about outside they should lower their gaze and guard their modesty (24:30-31) and the women should:

| ine j bilet. | | |
|--------------|--|---|
| 24:31 | Not display their beauty and ornaments except of | المورية المراجع |
| 24.31 | which appears naturally | لَا يُبْدِيْنُ زُيْنَتَبُنُّ اللَّا مَاظَيَرَ مِنْيَا |

Here adornments mean things which women use for beautification, for instance jewelry etc. This seems to be supported by the next part of the same verse where it is said:

| | they should not step hard on the ground so | |
|-------|--|--|
| 24:31 | whatever they are hiding among their adornments is | وَلَا يَضْرِبْنَ بَاَرْ جُلِينَّ لِيُعْلَمَ مَايُخْفِيْنَ مِنْ زِيْنَتِيِنَّ |
| | made obvious | |

By stepping hard on the ground, the jewelry like anklets make a sound and draw attention, as far as the adornment of the upper part of the body is concerned, it is advised that they should cover their body with

shawls (24:31) or put on "جلباب" (*jalbaab*) (33:59) which is the same sort of cloth as a longer and wider overall. This means that they should not exhibit the things of their adornment, although if it is done in front of men in their household then there is no harm (24:31).

Sexual attraction and urge are not like the pangs of hunger which arouses at its own as and when body needs it. This emotion is aroused on instigation and by thinking about it. The Quran directs us to stop those causes which lead to provoking such thoughts and consequently cause arousing this urges. One of the biggest instigations is by women to exhibit their adornment and provocative turn out in front of other men, and this what is forbidden by the Quran.

This letter appears in the beginning of "حرف مضارع" (*harf muzaarih*) which is such a verb that contains connotations of both future and present tense. But when it appears at the beginning of a word, the sentence is considered to only be about future. As for example "سَيَفُعْلُ" (*sayaf`al*) means that he will work.

It normally means near future tense, but near or distant future does not matter. Some say that it can also hold the meaning of infinity.

| 2:142 | These misguided will continue to say that | سَيَقُوْلُ السُّفَهَاءُ |
|-------|---|-------------------------|
|-------|---|-------------------------|

Some even say that when it appears with some verb which refers to some promise or commitment, then it holds the meaning of stressing on an issue.

| 2:137 Allah will surely be sufficient for you against them | فَسَيَكْفِيْكَهُمُ اللَّهُ |
|--|----------------------------|
|--|----------------------------|

سأل S-A-L

نسَأَلْتُمُ الشَّيْءَ" (saaltuhush shaiya): I asked him for a thing.

يَسَأَلُتُهُ عَنِ الشَّيْءِ وِبِ." (sa altuhu unish shaiyi wabehi): I enquired from him about something.

- (*sulah*): met the need in question. "سُوْلَهُ" (sulah): met the need in question.
- "أَلسَّاءِلُ" (as-sa'il): one who requests for something, needy {T}.
- "أَلْمَسْأَلَّة" (al-masa latah): need, necessity {M}.

The Quran declares:

| 93:10 | Do not scold the needy (thinking him to be lowly) | أَمَّا السَّاءِلَ فَلَا تَنْهَرْ |
|-------|--|---|
| 55:29 | Everything in the universe is asking God to fulfil its needs. (everything is dependent on his system of sustenance for its development) | يَسْتَلُهُ مَنْ فِي السَّمٰوٰتِ وَالْأَرْضِ |

In Surah As-sajdah in reference to land and its produce:

| 41:10 | it should be kept open (or available) for all needy | سَوَاءً للِسَّاءِلِيْنَ |
|-------|---|-------------------------|
|-------|---|-------------------------|

Since land is the main source of human sustenance, it should be freely available to all. This is the purpose of the creation of the earth. It is not the purpose that some should put barriers around the land and consider this to be their personal property. Allah has provided everything which is necessary for the sustenance of the human life.

| وَٱتْكُمْ مِنْ كُلِّ مَاسَأَلْتُمُوْهُ And he provided for you everything you had asked for |
|---|
|---|

This is part of His system of sustenance, and to consider it as means of nourishment for a particular class as a private property is a heinous crime.

It is also used as asking one another about some matter of mutual interest as used in surah *An-Naba*:

| 78:1 | About what are they asking one another? | عَمَّ يَتَسَاءَلُوْنَ |
|-------|--|-----------------------------------|
| 37:24 | who are questioned | مَسْئُوْلُوْنَ |
| 20:36 | Verily you are granted your request, Moosa | قَدْ أُوتِيْتَ سُؤْلَكَ يْمُوْسىٰ |

Here "سُوُلَن" (suul) means request, need, demand, or your demanded thing.

"سوال" (*sawaal*) or question basically means need or some necessity. When we question somebody, we are indeed demanding for some kind of an answer. The Quran has to be viewed carefully to determine the context in which it is used e.g. whether it means to demand or to question.

"مَسْنَمْ" (saim), "نَيْسْأَمُ" (yasaam): to become tired of something. "مَسْأَمَ" (asaama): he tired me out; he bored me $\{T\}$. Some say that "سَاَمٌ" (saam) also means laziness $\{M\}$.

| 41:49 | man does not get tired of desiring for wealth | لاَيَسْفَمُ الْإِنْسَانُ مِنْ دُعَاءٍ الْخَيْرِ |
|-------|---|---|
|-------|---|---|

This verse means that his demand is not just for fulfilling his needs but for becoming better than others, and thus his desires have no limits.

| 102:2 | till he meets his death | حَتَّى زُرْمُمُ الْمَقَابِرَ |
|-------|--|-------------------------------------|
| 2:282 | do not be tardy in writing down a loan agreement (do not be frustrated or tired of it). | وَلَا تَسْتَمُوْا أَنْ تَكْتُبُوْهُ |

It was the name of the capitol city of a state which in the times of *Suleman* was ruled by a queen. The Quran has referred to this nation, its state and about its queen (34:15, 27:22). The fertility of the land has been specifically referred and then its subsequent destruction by floods. The people were creative and had built a very big dam for irrigating their lands and subsequently the flooding took place because the the dam was damaged due to lack of maintenance.

In 1955, an American archaeologist had discovered some ruins in southern Arabia, especially in the Yemen area. The name of his book is "Qataban and Sheba" and the author is Wendell Phillips. The ruins throw light on the tale told by the Quran, especially the dam and the destruction by floods because of damage to the dam (34:19).

"أَلَسَبَّا الْخَمْرَ" (*as-saba*) means one who is in the liquor business, and "أَلَسَبَا الْخَمْرَ" (*saba al-khamr*) means that he bought liquor {*T*, *M*}. If the city was named with reference to this, then the mind goes towards the Taakistan which were abundant there. But "أَلَسُبُالُّ" (*subah*) also means long journey {*T*, *M*}, and perhaps this capitol city was named with this reference.

The Quran says refers to the desire of the people as referred in this prayer:

| 34:19 Our Sustainer, prolong our journey so that our trade increases | رَ بَّنَا لِعِدْ بَيْنَ اَسْفَارِنَا |
|--|--------------------------------------|
|--|--------------------------------------|

About queen of *Saba* and *Suleman*, see heading *Suleman*.

"سَبَّة" (*sabbahu*), "سَبَّة" (*sabba*): delinked it, sever it.

"(*as-subbu*): to swear, because it affects and severs relations between people $\{T\}$. (*as-sibbu*) and (السَبَّبُ)" (*as-sababu*): long strong rope with the help of which one climbs a tree etc. or which is used to reach to the bottom of the water well.

This gave it the meaning of something through which one reaches something $\{T\}$. A road too is called "سَبَبَتْ" (*sabab*) $\{R, M\}$, because it joins one destination with another. Hence this word also means relationship, or relative.

The Quran says:

| 2:116 | Their mutual relations will be cut off (The means the mutual interests and benefits which were connecting them will end) | وَتَقَطَّعَتْ بِمِمْ الْأَسْبَابَ |
|-------|--|--|
| 18:98 | He then took another direction | ثْمَّ ٱتْبَع سَبَبَاً |
| 22:15 | Then let him extend a "ladder" to the Heavens | فَلْيَمْدُدْ بِسَبَبٍ اِلَى السَّمَاءِ |
| 20:37 | Means reaching towards the Heavens $\{T\}$ | أَسْبَابَ السَّمُوْتِ |

According to *Taj*, the word in 20:37 means steps or doors to the sky. *Abu zaid* says it means stages, $\{T\}$, and *Muheet* says it means steps, ways, surroundings or doors. The meanings of this word are wider and cover means and possibilities in carrying out some tasks.

Surah Al-Kahaf says:

| 18:84 And we provided him all thing as means | وَ أَتَيْنَهُ مِنْ كُلِّ شَيْءٍ سَبَباً |
|--|---|
|--|---|

In the context of swearing, this root has been used in (6:108) where it is said that do not condemn or use bad language against the idols which the disbelievers worship, lest they react, and unconsciously further move away from Allah's guidance. Such like events of mutual condemnation can take place among religious debates at emotive level.

س ب ت S-B-T

"ألسُبَاتُ" (as-subaat): sleep.

Ibn Faris says that the basic meanings of the word are of peace and tranquillity. Since peace and tranquillity meant that a man rested and stopped whatever he was doing, it got the meaning of ceasing to work or to cut it off $\{T\}$.

"سَبَتَ" (sabat), "يَسْبَتُ" (yasbut), "يَسْبِتُ" (vasbitu), "سَبَتَ" (sabat): he rested {T}.

Raghib says that "سَبْنَّ" (*sabat*) means to close the business and to relax on a Saturday, to spend Saturday resting, to be around on a Saturday.

"سَبَتَ الشَّيْءَ" (sabatas shaiya) means to cut off something.

"(as-sabt) also means to shave something, like to shave the head.

"أَلْمَسْبُوُتُ" (*al-masbuutu*): a corpse or an unconscious man. It also means a sick man who lies quietly with closed eyes {*T*}.

"يَوْمُ السَبَّنِينِ» (*yaumus-sabti*): the day of the week named Saturday. It is thought to be named so because on that day the Jews do not work $\{T\}$. Verse 2:65 has used this word in these meanings, and also to mean comfort and rest.

| 78:10 | Created sleep to take to rest | وَجَعَلْنَا نَوْمَكُمْ سُبَاتاً |
|-------|-------------------------------|---------------------------------|
|-------|-------------------------------|---------------------------------|

In surah *Al-Furqaan* this is referred to this meaning as well, and "أَنْشُوْرُا" (*nushura*) has been used opposite to it (25:47) which means to walk, to scatter, to get up.

It is mentioned in the Quran that a group of Jews broke the agreement not to do business on Saturdays (4:154, 2:65). Surah *Al-Airaaf* says that they used to catch fish on that day (7:163). In violation of this agreed arrangement (not to catch fish on Saturday) they suffered the consequences (4:27) and this state was as a consequence of not following one their commitment as a community which led to divisions and parting of ways (16:124). This makes it obvious that when a system is followed then even the very small restriction needs to adhere otherwise gradually the whole system gets affected. The restriction of not working on a Saturday is a small restriction; however, it tests the character of individuals. Those who cannot resist such a small temptation, and try to make inroads into this rule created for the benefit of the society, they cannot be expected to observe the stricter rules? Character develops through self-discipline and by resisting temptation. By relating this event, Quran means to highlight this very fact. The consequences of their conduct which *Bani Israel* faced for going against these agreed restrictions is detailed under the heading (Q-R-D).

Hastings has written in his Encyclopaedia of Religious Ethics, with reference to various testaments, that *Sabat* would start on Friday evening and lasted the whole of Saturday. During this time there were 38 other restrictions besides trading which were prohibited.

S-B-H س ب ح

"أَلْسَابِحَاتُ" (*as-sabihaat*): boats.

"(as-sabbbah): a good swimmer, on a same pattern also used for a fast horse or a fast camel $\{T\}$.

"شبْخٌ (sabh): to venture far and wide in the quest for earning a living $\{T\}$.

"(as-sabh) also means to experience travel through various lands {Latif-ul-lugha}.

Ibn Faris has said that it means a kind of pursuit , thus "سَبَخٌ" (*sabh*) means to strive very hard with utmost effort to achieve a goal, to strive with the maximum strength, to make sustained and continuous effort.

Taj-ul-Uroos has described a dream of *Ibn Shameel* in which he saw a person who was explaining the meaning of "سُبُحَانَ الله" (*subhan Allah*). He was explaining through the example of a horse which is going at a maximum speed like a fast swimmer. This means "سُبُحَانَ الله" (*subhan Allah*) to direct all efforts towards Allah as explained in the Quran and to remain steadfast in following the values {*T*}.

Raghib has also said that "سَبْحًا" (*sabha*) means to go very fast in water or through air. Later it was allegorically used for the stars in the sky.

"أَلْسَبِيْخَ" (*as-sabih*) means to make haste in Allah's obedience, but with passage of time the meaning expanded and was also used for spoken or practical worship *{R}*. Till this day "سُبُحَة" (*subh*) means beads of a rosary. Although this is not common among the Arabs, since rosaries were used by Christians in their worship, something they probably borrowed from Buddhists.

[&]quot;سَبَحٌ" (*sabh*): to swim.

[&]quot;سَبَحَ بِالنَّبْرِ" (*sabaha bin nahari*), "فِى النَّبْرِ سَبْحاً" (*fì nahari sabhan*), "سَبَحَ بِالنَّبْرِ" (*sabaha)*: he swam in a canal. "اَسْبَحَہُ فِى الْمَاءِ" (*asbahu fil maa*): made him swim in water.

[&]quot;رَالسَوَابِح" (as-sawabih): horses while running very fast move their limbs like a fast swimming action.

The Quran mentions about the celestial bodies:

| 36:40 they are all floating in their orbits | كُلُّ فِيْ فَلَكٍ يَسْبَحُوْنَ |
|---|--------------------------------|
|---|--------------------------------|

About the Messenger (*pbuh*) the Quran quotes:

| 73:7 | for you, the daily program is very extensive and you have to | اِنَّ لَکَ فِي النَّهَا رِ سَبْحاً طَوِيْلاً |
|------|--|---|
| 13.1 | work hard to get through it | ارا الملاقي المهار الشبعا طويار |

About birds it is said:

| Each one of them knows their flight directions, though their flight path is not signposted | كُلُّ قَدْعَلِمَ صَلَاتَهُ وَتَسْبِيْحَهُ |
|--|---|
| Inght path is not signposed | |

It means that each bird knows how to go about its business, and each one is aware of its limits and the way it has to get means of subsistence.

| 57:1 | Whatever there is in the universe is fully engaged in in carrying out the program designated for them through Allah's laws | سَبَّحَ لِلّٰهِ مَافِي السَّمٰوٰتِ وَالْاَرْضِ |
|------|--|--|
| | Allali S laws | |

The things in the universe are instinctively tuned towards carrying out their programs. This is what has been described in the tale about Adam as the "تَسْبِيْحَ" (*tasbeeh*) of the *Malaikas*: (2:31), or the "تَسْبِيْحَ" (*tasbeeh*) of the thunder (13:13). But a man has to use his choice in order to complete the program. Hence believers are directed:

| 33:42 | You should be engaged in carrying this program day and night (i.e. on continuous basis) | سَبِّحُوْهُ بُكْرَةً وَّاصِيْلاً |
|-------|---|----------------------------------|
| | linght (i.e. on continuous basis) | |

About the programme itself, the direction is:

| | to get busy in implementing Allah's laws of subsistence | |
|-------|---|---------------------------------------|
| 56:66 | (<i>Rabubyah</i>), the programme on which the whole universe is | فَسَبِّحْ بِاسْمِ رَبِّکَ الْعَظِيْمِ |
| | functioning | |

In a human society, the struggle against the opposing forces which obstruct the programme of subsistence is also called "نَسْبَيْحُ" (*zikr*) and "نَسْبَيْحُ" (*tasbeeh*). When *Musa (PBUH)* was directed to the Pharaoh, he too used these terms to define and explain his mission (20:34).

The system which Quran proposes for the believers places great importance on "صلوٰة" (salaah), which includes gathering for the prayer. These gatherings are physical manifestations of the group's acceptance of guidance from Allah. This is a manifestation in the form of "ركوع" (ruku) and "عبود" (sajud) which are translated to bowing and genuflecting. While doing this bowing and genuflecting, a believer agrees to follow and live according to Allah's laws and to spend his lifetime in implementing those laws in the society where he lives. The words in which this agreement is made are also termed as the "تَسْبِيْتُ" (tasbeeh) of Allah. Obviously if a person only says so but fails practically follow it , then these utterances are mere rituals. The movements in salaah are the manifestations of one's motive to follow the guidance as explained in the Quran. If these gatherings are not followed through any actions and these become an end it then nothing positive will emerge in the real life. It is evident that by simply enumerating the attributes of Allah and by counting the beads of a rosary are not the actions the Quran has directed us to do. These rituals can never produce any results and result in waste of precious human time.

"تَسْبِيْخَ" (*tasbeeh*), according to the Quran means to fully observe the laws of Allah by directing all efforts employing all resources to achieve desired results.

Lissan-ul-Arab says that "تَسْبَيْحُ" (*tasbeeh*) means transcendence. It is used for saying "سَبُحَانَ الله" (*subhan Allah*), or mention of Allah, praise of Allah etc. Since the aspect of intensity is implicit in it, therefore *tanzia* would mean to consider Allah free from all limitations and weaknesses.

This root has the element of intensity and strength. As such "كِسَاءٌ مُسَبَّحٌ" (*kisaaun musabbbah*) means very strong and tightly knit blanket. Hence "نَفَسِبَّحٌ بِاسْمِ رَ بِّكَ الْعَظِيْمِ" (*fasibbah bismi rabbikal azeem*) would mean

to adopt the attributes of Allah as mentioned and explained in the Quran with total conviction and to propagate them widely for the benefit of others.

In Surah As-Saffat in context with Yunus it is noted:

| | 7 1 4 2 | He would have remained inside its belly | تريك الشريبي المراجع ال |
|---|---------------|---|---|
| - | 4 / • 1 / 1 4 | until the Day of resurrection. | فَلَوْلَا أَنَّهُ كَانَ مِنَ الْمُسَبِّحِيْنَ لَلَبِثَ فِيْ بَطْنِهِ إِلَى يَوْمٍ يُبْعَقُوْنَ |
| | | until the Duy of resulteetion. | |

If this word "مُسَبَّحِيْنَ" (*musabbihen*) had come from "سَبَّحَ" (*sabh*), then it would have meant swimmer. But since the word is according to "سَبَّحَ" (*sabbaha*), it would mean one who struggles with full might. This has the automatic connotation of struggling hard in order to stay away from the fish's mouth and manage to swim ashore.

In the same surah it is said a little later:

| III the ball | the builde builde build it is build interesting in the builder. | | |
|--------------|---|-------------------------------------|--|
| 37:162 | We are verily to struggle very hard in this path | وَ إِنَّا لَنَحْنُ الْمُسَبِّحُوْنَ | |

These places too show that "تَسْبِيْحٌ" (*tasbeeh*) means intensity, strength, and to engage in implementing Allah's laws with strength and persistence.

"أَسْبُحَانَ مِنْ كَذَا» (subhaana min kaza) is said at times of wonderment {T}.

It also means "distance":

| 37:159 | Allah is far from these wrong concepts in which they believe | سُبْحَانَ اللهِ عَمَّايَصِفُوْنَ |
|--------|--|----------------------------------|
|--------|--|----------------------------------|

"أَسْبُحَانٌ (subhaan) also means to be engaged in something $\{T\}$.

| 30:17 | You have to be engaged evening and morning | فَسُبْحْنَ اللَّهِ حِيْنَ تُمْسُوْنَ وَحِيْنَ تُصْبِحُوْنَ |
|-------|--|--|
| 30:17 | in the duties assigned for you by Allah | فسبحن أللبا تحجيل لمسوك وتجين تصبيحون |

س ب ط S-B-Te

(sabt) basically means abundance and plentiful in something {M, T, Sulbi}.

Ibn Faris says it means for something to be prolonged.

It also means a tree which has one root but the branches are quite spread out. It also means family and descendants.

"السَبْطُ" (*as-sabit*) means grandson, regardless of the maternal or paternal side. This word is also used for a Jewish tribe.

"أَسْبَاطٌ" (*as-baat*) was a word used exclusive for the descendants of *Is-haq*, while "أَسْبَاطٌ" (*qabaa-il*) was used for the descendants of *Ismail*. The Arabs had kept this distinction to distinguish between the two branches of Ibrahim's descendants with a single word {*M*, *T*, *Sulbi*}. In the Quran too, the word "أَسْبَاطٌ" (*asbaat*) has been used for the nation of *Moosa* (7:160). The Arabs used to call a non-arab as "أَسْبَاطٌ" (*sabt*), as they used to call the Arabs "جَعْدُ" (*ja'd*). The Quran has also used "*imitid*" (*asbaat*) for the descendants of *Yaqoob* (2:136)

س ب ع S-B-Ain

"سَبْعَة" (*sab-un*): means the figure seven, some think that in reality this word was "سَبْعَة" (*sab-uh*) which means a lioness, because she attacks even faster than a lion. The Arabs thought the number seven to be a perfect number.

"أَلْسَبَّغُ" (*as-sabah*) or "أَلْسَبَّغُ" (*as-sabah*) or "أَلْسَبَّغُ" (*as-sabah*) is so because the Arabs considered seven animals to be in the category of beasts.

Raghib says that wild animals are called "سَبَنْعَ" (*sabah*) because their strength is complete and the figure seven was also thought to be complete {*M*, *T*, *Sulbi*}.

Lane with reference to *Baizawi* has written that the Arabs not only meant seven by saying "سَبْعٌ" (*sabah*) but it is also used to mean "several" or "many".

"سَبَنْعُوْنَ" (*sabame'atah*) means seven hundred {*M*, *T*, *R*}. As we sometimes say twenties, fifties, hundreds and do not mean any fixed figure, or as we sometime say 'I have told you a hundred times' to put emphasis. It does not mean an exact hundred.

For example the Quran says:

| 9:80 | Even if you ask forgiveness for them seventy times | اِنْ تَسْتَغْفِرْلْهُمْ سَبْعِيْنَ مَرَّةً |
|------|--|--|
|------|--|--|

It does not mean that if you ask for their pardon seventy times, we will not pardon them, but if you ask for their pardon more than seventy times then We will pardon them. It means that even if you ask pardon for them several times, they cannot be pardoned.

"سَبْعَ سَمَوْتَ" (*sab'as samawaat*) is translated to numerous heavenly bodies (2:29). We also use the phrase 'across seven seas' by which we actually mean several seas.

| | Those who keep their wealth open i.e. spend for the | |
|-------|---|---|
| 2:261 | benefit of other human beings, for them the wealth is | ا لَّذِيْنَ يُنْفِقُوْنَ ٱمْوَالْهُمْ فِيْ سَبِيْلِ اللَّهِ كَمَثَلِ حَبَّةٍ ٱنْبَتَتْ سَبْعَ |
| 2:201 | like a seed which has seven saplings and there are a | سَنَابِلَ فِيْ كُلِّ سُنْبِلَةٍ مِاءَةُ حَبَّةٍ |
| | hundred grains in each sapling | |

Obviously here "سَبْعَ سَنَابِلَ" (*sab-a sanabil*) means several.

The Quran says:

| 15:87 | We have given you seven of the <i>misaani</i> and a great Quran. | وَلَقَدْ أَتَيْنَكَ سَبْعاً مِنَ الْمَتَانِيْ وَالْقُرْانَ الْعَظِيْمَ |
|-------|--|--|
|-------|--|--|

See the word "مثانی" (misaani) in heading (Th-N-Y).

س ب غ S-B-Gh

"السَبْغَة" (as-sabhag): vastness, expansiveness, generosity.

"سُنَبُوْ عَاً" (subugha): for something (clothes, armour etc) to be long and hanging.

(*as-saabegha*): the armour which comes down to the level of knees or drags along the floor due to its length. Its plural is "سَابِغَاتٌ" (*saabeghaat*) (34:11).

"أُسْبَغَ شَعْرَهُ" (asbagha sha'rah): he let his hair grow very long.

تشَىْءٌ سَابِغٌ: (*shaiyun sabeghun*): a thing in full measure or abundance {*M*, *T*, *R*}.

Ibn Faris says that its basic meaning is of being in full measure or abundance.

"سَبَغَتِ النَّعْمَةُ" (sabaghatin ne 'mah): for the benevolence to be expansive and in abundance {M, T, R}.

| The Qura | n says: | |
|----------|---|-------------------------------|
| 31:20 | Allah endowed you with his benevolence in | وَ ٱسْبَغَ عَلَيْكُمْ نِعَمةُ |
| 51.20 | abundance | |

"سَبْقٌ" (*sabq*) basically means to get ahead in a race. Later "سَبَقٌ" (*sabaqah*) began to be used to mean exceed in everything, get ahead.

| 31:20 | First the Messenger of Allah dies, and left the world, and after | سَبَقَ رَسُوْلُ اللَّهِ وَصَلَّى أَبُوْبَكْرِ |
|-------|--|---|
| 51.20 | him Abu Bakar left the World as well | |

"(*as-sabaqu*) is the prize which is given to the winner of any race e.g. horse race {*T*}. (*istabaqal baab*): both of them leaped towards the door with each trying to go out ahead of the other (12:25) {*T*}.

Muheet says that if this word is followed by "عَلَى" (*ala*), then the thing which goes ahead or comes first, is harmful and if it is followed by a "ل" (*laam*) then the thing is beneficial.

| 71.101 | welcomed them with pleasure and went forward to greet them | سَبَقَتْ لَهُمْ مِنَّا الْحُسْنَى |
|--------|--|-----------------------------------|
| | greet mem | |

Surah *An-Naqarah* says:

| 2:148 | Make effort to surpass one another in righteous deeds | فَاسْتَبِقُوْا الْخَيْرَاتِ |
|-------|---|-----------------------------|
|-------|---|-----------------------------|

Psychologically, it is stated and believed that to compete and get ahead in life is a motivating force in people. It is the desire of competition and to get ahead that is something which keeps men busy. The Quran recognises this human emotion and asks us to develop it, and asks us to redirect our competitiveness into doing well for others. It says instead of getting ahead of others for personal gain try to excel one another in things which bring happiness to others. This will not only satisfy our desire (to get ahead) but will also prevent the chaos in society which would have occurred due to unbridled ambitions.

In surah *Al-Hijr*, this word of "تَسْبِقُ" (*tasbiqu*) has appeared to mean "يَسْنِأَخِرُ" (*yastakhir*) which means to fall behind (15:5). At another place "مُسْتَقَدِمِيْنَ" (*mutaqdemeen*) has appeared against "مُسْتَأَخِرِيْنَ" (*mustaakhireen*) in 15:24.

Therefore "سَبْقٌ اِسْتُخَارَ" (*sabaqun istikhaaratun*) means the opposite of falling behind, and the same as "اِسْتَقَدْامُ" (*istiqadaam*) i.e. to move forward.

Surah *Al-Waqiah* says "مَسْبُوْفِيْنَ" (*musbooqeen*) in 56:60 i.e. the one who is "مَسْبُوُفِيْنَ" (*maghlub*), or surpassed.

Surah *Al-Ambia* says:

| 21:101 | those for whom already our blessings have | وَالْمَالَةُ اللَّهُ عَلَيْهُ مُعَلَيْهُ عَلَيْهُ مُعَالًا عَلَيْهُ مُعَالًا عَلَيْهُ مُعَالًا عَلَيْ |
|--------|---|---|
| 21.101 | come (traditional translation) | اِن اللَّدِينَ سُنْبُقْتَ هُمْ مِنَا الْحُسَنَى |

The above translation appears to imply as if God has already destined as to who will do good deeds and who will do evil deeds. This concept is against the Law of Requital explained in the Quran. The above mentioned verse means that those who take the right path will have the positive results (because the result of such deeds is such) and this thing has been predetermined and those who follow the wrong path will have the negative consequences. There is no exception to this principle.

Surah *Al-Hadeed* says:

| 5 | 57:21 | try to outdo each other in going towards | سَابِقُوْا الِّي مَغْفِرَة مِنْ رَبِّكُمْ |
|---|-------|---|---|
| _ | | (seeking for) your Sustainer's Protection | |

Ibn Faris says that the basic meanings of this word are to hang, to leave and to elongate.

"أَسْبَلَ (asbal): to hang, to leave.

"أَسْبَلَ الْإِزَارَ" (asbalal izaar): hanged izaar.

"أَسْبَلَ دَمْعَه" (asbala dama 'hu): let his tears roll; let the tears roll so that they roll out of the eyes.

"أَسْبَلَتِ السَّمَاءُ" (asbalatis sama 'a): it started to rain heavily from above.

"السَبَّلَ" (*as-sabal*): rain, but this the rain which is suspended above as clouds but has not yet reached on the ground

"أَلسُبْلَة (as-sublah): rain on a wide scale.

"أَسْبَلْ الزَّرْغُ" (asbalaz zar-u): the ears began to hang in the crop {T}.

"السَبِيْلَ» (*as-sabeelu*) and "السَبِيْلَ» (*as-sabeelah*): path, an easy path where there is no harshness, or the distinct part of the path.

" (*sabeel*) is both masculine and feminine but as feminine its usage is more common. The plural is "سَبَيْلُ" (*subul*) {*T*}.

Ibn Faris says that because a path goes a long way (due to its length), it is called "سَبِيلْ" (sabeel).

"ألستَّابِلَةُ مِنَ الطَّرْقِ" (*as-sabilah minat turuq*): the path that people traverse generally on, or on which they come and go for fulfilling their needs, that is, the traveller $\{T\}$.

The Quran has used the phrase "نِفِى سَبِيْلِ اللَّهِ" (*fi sabeel Allah*) several times (2:190). Against it has appeared "نَفِى سَبِيْلِ اللَّمَاغُوْتِ" (*fi sabeelit taghut*) as in 4:76. The *Momineen* go to war "فِى سَبِيْلِ الطَّاغُوْتِ" (*fi sabeel Allah*) and the *kafirs* go to war "الطَّاغُوْتِ" (*fi sabeelit taghut*) as said in 4:76. The *Momineen* go to war "الطَّاغُوْتِ" (*at-taghut*) are those forces which are oppressive and force others to follow their dictates and establish the system of falsehood.

Therefore "فِى سَبِيْلِ اللَّهِ" (*fi sabeel Allah*) would mean for the observance of Allah's laws to establish Allah's system, and to traverse the path destined by Allah. They should do this act themselves as well as make others do the same. They should do this instead of following personal interests, and work for the interests of humanity at large. They should oppose the opposing forces. *Momineen* live and die for this very purpose. This also clarifies the meaning of "اتفاق فى سبيل الله" (*itifaaq fi sabeel Allah*) i.e. to keep one's wealth available or open for the benefit of mankind so that whatever is needed, can be taken from it.

"بَنْ السَبِيْلِ" (*ibnus sabeel*): traveller who travels a lot. Some think it means a traveller whose food during a journey has finished {*T*}. The Quran has also included among the duties of an Islamic society to help travellers. This duty is of such importance that it is one of the purposes of spending *sadaqaat* (9:10). This includes facilities for any traveller in an Islamic society, and those who in their travels become needy for any reason to help them to reach their destination.

Muheet has also said that it means guests. In today's terminology "ابن السبيل" (*ibnus sabeel*) would be those who come to an Islamic state and are in transit (i.e. even non-citizens).

Surah Aal-e-Imran says about the people with the celestial book who used to say:

| 3:74 | We can do whatever we want with these Arabs because they do | * · · · · · · · · · · · · · · · · · · · |
|------|---|---|
| 3.74 | not have a book, and nobody will hold us accountable | لَيْسَ عَلَيْنَا فِي الْأَمِّيِّنَ سَبِيْلٌ |

This sort of mentality is born of tribal bias. According to it a crime within the tribe is a crime but if committed outside the tribe is not a crime. But this is not restricted to tribal societies. Even the Romans believed that theft within their own nation was theft, but outside the nation was not. The fact is that whether it is religious grouping or political, they give rise to the mentality that all benefits should be confined to the party members and all others outside the party are despised. This is taking place even today as it was a practice for four thousand years ago. Nationalism prevalent today as a product of such thinking, and this very thing has turned the world into a sort of hell i.e. mutual conflicts. The Quran raised its voice against this sort of thinking and declared that a crime is a crime no matter it is against the people

of your kind or others. There is no difference among nations or human beings in this respect. That is why any deed which is done "نفِى سَبِيلُ اللَّهِ" (*fi sabeel Allah*) is a good deed which is without any thought of remuneration or compensation, and is for the benefit of the whole mankind.

The Quran has said about the heavenly life:

| 76:18 | It has a spring which is named <i>salsabeel</i> | غَيْناً فِيْهَا تُسَمِّى سَ لْسَبِيْلا ً |
|-------|---|---|
| | | |

Muheet says that the root is "سَنَلْ سَبِيْلاً" (*sal-sabeela*) which means to find out about the way, i.e. to ask the way and move forward. It means the "river" that flows to satisfy the needs of all, and which does not differentiate.

At another place is said:

| 88:12 | flowing spring (the spring which flows all the time) | فِيْهَا عَيْنٌ جَارِيَةٌ |
|-------|---|--------------------------|
|-------|---|--------------------------|

The spring of life which keeps flowing forward; the eternal life which is the logical outcome of good deeds which goes forward continuously without interruption? It has no interruption whatsoever. It means that for human personality to keep traversing the path ahead. "سَبِيْلُ لَنَّهُ (*sabeel Allah*) is the path, the direction on which man sticks to "مَايَتْفَعُ النَّاسَ" (*ma yanfa unnaas*) for the good of mankind as mentioned in (13:17). This is the path towards which Allah's messenger invited mankind, because he knew the benefits of it through his insight which was developed through the evidence and the understanding of the Quran based on intellectual reasoning (12:108).

This is the right path as outlined by the Quran. By following this path the human abilities can develop to their utmost because "مَسَلَا الْسَكَاسَ اللَّى أَسْبَالِبَهَ" (*malal kaasa ila asbaalaha*): it is said to fill the cup to the brim {*T*}.

In surah *An-Nahal* the bee has been directed instinctively:

| 16:19 Follow the path laid out by your Sustainer. | فَاسْلُكِيْ سُبُلَ رَبِّكِ ذُلُلاً |
|---|------------------------------------|
|---|------------------------------------|

This shows that the laws of nature are also the paths of God. For the mankind the right paths are the ones conveyed by the messengers as revealed to them through the revelation as noted in (14:12).

Surah *Al-Ankabuut* says:

| 29:69 | Those who struggle for Us are shown the way (the right path) | وَالَّذِيْنَ جَاهَدُوْا فِيْنَا لَنَهْدِيَنَّهُمْ سُبُلَنَا - وَإِنَّ اللَّهَ | |
|-------|--|---|--|
| 27.07 | by us. Allah is with those who do the righteous deeds. | لَمَعَ الْمُحْسِنِيْنَ | |

There is only one path that leads towards Allah and that has been called by Him as "ميرَاطٍ مُسْتَقَيْمِ" (siraatul mustageem) or the right path (1:5). But man is faced by new problems and challenges every now and then, as the life progresses. The Quran has broadly laid down the principles of life for the mankind, it is the duty of the believers to find the solution to these problems in the lightof these principles., Obviously this requires knowledge about the universe, about the social life of the nations of this world, an understanding of the needs of the times, and deep deliberation on the permanent values of the Quran. To struggle to find a solution to the problems facing us from the guidance which the Quran provides is called in the Quranic terms as "جتباد" (ijtehaad). It is Allah's promise that those who strive in this way, He will enhance their understanding and broaden their vision. This will help them to understand the issues of life and they will be able to resolve these as per the guidance of the Quran This direction is defined and explained by the Quran as the "wurd" (subul islam) or the paths of tranquillity and protection.

At another place their purpose is described as:

| 5:16 | to bring them out of darkness into light | يُخْرِجُهُمْ مِنَ الظُّلُمٰتِ الٰي النُّوْرِ بِإِذْنَهِ |
|------|--|---|
| 5:16 | and thus they are guided to the right path | وَيَهْدِيْهِمْ الِّي صِرَاطٍ مُسْتَقِيْمٍ |

This also means that all these paths lead to the same "highway" called the guidance; whatever the group of *Momineen* decides while remaining within the confines of the Quranic values to meet the requirements of the time will always aim at the overall guidance which will serve as a criterion.

S-T-T س ت ت

"ألستَّةُ (as-sittah): the number of six. It was actually "سِدْسٌ" (sids) at first {T}.

| The Qura | n says: | |
|----------|--|---|
| 7:75 | created the earth and the heavens in six periods | حَلَقَ السَّمٰوٰتِ وَالْأَرْضِ فِيْ سِتَّةِ ٱيَّامٍ |

There is a reference to the different stages through which the earth and other heavenly bodies have passed before these reached the present stage. For the correct meaning of "يَوْمٌ" (*yaum*), see (Y-W-M). "يَتُوْنُ" (*situun*) and "يَتَوْنُنَ" (*situen*) means sixty (58:2).

س ت ر S-T-R

"سِتْرْ (sitr): veil, some type of a cover which is used to hide something.

Surah *Al-kahaf* says:

| | they lived in the open ground so that there was | لَمْ بَخْعَلْ لَهُمْ مِنْ دُوْغِمَا سِنْتُوًا |
|--|---|---|
| | no obstruction between them and the sun | |

"ألسِّتَارُ" (*as-sitar*): veil.

"سَتَرَ الشَّىْءَ (satarash shaiyi): he hid that thing.

"أسْتَتَرَ" (*istatar*): to hide {**T**, **R**, **M**}.

| The Quran | says: |
|-----------|-------|
|-----------|-------|

| 41:22 | You were not hidden | وَمَا كُنْتُمْ تَسْتَبِرُوْنَ |
|-------|---------------------|-------------------------------|

In Surah *Bani Israel* it is stated that when you recite the Quran, between you and the people who do not wish to believe in the life hereafter:

| 17:45 a veil descends | حِجَاباً مَسْتُوْراً |
|-----------------------|----------------------|
|-----------------------|----------------------|

Though this veil is not visible with eyes, but it can be understood as it prevents them from coming to the message. Their psychological state has been described as "حِجَابٌ مَسْتُوْرٌ (*hijabun mastoor*), that is, a meta-physical cover. "مِسْتُوْرٌ" (*mistoor*) also means the same as "مَسْتُوْرٌ" (*sa'ir*) which means one who hides. Likewise "مَسْخُوْرٌ" (*mashoor*) is the same as "سَاجِرٌ" (*saahir*) which means sorcerer. One of Gods attributes is "اَلسَنَّار" (*as-sattar*) commonly referred, but this attribute has not been mentioned in the Quran.

ناَلسُجُوْدُ (*as-sujud*): to bow the head.

Ibn Faris says it basically means to be low or to bend over.

"نَخْلَةُ سَاجِدَة" (*nakhlatun sajidah*): a date palm that is bent, especially one which bends under the weight of its fruit $\{T\}$.

"أَسَجَدَ الْبَعِيْنُ (sajjadal baeer): the camel bent its neck so that the man could mount on its back $\{T\}$.

Therefore, this root refers to (physically) someone bowing his head or some other thing to bend down(or bow). However, behind the human mannerism there is a philosophy and in modern terms it is called parallelism. It means that there is a profound connection between one's mind and body, and these two function in parallel. For example, if we are lying down and decide to do something, then we get up as the thought crosses our mind. When we wish to rest, we either sit down or lie down, or when we say 'yes' we nod our head (automatically and unconsciously). When we have respect for someone, our hand may rise to our forehead (for a salute) and if our respect transcends this, then we may even bow before that person to express out profound respect. These actions also affect our speech which is a translation of our bodily movements, or expresses the same emotions that the body movements signify. For example, when we say that he bowed his head at my order, you actually mean that he has accepted to carry out your order. When we say that he rebelled against the law of the state, then we mean that he has refused to accept the state's law and chose to go against it. Since the Quran speaks in a particular language (Arabic), it too uses the metaphors of this language to express itself clearly. In this context, it has used the words "wew" (sajdah) to mean obedience and acceptance and is not referring to the act of physical bowing.

Surah *An-Nahal* says:

| 16:49 | And all living things which are in the highs and lows of the universe bow before Allah and do not rebel (following laws) | وَلِلَٰهِ يَسْجُدُ مَافِي السَّمٰوتِ وَمَافِي الْأَرْضِ مِنْدَ أَبَّةٍ وَالْمَلْءِكَةُ وَهُمْ لَا يَسْتَكْبِرُوْنَ |
|-------|--|--|
|-------|--|--|

Here "يَسْجُدُ" (*yashudu*) has been explained by "لَايَسْتَكْبَرُوْنَ" (*la yastakbiruun*), i.e. they do not disobey the orders of Allah but instead follow them. The verse is further explained by:

| 16:50 they carry out what they are directed to do | وَيَفْعَلُوْنَ مَا يُؤْمَرُوْنَ |
|---|---------------------------------|
|---|---------------------------------|

Therefore, the root of this word (S-J-D) must be kept in mind to determine whether it means a physical bowing or a figurative bowing which is to express obedience.

For the difference between religion and *Deen*, see headings (Dh-H-B) and (D-Y-N).

Another point should also be considered at this stage. When the human mind was in its infancy (like a child), it understood only the physical things and mostly used to express himself in physical terms. In today's terminology his knowledge was restricted to "sense perception". He had not yet reached the stage of having abstract concepts or to acquire knowledge through them. Therefore, his religion, like other things, was limited to this sense-perception. This means that he was still in the stage of formalism. To represent God, he had created idols. In worship etc. the stress was on the form of worship rather than the spirit. In fact, form had become the end in itself.

The Quranic teaching treats a man like an adult with developed intellect, reasoning, and perception. It can be said that the Quran wants human begins to come out of the nascent stage and into the adulthood. Therefore the Quran stresses on conceptual knowledge as well as on conceptual knowledge. In the matter of *Deen* the Quran stresses on the purpose while keeping the form without rejecting the later. This is because human beings wish some visible form to express their ideas. It stresses on the intention rather than the form, but it does not altogether do away with the form, but retains some part of it. We see that the great philosophers and thinkers use facial expressions and hands to explain ideas and concepts. This gesturing is part of human expression. In this way thinkers explain abstract truths with examples taken

from physical world. This is the reason that the Quran, despite man having evolved much higher than the perceptual stage, has retained some form. The practice of bowing in prayers is a manifestation of this form. For example, in Surah *An-Nisa* (4:102) where observing prayer during a battle has been mentioned, it has also been said that one group may establish the prayer and when it is finished, then the other group observe their prayer.

Obviously here "سجده" (*sajdah*) means to physically bow one's head before God, like was the practice of our messenger *Muhammed* (*pbuh*) and his followers. In the Quran, prayer and *Hajj* are two things in which some form has been retained. These two are collective prayers and it is necessary to have some uniformity in the collective form of worship. If in a collective gathering, every individual adopts his own form of worship, then one can well imagine the chaos this may create. More details about these matters can be found under the heading (Sd-L-W).

It is obvious that for a man to bow physically before God is the physical display of man's emotions and intentions towards God and that he accepts God's Laws willingly without any reservation. If his visible act of bowing is not a display of his inner feeling of acceptance and is purely a display of the worship procedure then this whole practice of worshipping is meaningless and this will never produce any positive result.

This is the truth for which the Quran has said:

| 2:177 | The righteousness is not to turn your face towards the east or the west, but it is whether you truly believe with conviction in Allah, the hereafter), universal forces, revelation through His books and the messengers who brought the revelation, and give wealth, despite the love of it, to relatives (who need it), orphans, needy, travellers, and the oppressed | لَيْسَ الْبِرَّانْ تُوَ لُوْا وْجُوْهَكُمْ قِبَلَ الْمَشْرِقِ وَالْمَغْرِبِ وَلٰكِنَّ الْبِرَّ |
|-------|--|---|
| | the oppressed | |

This means that "صلوة" (*salaah*) is actually a physical display of man's acceptance of the Quran as a book of guidance and a commitment to follow the values therein. If man takes the "صلوة" (*salaah*) only as an end in itself, then it holds no importance with God and man will never reap the benefits which one can only get by following the Ouran as a whole. Instead the Ouran says:

| Unity get by | to by following the Quitan as a whole. Instead the Quita | in Suys. |
|--------------|--|---|
| 107:5-7 | There is loss to those who pray but ignore the essence of the prayer (as stated earlier) and perform the obvious trappings of the <i>salaat</i> to show people. Indeed the same people prevent the flow of the capital for the good of the wider public and hoard it for themselves. | فَوَيْلٌ لِّلْمُصَلِّيْنَ الَّذِيْنَ هُمْ عَنْ صَلَاتِمِمْ سَاهُوْنَ الَّذِينَ هُمْ يُرَاءُ وْنَ وَيَمْنَعُوْنَ الْمَاعُوْنَ |

"أَلْمَسْجَدُ" (*al-masjid*): forehead which touches the ground (during bowing), and "أَلْمَسْجَدُ" (*al-masjid*) is the place where *sajdah* is performed $\{T\}$. This is a pronoun and can mean both the place where the *sajdah* is performed and the time when it is done.

Surah *Al-Kahaf* says that people built a *masjid* (or mosque) near the cave where these young men had escaped to (18:21). They were "مجابدين" (*mujahideen*) i.e. those who struggled in life and lived a righteous life. But later (as usually happens) the truth disappeared and in their memory a monument was built which became a place for *sajdah* or worship.

In surah *Bani Israel* the *heckel* (a synagogue) of the Jews has been called *masjid* (17:7).

Surah *At-Taubah* also mentions the *masjid* or mosque during the times of the messenger (*pbuh*) which was based on "تقوى" (*taqwah*) (9:109). It also mentions another mosque which was built with a view to create divisions among the Muslims, which the Quran has termed as *kufr* and the sanctuary for those fighting a war against Allah and His Messenger (*pbuh*) (9:107). The Quran has declared sectarianism as *shirk* (i.e. associating other gods with Allah His sharing sovereignty), and clearly stated that the *mushrikeen*, that is, those who follow other laws and associate these with Allah have no right to be in these *masjidsassociated with* Allah.

| The Qura | n declared: | |
|----------|---|---|
| 72:18 | The <i>masjids</i> are only for Allah, so do not call | اَنَّ الْمُسْحِدَ اللَّهِ فَلَاتَدْعُوْا مَعَ اللَّهِ اَحَداً |
| 12.18 | on others along with Allah. | |

Sectarianism or causing divisions is forbidden and is declared a crime because it moves us away from the guidance and the values as revealed in the Quran and it prevents us from getting the benefits associated with the following of the Quran. If the believers follow the Quran then there cannot be any divisions as they will be moving away from their own desires which vary from individual to individual. The Quran has declared that there is no contradiction within the guidance (4:82) and those who follow it the way it is explained then they will be free from any contradiction as well.

Just as *sajdah* means not only to put your forehead on the ground but also to follow the Quranic Laws, so *masjid* is not just the place or building where people go for the prayer ritual. It means the centre which is the symbol for establishing Allah's laws on earth. The "حعبه" (*kaaba*) Mecca has been declared "مَسْجُودِ" (*masjidil haram*) in 28:27. This is not because people perform *sajda* there, but because it is the centre which represents the System which symbolises the Unity of Allah. It is the centre for the Muslim nation because of being "مُسْلِعَةٌ لَكَ" (*muslimata alak*) (2:128) i.e. a nation which symbolises the Quranic Laws.

Historically, after the Messenger's (*pbuh*) migration to Medina from Mecca, Medina was to become the centre of the Quranic system, therefore (regarding the night of migration) Medina has been called "مَسْجِدِ" (*masjid al-aqsa*) in the Quran, which means the mosque far away.

| | Glory to Allah Who did take His servant by a | سُبْحْنَ الَّذِيْ اَسْرِي بِعِبْدِهِ لَيْلاً مِّنَ الْمَسْجِدِ الْحُرَامِ لِلَى الْمَسْجِدِ |
|------|--|---|
| 17:1 | night journey from Mecca to the mosque far away, whose precincts We did bless- in order | الْاَقْصَا الَّذِيْ بَرَكْنَا حَوْلَهُ لِنُرِيَهُ مِنْ آلَيْنَا |
| | that We show him some of Our Signs. | |

After this, *Moosa(pbuh)* has been referred as noted in surah *Taha* where he has been ordered to go towards the Pharaoh. There too similar wording is used:

| 20:22so that We show you Our big signs | لِنُوِيَکَ مِنْ آلِتِنَا الْكُبْرِي |
|--|-------------------------------------|
|--|-------------------------------------|

This sign was *Moosa*'s success in the struggle against the Pharaoh. This was also the sign which after the Messenger's (*pbuh*) migration, from Mecca to Medina, was to be manifested as the later events indicate which ultimately led to the establishment of a model welfare state as directed in the Quran. It represents the victory of the believers over the forces which were defending the system based on human exploitation. This brings the fact before us that the building of a mosque is for a gathering of those who have one ideology and is to resolve the human issues within the values and boundaries laid down by the Quran . The human issues cannot be resolved through the existing concept of worship which is to satisfy some self - created emotional need to please a concept of god which is quite different from the concept of Allah explained in the Quran. The term used in the Quran has nothing to do with the concept of worship — it is about dealing with the human issues with a view to providing an environment for the development of the human self. This is to provide an option to those who think and reason to use their free will and deal with the human issues on a global basis. See heading (Ain-B-D) and any steps taken within the Quranic values are part and parcel of the concept of "alle." (*ibadat*). The existing gatherings for prayers do not achieve this purpose and have become ritualised and are in a gross need of revision in the light of the Quranic guidance.

Surah *Al-Airaaf* says:

| 7:31 | O mankind take you adornment to every <i>masjid</i> | ليَبَنِيْ آدَمَ مُحْذُوْ زِيْنَتَكُمْ عِنْدَكُلٌ مَسْجِدٍ |
|------|---|---|
|------|---|---|

Here masjid has been used to mean to obey, to follow {*Lisan-ul-Arab*}.

In this verse, a great truth has been revealed. Christianity (and other religions) term monasticism as the height of obedience and worship, i.e. to give up the pleasures of this life and this world. This concept has been refuted by the Quran as it leads to lack of challenging environment which is required for the development of the human self, and the use of the adornment within the confines of the permanent values is a way forward and helps to enjoy this life and paving the way for the next one. As the Quran deals with the issues of the Self's development and wishes us to partake in this life as much as possible on a continuous basis through our physical self. More activity within the confines of these values widens the sphere of human choices at self's level. For example all those beliefs which hamper our decisions making disappear and very confident self emerges which has only one belief based on conviction and which uses Allah as an ultimate Self as a model. The self's sphere of choices increase which has no bounds and which extends beyond the geographical limits of this universe. One should of course benefit from world's good things while remaining within the limits defined within the Quran. The Quran invites us to use our body to develop our self which is the true entity and whose nourishment is the purpose of our life. The next part of this verse and the next verse has clarified this meaning by saying:

| 7:31 | Eat and drink but do not transgress the limits. Allah does not like those who transgress the limits | وَكُلُوْا واشْرَبُوْا وَلَا تُسْرِفُوْ- اِنَّ اللَّهَ لَايُحِبُّ الْمُسْرِفِيْنَ |
|------|---|--|
| 7:32 | Say, who has forbidden the good things of this life which Allah has created (for the use of mankind) | قُلْ مَنْ حَرَّمَ زِيْنَةَ اللَّهِ الَّتِيْ أَحْرَجَ لِعِبَادِهِ وَالطَّيِّبَاتِ مِنَ الرِّزْقِ |

Two verses earlier say:

| 7:29 | Say, Allah has directed you to be just and direct your faces towards his guidance and call upon him with total commitment and intensity | قُلْ اَمَرَ رَبِّيْ بِالْقِسْطِ وَاَقِيْمُوْا وُجُوْهَكُمْ عِنْدُكُلِّ مُسْجِدٍ وَادْعُوْءُ مُخْلِصِيْنَ لَهُ الَّذِيْنَ- |
|------|---|--|
|------|---|--|

Surah *Al-Fatah* says about the Messenger (*pbuh*) and those with him:

| 48:29 | You will find them in <i>rukuh</i> and in <i>sajdah</i> | تَرَاهُمْ زَكِّعاً سُجَّداً |
|-------|---|-----------------------------|
|-------|---|-----------------------------|

Here if literal meaning of *rukuh* and *sujud* are taken, then it would mean collective prayer and if figurative meanings are taken, then it would mean taking defined responsibilities and functioning within the confines of the limits defined by the Quran.

After this it is said:

| 48:29 | they can be recognized by the signs on their faces | سِيْمَاهُمْ فِيْ وُجُوْهِهِمْ مِنْ أَنَّرِ السُّجُوْدِ |
|-------|--|--|
|-------|--|--|

This means that the peace and tranquillity which they get by following the permanent values as revealed in the Quran, become evident from their personality and body language. The internal stable state of the human Self displays its confidence and strength through its value driven decisions making and their results.

The Quran says:

| 55:41The criminals will be recognized from their personality and conduct | يُعْرِفُ الْمُجْرِمُوْنَ بِسِيْمَهُمْ |
|---|---------------------------------------|
|---|---------------------------------------|

Here too an aspect of the human psyche is referred where the inner state at times gives clues through the body language and the face expressions. The calmness and the confidence which one gets through following the righteous path translate at times into our conduct and appearance.

"يَسْجُرُ مَ" (sajarat tanur), "يَسْجُرُ مَ" (vasjuruh), "يَسْجُرُ أَ" (sajarat tanur), "يَسْجُرُ مَ" (sajra): lighten a clay oven, putt maximum fuel to heat it up, to fill with fuel e.g. wood, coal.

"سَجَرَ النَّبْرَ" (shajaran nahar): he filled the canal.

(*as-sajur*): the thing with which the oven is stoked.

(*al-masjir*): wooden rod with which fuel in an oven is moved around so it may heat up quickly. "أَلْمِسْجُرْنَ" (*al-masjir*): "(*al-masjur*): immobile and filled thing. It also means to fill an empty thing, thus it means opposites {*Latif-ul-Lugha*}. It means the flood water which is more than the river can contain.

"سَجَرْتُ الْإِنَاءَ" (sajartul ina 'a): I filled the pot.

"ألسَّاجِر" (as-saajir): the plain from which the flood passes and fills it up the area.

"بَعْرٌ سَجِرٌ (beirun sajir): a filled well {T}.

"شَجَّرَ الْمَاءُ" (*sajjarul ma'u*): for the water to make its own way $\{T\}$. This word means to flare up a fire as well as to fill something up and be full.

Ibn Faris says it means (1) to fill, (2) to meet up, and (3) to flare up or instigate.

The Quran says:

| 40:72 | Then they will be pushed into the fire | ثْمَّ فِي النَّارِ يُسْجَرُوْنَ |
|-------|--|---------------------------------|
| 52:6 | Filled sea (or adjoining sea) | الْبَحْرِ الْمَسْجُوْرِ |
| 81:6 | The oceans will be busy with shipping all around | إذًا الْبِحَارُ سُجِّرَتْ |

If "بِحَارُ" (*bihaars*) is taken to mean the settlings along the shores, then it would mean that ports and harbours will be inhabited and busy. However the meaning remains the same.

س ج ل S-J-L

"السَجْلُ" (as-sajl): a big bucket (of the well) filled with water, philanthropist {T}.

"ألستّجلّ (as-sijllu): book, document, writer {T}.

"السَّحِيْلَ" (*as-sijjeel*): it is a Persian word that has been arabized from "السَّحِيْلَ" (*sang-e-gul*) i.e. clay which is hardened in fire. In the old days when people began to write, slates of clay were 'cooked' in the fire and hardened and were used to write on. This was called "السَّجْلُ" (*as-sijl*). Later everything which was used to write was called "السَّجْلُ" (*as-sijl*) {*R*}.

The Quran says that on the nation of *Loot*:

| 11:82 | were rained upon | حِجَارَةً مِنْ سِجَّيْلٍ |
|-------|------------------|--------------------------|
| 51:33 | were rained upon | حِجَارَةً مِنْ طِيْنٍ |

At both places they were called "مُسَوَّمَةً عِنْدَ رَ بِّكَ" (*musawwamatun inda rabbika*): (51:34, 11:83). That is, those who were marked by Allah for this purpose {*T*}. But "السَّجْلُ" (*as-sijl*) has an element of writing and this too elaborates the meaning of "مُسَوَّمَة" (*musawwamath*). Maybe they were "(*manzood*) layer upon layer (11:82) or slates which were in a library atop the mountain and when the volcano erupted these fell on the inhabitations around it. This refers to the physical destruction caused in the historical context which affected the earlier nations from the past.

Surah *Al-Ambia* says:

| | This will be the era when heights or people belonging to | |
|--------|--|--|
| 21:104 | the upper echelons of society will be wrapped up like | يَوْمَ نَطْوِيْ السَّمَاءَ كَطَيِّ الْسِجِلِّ لِلْكُتُبِ |
| | paper | |

This verse is signifying that "their era has ended, now economic egalitarianism will take place" (39:67). If there is a reference to the celestial bodies in this verse then it would mean the wrapping up of the heavenly bodies.

Ibn Faris says the root basically means for something to be over filled and then spill over.

س ج ن S-J-N (sajan), "يَسْجُنُ" (vasjun), أيسَجْناً» (sajna): to imprison someone {T}. (12:35, 12:25). "أَلسِّجْنُ (*as-sijn*): prison (12:33). سِجِّيْنٌ (sijjeen): this word has appeared in surah At-Tatfeef: And what can make you know what this *sijjeen* is? 83:3 مَا أَدْرَاكَ مَا سِجِّنْ Some have translated it as prisons. However, the Quran explained it by saying: Some say that "سِجِّيْنٌ" (*sijjeen*) means prison, but the Quran has also said: It is a written scripture (a chronicle of deeds) 83:9

A chronicle of deeds a man does in his lifetime and record, like a written book with all details $\{T, R\}$.

S-J-W س ج و

"سَجْواً" (sajwa): for the night to become silent, to stop, to become dark.

Ibn Faris includes tranquillity and to cover in its basic meanings.

"سَبَجَااللَّيْلُ" (sajjal lail) means for the night to be very dark and quiet. "كَلْبُحْرُ السَّاحِيْ" (*al-bahru-saaji*): peaceful sea. "الطَّرُفُ السَّاجِيْ" (*at-tarfus saaji*): quiet look.

Ibnul Airaabi says that "سَجَى اللَّيْلُ" (sajjal lail) means that the darkness of the night increased {T, R}.

The Ouran says:

| 93.2 | The darkness of the night and the intensity of | وَاللَّيْلِ إِذَا سَجَى |
|------|--|-------------------------|
| 15.2 | the darkness before dawn is a testimony | |

This testimony is to the fact that this program of Allah's system will take some time to reach success and it will complete its stages before doing so. As such you find that despite your best efforts, the darkness of society is not being eliminated, then do not let this make you reach the conclusion that Allah's laws have left your side.

| 93:3 | Neither has your Sustainer left your side nor put | مَا وَدَّعَكَ رَبُّكَ وَمَا قَلَى |
|------|---|-----------------------------------|
| 93.3 | you in trouble for nought | |

With "وَالضُّحَىٰ (wadduha) appearing with it, it can also mean that the changes of day and night are testimony to the fact that the opposition will always not remain so, and there will be a revolution, and that things will change for the better.

كتَابٌ مَرْقُوْمٌ

"سَحَبَ" (*sahib*): he pulled, dragged. (أَلْمَرْأَةُ تَسْحَبُ ذَ يْلَمَا" (*almar 'atuh tashabu zailaha*): the woman drags the corner of her dress on the ground. (insahab): he dragged (along) on the ground.

"ألستَحَابَة" (as-sahabah): which means dark clouds, a piece of cloud, because it pulls the water (from the sea), or the winds pull it, or it drags itself across the sky. The plural is "سَحَاب" (sahaab).

In the Ouran, this word has been used both as singular and plural.

| 2:165 | cloud which has been in control | ٱلسَّحَابِ الْمُسَخَّرِ |
|-------|--|----------------------------------|
| 13:12 | very thick and dark clouds | ٱلسَّحَابَ الثَّقَالَ |
| 40:71 | They will be pulled (or dragged) into the 'hameem' (hell fire) | يُسْحَبُوْنَ فِي الْحَمِيْم |
| 54:28 | The day they will be dragged to fire | يَوْمَ يُسْحَبُوْنَ فِي النَّارِ |

S-H-Te س ح ت

"رَالسَجْتُ (as-seht): to uproot something, to pare something gradually. "سَحَتَ الشَّحْمَ عَن اللَّحْم" (sahatas sahma unil lahm): pared off the fat from the surface of the meat {T},

The Quran says:

| | | 1 |
|-------|--|-------------------------------------|
| 20:61 | He will punish them such that they will be | ڣؘؿؙڛۨ <i>ؙ</i> ڿؚؾؘػٛؗؠٝ ۑؚۼؘۮؘٳٮٟ |
| | eliminated | |

"أَلَسْحَتْ (as-suht): everything which is forbidden to mention, a forbidden and dirty profession which is the cause of shame. Every forbidden and unacceptable sustenance which is deprived of the blessings of God $\{T\}.$

About the Jews it is said:

| 5:42 | their means of earning is execrable | ٱݣْلَوْنَ لِلسُّحْتِ |
|------|-------------------------------------|----------------------|
|------|-------------------------------------|----------------------|

Commonly the Jews were prone to charging interest and their religious scholars did business under the cover of their religion i.e. gave religious edicts for profit. Not just the Jews, but capitalists and religious leadership is the same everywhere.

Muheet with reference to Qeys says that "سُحْتٌ (suht) is that thing which is clearly forbidden and there is no doubt about it being so.

تحَرَامُ سُحْتٌ (haraamun suht) means forbidden and well known to everyone. "أَرْضٌ سَحْتًاءُ" (*arzun sahta-u*) means a barren piece of land {*T*}.

"عَامُ أَسْحَتُ" (aamu ashat): drought year during which there is no growth e.g. fodder {T}.

Muheet says "اَلسَحْنُ" (*as-sehr*) basically means to turn, and figuratively it means to represent falsehood as truth.

Tahzeeb says it means to turn something away from the truth to untruth.

Taj-ul-Uroos says it means such things whose origin is such that it becomes difficult to separate fact from fiction. It is used for a deception of a sort that one cannot find out how the deception has been made. Later this word started meaning commony used techniques of cheating and deception {Ibn Qatebah}.

"سَحَرَه" (sah-harah): he was deceived. "سَحَرَه" (sah-harah): he was deceived.

"انِتَمَا ٱنْتَ مِنَ ٱلْمُسَحَّرِيْنَ" (*nama unta minal musah hareen*): you all are among those who have been deceived, and are deceived time and again (26:153-158).

"تَنْزُ مَسْحُوْرَةَ" (*unzun mashurah*) means a goat which has big breasts but it produces little milk. "اَلْمَسْحُوْرَنَ" (*almas-huur*) means someone whose mind has gone mad or someone who lost his mind {*T*, *M*}.

The opponents used to call the messenger (*pbuh*) as "زَجُلاً مَسْحُوْراًن" (*rajulan mas huura*), that is, one who has been deceived, or one who is under a spell, or one whose intellect has been impaired (17:47). It also means the same as "سَلَحِرٌ" (*saahir*), or one who deceives, as in 17:101.

Surah *Al-Mominoon* says:

| 23:89 | Ask them why have you been deceived? | قُلْ قَانَى تُسْحَرُوْنَ |
|-------|--------------------------------------|--------------------------|
| 1 | | |

Aside from deception, this word also means lies. The Quran says:

| 11:7 | If you tell them that you will be raised after you are | وَلَئِنْ قُلْتَ اِنَّكُمْ مَبْعُوْتُوْنَ مِنْ بَعْدِ الْمَوْتِ لَيَقُوْلَنَّ الَّذِيْنَ |
|------|--|---|
| 11./ | dead then the deniers will say that this is a lie. | كَفَرُوْ اِنْ هٰذَا اِلَّا سِحْرٌ مُبِيْنَ |

(as-sahar) means the upper part of the chest, (lung, heart etc.). It means the corner of everything.

"سَحَر" (sahar) is the last part of the night, or just before dawn.

Raghib says that *sahar* means dawn, when the darkness of the night is changing into the light of day (54:34). The plural is "أَسْحَالَ" (*ashaar*) as in 51:18 $\{T\}$.

Ibn Qateebah says that sahar means the beginning of a day, the time for commencing business.

History tells us that in the pas there has been a time which has been called the magical age. Western researchers have provided quite a bit of information about this era. Sehr or magic meant that people through various means tried to make various forces in the universe follow their orders or desires. This is what is known as sorcery as well. First came the era in which man pleaded to the forces in the universe, then came the era when he thought of forcing these forces to do what he wanted. Thus sorcerers had a very high stature in society, but if given careful thought, it will be seen that man's development from the era of worship to the era of magic was a first and childish attempt to develop rational thinking, 'Rational thought' means to find the cause of everything, to find out the cause and effect of everything. In the era of worship man thought, for instance, that a man suffers from fever because some deity was displeased with him. To get rid of this fever one needed to please that deity somehow. There was no cause and effect inquiry into the matter. From this man evolved to the era of magic, in others words, he thought if such mantra is read so many times, and in a certain way, then the aim will be achieved. That is, in his mind a faint linkage with deed and effect had begun to make a beginning. Allah's *deen* told him that everything in the universe is created by Allah. Every deed has a designated effect and this happens according to certain law. If man finds out about the laws then he can produce the effect any time he wants. This is the foundation on which our entire scientific structure rests, and the axis round which human life and his

future revolves. Magic is false illusion only, because it does not have any concept of something happening due to a certain law, but because of reciting some mantras and to do some odd things.

The Quran invited mankind to rationally analyse everything in their world by using their intellect and reasoning. In the Quran, in the story about *Moosa*, there is mention of the sorcerers of the Pharaoh's nation and their sorcery. *Moosa* had dealt with them. If *sehr* means magic then at these places it will be taken to mean magicians, but if it means 'the worship of falsehood, then the figurative meanings of those verses will be taken accordingly.

If *sehr* is taken to mean magic, then one thing comes to fore. The Quran has said that these sorcerers deceived people's eyes (7:116), that is, the ropes they had thrown on the ground did not actually start to move. The sorcerers with sleight of hand or psychologically made the people think that they had moved. That is, this sort of magic only affects the power of thought and those things do not actually turn into something different. The magician affects the power of thinking of the people who are watching. Today's psychological advancement has proven that it can be done and is called illusion. That means that nothing more than our thoughts make this magic real. The point to note here is that the Quran exposed the existence of these types of tricks from the past which took place many centuries ago. Also see heading (Kh-Y-L).

The entire religion of the Jews seemed to have got infested and comprises of such sorcery and their places of worship were the centres of such sorcery. They used to attribute these things to *Suleman* (Solomon). *Ism azam* and *nuqooshi sulemaani* (the great name and the seal of Solomon) were their special gimmicks for creating such magic. The Quran refuted all this and said that the messengers of God have nothing to do with these deceptions and superstitions (2:102).

This is what the Quran said but the *Muslims* who are supposed to follow the Quran gradually got influenced by superstitions one after another, and by naming it spiritualism gave falsehood the appearance of the truth. They only deceived themselves.

The Messenger (*pbuh*)was accused to be:

| 1110 11100 | The Messenger (pown) was accused to be. | | |
|---------------|---|---------------------|--|
| 17:47 25:8 | he is under a spell | رَجُلًا مَّسْحُورًا | |

The Quran has denied this in 25:9. The personality of a messenger is so strong and developed through the useof intellect and reasoning within the values of the revelation that no sorcerer's psychological strength can influence it. The messenger could never have come under any spell, as it is impossible. In *Moosa's* story it has only been said that he thought that the ropes were moving, but this is a different thing, while to be under someone's spell and talk nonsense is quite different.. Messengers can never be under a spell. If in this tale about *Moosa, sehr* is taken to mean worship of false ideologies, then the meaning becomes clearer.

س ح ق S-H-Q

"يَسْحَقَّر" (suhaqa), "يَسْحَقَّر" (sahqa): he hammered it or ground into fine (powder).

"أَنْسَحَق" (insahaq): he was ground (burdened).

"سَحَقَتِ الرَّبْخُ الْأَرْضَ" (*sahaqatir rihul ard*): the wind blew away the marks in the ground; it blew so hard as if it was grinding the earth.

Ibn Faris says it basically means enmity and distance, and to weaken something such that it becomes brittle.

نأسْحَقُ الضَّر عُ (*as-haqaz zar-u*): the nipples became dried of milk and withered.

[&]quot;سَحَقَتِ الدَّابَّة" (sahaqatil da-abbah): the animal ran fast.

⁽as-sahuq) means to be distant. "اَلَسُحُقْ" (as-suhuq) "السُحْقْ" (as-suhuq) "السُحْقْ" (as-suhuq) "السُحْقْ"

أَسْحَقَ فَلَاناً" (as-haqi fulana): he distanced him, killed him {T, M}.

Raghib says "سَحْقٌ" (sahq) means to turn something into smithereens.

The Quran says:

| 67:11 | The dwellers of hell will be deprived from the good things of life | فَسُحْقاً لِأَصْحْبِ السَّعِيْرِ |
|-------|--|----------------------------------|
| 22:31 | faraway place | مَكَانٌ سَجِيْقٌ |

س ح ل S-H-L

"نَيَسْحَلُمُ" (sahalahu), "نَيَسْحَلُمُ" (sahalahu), "سَحْلاً" (sahalah), "سَحْلاً" (sahalah), "سَحْلاً" (sahalah), "اللَّزِيَاحُ نَسْحَلُ الْأَرْضَ" (ar-riyaahu nashalul ard): winds scrape the surface of the earth. "السَاحِلُ" (as-saahil): river bank or sea shore which is worn away (gradually) or scraped by the water {T, R}.

The Quran says:

| 20:39 | the river will put him on the shore | فَلْيُلْقِهِ الْيَمُ بِا السَّاحِلِ |
|-------|-------------------------------------|-------------------------------------|
|-------|-------------------------------------|-------------------------------------|

س خ ر S-Kh-R

"نَسْخَرًا" (*sakhran*), "سَخْرًا" (*sakhran*), "سَخْرًا" (*sakhran*), "سَخْرًا" (*sakhran*), "سَخْرًا" (*sukhra*): means to joke with, and to play with somebody thinking him to be a character.

تَرَجُلُ سُخَرَةٌ " (rajulun suharah): a man who jests a lot andmakes fun of people.

(*sukhriyaw*), "اَلُسُّخْرِيَّ: (sukhriyaw), "اَلُسُّخْرِيَّ: jest, joke. (sukhriyyu): jest, joke.

"سَخُرِيًّا" (sakhara), "سَخُرِيًّا" (sakhara), "سَخُرِيًّا" (sikhriyyaw), "سَخُرِيًّا" (sakhara), "سَخُرِيًّا" (sakhara), "سَخُرِيًّا" (sakhara), "سَخُرِيًّا" (sakheera): to take someone forcibly somewhere, to force someone to some work, to make someone work without pay, to subjugate somebody, to make someone follow orders {*T*}.

Ibn Faris says basically it means to consider lowly and to insult.

| Surah Az-Zakhraf says: | | |
|------------------------|---|---|
| 43:32 | So some of them are above others among them | لِيَتَّخِذَ بَعْضُهُمْ بَعْضاً سُخْرِيًّا |

Here "سُخْرِيًّا" (sukhriyya) means to control or subjugate as related to getting work done {M}.

The above verse of surah *Az-Zakhraf* points to a very important reality. It says that individuals possess different abilities, capacities and affinities so that they may work for and with one another. If everyone had the same sort of qualities and abilities then nobody would work for nobody, or everyone would be doing the same thing. This is to facilitate division of labour to get work done in a society. But those with greater abilities are not permitted to rule over or subjugate others with lesser abilities. For the Quran, every human being is equal and the difference is only as far their abilities are concerned. For further details see the book titled "System of Sustenance" by G.A Perwaiz.

The Quran says:

| 45:13 | And He has subjected to you all that is in the | سَخَرَلَكُمْ مَا فِي السَّمَوَاتِ وَمَافِي الْأَرْضِ جَمِيْعاً مِنْهُ |
|-------|--|---|
| 45.15 | heavens and in the earth as per Law | متعرفكم ملاقي السموات ومناقبي الأرطن ببميعا ليله |

This is done so that man should gain knowledge about those things and make use of them. As such, the nation which deliberates upon them and utilizes them will be the nation which makes the right use of th creation.

We should reflect in the revelation by the Quran which has revolutionized human thinking. Man used to be afraid of the forces of nature, he used to worship them, used to plead before them, or think that he was weak and powerless before them. The Quran said that this was a false concept. Every force in the universe is subservient to man. These forces do not have control him and are to be brought under his control and used for the benefit of the mankind. The '*malaikah*' or the forces of nature are subservient to man. This raised man's status above everything in the universe and the door to understanding and expl;oring the universe was thus opened. Any nation that acquires knowledge of the laws of nature will make these forces to come under their control and can take advantage of these resources. In this respect there is no differentiation between a *kafir* and a *momin*. Although a *kaafir* would use these forces of nature for own good, while a *momin* will use them for the overall good of mankind. This shows that man's status demands that he conquers the forces of nature and make use of them according to his will.

The status of a *momin* is that he conquers the forces of nature and utilizes them for the benefit of mankind as directed and explained in the Quran. He who does not conquer these forces in the first place, leaving the status of a *momin* aside, does not even deserve the status of a human being.

"نَسَخِرَ" (*sakhira*) in the meaning of jest and satire has appeared at several places in the Quran as in 49:11, 37:12 and 21:41. Surah *Al-Momin* says "سَخْرِيَاً" (*sikhriyya*) in 23:110 which means the explained earlier.

س خ ط S-Kh-Te

"ألستُخَطُ" (as-sakhat): dislike, hatred, unwillingness, anger.

"سَخِطَ عَلِيْهِ" (sakhita alaih): he was angry at him.

"سَخِط" (sakhit): he disliked it, hated it.

(askhatah): he annoyed him, made him angry.

أَلْمَسْخُوْطُ، (al-maskhuut): hateful, disliked {T}.

Raghib says "سَخَطٌ" (sakhat) means extreme anger which demands punishment {R}.

But when this word is attributed to God, it will not have this meaning because God is high above such human emotions as anger. It becomes clear as noted in Surah *Muhammed*:

| 47:28 | There is adversity for them because they do not follow Allah's guidance; they dislike things which are according to Allah's directions. | ذَلِكَ بِأَنَّهُمُ اتَّبَعُوا مَا أَمِنْخَطَ اللَّهَ وَكَرِهُوا رِضْوَانَهُ فَأَحْبَطَ أَعْمَالَهُمُ |
|-------|---|---|
| 47:26 | They dislike the revelation: this results in their deeds going wasted i.e. without results | كَرِهُوْا رِضْوَانَهُ يعنى كَرِهُوْا مَانَزَّلَ اللَّهُ |

That is, they do not produce the good results that they are expecting. As such "مَا اَسْخَطَ اللهُ" (*ma askhat allah*) means those things which are not according to Allah's laws and which result in their deeds being unproductive. There is no meaning of anger here. In 3:161, "سَخَطٌ" (*sakhat*) has come opposite to "رَضْوَانٌ" (*rizwaan*).

Surah *Al-Ma'idah* says "أَنْ سَخِطَ اللَّهُ" (*un sakhitallahu*) which has been explained by أَنْ سَخِطَ اللَّهُ" (*qaddamat lahum anfusahum*) in 5:80, which means the "natural outcome of ones actions".

For more details see heading (R-Zd-Y) and (Gh-Zd-B).

"ألسَنَّكُ" (*as-sud*): obstruction, barrier, mountain. Some say "ألسَنَّكُ" (*as-sid*) is an obstruction that is manmade, and "ألسَنَّكُ" (*as-sodd*) means a natural obstruction like a mountain $\{T\}$, but others do not agree with this differentiation. In the Quran "ألسَنَّكُ" (*as-sudd*) has been used in meaning mountain (18:93) as well as for a man made obstruction (18:94). Surah *Yasin* uses this word to mean such causes and effects which obstruct human intellect and comprehension (36:9).

Ibn Faris thinks the basic meanings are to fill some gap and make it smooth.

- "سَنَدَدَ الرُّمْخَ" (saddadar rumh): straightened or corrected the (bent) spear.
- "سدًد الثَّلْمَ" (saddadas salam): filled the gap $\{T\}$.
- َرَجُلٌ سَدِيدٌ (rajulun sadeed): a man who takes the right path.
- تأمْرُ سَدِيْدٌ (amrun sadeed): something that fills every gap there may be in the truth.

Raghib says it means balanced and moderate talk which includes no exaggeration whatsoever.

| 4:9 | very balanced, and straightforward and clear | Li ^o r No á |
|-------|--|------------------------|
| 33:70 | talk, which leaves no doubt | فولا سلايدا |

It is the Quranic teaching to be clear, straight, honest and truthful in dealing with others and talk without ambiguity, straight forwardly, and in a balanced manner. One should adopt a speech which is direct and to the point. It must not be meaningless and pointless.

"شَبْعُ سَدِيْدُ" (sahmun sadeeda) is an arrow which finds the target straight away $\{R\}$.

Diplomacy is against the teachings of the Quran: See heading *radam* for the difference between "سَنَدُ" (*sudd*) and "زَدُمٌ" (*radam*).

س د ر S-D-R

"السَنْدُرَة" (*as-sidr*): a lote tree. The singular is "السِنْدَرَة" (*sidrah*). A lotetree has a good shade when it is in full blossom and when the Arabs are very tired from the heat of the desert, they rest under it. Therefore it symbolizes a heavenly place {*R*}. "فِيْ سِدْرٍ مَخْضَوُدٍ" (*fi sidrim makhzood*) is a tree which is laden with fruit and which has a good shade (56:28), or trees which have good shades but no needles to contend with. That is, comfort without any qualms.

In meaning of shade, this word appears at another place:

| 4:57 | And We will admit them to thick shades | وَنُدْخِلُهُمْ ظِلاً ظَلِيْلاً |
|------|--|--------------------------------|
|------|--|--------------------------------|

Here comfort and wellbeing both are implied. This tree is evergreen even in the desert climate, but according to *Raghib*, though its fruit is not great in nutrients, but its shade is. The Quran says that when the *saba* area became barren after the floods, then some lote trees grew there in place of the very lush gardens.

| 34:16 And something of few plum trees | وَشَيْءٍ مِّنْ سِ لْرٍ قَلِيْلٍ |
|---------------------------------------|--|
|---------------------------------------|--|

"سَدِيْنُ النَّخْلِ (sadeerun nakhl) means clump of date palms {T}.

"سَدِ رَ" (saadir): he was surprised, he couldn't see due to intense heat.

"ألسادر" (as-saadir): a man who is mesmerised due to the intensity of the heat.

"سَدِرَ بَصَرُهُ سَدَرَ أَ" (*sadira basarahu sadara*): due to the intensity of the heat, his eyes opened wide with wonderment $\{R\}$.

Ibn Faris says it basically means surprise and bewilderment.

"ألسادِرُ" (as-saadior): means one who is surprised.

Surah *An-Najam* describes the status of messenger-hood in a symbolic way. Note that the condition of revelation can only be related in a symbolic way because nobody except a messenger can ever understand the true state of it, although one can understand what is meant. It has been said that the place from where a messenger gets the revelation, the human intellect can only be surprised at it. Human intellect cannot understand what that state is.

The Quran says:

| 53:14 | The state where there is abundant surprise | عِنْدَ سِدْرَةِ الْمُنْتَلِي |
|-------|---|--------------------------------------|
| 53:16 | when that which overshadows was overshadowing | اِذْ يَغْشَى السِّدْرَةَ مَا يَغْشَى |

Other than the messenger of Allah none can understand what the state was. For the eyes it was profound bewilderment like the expanse of the heated sand of the desert with mirages all around but despite that:

| 53:17 | the eye of the messenger did not take for a deception, it | مَازَاغَ الْبَصَرُ وَمَا طَغٰي |
|-------|--|--------------------------------|
| 33.17 | observed the truth as a clear reality and with no ambiguity. | |

But this only implies for those realities which are manifested before him, it cannot cross the limit set for him because the revelation does not come to him by personal effort, so it did not increase with his efforts. Truth is revealed to him i.e. only the part which is meant to be disclosed. As compared to ordinary human beings, a messenger's knowledge knows no bounds, but compared to God's knowledge, it has limits and it cannot go beyond those limits.

Raghib says that verse 53:16 points to the place or the same tree under which the messenger (*pbuh*) made the pact with God (48:18), but obviously here the word has more of a connotation of the state than meant to be some geographical location.

"أَلسَدِيْنَ" (as-sadder): a fountainhead or reservoir of water, or river {T}.

"السَدِرُ" (as-sidr): sea. It can also mean the fountainhead of God.

"سِدْرَةُ الْمُنتَلِّى" (*sidratul muntaha*): the source of revelation where there is utter surprise for human intellect, but the messenger's eye sees it clearly.

س د س S-D-S

·· (*as-sudus*): sixth part (4:11). (*as-sudus*): sixth part (4:11).

سِدْتٌ " (as-siit): it was actually "سِدْتٌ " (sids) which later turned to "سِدْتٌ " (as-siit), i.e. six.

"سِتِّنْنَ (*sittuun*), "سِتِيْنَ" (*sittiin*): sixty *{T*} (58:2).

"سَادِسٌ" (*saadisun*): sixth (18:22).

Also see heading (S-T-T).

"أَلْسِدَى (as-sada): warp of the cloth.

"نَسَدَّانَّ (*qud asdayas saub*) and "سَدَّانَّ (*saddah*): he straightened the warp of the cloth. (*assudya*): camels which are left to roam on their own {*T*}. (*zaraba kal-uhu sudya*): his talk went waste {*M*}.

Ibn Faris says that "سدى" (sudyah) means to leave something roam free and at its own.

Khalil says "سَدُوَ" (*sadwun*) is a child's game which is played with marbles and walnuts, in which they throw these things with their hands.

The Quran says: 75:36 Does man think that he will be left unaccountable آيَخْسَبُ الْإِنْسَانُ آنْ يُتْرَكَ سُدىً

This meaning of this root needs careful attention. For weaving cloth, warp and weft both are required. Even if the warp is a hundred yards long, it is useless alone until it has weft, we cannot weave cloth without either one. Whatever social system man established was either like warp alone or weft alone. Sometimes he sought spiritualism and at other times he became completely materialistic. He has tried to keep the permanent values away from his political world. This is the reason his efforts to establish a system which can provide development of the self and prepare him for a higher purpose of life, have mostly evaded him. Humans either remained like warp or like weft but never became whole like cloth. The Quran declared that it is wrong for man to be either one entirely. He also needs the other part, but for this he will have to realize that his life has a great purpose before him. He is accountable for whatever he does in this life and his life in the hereafter will be based on his conduct here. Therefore the in this life he should use the right type of warp and weft to weave a cloth which fits into the design proposed by the Quran. This is called the righteous path. The human intellect alone cannot guide in this life as human beings do not have any internal guidance. The human intellect produces good results only when it works under the guidance provided by the divine revelation now preserved in the Quran.

Now consider the other meaning i.e. to let the camels go without someone to guide them. Allah has not left man rudderless in this way, but has provided guidance through the revelation. Therefore the correct option for man is to follow the guidance path defined and explained in the revelation i.e. the Quran. If he does not follow it, then all his efforts will go waste as noted and explained in the Quran (18:103-106). In the universe, except man, all other creations are bound to follow Allah's guidance which is inbuilt. They cannot do otherwise. This is what is called their nature (or instincts). God has formulated laws for human beings too but has given him the power to decide whether to follow them or not to follow them. However, he does not have the power to alter the effects of following the chosen path. He has the option to ignore Allah's laws but the results will definitely be compiled as per these laws. This is called the Law of Requital.

س رب S-R-B

"أَلسَرْبُ" (as-sarb): a camel, or grazing cattle.

"أَلْسَرِبْ (as-sarib): flowing water.

"أَلسُرْبَة (as-surbah): path, road.

"ألسَّارِبُ" (as-saarib): to roam in the land without any restriction and at will {**T**, **R**}.

"السَرَّرِبُ" (as-sarab) and "السَرَبُ" (as-sarab) means water that flows out of the leather containers.

Surah Ar-Raad says:

| 13:10 | One who walks or moves by the day $\{T, R\}$. | سَارِبٌ بِالدَّهَارِ |
|-------|--|----------------------|
|-------|--|----------------------|

Surah *Al-Kahaf* says:

| 18:62 | This fish made its way in the river. | فَٱتَّخَذَ سَبِيْلَةٌ فِي الْبَحْرِ سَرّاباً |
|-------|--------------------------------------|--|
|-------|--------------------------------------|--|

This word connotes moving about without restriction and with complete freedom. *Azhari* has said that "سَرَبَتِ الْإِبِلْ» (*sarbati ilibil*) is for camels to go freely where ever they may desire {*T*, *R*}.

Ibn Faris says that this root has the meaning of expanse and to move on the earth. *Raghib* says it means water that leaks.

"سَرَابٌ (*saraab*): mirage.

The Quran has likened the wrong path to a mirage (24:39). Living life without guidance is likened to looking for water by chasing a mirage which is deceptive and unreal. Our desires and deeds may look very attractive but bear on long lasting effects in life and like chasing a mirage the life ends wasted without any purpose. The Quran calls such a life as a path which leads to self-destruction.

Raghib says "السَرَابُ" (*as-sarb*) means to go towards the low lying areas or slope, because the water flows towards the slope – freedom to flow is evident in this meaning. Low lying area.

س ر ب ل S-R-B-L

"سَرَالِيَّلْ" (*sirbal*), with its plural "سَرَالِيَّلْ" (*sarabeel*) means shirts, or armour, or any dress that is worn on the upper part of the body like a shirt {*T*, *M*}. The Quran has used this word in both meanings.

| 16:81 | He created your dress which protects you from the heat and created the armour which protects you in war | وَجَعَلَ لَكُمْ سَرَابِيْلَ نَقِيْكُمْ الْحُرَّ وَسَرَابِيْلَ نَقِيْكُمْ بَأْسَكُمْ |
|-------|---|---|
|-------|---|---|

In surah *Ibrahim*, it is said about rebels of Islam that when their strength breaks:

| 14:50 their armour will turn to coal tar | سَرَابِيْلَهُمْ مِنْ قَطِرَانٍ |
|--|--------------------------------|
|--|--------------------------------|

This means that their armour which protects them from the enemy, will stick to their bodies like coaltar instead of providing protection.

سر ج S-R-J

"ألسَرَاخ" (*as-siraaj*) means a lamp or anything which gives out light {T, R}. Some think that it is the Arabized version of Persian word "جراغ" (*chiraagh*) which means a lamp.

"ألسِرَاجْ" (as-siraaj) also means the sun {T, R}.

The Quran has said:

| 25:61 | And made in it the sun | جَعَلَ فِيْهَا سِرَاجاً |
|-------|--|-----------------------------|
| 71:16 | The sun was made a lamp (to provide light) | وَجَعَلَ الشَّمْسَ سِرَاجاً |

The Messenger (*pbuh*) has been called "سِراجاً مُنِيْراً" (*siraajaw muneera*) in 33:46.

"أَلْسَّرْ جُ (*as-sarj*): saddle.

(*as-saraaj*): saddle maker, one who tells a lot of lies {T, R}.

Ibn Faris says that this root basically means beauty, adornment, and good looks. The lamp is called "أَلسَرَّرْجُ" (*as-siraaj*) because of its light's beauty. A saddle is called "أَلسَرَّرْجُ" (*as-siraaj*) because it adorns an animal. "سَرَّجَ وَجْبَہ" (*sarraja wajhahu*): he adorned his face, made it more beautiful.

| S-R-H | س ر ح |
|-------|-------|
| | |

"نَالتَسَرِيْخَ" (*as-saareeh*): to let animals graze freely in a pasture in the morning {*T*}.

| نَ تَسْرَحُوْنَ When you take them out for grazing |
|--|
|--|

"تَسْرِيْحٌ" (*sarah*) and "تَسْرِيْحٌ" (*tasreeh*) mean to let free or to liberate from a contract like wedlock. Hence it may be used for divorce and to liberate $\{T\}$.

| 33:28 | And to set you free (let you go) in a good manner | وَ أُ سَرِّحْكُنَّ سَرَاحاً جَمَيْلاً |
|-------|---|--|
| | | |

| This word has appeared against "إِمْسَاكَ" (<i>imsaak</i>) which means to block in surah <i>Al-Baqrah</i> : | | | | |
|---|----------------------------------|---|--|--|
| 2:229- | | زاد براس ^{عه} مرده بر آدند و عنو ا در برا. | | |
| 2.231 | To keep obligated under contract | فَإِمْسَاكٌ بِمَعْرُوْفٍ أَوْتَسْرِيْخٌ بِإِحْسَانٍ | | |

Ibn Faris says its basic meanings are to open up or to proceed to go.

سرد **S-R-D**

Ibn Faris says that "السَرَّدُ" (as-sard) means to join one thing with another, like the links in armour.

It is also used to mean making armour and for sewing shoes or other leather goods.

: ألسَّرْدُ (*as-sard*): hole.

(*al-misrud*): that with which a hole is made.

"أَلسَّرِيْدَ ةُ" (as-sareedah): leather string with which shoe etc. is sewn {T}.

The Quran says:

| 34:11 | keep measure of the holes correctly so that the links of the armour may fit into them | وَقَدِّرْفِي السَّرْدِ |
|-------|--|------------------------|
|-------|--|------------------------|

The second part of the verse refers to righteous deeds implying that these deeds tie together just like armour and provide protection in the long run.

س ر د ق S-R-D-Q

"ألسُرَالِقَ" (*as-suraadiq*): that covering (of canvas or cloth) which is strung over the house patio, or any wall, or canvas wall which is strung or built around something. That is why it also means the cloud which spreads around a place and encircles it $\{T\}$.

Ibn Faris says "أَلَسُرَ ادِقَ" (as-suraadiq) means dust cloud.

Raghib says it is a Persian word that has been adopted in Arabic $\{R\}$.

The Quran says:

| 18:29 | The fire of hell whose columns will surround them from all sides. | نَاراً أَحَاطَ بِمِمْ سُرَادِقْهَا |
|-------|---|------------------------------------|
| 18.29 | (i.e. Hell will encompass them from all sides) | |

"أَلْسَرُ (as-sirruh): that matter which is kept secret $\{T\}$.

This root means to hide, but sometimes it also means the opposite i.e. to reveal {Latif-ul-Lugha} {F}. "أَلْفَرَحْنَ" (*as-sururu*), "أَلْخَبُوْرُ" (*hubur*) and "أَلْفَرَحْ" (*al-farah*) are almost similar words but "أَلْخُبُوْرُ" (*as-surur*) is the happiness which remains in the heart and "أَلْخَبُوْرُ" (*hubur*) is the happiness which gets reflected through one's face. These are both good traits but "فَرَحْ» (*farah*) is that happiness which produces false pride, and hence is bad {*M*}.

"سَرَّ شَرَّ (*sarrah*): made him happy.

"مَسْرُوْرٌ (*masroor*): happy (84:9-13).

السَرُّنُ (*as-siir*): the beginning of anything, it's pure or basic part, the core. It is also used for prime land. "السَرُّنُ (*sararatul waadi*): the best part of the valley.

"أَلْمُسَرَّةُ" (al-masarrah): throne of flowers.

"ألستَرَّاءُ" (as-sarra'a): well being, abundance of prosperity, comfort and luxury {T}.

This word is the opposite of "أَلضَرَّاءُ" (azzarra 'a) in 7:95.

السُرِّبَّةُ (as-suriyyah): a slave girl with whom sexual relations were established.

"ألسُرِّيْنَ" (as-sareer): government, seat of government, seat, bed $\{T\}$, because only well established people have it.

Surah *An-Anaam* has used "سِرِّ" (*sirrun*) opposite to "جَبْرٌ" (*jahr*) in 6:3. As such, "سِرِّ" (*sirrun*) means secrets.

Surah *Al-Baqrah* has used words like "مَا يُغْلِنُوْنَ" (*mayusirron*) and "مَا يُغْلِنُوْنَ" (*mayo 'linun*) to mean secret talks in 2:77.

Surah *Ibrahim* says:

| | | Whatever Allah has given them, whether unseen qualities or | |
|------|----|--|--|
| 14:3 | 31 | things of this world which one can see, are kept available for the | وَيُنْفِقُوْ مِمَّارَزَقْنْهُمْ سِرّاً وَعَلَانِيَةً |
| | | benefit of mankind | |

It could also mean openly and secretly.

In Surah *Taha it* says:

| | 20:7 | He knows secrets and even more hidden things. | يَعْلَمُ السِّرَّ وَأَخْفَى |
|--|------|---|-----------------------------|
|--|------|---|-----------------------------|

Surah Yunus says:

| 10:54 They will try to hide their shame when they meet the punishment. |
|--|
|--|

Some scholars say that this word means opposite of hiding, that is, to reveal, but hiding seems more appropriate here.

"سُرُرُ" (*surur*) means wooden short seat (15:47). Singular is "سَرَيْرٌ" (*sareer*), and "سَرَاءِرُ" (*saraa-ir*) means secret talks (86:9). Singular is "سَرَيْرٌ" (*sareer*).

"(israar) means to talk about secret things, to hide from others and talk secretly (27:26).

''نَالسَّرْعُ (*as-sara 'a*), ''اَلسَّرْعُ مَّرْ), ''اَلسَّرْعُ مَّرْ) (*as-sara 'a*): to become fast, to happen quickly, fastness, haste.

"سَرُعَ" (saru 'h): fast wind, he hurried.
(idiana and initial kail): horses which surge ahead {T}.

Ibn Faris says it basically means to make haste.

The Quran has said at various places:

| 1.110 2.41 | | |
|------------|----------------------------------|------------------------------|
| 2:202 | Allah is quick in accountability | اللَّهُ سَرِيْعُ الحُسِبَابِ |

According to the Law of Requital every cause has an effect. However, the results take time to materialise though the natural turn of events starts long before the result becomes evident. For example a plant starts its growth the moment a seed is planted in the ground and right environment is provided to the seed. However, the growth manifests itself after sometime when it erupts from the ground and one can see the branches and the stem of the plant. Likewise a our deeds start formulating results when the action is taken , but the consequence is manifested sometime later. This is how the turn of events is "سَرَيْعُ الْجِسَابِ" (saree-ul hisaab), or quick in holding accountability. The Quran has declared that every deed is accountable (45:21).

Surah *Al-Qaf* mentione "سِرَاعً" (*sira'un*) which means something that happens quickly. "مُسَارَعَة" (*saara'a*), "مُسَارَعَة" (*musara'ah*) and "سِرَاعًا" (*sira'an*) mean to make haste, to compete. "مَالَى مَغْفِرَةٍ" (*saari-u ila maghfirah*): make haste in going towards security (3:132).

سرف S-R-F

"ألسَرَف" (*as-surf*): to cross the limit, to commit an excess $\{T\}$.

Ibn Faris says it means to do something foolish.

Surah Bani Israel says:

| 17:33 | He should not exceed in killing | فَلَايُسْرِفْ فِي الْقَتْلِ |
|-------|---------------------------------|-----------------------------|

This means that he should remain within limits, lest he kills the killer himself, by taking the law into his own hands in foolishness. In this case one should hand over the matter over to a court of law. This is explained further by "إِنَّهُ كَانَ مَنْصُوْرًا" (*innakana mansora*):

Surah *Al-Furqaan* uses this word against "ثَنَّرَ" (*qatar*) in 25:67. "قَتَرَ" (*qatar*) means miserliness and constriction. As such "اسراف" (*israaf*) would be "افراط" (*ifraat*) against "تفريط" (*tafreet*). That is, to spend more than necessary at a place i.e. to waste.

That is why it is said:

| The mother fed too much milk to her child and spoiled his health | سَرَفَتِ الْأُمُّ وَلَدَهَا |
|--|-----------------------------|
|--|-----------------------------|

This means for a thing to go waste because the intended benefit does not accrue.

تسترَفُ الْمَاءِ" (saraful ma'i) means water to be wasted by giving no benefit when it flows across the floor (T). That is why not keeping a thing where it is meant to be kept is called "السُرَاف" (israaf), and one who does so is called "أَسْرَفُ" (musrif). The nation of Loot is called "مُسْرِفٌ" (qaumun musrifoon) in 7:81, because they used to waste their reproductive ability by resorting to sexual perversion. The Quran warns us that these practices may not be taken serious when become prevalent; however, these have serious long term consequences in the life of nations and lead to their ultimate fall. Those who create chaos in the land are also called "مُسْرِفِينَ" (*musrifeen*) as in (26:151).

The above explanations show that "أَسْرَافٌ" (*israaf*) is not only being a wasteful spender (or one who spends needlessly), it also means to spend human energy, time, wealth or any other capability for a purpose which is not constructive, or to waste it for destructive results.

For the difference between "أينْذِيْرُ" (israaf) and "تَنْذِيْرُ" (tabzeer) see heading (B-Dh-R).

سرق S-R-Q

"سَرِقَةٌ" (*saariqah*): to take someone else's possession secretly. If it is taken openly, then this act will be called "السُتِلَابُ اِنْتِبَابٌ" (*istilaab intihaab*) if the owner resists. But if it is still taken from him by force then it will be called "غَصُبٌ" (*ghasab*) {*T*, *M*}.

تَسَرِقَ الشَّيْءُ (sariqas shaiyi): the thing became hidden.

َّبُوَ يَسْأَرِقُ ٱلنَّظَرَ الَّذِبَ (*huwa yusaariqun nazara ilaih*): he is looking as glance at him. (*أَ*بُوَ يَسْأَرِقُ ٱلنَّظَرَ الَّذِبُ

| Surah Yus | suf says: | |
|-----------|---------------------|----------------------|
| 12:81 | Your son has stolen | اِنَّ ابْنَکَ سَرَقَ |

"كَالسَّارِقُ (*as-saariq*): thief (5:38).

"(*istaraqas sam'a*): to eavesdrop {*T*, *M*} (15:18).

In 37:10 it has been said "خَطِفَ الْخَطْفَة" (*ikhifatil khatfitah*): to catch something in the air, or to get the whiff of something and to build mountain out of molehill.

For the punishment for a thief is "غَطْع بَد" (*qataa yud* as noted in (5:38) i.e. cutting hands. For details of this, see heading (Q-Te-Ain).

س ر م د S-R-M-D

''اَلسَرْمَدُ'' (*as-sarmad*): permanent, a thing which always remains and which never ends. ''اَلْيَلُ سَرْمَدُ'' ''(*lailun sarmad*): long night.

Raazi says "سَرْهُدَ" (*sarmad*) has been culled from "سَرْهُدَ" (*sard*) which means continuous and one after another. By adding "م" (*miim*) to it, the benefit of exaggeration has been obtained, thus it would mean continuous period {T, R}. *Ibn Faris* says this as well.

Muheet says that "اَلسَرْمَدِئُ" (assarmadi) is something which has no beginning or end {M}.

| The Quran says | 5: |
|----------------|----|
|----------------|----|

| 28:71 | If Allah prolongs the night for you $\{T, R\}$. | اِنْ جَعَلَ اللَّهُ عَلَيْكُمُ اللَّيْلَ سَرْمَداً |
|-------|--|--|
|-------|--|--|

"ألسُرَىْ" (*as-sura*): to walk the better part of the night. "سَرَىَّ" (*sara*), "يَسْرَىَّ" (*sara*), "سَرَىَّ" (*surya*): to walk at night. "أَسْرَى اِسْرَاءً" (*asrya isra*'): to walk during the night. "أَلْسَرَيَّةَ" (*as-sarriyyah*): an army contingent, because it moves at night so that the enemy is not warned. "أَلْسَرَيُّ

Surah *Maryam* says:

| 19:24 | there is a canal, down the slope | تَحْتَكِ سَرِيًّا |
|-------|----------------------------------|-------------------|

"سَرَاة" (sarah): the higher part of something, vast expanse of land.

Raghib and *Muheet* say that in 17:1, when it says "سَبُخْنَ الَّذِي أَسْرَى بِعَدِهُ" (*subhaanal lazi asra bi-abdehi*), the word "سَنَرَى (*asra*) has not come from "سَرَى يَسْرِى (*sarah yasri*) which means to walk at night, but rather from "سَرَاةٌ" (*sarah*), which means that God took his missionary to "سَرَاةٌ" (*sarah*), vast expanse of land.

"نَبْهَنَّ) (*ajbala*) means that he went atop a mountain and "أَنْبَنَّ) (*athama*) means that he went to the "نبام" (*tahamah*) {R, M}. Mecca had become a restricted land for the Messenger (*pbuh*) and his companions, so he migrated to Medina where the atmosphere for his mission was more favourable and there were more opportunities for his work.

But we consider that this "سَرَىٰ" (*sarya*) is indeed from "يَسْرِىْ" (*yasri*) and *lilan* is an addition for stress. History tells us that the Messenger (*pbuh*) had commenced his migration journey at night.

Ibn Faris says it means physical courage and generosity and the word is spelled both as (S-R-Y) and (S.R-W).

Hence "السَّرْوُنَّ (assaro) means to open something up "السَّرْوُنَّ (*assaro*) means to open something up "سَرَرَ أَةُ النَّبَالِ

سطح S-Te-H

"ألسَطْخ" (as-sath): the roof of a house which is even/flat (smooth), or the upper part of anything.

"يَسْطَحْ" (satash), "يَسْطَحْ" (yastah): he spread out, smoothened it and laid out.

(al-mastah): smooth place where dates are dried {T, R}.

| The Qura | n says: | |
|----------|--|-----------------------------------|
| 88:20 | (don't you notice) at the earth, how it is spread out (for habitation) | وَلِلَى الْأَرْضِ كَيْفَ سُطِحَتْ |

سطر S-Te-R

"سَطْراً" (satar), "سَطْراً" (vastur), "سَطْراً" (satra): to write (in straight lines).

Ibn Faris says its basic meaning is to make even rows, like the lines in a book or a row of trees. This has led it to mean writing.

| 68:1 | By the ink pot and the pen, and what ever they write | ن وَالْقَلَمِ وَمَايَسْطُرُوْنَ |
|------|--|---------------------------------|
|------|--|---------------------------------|

This above verse is referring to the Quran and all the knowledge which man puts down in writing for safe keeping. All testify to this fact.

Surah Bani Israel says:

| 17:58 that which is written in the book | كَانَ ذَالِكَ فِي الْكِتٰبِ مَسْطُوْرًا |
|---|---|

"معنى مُسْتَطَرٌ" (*mustatar*) has the same meaning as mentioned above (54:53). (*al-asaateeer*) is the plural of "أُسْطُوْرَةٌ" (*al-asaateeer*) is the plural of "أُسْطُوْرَةٌ" (*oosturah*), which means stories, tales. *{T*}.

Some have said that word means a story. The Quran says that when these people are told to deliberate on historical facts to find out what happened to the nations which indulged in what you too are practicing, they reply by saying:

| 6:25 | These are tales from the past, which we have nothing to do with us | اِنْ هٰذَا اِلَّا أَسَاطِيْرُ الْأَوَّلِيْنَ |
|------|--|--|
|------|--|--|

The Quran states that previous generations were warned that early nations got destroyed according to the Law of Requital and that the present generations will also experience the same outcome if their conduct remains the same.. The present day Mulims who read the Quran have the same attitude as those of the previous generations. When they are warned about the Law of Requital and what it did to the previous nations, they say that it was applicable to the Jews, or it was concerning the Christians, or this is about the pagans (*mushrikeen*) of Mecca, or this is about the hypocrites of Medina. In other words the entire Quran is only narrating the tales from the past which has no implications for the modern world. The present day Muslims claim that the only part that is relevant for us is, where there is a mention of the promises of paradise and heavenly life. The Quran states that this is their false claim and complacency and has nothing to do with the accountability process. Each individual is accountable for his deed (45:21). Since stories and tales are generally made up, "individual" (*sattara*), "individual is collect lies {*T*}, and since "*satrun*) means a straight line, therefore "*as-satr*) also means to cut straight with the sword.

"ألستَاطُوْرُ (as-saatoor) means knife {T}.

سَيْطَرَ عَلَيْبَ" (sversera alaih): to stand straight as a row at someone's head.

This led it to mean "الْمُسَتَطِرُ" (al-musatr) which means overseer, guard, imposer {R}.

The Quran says:

| 88:22 | You are not a guardian over them | لَسْتَ عَلَيْهِمْ بِمُصَيْطِر |
|-------|----------------------------------|-------------------------------|
| 52:37 | Are they imposed ones? | اَمْ هُمُ الْمُصَيْطِرُوْنَ |

In these verses the meanings are equivalent with "مَسَلَّطُوْنَ (*masallatoon*) which means those who are imposed as guards on someone

سطو S-Te-W

"سَطَاعَلَيْهِ وَبِم" (*sata alihi wabehi*), "سَطُواً" (*satwun*), "سَطُوةً" (*satwah*): to attack or to strongly overpower someone.

Raghib says to attack someone physically with bare hands is called "سَطْوَةٌ" (*satwah*). Actually it is derived from "سَطَرَ أَنْ الْفُرَسُ" (*satal faras*) which means a horse to raise its forelegs and stand on its hind legs {T, R}.

The Quran says:

| 22.72 | they might attack any moment | يَكَادُوْنَ يَسْطُوْنَ |
|-------|------------------------------|------------------------|
| 22.12 | (commit excesses on them) | |

Ibn Faris says it basically means anger and overpowering, as well as height.

"سَطَا الْمَاءُ" (satal ma-o): water level has increased many folds.

"سَعَدَهُ اللَّهُ" (*sa'adahul-lah*): Allah helped him "سَعْدَهُ" (*yas-aduhu*), "سَعْدَهُ" (*sa'da*): he guided him. "نَعْدَدَ" (*sa'id*), "سَعْدَدًا" (*yas'ud*), "سَعْدَةً" (*sa'da*): he was blessed. "الْمُسْاعَدَةُ" (*al-eesaad*), "الْمُسْاعَدَةُ" (*al-musa'adah*): to help.

Faraa says it means to follow Allah's guidance and His commandments.

"ألستَّاعِدُ" (*as-sa 'id*): the part of the hand from the elbow to the wrist wherein all the strength lies. This led to "الْمُسَاعَدَةُ" (*al-musa 'idah*) meaning to help one another, that is because when people go on a mission to help one another, they walk hand in hand as close companions {T, R}.

The Quran quotes "سَعَدَ" (*saeedun*) which has appeared opposite to "شَقِى" (*shaqiun*) in (11:105) The later means going against Allah's guidance.

"شَقِيْ" (*shaqiyun*) too has come against "سَعِينَدُ" (*sayedun*) in (11:106-108). That is, fortunate is is he who is close to Allah by opting to follow His guidance to go forward in life, and while "شَقِينَ" (*shaqiyun*) is he who ignores this guidance and thus remains deprived of its benefits. It is an unimaginable personal loss for those who reject the guidance of Allah as revealed and preserved in the Quran.

Raghib says "ألستَعْلَنَّا (*assa'du*) and "ألستَعَادَةُ" (*as-sa'adatah*) refers to the help which comes from Allah to those who opt to follow the guidance to help them reach virtue. We sometime hear people saying that such a thing is "سعد" (*sa'd*) lucky or such a thing is "سعد" (*nahas*) unlucky. Similarly this day is "سعد" (*sa'ad*) lucky or so and so day "نحس" (*nahas*) is unlucky. This is all non sense and the Quran warns us to stay from all such beliefs as these keep us away from the righteous path.

Nothing is lucky or unlucky. Any deed which has good result according to the criterion from the Quran is good and can be called "سعد" (*sa'ad*), and the day on which the result appears can be called "سعد" (*masood*). Likewise, any deed whose result is bad using the Quranic criterion is called "نحس" (*nahas*) and the day on which this result appears can be called "منحوس" (*nahos*). The days of the week have no significance at their own since these are simply measurements of time fixed by us to be aware of the passing time (and life). There is nothing "سعد" (*sa'ad*) or "*icam*" (*nahas*) in the stars either. Stars follow their designed paths according to the known laws and the Quran makes it very clear. These have absolutely no connection to anyone's fate. Our fate is in our own hand and this is dependent on our deeds. More details can be found under the heading (N-H-Sd).

سعر S-Ain-R

"أَلْسُعْرُ (as-so 'ar): the heat of the fire, hunger.

Ibn A'rfa says that "سُعْرَ" (so'ar) means something that burns someone.

Faraa says it means to bother, hard work, severe pain, hardship.

"سَعَرْنَابُمْ بِالنَّبْلِهِم" (sa 'rna hum bin nabl): we shot arrows at them and pierced them {T}.

"شَسْعُوْرَ" (mas 'or) means a man who is very thirsty and hungry $\{T\}$. Also one who is greedy for more even though he has had his fill or one whose desire is never satisfied $\{M\}$.

"اَلْسَبْعَالَ" (as-su'ar): the heat of the fire, or intense hunger.

"ألستُعَان (as-sa'er): fire, flaming fire {T}.

Surah An-Nisa says:

| 4:10 | Those who unjustly usurp the orphan's possessions, fill themselves with fire and they | اِنَّ الَّذِيْنَ يَأْكُلُوْنَ أَمُوَالَ الْيَتْلَمِي ظُلْمًا اِنَّمَا يَأْكُلُوْنَ فِي بُطُوْخِمْ نَارًا - |
|------|---|--|
| | will be thrust into flaming fire | وَسَيَصْلُوْنَ سَعِيْراً |

What will happen to such people after death is to be seen over there (in the world hereafter). In this life such people are extremely greedy with unsatiable greed for riches, and they madly pursue easy money.. As such, "سَعُوْ" (so'r) and "سَعُوْ" (so'or) means madness as well $\{T\}$.

Ibn Faris says it basically means for something to flare up, to be raised, to be provoked.

"سَعَرَ" (*sa'ar*) and "سَعَرَ النَّارَ وَالْحَرْبَ" (*sa'aran naar wal hurb*) would mean to intensify the battle and make it rage {*T*}.

| 81:12 | and when hell will be stoked | وَ إِذَا الْجُحِيْمُ سُعَّرَتْ |
|-------|------------------------------|--------------------------------|
|-------|------------------------------|--------------------------------|

This indicates the intensity of the punishment which will be intense according to severity of the committed crime.

سعى S-Ain-Y

"سَعْی" (sayun) means to intend, to walk fast or move fast, to arrange for something, or struggle for it.

Muheet says that when this word is used to mean go or run, it is followed by "اللي" (*ila*), like in "اللي يُحُرُ اللهُ (*fas-au ila zikril lah*), and when it is used to mean struggle or strive for, then it is followed by "لَا يَكُ (*laam*), like in "أستَّاعِيُ" (*as-sa'aa laha*)

"سعى" (as saee) one who tries, also one who collects charitable donations .

The Quran has used this word to mean run (2:260, 20:20), as well as to mean to strive (17:19). That is, running around, struggle, strive and take action, etc.

The Quran says:

| 53:39 a man gets what he strives for | لَيْسَ لِلْإِنْسَانِ الِاَمَا سَعْی |
|--------------------------------------|-------------------------------------|
|--------------------------------------|-------------------------------------|

This verse guides to a great principle. Economics also dictates that man should only receive the remuneration for his labour. To take something for nothing or to receive the returns on capital is not ligitimate as one has not worked for it. The benefits of a system which is built upon this principle can only be imagined by those who have insight. This principle highlights the fact that a man's place in society is determined by the labour he puts in, and not by virtue of his family or other references.

In the world of Deen this principle establishes the fact that deliverance and happiness accrue only through one's own efforts and not by someone's recommendation or favour.

The Quran has also refuted the concept that every child is born with the sins of his parents. Quran refutes that he is atoning for the sins committed during his last incarnation. A human being is born with a clean slate, and he becomes liable to get as many pleasantries of life as he struggles for doing good deeds. This principle also announces to the world of statesmanship and politics that every human child must get a level playing field. Nobody should be favoured in this respect nor obstructed. Is this not a revolutionary idea as a Quranic Principle to be put forward to the modern world?

"نَسَغَبَ" (saghab), "نَسَغْبَ" (vasghab), "وَسَخِبُ" (saghebu), "نَسْغُبُ" (vasghab), "نَسْغُبُ" (saghba), "نَسْغُبُ" (musghaba): to be tired and hungry.

Raghib says it also means to be thirsty. *Ibn Faris* says the basic meaning of this root is hunger.

"المَسْغَبَة (al-masghabah) means drought.

The Quran says:

| 90:14 | Arrange for food of people when hunger and strife is all around | اِطْعَامٌ فِيْ يَوْمٍ ذِيْ مَسْغَبَةٍ |
|-------|---|---------------------------------------|

The Quran has compared it to climbing uphill (90:11-14). To earn with one's own efforts and to spend whatever more one earns which exceed his needs at a time when hunger is galore, is a great thing to do This is what polishes human personality, and this is what Islam aims at. This is what is meant by establishing a system of 'raboobiyat' or welfare. In this connection, these verses of surah *Al-Balad* are a great manifestation of truth (90:11-16), and they should be studied in detail as a permanent value. Details can be found in the book titled Islamic System of Sustenance *by G.A.Parwez*.



"سَفَحَ الدَّمَ" (safahad-dum): he let blood flow, dropped blood, killed

"سَفَحَ الدِّمْعَ" (safahad dum-a): he shed tears

"سَفَخَ الدَّمْعُ" (safahad dum-u): tears rolled down

(*al-musafaha*): to fornicate , because in it the human effort is wasted without any comittment. Thus in the pre-Islamic era of ignorance when Arabs invited a woman for marriage, they said "النُكَرِيْنِيُ" (*inkaheeni*) and when they invited only for illicit relationship they said "سَافِحِيْنِيُ" (*saafiheeni*). "سَافِحِيْنِيُ" (*saafiheeni*). "سَافِحِيْنِيُنَ" (*as-safeeh*) means the fourth arrow among the arrows of chance or gambling which had no marking and was plain, for which no one had to pay and which was without any result {*T*}.

The Quran has first listed the women with whom wedlock is forbidden, and then declared that besides them the marriage is permitted with the rest. This will be "مُحْصِنِيْنَ غَيْرَ مُسَافِحِيْنَ عَيْرَ مُسَافِحِيْنَ مُصْرَفِعَ مُعْتَرَ مُسَافِحِيْنَ عَيْرَ مُسَافِحِيْنَ مُعْتَافِحَة مُعْرَضَ مُسْمَعْتَ مُعْتَعَانَ مُعْتَعَانَ مُعْتَعَانِينَ مُعْتَعَانَ مُعْتَعَانَ مُعْتَعَانَ مُعْتَعَانَ مُعْتَعَانَ مُعْتَعَانَ مُعْتَعَانِ مُعْتَعَانَ مُعْتَعَانَ مُعَانَعَانَ مُعْتَعَانَ مُعَانَ مُعْتَعَانَ مُعْتَعَ

"مُحْصِنِيْنَ" (musaafeheen) means as related under heading (H-Sd-N).

"شَسَافِحِيْنَ" (*musaafeheen*) means to waste the human energy in the sexual act. This is meant to point to a great truth. Let us first see what is the difference between "زنا" (*nikah*) marriage and "زنا" (*zina*) fornication. Both include the sexual act and its associated pleasure, but in the former, personal pleasure is not the only aim, whereas in the latter, only personal pleasure is intended. In fornication both man and woman try to avoid pregnancy. This is what is meant by wasting the human effort. As such, man should avoid any fornication which avoids the responsibilities of being married , and if the purpose is only to obtain sexual pleasure, then according to the Quran it is not permitted.

In the same surah, it is stated later:

| 4:25 | Chaste, not immoral and not those who take | مُحْصَنٰتِ غَيْرَ مُسْفِحْتٍ وَّلَا مُتَّخِذَاتِ أَخْدَانِ |
|------|--|--|
| 4.23 | secret relations | |

For "خذان" (*akhdaan*), see under heading (Kh-Dh-N), which means secret friendship, although this word has appeared in the context of a slave girl of that time as well.

These three terms would mean as under:

- i. "مَحْصِنِيْنَ" (*muhseneen*): the form of married relation in which all the limits, rights and duties, and purpose are kept in mind.
- ii. "*الشَّفَاخ*" (*as-sifaah*): fornication which has no form of "*muhsinee*", no matter even if it becomes "acceptable" in a society.
- iii. "الِنَّخَاذِ اَخْدَانِ)" (*ittekhaazi akhdaan*): the fornication which is not permitted, even in permissive societies.

According to the Quran, only the form mentioned in (i) is permissible.

س ف ر S-F-R

"ألسَفْرَ" (as-safr) basically means to lift off a veil and make it evident.

Muheet says that "اَلسَفُرُ" (*as-safr*) means to display or highlight the evident part of something and "الْسَفُرُ" (*al-fasr*), from which "تفسير" (*tafsser*) or explanation has been derived from, means to lay open the insides of something and to make it evident or clear. However, it means to unveil, distinct and make clear.

"سَفَرَتِ الْمَرْأَةُ (safaratil mar-ah): the woman lifted the veil from her face {R}.

Ibn Faris says it means to open, to disperse and to be clear.

"اَلسَفْرُ" (*as-safi*) also means to sweep clean.

"أَلْمِسْفَرَةُ (al-misfarah) means broom.

"سَفَرَ" (safar) means to soil or make dirty.

"سَفَرَتُتِ الْرَيْحُ الْغَيْمَ" (as-safaratir reehul ghaim) i.e. the wind dispersed the clouds.

"السَّافِرُ" (as-saafir) means a traveller.

"أَلَسْفُرَةَ" (*as-sufrah*) food for the traveler which is prepared for the journey. After that it started meaning lunch box, and then "سُفُرَةً" (*sufrah*) began to mean cloth, mat or plastic that is laid out on the ground as a table e.g. in some eastern cultures {*T*}.

" $juite{safeer}$ means one who arbitrates peace between nations, that is, an ambassador $\{T\}$, in a sense that he brings out what is in both the proponent's hearts and clears up the matter.

(as-sifaarah): to try to make peace among nations {T}. أَلسَفَارَةُ (as-safaaratu), "أَلسَفَارَةُ (as-safaaratu)

(as-sifr) a great book or a book which highlights the truth, the plural is "أَسْفَار" (asfarah) as in 62:5. (asfaral kitaaba safra): "سَفَرُ الْحِتَابَ سَفَرُ الْحِتَابَ سَفَرُ

"سَافِرَ" (saafir) means writer, plural of which s "السَفَرَةُ" (as-safarah).

"أَسْفُر الصَّبْخ" (asfaras subh): the day dawned (became bright).

The Quran says:

| 74:33 | When the morning is well lighted (becomes bright) | وَالصُّبْحِ إِذَا أَسْفَرَ |
|-------|---|-------------------------------|
| 80:38 | some faces that day will be lighted (happy) | ۇجُوْدٌ يَوْمَءِذٍ مُسْفِرَةٌ |
| 80:15 | in the hands of the writers | بِٱيْدِىْ سَفَرَةٍ |
| 2:184 | during travel | عَلَىٰ سَفَرٍ |

"تَفْعُ" (*saf'un*) means to pull after holding something, to singe, to mark. It also means to slap. "سَفَحَ بِنَاصِيْتِہ وِبِر جُلِہ" (*safaha bina siyatehi wabirijlihi*): caught him by the forelocks or the leg, and pulled him {*T*}.

The Quran says:

| 66:15 | We will surely pull him by the forelocks (by catching hold of the forelocks), will pull them harshly | لَنَسْفَعاً بِالنَّاصِيَةِ |
|-------|--|----------------------------|

It means that at last these powerful and rich opposing the Truth will be demeaned and demoralized and will be overpowered and defeated.

"ألسُفْعَنْ" (*as-suf'ah*) means that heap of rubbish that lies in the ruins. Actually this word is used for blackish colour $\{T\}$.

Raghib says "سَفَعٌ (saf'un) means to catch a horse by its black forelocks and pull.

Ibn Faris says it has two basic meanings. One is of blackish colour, and the second is to catch/hold something by hand.

س ف ک S-F-K

"سَفَى (safak): to let flow, usually it means to shed blood $\{T\}$.

"(*as-saffaak*): one who sheds too much blood, or a man who is fluent in some language $\{T\}$.

| The Quran says: | | |
|-----------------|-----------------|---------------------|
| 2:30 | will shed blood | يَسْفِكُ الدِّمَاءَ |

سفل S-F-L

"نَالسِفُلْنَ" (*siful*), "أَلسَفُلْنَ" (*as-sufl*): lowliness. It is the opposite of "عَلْوٌ" (*ilwun*) and "عُلُوٌ" (*ulwun*) which mean height, stature etc.

''أَلأَسْفَلُ'' (*al-asfal*): very low, it is the opposite of ''تَعْلَى'' (*aala*) which means very high. 'سَفْلَةُ النَّاسِ'' (*siflatun naas*): lowly, mean people {*T*}.

The Arabs also call a man "ألستَفَلَّ" (as-saafilah), if he is a guest at a dinner and robs the host {M}.

The Quran says about the punishment of Loot's nation:

| · | | |
|-----|---|---|
| :82 | turned the upper class into the lower class | جَعَلْنًا عَالِيَهَا سَافِلَهَا |
| | | turned the upper class into the lower class |

About the hypocrites, the Quran declares:

| ى الدَّرْكِ الْاسْفَلِ مِنَ النَّارِ they live in the lowest level of hell |
|---|
|---|

This means that they live in a state of continuous inner turmoil. This refers to their state in this life, while in the hereafter they will face the worst consequences as a result of what they did in this life.

| 5:95 | the lowest, even worst | ٱسْفَلَ سَافِلِيْنَ |
|------|------------------------|---------------------|
|------|------------------------|---------------------|

"يَسْفِنُ^{*} سَفَنَ¹» (safanash shaiya), "يَسْفِنُ^{*} سَفَنَ¹» (yasfinuhu safna): to pare something from the top or to rub it. "سَفَيْنَدُّ» (safeenah) has been derived from it and means a boat, perhaps because boats were made by scraping out big trunks of trees in the old days. This was how a place to sit inside a boat was made. Or because when it sails, the boat seems to be parting the water.

"سَفَاءِنُ الْبَرِّ (safaa-inul bar) means camels which are called boats of the desert {T, M, R}.

The Quran says:

| 18:71 | they both boarded the boat | رَكِبًا فِي السَّفِيْنَهة |
|-------|--|---------------------------|
| 18:76 | as far the matter related to the boat is | اَمَّا السَّفِيْنَةُ |
| 10.70 | concerned | |

س ف S-F-H

"سَفَر (safah) means stupidity, ignorance, nonsense, uneducated .

(safihahu): to persuade someone to ignorance, or stupidity, to kill someone.

"سَفِمَ الشَّرَابَ سَفَمَ السَّرَابَ سَفَمَ السَّرَا

"تَوْتُ سَعَيْبَ" (*saubun safyeh*): a poorly and roughly woven cloth, but its basic meanings are being nervous and in a hurry as well, which are an indication of being emotive and not rationally thinking. "زِمَامٌ سَعَيْبُ" (*safyeeh*) is a person who is perturbed because of a camel which is not stable and its unpredictability causes concern to the rider - therefore can refer to immature intellect or poor logic *{M*}.

Those people whose hearts and minds are confused due to their inner psychological state which is in conflict and are called "سَعَانَة" (*sufaha-a*) by the Quran. Because of their such conduct they create imbalances in a society and behave like hypocrites (2:10-14). These people apparently consider themselves as very clever and smart but in reality they harm themselves while remaining unaware about the negative consequences of their wrong conduct (2:12).

At another place the word "سَفَيْمُ" (*safeehun*) has been used for imbeciles in 2:282. In 6:141, by adding "سَفَيْرَ عِلْمَ" (*safaha*) after "بِغَيْرِ عِلْمَ" (*safaha*) after "بِغَيْر عِلْمَ" (*safaha*) after "بِغَيْر عِلْمَ" (*safaha*) after "بِغَيْر عِلْمَ" (*safaha*) means not to use intellect and critical thinking . According to the Quran, not using human intellect and critical thinking is a very big mistake, as these people then cannot benefit from this ability to the maximum and as a consequence suffer in this life as well as in the next. *Momin* is the one who uses his intellect and critical thinking in the light of the Quranic values as revealed by Allah and takes full advantage of this life and then moves on to the next life with a developed Self. .

"سَفَابَة" (safahah) as used in 7:66 means foolishness, unawareness, ignorance.

Surah *Al-Baqrah* says:

| | who can be unmindful of the nation of <i>Ibrahim</i> except one who has | وَمَنْ يَرْغَبُ و عَنْ مِّلَّةِ اِبْرَاهِيْمَ الاَمَنْ |
|-------|---|--|
| 2:130 | not deliberated upon his very self, who has never even thought | ' |
| | about how a personality develops and why it is important? | سَفِهَ نَفْسَهُ |

Muheet says that it means to demean and to devalue oneself – not giving oneself the significance which it deserves and not appreciating the possession of a free will which is only available to human beings. The Quran highlights the significance of accepting the Quran as an external source of guidance with the permanent values. It also means that the belief in the existence of a Self and its ability to make choices is part of this conviction which requires guidance to develop itself. This possession of a free will which makes human beings superior to other creations in the world. Without accepting this fact the belief in God

becomes meaningless as it does not bring any change in the Self. Further details can be found under the heading (N-F-S).

س ق ر S-Q-R

"أَلسَقُرُ" (*as-saqr*): heat of the sun.

"سَقَرَتْمُ الشَّمِسَ): the sunlight melted it, burned him, and hurt him.

تألساً أَوْرُ (*as-saqoor*): a branding iron.

"ألسَقَرُ" (*as-saqar*) also means to be distant and enmity $\{T, M, R\}$. The Quran has used this word to mean conditions existing in a state of hell

| 54:49 | get a taste of the ' <i>saqar</i> ' which distances you | ۮؙڡ۠ڟؙ۠ٲڡؘڛؖۦڛؘۼٙڔ |
|-------|---|--------------------|
| 54:49 | (deprive you) from the pleasantries of life. | 5 0 9 9 |

س ق ط S-Q-Te

"سَقَطَ الشَّىْ: (saqatash shaiyu): for something to fall down, that is, to fall off the roof, or to fall down while standing $\{T, M, R\}$.

"سَاقَطَه" (saaqata): to make one do a thing continuously {T, M, R}.

The Quran says:

| 6:59 | no leaf drops | وَمَا تَسْقُطُ مِنْ وَرَقَةٍ |
|--------|--|-------------------------------------|
| 19:25 | that tree will drop fresh dates on you regularly | تُسَاقِطْ عَلَيْكِ رُطَباً جَنِيّاً |
| 26:187 | drop on us | فَٱسْقِطْ عَلَيْنَا |
| 52:44 | that which drops | ساقِطاً |

Surah *Al-Airaf* says about the *Bani Israel*:

| - | | |
|-------|---------------|-----------------------------------|
| 7:149 | they repented | وَلَمَّا سُقِطَ فِيْ أَيْدِيْهِمْ |

Taj says it means to be ashamed and surprised. *Zajaj* says it means to repent on what one has done (regret).

Ibn Faris says it means to wring one's hand in repentance.

Muheet too says it means repentance. Similar meaning appears in the Quran for this word that is to repent at one's foolishness and mistakes.

س ق ف S-Q-F

(*as-saqf*): roof, plural is "لَسَقَفٌ" (*suquf*) (43:33).

Ibn Faris says its basic meanings are to be high and to be overshadowing.

"أَلْسَقَوْفُهُ" (*as-saqifah*): any place that has a roof over it. Usually it means a projected shed. The Arabs also term the sky as "سَقَفُ" (*saqf*) because they think that it is the roof of the earth.

Surah *Al-Anbia* says:

| 21:32 we made the sky as a strong roof | وَجَعَلْنَا السَّمَاءَ سَقْفاً مَخْفُوْظاً |
|--|--|
|--|--|

This means that the atmosphere is safe because whatever breakages take place in the heavenly bodies gets grounded or burned to dust in the atmosphere, and thus we are safe from it destruction, as if the sky is like a roof over the earth. In calling the sky as "مَقَفَّ" (*saqf*), the Arabic metaphor is also at work, since Arabs used "مَقَفَّ" (*saqf*) metaphorically to mean roof of the earth. The Quran too has used this word as a metaphor, it does not literally mean roof of a house.

"سماء" (*sama 'a*) too does not mean the blue sky or 'roof' over our heads, but the atmosphere above us, or the heavenly bodies.

Details can be found in (S-M-W).

س ق م S-Q-M

"أَلسَقْطُمْ" (as-saqaam), "أَلسُقُمْ" (as-suqm): illness, disease.

بهوَ سَقِيْمُ الصَدْرِ عَلَيْهِ" (huwa saqeemus sadri alaih): he has prejudice against him.

"قَأْبٌ سَقَيْمٌ (qalbun saqeem): unhappy and frustrated heart $\{T\}$.

The nation of *Ibrahim* was idol-worshippers and star gazers. *Ibrahim* used to tell people to give up this practice of having multiple gods besides Allah, and invited them to unity. In this context the Quran says:

| 37:88 | He deliberated on the star being god, judged it correctly and then said: I am very frustrated by your false gods | فَنَظَرَ نَظْرَةً فِيْ النُّجُوْمِ - فَعَالَ اِنِّي سَقِيْمٌ |
|-------|---|---|
| 60:4 | I am frustrated with you and those you follow other than Allah | اِنَّا بُرَء ﭬ مِنْكُمْ وَمِمَّا تَعْبُدُوْنَ مِنْ دُوْنِ اللَّهِ |
| 6:77 | I do not like such gods which change every second | لَا أُحِبُّ الْأَفِلِيْنَ |

س ق ی S-Q-Y

"اَلسَقْى، (as-saqyu): to give someone a drink.

"ألستقتر" (as-suqya): made him drink, gave him to drink.

"سَقَىٰ" (*al-isqaa*): These words have almost similar meanings. Some think that "سَقَىٰ" (*saqyun*) means to make one drink by mouth and "السَقَّاءُ" (*isqaa*) means to give water or point out water.

Raghib says "سَقَى (*saqy*) means to give something to drink or make him drink, and "اسْقَاءً" (*isqa*) means that you give someone a drink whether he drinks it or not. As such, "اِسْقَاءً" (*isqaa*) is more composite than "اَسْقَاءً" (*saqy*).

"ألسَفَايَة" (*as-siqayaa*): the place where water is given to drink or the pot or utensil used for giving a drink (12:70), or the arrangement for drinking (9:19).

"ألإستيسقاء" (al-istisqaa): to ask for a drink of water, or ask for rain.

"ألسَقَتْنَ" (as-saqiyyo): the cloud which rains hard {M}.

Surah *Al-Baqrah* says "اِسْتَسْقَى" (*istasqaa*) in 2:60, which means to ask for a drink or to ask for rain.

Surah Ash-Shura says:

| 26:79 it is God who gives me to eat and drink | ۇالىيى <u>ئ</u> ۇ <mark>ئىطىچ</mark> منىنى ۋ <u>ى</u> سىق <u>ىن</u> |
|---|---|
|---|---|

Surah *An-Nahal* says:

| Saran | i terrett Buyb. | |
|-------|--|-----------------------------------|
| 16:66 | We give you to drink what is in their body (honey in bees' stomach) | نُسْقِيْكُمْ مِمَّا فِي بُطُوْنِي |

Surah *Ash-Shams* says about *Saleh's* camel:

| 91:13 | look after God's camel and about its drink | نَاقَمَ اللِّي وَسُقْلِيًا |
|-------|--|----------------------------|
|-------|--|----------------------------|

In the story of *Yusuf* it is said "سِقَايَة" (*siqayah*) in 12:70, this word has been used for a utensil which has also been called "صُوَاعٌ" (*swa'a*) in 12:72.

"سَكَبَ الْمَاءَ وَ الدِّمْعَ" (sakabal ma'a wad dama'a): he shed tears and let the water flow.

سَكَبَ الْمَاءُ" (sakabal maa-oo): water flowed.

"مَسَكُوْبٌ" (maa un saakibun), "مَسَكُوْبٌ" (maskub): the water that flows on the earth's surface, which has not be dug out {*T*}. The scholars have also said it means to drop from above and flow. As such "مَسْكُوْبٌ (maaun masakub) includes the meaning of a waterfall (which drops from a height). The Quran has used "مَسْكُوْبٌ" (maa-inn maskub) in 56:31, which means that in a society based on the permanent values, the to get the necessities of life no one will not be exploited. This means that one will not have to dig a well to get water. But in a society not based on these values , one will have to strive extremely hard to get these basic necessities of life (20:117).

"رَجُلٌ سَكْبٌ" (*rajulun sakb*): a happy man *{M}*. (*farasun sakb*): a fast horse.

س ک ت S-K-T

"كَلَسْتُكُوْتُ (as-sakt): to be quiet, not to speak.

The difference between "سَكُوْتٌ (*sukut*) and "صَمَتْ (*samt*) is that the former one is said for things which are able to speak, but remain silent, and the later one is for things which cannot speak at all. In other words, "صَمَتْ (*samt*) can be said for anything whether it is able to speak or not.

"سَكَتَ الْغَضَبُ" (sakat-al-ghazab): his anger cooled down {T}.

The Quran says:

| 7:154 when <i>Moosa's</i> anger cooled down | وَلَمَّا سَكَتَ عَنْ مُوْسَى الْغَصَبُ |
|---|--|
|---|--|

Raghib says "سَكُوْتٌ" (*sukut*) has a kind of peace, so here the word "سَكُوْتٌ" (*sakat*) has been used to mean silence or peace.

س ک ر S-K-R

"سُكْرُ" (*sukr*): to be intoxicated.

Raghib says this is a condition which comes between a man and his intellect. Usually this word is used for intoxication but such condition can also be produced by anger and in passionate love $\{T, R\}$.

Ibn Faris says it basically means "surprise".

"سَكَرُ" (*sakar*): alcohol, intoxication (16:67). "سَكْرُةَ" (*sakrah*): stupor, unconsciousness. This is a condition of stupor.

The Quran has said "سَكْرَةُ الْمَوْتِ" (sakaratul maut) in 50:18, which means unconsciousness of death.

Surah An-Nisa says:

| 4:4 | 3 | do not go near <i>salaah</i> when you are intoxicated | وةَ وَ أَنْتُمْ سُكَارَىٰ | لَا تَقْرَبُوْا الصَّلْ |
|-----|---|---|---------------------------|-------------------------|
|-----|---|---|---------------------------|-------------------------|

Here the word "سُكَارَى" (sukara) is usually taken to mean stupor, but Lissan-ul-Arab says that it means overwhelming of sleep.

"شكرى" (sukaara) has been used for people who are out of their senses due to fear and tribulation (22:2, 75:72).

سَكْرَةٌ (sakrah) has been used for the stupor that is produced by an overflow of emotions.

- "أَلسَّخُرُ" (*as-sakr*): to close a canal.
- "سَكِرَت الرِّيْخ" (sakiratir reeh): the wind became still.
- "أَلْمَاءُ السَّاكِرُ" (al-ma'us saakir): standing water.

"سَكَرَ الْبَابَ" (sakarul baab): closed the door {T, R}.

"سُكَّرَهُ" (sak-karahu): strangulated him.

Surah *Al-Hiir* says:

| (we have been hoodwinked) | | our eyes have been blinded (we have been hoodwinked) | سُكِّرَتْ ٱبْصَارُنَا |
|---------------------------|--|---|-----------------------|
|---------------------------|--|---|-----------------------|

In surah *An-Nisa*:

| 4:4.5 | when you are overwhelmed by sleep do not go near <i>salaat</i> | لَا تَقْرَبُوْا الصَّلُوةَ وَ أَنْتُمْ سُكَارَىٰ |
|-------|--|--|
|-------|--|--|

سَكْرَ انَةٌ '' (*sakran*) and ''سَكْرَ انَةٌ (*sakran*) and ''سَكْرَ انْ

| Later it is said: | | |
|-------------------|------------------------------------|-------------------------------------|
| 4:43 | until you know what you are saying | حَتَىٰ تَعْلَمُوْا مَا تَقُوْلُوْنَ |

This means in a condition (sleepy condition) when you do not even know what you are saying. There is no use of saving your prayers in such a condition. It is evident from this verse that if a person does not understand what *salaah* is about; there is no use in attending *salaah*. The first thing is that you should understand what you are saying in *salaah*. Only then *salaah* is of any benefit.

The Quran is to be studied with a view to benefit from the values in our life. To believe that to recite the words without comprehension can be of some use, is a sort of superstition that was prevalent in the magic age. The Quran was revealed to end these false practices and invites us repeatedly to understand the guidance through the use of intellect and reasoning.

S-K-N س ک ن

"سَنُكُوْنٌ" (*sukun*): not to move, to stop *{T}*. (*sakana*), "سَكَنَى" (*sakana*): to adopt the style, or to reside *{M*}.

Raghib says that "سُكُوْنَ" (sukun) means for a mobile thing to become immobile. That is why this word means to make some place in one's country or abode.

"أَلسُكَانُ (as-sukkaan): a boat's oar.

"السَمِّيْنَ" (as-sikkeen): a knife (12:31), because according to Raghib, it turns the one who is slaughtered from mobility to immobility.

»(miskeen): one whose movement has been reduced by hunger and deprivation. There is more of an element of being needy in it and refers to poverty. "مِسْكِيْنَ" (*miskeen*): he who is insulted and mean.

In surah *Al-Kahaf*, the boat people have been called "تمستاكين" (masakeen) in 18:79, because they were unable to do anything against the king's oppression $\{T\}$.

"الْمَسْكَنَةُ" (*al-maskinah*): hardship and strife which makes a man helpless {*Al-fazul Mutaradif*}. "سُكُوْنُ" (*sukun*): poverty and lowliness and weakness {*T*}. "سَكُوْنُ" (*sakantuhu taskinah*): I removed his tribulations and gave him peace of heart, or made him immobile.

The Quran says:

| 6:97 | Allah made the night to give you peace | جَعَل اللَّيْلَ سَكَناً |
|-------|--|-------------------------------|
| 9:103 | your prayer is cause of peace for them | اِنَّ صَلَاتَکَ سَکَنٌ لَمُمْ |

Ibn Faris says that "ألستَكنّ (as-sakn) means any favourite thing which provides peace and tranquillity.

"ألستَكِيْنَة (as-sakinah) means peace and contentment and honour.

Ar-rumani has said that this word means the same as "النَّنَبُّتُ» (*at-ta'abbutu*), which means peace of mind {*Al-fazul Mutaradif*}.

"(*istakaan*) means to become demeaned and weak $\{T\}$. This is actually derived from (K-W-N) and not from (S-K-N).

The Quran has used this root to mean to reside somewhere or settle somewhere (2: 35).

"نَسْتَكَانَةً" (*wahnuun*), "نَسْتَكَانَةً" (*zo 'fun*) and "السُتَكَانَةً" (*istakanahu*) have been used in 3:145 to mean the same thing, but the order in which they have appeared shows that "الستَتِكَانَةً" (*istakanahu*) is used for extreme weakness. Since "الستَتِكَانَة" (*istakanat*) is from (*K-W-N*), we have also mentioned it under this heading. "(*maskanah*) has been described as God's wrath (2:61), because it is that inertia due to which a nation becomes 'lifeless' and is devoid of progressing forward.

Surah *At-Taubah* has used the words "فَقَرَّاعُ" (*fuqaraa*) and "مَسْلَكِيْنُ" (*masakeen*) together in 9:60. "سِسْكِيْنَ" (*miskeen*) is one whose running business comes to a halt, or he is unable to take part in the struggle of life due to some mishap. In a Quranic system, no "مِسْكِيْنَ" (*miskeen*) can be deprived of the necessities of life. He can acquire these things, not as a charity, but as his right.

Surah *Al-Balad* says:

| 90:15 | he who feels lonely in a crowd, and he who is isolated by a society | يَتِيْماً ذَا مَقْرَبَةٍ |
|-------|--|-------------------------------|
| 90:16 | he who falls down due to some weakness, is trampled upon, the Quranic society gets established to provide support to the weak and lonely | اَوْمِسْكِيْناً ذَامَتْرَبَةٍ |

س ل ب S-L-B

"(*as-salb*): to wrench something from someone. Some say it means to snatch something from someone when he is not attentive.

Ibn Faris says it means to take something swiftly, or snatch it.

"أَلسَنُّوْتُ" (*as-saloob*): a female camel whose young one has been snatched from her *{M}*. "شَجَرَةٌ سَلِيْتُ" (*shajaratun saleeb*): a tree whose branches and leaves have fallen. "أَلسَنَّلْيَتُ" (*as-saleeb*): a woman whose child has died.

(as-sulbah): to be naked, to be without any clothes on the body {T, R}.

Surah *Al-Hajj* says:

"ألسلَح" (as-silaah), "ألسلَح" (as-silaah): a weapon of war, anything used in a battle to fight or to attack, arms, metal part of a weapon, sword or its sharpness, a bow without tension, stick. Plural is "أُسْلِحَة" (asleha).

| 4.102 | should take their weapons along | ولْيَأْ حُذُوْا أَسْلِحَتَهُمْ |
|-------|---------------------------------|--------------------------------|
|-------|---------------------------------|--------------------------------|

"شَلَحْ" (salah), "يَسْلَحْ" (yaslah): for the birds to leave their droppings, but the Quran has not used this word in these meanings.

س ل خ S-L-Kh

"يَسْلَخَ" (salakha), "يَسْلَخُ" (yaslukhu), "يَسْلَخُ" (yaslakh): to skin an animal. (salakhatil hayyah): snake shed its skin.

"أَلسِّلْخُ (as-silkh): snake skin.

سَلَخَتِ الْمَرْأَةُ دِرْعَبَا"؛ (salaklhatil mar 'atu dir 'aha): the woman took off her shirt {T}.

It also means to separate a thing from another in such a way that no residual mark is left behind.

The Quran says:

| 36:37 | we draw the day away from the night | ٱللَّيْلَ نَسْلَحُ مِنْهُ النَّهَارَ |
|-------|-------------------------------------|--------------------------------------|

This word as used in this verse points to the fact that day is drawn away from nigh in such a way that there is not even a trace of daylight left in night.

(9:5). "سَلَخَ الشَّبْرُ وانْسَلَخَ" (salakhash sharu wansalakh): month passed {*T*

(insalakha minhu): leaving something, or donning it off. He has become naked or is devoid of الأسلكخ مذه" it

Surah *Al-Airaf* posts an example:

| 7:175 | We gave him our laws and he put them on one side like a snake sheds its skin | أَتَيْنَهُ آيْتِنَا فَانْسَلَخَ مِنْهَا |
|-------|--|---|
|-------|--|---|

This can be related to the state of the Muslims who claim to have the Quran as a book of guidance, but have abandone it as quoted in the verse earlier. But thanks to Allah, the Quran is preserved in its original text and and anyone looking for guidance can study it and can benefit from its permanent values.

س ل س ل S-L-S-L

"ألستَأسلَ: (as-salsalah): to link a thing with another.

"أَلسِلَّةُ (*as-silsilah*): a chain.

تَسَلَّسَلُ الْمَاءُ (tasalsalal ma'a): the water went continuously down the throat {T, R}.

"سَلَّ" (sall): to pull something. See heading (S-L-L).

The Quran has used "سَلْسِلُمَّنَّ (silsilah) in 69:32 to mean chain, plural of which is "سَنَلَاسِلُ (salasil) as in 76:4. One link gets linked to another and so on, and thus forms a chain.

"ألسَّالِيْطْ" (as-saleet): hard and strong.

(*at-tasleet*): to make dominating, to give domination and power.

"سَلَّطُهُ اللهُ عَلَيْهِ" (sallatulaahu alaih): Allah gave dominance and power over him (4:90).

Ibn Faris says it means domination and power.

"أَلَّانُ النَّارِ" (saltuwanun naar): for the fire to flare up $\{T\}$.

"رَالسَّلْطَانَ (as-sultaan): reason, proof, sign, evidence. {T}.

Mohammed bin yazeed has said that it has been derived from "سَلِيْطٌ" (*saleet*) which means olive oil which is used to provide light . As such, "سَلُطَان" (*sultan*) will only be that argument which is based on reasoning and evidence with capacity to enlighten itself and show any matter like light $\{T\}$.

The Quran says:

| 37:156 | or do you have clear proof | اَمْ لَكُمْ سُلْطُنٌ مُبِيْنٌ |
|--------|----------------------------|-------------------------------|
|--------|----------------------------|-------------------------------|

But as per the meaning of "أَلسَلْطُ" (*as-sult*), it also means domination and power. This word has been used several times by the Quran to mean this.

In surah *Ibrahim* it is said that God sent the messengers with "بَيْنَاتُ" (*bayyenaat*) clear reasoning (14:9), but the opponents refused to accept them saying that they would not obey until they are under their governance.

Iblees is told in surah *Al-Hijr*:

| Ī | 15.42 | you will have no | power over those who decide to follow | اِنَّ عِبَادِيْ لَيْسَ لَکَ عَلَيْهِمْ سُلْطْنٌ |
|---|-------|------------------|---------------------------------------|---|
| | 15:42 | My guidance | | |

This word has also been used to mean capable or having the right to something in surah *Bani Israel* (17:33). Here domination is implied in the meaning.

Surah An-Nisa says:

| 4:153 | And We gave <i>Moosa</i> domination and power | وا تِيْنَا مُوْسٰي سُلْطَانًا مُبِيْناً |
|-------|---|---|
|-------|---|---|

Surah Al-Haqq also has used "سنلطانير" (sultaniah) in this meaning (69:29).

In surah *Ar-Rahman* there is a verse which points to a great fact:

| | 1 0 | |
|----|--|--|
| If | f you have the power (the capability) to go | يْمَعْشَرَالْجِنِّ وَالْإِنْس اِنِ اسْتَطَعْتُمْ أَنْ تَنْفُذُوْا مِنْ أَقْطَارِ السَّمٰوٰتِ |
| be | eyond the planets or the stars, then do it, go | |
| be | eyond them | وَالْإِرْضِ فَانْفَدُوْا |

Here all mankind is addressed which includes both uncivilized and civilized people. Death is a mystery for human beings. The universe around us is also a mystery and modern man has tried hard to go beyond the earth's orbit to satisfy his inquisitiveness e.g. moon landing and sending probes to the mars. In this verse there is a pointer to an important sign saying you wish to go beyond the limits of this material visible universe. However, there is a limit of human physical self which cannot go beyond the physical world. The Quran has pointed to an ability which man can attain through the following of the permanent values which is called "أَسْلَطُنُ" (*sultan*), i.e. the power to be attained through obeying Allah's laws. The Quran has declared through the Messenger's (*pbuh*)*reference:*

| 17:80 And bestow me with the helping power | وَاجْعَلْ لِيْ مِنْ لَّدُنْكَ سُلْطَاناً نَصِيْراً |
|--|--|
|--|--|

We know the fact that human physical self ultimately dies and has limitations. However, the Quran deals with the human Self which operates through choices and decision making in this life and has the ability to

survive our death. The Quran points to this fact that if man chooses to live within the guidance then he can this power or "سُلْطَان" (*sultan*). This helps self-development and strengthens it and gradually makes it develop ability to go beyond the physical boundaries of this visibsle universe. This is only possible by accepting the Quranic guidance. But this does not mean the so-called spiritual development propagated by monasticism. This "سُلْطَان" (*sultan*) means such power and domination as annihilates all evil forces and establishes Allah's law effectively in a society. Physical forces can take man to the moon and stars, but they will keep him within this universe. Only human personality can go beyond, provided that it creates the "سُلُطَان" (*sultan*) to which the Quran has pointed.

س ل ف S-L-F

"سَلَفَهَا" (salafal arda), "أَسْلَفَهَا" (aslafaha): to cultivate the land or to level it.

"سَلَفَ الشَّيْءُ" (salafush shaiyi): the thing passed, went ahead.

"سَلَفَ فُلَانْ" (salafa fulan): that man went ahead.

"أَسْلُفَ" (aslafa): sent ahead, presented.

"ألسَّالِفَ" (as-saalif): the one who passes ahead

السَنَّا الفَّةُ (as-salifah): predecessor who stays ahead in battle or travel {R}.

Ibn Faris says it means to be ahead and to supersede, to excel.

| Surah Al- | Baarah | savs. |
|-----------|--------|-------|
| Surun III | Dagran | Suys. |

| 2:275 | that which has been taken earlier, belongs to him | فَلَهُ مَا سَلَفَ |
|-------|---|-------------------|
|-------|---|-------------------|

Surah *Az-Zakhraf* says about annihilated civilisations :

| 43:56 | we made them predecessors | وَجَعَلْنُهُمْ سَلَفاً |
|-------|---------------------------|------------------------|
| A 1 | | |

Above verse is referring to nations from the past whose history now remain as an example.

| Surah | <i>Al-Haqq</i> says: | |
|-------|--------------------------|-------------------|
| 69:24 | whatever you did earlier | بِمَا ٱسْلَفْتُمْ |

س ل ق S-L-Q

(*as-salq*): this root basically means to rise or climb {*M*}.

(*tasallaqil jidaar*): he climbed the wall. (*tasallaqil jidaar*): he climbed the wall.

"تَسَلَّقَ عَلَى فِرَ السِم" (*tasallaqa ala firashehi*): due to sadness and grief he couldn't sleep and kept changing sides in the bed .

نسَلَقَ فُلَاناً بِالسَّوْطِ" (salaqa fulanan bis saut): he skinned the man with his whip.

"ألسالغة" (as-saleeqah): the footsteps and hoof marks on a treaded path , thin, fine bread, also temperament $\{T\}$.

Raghib writes that "ألسَلْقُ" (*as-salq*) means to lay down something forcibly, either with the hands or by word of motuh $\{R\}$, and "سَلَقَ فَلَانًا" (*salaqa fulana*) means he flattened him $\{T\}$.

The Quran says:

| 33:19 These people hurt you with their words (remarks) يتلقُوْكُمْ بِأَلْسِنَةٍ |
|---|
|---|

Say accusations against you (the messenger), wish to control and overpower you with these satirical utterings .

Ibn Faris says it has so many different meanings that it is difficult to find a common thread though all.

However from its use in the Quran, the term predominantly has an element of causing hurt to someone else.

```
س ل ک S-L-K
```

"سَلَكَ" (*salak*) actually means for one thing to enter another or make it to enter. "سَلَكَ يَدَهُ فِي الْجِيْبِ" (*salaka yadahu fil jabeeb*): he put his hand into his shirt front {*T*}.

While explaining their difference, *Muheet* says that "خَيْطٌ" (*khait*) is any string that is either used for sewing or as a garland around the neck, but the string in which pearls etc. are put, is called "سِمْطٌ" (*silk*). The string which is already adorned with pearls etc. is called "سِمْطٌ" (*simt*) {*M*}. "(*sint*) ?"(*as-salook*) means to enter a path {*M*}.

(salak) is to walk or make to walk, to enter or make to enter.

"(aslak): to make someone walk, to make someone or something to enter $\{T\}$.

The Quran says:

| 15:12 | this way We enter it into the hearts of criminals | كَذَالِكَ نَسْلُكُهُ فِيْ قُلُوْبِ الْمُحْرِمِيْنَ |
|-------|---|--|
| 20:53 | And made pathways for you (on the earth) | وَسَلَكَ لَكُمْ فِيْهَا سُبُلاً |
| 71:20 | so that you walk on them (travel on them) | لتَسْلُكُوًا مِنْهَا |

س ل ل S-L-L

"ألستَلْ" (as-sal): to extricate something quietly and with softness.

Ibn Faris has also added, extricating something secretly, in its basic meaning.

"سَيَفٌ" (saifun saleel): the sword that has been pulled out of the scabbard.

(*as-sulalah*): the part that which is extricated {T}.

"أَلْمَسْلُوْلُ" (*al-maslool*): that which is extracted, the man or animal whose testicles have been removed (made impotent) {*M*}.

The Quran says that man was created from "سُلَلَةٍ مِنْ طِيْنِ" (*sulaalatim min teen*) according to 23:14. Here it means a substance which has been culled from the matter both organic and inorganic. We know our body is composed of organic and inorganic matter such as found in the soil.

"نَسَطَّلُ" (insalla) and "تَسَطَّلُ" (tasallal): he went away secretly, slipped away quietly.

"ألستَلَّة" (as-sallah): to steal secretly, theft.

(*as-sallaal*), "أَلأَسَلُّ (*as-sallaal*), "أَلأَسَلُّ (*as-sallaal*)): thief {*T*}.

Surah An-Noor says:

| 24:63 | those of you who slip away quietly | الَّذِيْنَ يَتَسَلِّلُوْنَ مِنْكُمْ |
|-------|------------------------------------|-------------------------------------|
|-------|------------------------------------|-------------------------------------|

Since this is the root from which the word "اِسْكَرْم" (*Islam*) is derived, its basic meanings must be comprehended properly, because these meanings will be used to explain various aspects of the word *Islam*.

"مَتَلَمَ" (*sa-lima*): he became clean (or free) from all sorts of faults, limitations, weaknesses. All his shortcomings were removed .

"سَلَمَ الدَّلُوَ" (salamad dalau): he prepared a strong bucket (e.g. for drawing water from a well).

| In surah Al-Baqrah it is said about the cow of <i>Bani Israel</i> : | | |
|---|---|--------------------------------|
| 2:71 | It is free from all bodily marks (faults) and is spotless | مُسَلَّمَةٌ لَا شِيْةَ فِيْهَا |

As such "سَلْمَ" (*sa-lima*): basically means to be pure and to be without any blemish. This is in realtion to the complete development of human abilities so that no failings and inadequacies remain in the Self.

The other meaning of this root is to be protected from dangers, accidents, or disasters.

Ibn Faris has said that it means more of health and wellbeing than anything else.

تسلِّمَ مِنَ الْأَفَةِ سَلَامَةٌ» (salima minal aafateh salamah): he remained safe from disasters. "سلَّمَ اللهُ تَسْلِيْماً» (sallamahullahu tasleemah): Allah kept him safe from any disaster.

The Quran has mentioned one attribute of God as "ألستَلام" (*as-salam*) in 59:23, which is generally taken to mean "free of all blemishes and weaknesses". However, Taj-ul-Uroos says that those who have used this meaning have committed a grave error. This is because "ألستَلام" (*as-salam*) is something from which protection is sought, and "مَاللَّهُ (*salim*) is one who seeks protection, or someone who wants to be protected against evil or misfortune that is imminent. Thus Allah has been pronounced "ألستَلام" (*as-salam*) because He has protected all creations from disasters and His system e.g. the Solar System is thus running well protected without interference from outside for a time appointed. Therefore, "" (*salaam*) would also mean to be safe from disasters and troubles. This is the second meaning of the root.

(*as-sullam*) means a ladder, i.e, a safe and dependable means for climbing. Thus the third meaning of this root is the means through which somebody can reach new heights safely and reliably.

"السَنَّامُ" (*as-silm*) means to live peacefully and amicably. It means amity and thus the fourth meaning of this root would be to live peacefully and to establish peace and security for all in the world.

"نَسَالَمَتِ الْخَيْلُ» (*tasaalamatil khail*): horses moving together, synchronizing their feet and galloping in tandem, and for none of the horses doing something which may frighten other horses or cause stampede. This projects a concept of harmony and team work of an Islamic Society.

"السَنَّلَامُ" (*as-silmu*), "السَنَّلَامُ" (*as-salsaam*): obedience, to bow before. Therefore, the fifth basic meaning of the root would be to completely and willingly follow the laws of the Quran.

Nawab Siddiq Hasan Khan writes that S-L-M basically has the element of compassion and humility {*Al-ilm-ul-akhlaaq*}.

(*istaslam akamat tareeq*): he walked in the middle of the road and kept straight path. "السَّنْسَلَمَ نَحَمَ الطَّرِيْق" (*istaslam akamat tareeq*): he walked in the middle of the road and kept straight path. (*qaalu sal-ah*): they adopt the balanced path as defined in the Quran and do not do anything that is against the permanent values. Thus the sixth meaning of this root would be to adopt the balanced path of moderation and to avoid things which have negative influences and are obstructive.

"أَسْتَلَمَ الزَّرْعُ" (*istalamz zar-u*): the ears of corn came out. This is the seventh meaning of this root which refer to the multiplied reward of human righteous efforts. .

"أَلسَلِّمَةَ" (*as-salimah*): refers to a woman who is extremely pretty and attractive. Thus the eighth meaning of this root refer to beauty and pleasant looks.

To summarise all this Islam "لَا سَلَامَ (*al-islam*) is the name of a system in which all shortcomings of an individual are addressed and his potentials are fully developed. The system in which he/she is given protection from the negative forces and influences and he/she feels secure. The individual lives in peace and works to extend this peace to his fellow human beings across the world. He lives in complete harmony with others in his society and does nothing to cause annoyance to others and thus contribute to imbalance in the society. This is only possible when he willingly follows the permanent values of the Quran He does not cross the defined limits knowingly and believes in the working of the law of requital. This way his efforts will be fruitful and do not go waste. Not only will his own personality be balanced and develop further, but he will contribute effectively for the well being of others.

This is the path that will result in success. If anyone adopts any other path, he will not be able to produce these results and he will ultimately be a loser (3:84). This is called Islam and is preserved within the folds of the Quran (20: 47). This means that Islam = The Quran.

The Quran has used the word "مُسْلَمُ" (*muslim*) extensively that it is not possible to mention all references. Some selected ones are presented:

| 2:71 | he is free from all faults and is impeccable | مُسَلَّمَةٌ لَا شِيَةَ فِيْهَا |
|-------|--|--------------------------------|
| 2:33 | when you have given (handed over) | إِذَا سَلَّمْتُمْ |
| 8:43 | (you had started to quarrel among yourselves) so Allah protected you from its destructive effects | وَلٰكِنَّ اللَّهَ سَلَّمَ |
| 52:38 | reaching loftiness | مىگە |
| 8:61 | amity | وَاِنْ جَنَحُوْا لِلسَّلْمِ |
| 2:112 | obedient | مَنْ أَسْلَمَ |

Surah *Ar-Rom* has mentioned "الِيْمَانَ" (*islam*) and "الِيْمَانَ" (*iman*) separately (30:53). "أَيْمَانَ" (*iman*) means to believe in something which is Ture and "أَلَيْمَانَ" (*islam*) is to then follow it with complete unity of thought and conviction. As against those who have accepted the faith by word of mouth, but their hearts are devoid of the faith. They too are said to be "مُسْلَمُ" (*muslim*), but not "مُؤْمِنَ" (*momin*) (49:14).

Surah *An-Namal* has used the word "مسلمين" (*muslemin*) to mean those who do not break the limits, or transgress them, but rather become obedient (27:3).

Surah *Maryam* has used the word "سَلَامٌ" (*salam*) opposite to "لُغْوٌ" (*laghu*) which means useless things – something which wastes time and energy.

A man with these characteristics has been called one with a "سليم" (*saleem*) heart (26:89), and a nation with these characteristics is called "مَتَّ مُسْلِمَةً لَكَ" (*ummatan muslimal-laka*), or a nation which follows the laws of Allah (2:128). Every individual of this nation has a duty to say "سَلَامٌ عَلَيْكُمْ" (*salamun alaikum*) to everyone he meets (7:46). It means that I wish you peace and security and all the good things mentioned above. The other returns the same complements and thus the whole society rings with the sounds of "سَلَلَامً" (*salaman salaman*).

It is said in 3:66 about *Ibrahim* that he was neither a Jew nor a Christian, but rather "مَنْيُفًا مُسْلِماً" (*hanifan muslima*). This is the title used for followers of Allah's Deen, even before the advent of the Quran (22:78). To belong to some sect is against *Islam*, because sectarianism is against the Quranic teachings (30:32) - the Quran has declared mankind as one community (2:213).

"مسلم" (*muslim*) and "مشرک" (*muslim*) are opposite of each other at thought and belief level, same is meant by "کفر" (*kufr*) and "اسلام" (*islam*) (9:74). It must be well understood that a *Muslim* can never be a criminal, if he commits a crime, then he is technically not a *Muslim* anymore. That is why the Quran says:

| 68:35 | Would We make Muslims as criminals? | أَفَنَجْعَلُ الْمُسْلِعِيْنَ كَالْمُجْرِ مِيْنَ |
|-------|-------------------------------------|---|
|-------|-------------------------------------|---|

Therefore he who follows Allah's laws is a *Muslim*.

"أَلْإِسْلَامَ" (*al-islam*) is the code of conduct for life that Allah has designated for mankind available as an alternative and it is upto us to accept it or not to accept it. No other code of life is acceptable to Allah than *Islam* – because this is not based on human emotions and is based on the permanent values which do not change with time.

Surah *Aal-e-Imran* says:

| 3:82 | Do these people prefer a <i>Deen</i> other than that designated by Allah? | اَفَغَيْرَ دِيْنِ اللَّهِ يَبْغُوْنَ |
|------|---|---|
| 3:82 | (Even though) everything in the heavens and the earth is subjected to His laws accepting it willingly or unwillingly and at every step they have to follow his law | وَلَهُ أَسَلَمَ مَنْ فِي السَّمٰوٰتِ وَالْأَرْضِ طَوْعاً وَّكَرْهاً وَإِلَيْهِ يُرْجَعُوْنَ |

After that it is said:

| 3: | :84 | And if man wants to experiment (another Deen) then he can try, but then he will find that | وَمَنْ يَبْتَغِ غَيْرَ الْإِسْلَامِ دِيْنَا فَلَنْ يُقْبَلَ مِنْهُ |
|----|-----|--|--|
| | | ultimately he is the loser | |

Anyone who adopts any other code of life except *Islam* will not be accepted i.e. will not get the benefit as one will get by following Islam. This is the same code of life that was given to all previous messengers and ultimately was completed with the advent of the Quran.

Allah has chosen this code of life for all humanity (5:3). As such, under the Sun, there is no other code of life other than that which Allah has termed "أَلْاسْلَامُ" (*al-islam*), and is not to be found anywhere else except in the Quran. The followers of this *Deen* are called "مسلمين" (*muslimeen*), and a "مسلم" (*muslim*) is one who believes that the Quran is a complete code of life revealed by Allah . Since it is complete therefore there is no need for any other messenger.

س ل و S-L-W

"سَلُوْىُ" (salwa): anything which provides consolation, reassurance.

(as-salwa): honey, as well as meat {T}.

"سَلُوَةٌ مِنَ العَيْشِ" (salwatun minal aish): a comfortable life which is free from fear and tribulation {M}.

سَلَاهُ عَنْهُ تَسْلِيَةٌ (salahu unhu tasleehi): he made him forget his grief {T}.

"السَّالِی (as-saali): one who forgets sadness and grief $\{M\}$.

"سَلَاه" (salaahu): he gave up his memory and mitigated his sorrow $\{T\}$.

"كَالسَلُوَى" (as-salwa): a white coloured bird which the Bani Israel were given to eat in the valleys of Sinai (2:57) {T}.

Ibn Faris says it basically means a comfortable life with plenty of luxuries.

Raghib says that it means anything which gives solace.

Also see under heading (M-N-N)

Among the messengers of the *Bani Israel*, *Suleman* had a prominent position due to his fame and execution of power. He was the son of *Dawood* (38:30) and his heir (27:16). He was had great desire to acquire knowledge and had developed the ability make effective decisions (27:15). Although in those days the kingdom was acquired just for being the king's son, *Suleman* was designated king because of his special qualities. Civilized and uncivilized people (*djinn* and *inns*) were included in his armies and cavalry brigades (27:17). His naval fleet was also very famous at the time. The Quran has quoted saying that the winds were made subservient to him (21:28), meaning that he used his knowledge of the winds to employ his ships.. The rebellious mountainous tribes were brought under control by employing them on different tasks during his reign (21:82). They used to construct big buildings, design statues and draw pictures for him (34:12-13). During this period, the nation of *Saba* was ruling over the eastern part of Yemen, and they were Star worshipers. They were ruled by a queen. Suleman went to war with her nation which eventually became subservient to Allah (27:20-44). The Quran has noted some of this detail by stating that his army had passed through the valley of "www" (*namal*) (27:18-19). "½ " (*huud huud*) was an officer in this army (27:20-21).

Suleman was a grand and powerful king but his heir proved to be very weak (34:14). The Torah mentions him as Solomon in detail. As happens in human reporting of the history the Jews have fabricated a lot of stories of sorcery and superstition about him. The Torah carries some of these stories and narrations which are refuted by the Quran (2:102).

س م د S-M-D

Ibn Faris says that its basic meaning is to keep going without stopping.

"سَمَوْدًا" (samooda): to raise the head high out of pride {T}.

"سَمَدَتُ الْإِلَى فِيْ سَيْرِبَا" (samadatil ibilu fee saireha): the camels went straight ahead with speed. From this the meaning is derived that they did so out of rebellion and pride, or that they did as they liked. "سَمَدَ" (samada). "يَسْمَدُنَ" (vasmadu) means to be pushed high.

(*saamid*): one who is left standing in wonderment, perhaps because he too stands with his head high.

Ibn-ul Airabi says it means a man who is engaged in the pleasures of life and neglects his responsibility $\{T\}$.

Muheet says that "السُمُوْدُ" (as-sumud) means for the face to be distorted due to worries and grief {M}.

The Quran says about the opponents:

| 53:60-63 | You ridicule instead of worrying because you are unaware of the (bad) results that your deeds are going to produce | وَتَضْحَكُوْنَ وَلَا تَبْكُوْنَ وَ أَنْتُمْ سَامِدُوْنَ - فَاسْجِدُوْاللَّهِ وَاعْبُدُوْ |
|----------|--|---|
|----------|--|---|

According to this sentence "سَامِيْوُنَ" (samidoon) would mean to be unaware.

But after that it is said "نَفَاسَجُدُوْ بِنَّهُ وَاعْبُدُوْ اللَّهُ وَاعْبُدُوْنُ اللَّهُ وَاعْبُدُوْ اللَّهُ وَاعْبُدُوْ اللَّهُ وَاعْبُدُوْ اللَّهُ وَاعْبُدُوْ اللَّهُ عَلَى اللَّهُ عَامَاتُ وَعَامَا وَعَامَاتُ اللَّهُ عَلَى اللَّهُ وَاعْبُدُوْ اللَّهُ وَاعْبُدُوْ اللَّهُ وَاعْبُدُوْ اللَّهُ وَاعْبُدُوا اللَّا لَعُنُوا اللَّعْمُ عَامَا وَاللَّهُ عَلَى اللَّهُ عَامَاتُ وَعَامَاتُ وَعَامَاتُ وَاللَّا عَامَاتُ وَاعْتُ وَاعْبُولُ وَاعْبُوا اللَّعْلَى الْعُلَا لَعُنْ الْعُنُونُ وَاعْبُولُ وَاعْبُوا اللَّعُونُ وَاعُنُوا اللَّعُونُ وَاعُمُوا وَاعُنُوا اللَّعُونُ وَاعُمُوا وَالَعُنُوا اللَّعُمُونُ وَاعْبُولُوا اللَّعُونُ وَاعُمُ وَاعُمُ وَاعُمُ وَاللَّعُونُ وَاعُمُ وَاللَّهُ وَاللَّعُمُ وَاللَّا عَامَةُ وَا مُعَامِ وَاللَّعُونُ وَاعُمُ وَاللَّعُامُ وَالَحُولُ وَاعُمُ مُ

ن السُمْرَة (*as-sumrah*): fair complexion (as colour of wheat).

"ألسَّمْرَاءُ" (as-samra'a): wheat.

"ألسَّمَرُ" (as-samara): night or conversation at night, nightly tales.

"ألستَّامِرُ" (*as-saamir*): a congregation for story telling at night. It is also used for a story teller, singular as well as plural (23:67).

"أَلسَمِيْرُ (as-sameer) means story teller.

"أَلْمُسَامِرَ" (*al-musaamir*): a companion or fellow participant in a gathering at night for gossip and story telling.

"سِمَارَةُ اللَّيْلِ" (simaratul lail): to talk at night.

"سَمِيْرٌ" (samiyar) also means period, era {R}.

"ألستَامِرَة" (*as-saamirah*), "ألستَمرَة" (*as-samarah*): a Jewish tribe. They differ in some things with the mainline Jews, for instance, they believe that no messenger will come after *Moosa*. They also believe in the caste system. They think that the city of *Nablus* (where they lived) is the holy city. There are two sects among them, *kushaan* and *dushaan*. These are the people whom the *samari* is said to have led to worship the golden calf built by him after *Moosa*, had gone up the mount to receive the commandments from God.

Muheet says "أَلَسْنَا مِرَةً" (*as-saamirah*) is also a place in Palestine and a tribe as well which resides in *Nablus*. They are very few in number and believe that they become impure if touched by others {*M*} (20:97).

But modern day research shows that this chap was an individual of the *sameri* tribe, not *Bani Israel*. Three thousand years before Christ, there were two nations living in Iraq. One nation which had come from the south was Arab, and the other which probably came from the north was called Sameri. Although Sameri tribe had Iraq as its motherland, it had spread out afar out. History has proven their relations with the Egyptians. It seems that this person who has been called *Sameri* by the Quran in 20:85 had become a disciple of *Moosa* and had left the place along with *Bani Israel*. But it seems that *Moosa's* teachings had not affected him and he never accepted these from heart (20:96).

But if "ألستَامِرِيَ" (*as-saamiri*) has been derived from the root "سَمَرَ" (*samara*), then it means story teller. The way the story tellers mislead the nation (simple folk) is known to everyone. Our own history is testimony to that fact that when we left the facts and truths of the Quran and diverted ourselves to myths and stories, we fell into ignominy. Gradually our Deen has turned into merely some mythical stories and the Quranic truths are ignored by the majority.

س م ع S-M-Ain

"السَمَّعْ" (*as-sama*): hearing part of the ear. It also means listening, and sometimes even ear. "سَمَّعٌ" (*sama*): that which is listened to. It also means to listen and also one who makes one to listen, although some scholars have refuted the later meaning.

"إسْتَمَعَ الَيْهِ" (istama-a ilaih) means to be attentive to someone, to lend an ear and to listen attentively.

The Quran has said "يَسْنَمَعُوْنَ اللَّيْكَ" (*yastami-oona ilaik*) for those who appear to be very attentive but actually are not listening (10:32). The Quran calls them deaf because they do not employ their intellect and thus do not benefit from listening (10:42).

| 4:46 listen to us, even if you are not heard |
|--|
|--|

Raghib says it is said satirically for someone to have turned deaf, and otherwise it is said as a prayer. Sometimes "سَمَعْ (*sama*) means understanding and method, i.e. "سَمَعْ" (*sama*) means to make someone

understand too. This word is also used for obedience, i.e. "الطِيْعُوْنِ" (*isma-oon*) means "الطِيْعُوْنِ" (*atee-oon*) in 2:93.

"سَمِعَ لَمَ" (sami-a lahu):accepted it, agreed to it.

The Quran has mentioned eyesight and hearing and "غلب" (*qalb*) for acquiring knowledge. Eyesight and hearing are the senses through which a man knows about things. These are means for perceptual knowledge. The mind conceives an image after receiving data from these senses. Thus through eyesight, hearing and seeing it through intellect, one acquires knowledge.

The Quran lays a lot of stress on perceptual knowledge which helps us to develop concepts. These concepts are them used for furthering our knowledge through the use of critical thinking skills. It says that those who do not employ their hearing, eyesight and reasoning are dwellers of a society which is bound to be left behind and is equivalent of hell on earth (7:179).

Also see (Q-L-B) and (B-Sd-R). It also says that when a man's emotions overwhelm him, his means of acquiring knowledge do not let him reach the right conclusion (47:16-17). We notice how someone can become blinded in rage. One can sometime be overwhelmed by emotions..

In greed a man can do things which are otherwise laughable or silly. If biased, one can never accommodate the other's point of view. Just like when intoxicated, one's senses do not work properly, similarly these do not work properly when one is overwhelmed by emotions as well.

This is termed by the Quran as:

| - | | |
|-----|---------------------------------------|--|
| 2.7 | To be blinded, to be deaf, and hearts | يتية الألومة فأوم وسنرا ليتشور وسنرا أنوبا ووجرار |
| 2.7 | to be sealed | تحتم الله على فلوهِم وعلى للمعظِم وعلى أبصارِهِم عِسّاوه |

See heading (Kh-T-M). Knowledge can only produce good results under the guidance of the revelation, because it gives us those values of life which are free from human emotions. Human emotions bias our decision making and thus misguide us in the long run. Human intellect when alone will make any laws, these will never be free from the emotional bias and thus will have flaws.

(*istama*) to eavesdrop (72:1), to listen very attentively (42:38), not tinged with emotion. "المنتقاغ" (*samma*) also means spy $\{T\}$ (9:47)

Surah Al-Kahaf says:

| 18:20 how well he listens and how well he sees | ٱبَصِرْبِهِ وَٱسْمِعْ |
|--|-----------------------|
|--|-----------------------|

Ibn Faris says "مُسْمَع (*mus-m'i*) and "مُسْتَمَع (*mustami'i*) also means praise of beauty and fame.

س م ک S-M-K

"ألسَمْنُ" (as-samk): height of a house or ceiling.

تَقَدْسَمَكَ^{*}" (qad samakahu): he made him lofty, raised him {R}.

"ألسمَاك" (as-simaak): something used to make something lofty, or to raise something.

"المسماك" (al-mismaak): wooden pole with which a tent is raised.

"ألسَمَك" (as-samak) means fish, because it is high or raised (in the middle):

The Quran says:

| 79:28 | God raised the height of sky (or its roof) | رَفَعَ سَمَّكَهَا |
|----------|--|-------------------|
| T | | |

It means that He raised the atmosphere to great heights. (The height of space is unlimited).

''(*as-sum*): narrow hole like a needle's eye (7:40), or the openings of the ear and nose. May mean poison

مَسَامٌ» (*masaam*): pores on skin.

"ألسَّمَامُ" (as-samaam): any light and fast moving thing.

"ألسَمُوْمُ" (*as-samoom*): fast, hot wind which generally blows in the summer months (in the hot regions) {*T*}.

The Quran says

| 56:42 | In scorching fire and scalding water | فِیْ سَمَوْمٍ وَحَمِیْمٍ |
|-------|--------------------------------------|--------------------------|
| 15:27 | Scorching fire | نَارِ السَّمُوْمِ |

Ibn Faris described the basic meaning of this root as the spot from where you enter something. He writes that poison is called "شمر" (*samma*) because it enters into the body.

"سَمَوْم" (samom) means hot air because it enters into the body due to its high velocity.

Raghib writes that "سَمَوْمٌ" (*sammah*) means that it entered something, while "سَمَوْمٌ" (*samom*) as that hot air that appears to affect like poison.

س م ن S-M-N

"سَمَانَةً" (samin), "سَمَانَةً (samanah): he became plump, became fat.

(simaan) and means plump {T}. سَمَانٌ (sameen): the plural is "سَمَيْنٌ (simaan) and means plump {T}.

The Quran says:

| 12:43 | fat cows | بَقَرَاتٍ سِمَانٍ |
|-------|----------|-------------------|
| 51:27 | fat calf | بِعِجْلٍ سَمِيْنٍ |

"أَسْمَنَ الرَّجُلُ" (asmanar rajul): man became fat.

"أَسْمَنَ" (asmanahu): fattened him, put on weight {T}.

Surah *Al-Haashiya* says about the sustenance in a hellish society:

| 88:7 It does not fatten (does not develop the body) | لايُسْمِنُ |
|---|------------|
|---|------------|

How can sustenance of ignominy can help to grow?

"كَلسَمْنْ (as-samn) means saturated butter, which is fattening.

"شَمَاءٌ" (*sama-a*), with plural form "سَمَاوْتٌ" (*samawaat*) means sky because it is high and overshadows the earth. It actually means anything that is over you and overshadows you.

"سَمَاء" (sama-a): every roof over your head. Fuqah-ul-lugha has also said that this word has this meaning:

Raghib says that everything is "سَمَاءً" (*sama-a*) in relation to a thing below it, and everything in relation to the thing above is called "اَرْضَ" (*arz*).

Clouds and rain as well are called "سَمَاءٌ" (*sama-a*). Greenery and plants are called "سَمَاءٌ" (*sama-a*) as well because they are higher than the earth {*T*}, {*lbn Qateebah*}.

"(*ism*) means a sign with which one recognizes something. Names are also called "أَسْمَاءٌ (*ism*). Plural is "أَسْمَاءٌ (*asma-a*). "سَمَعَى (*sammi*) means of a similar name and equal. "مُسَامَاةٌ (*musaamah*) means mutual respect {*T*}. "مَسَمَعَ تَسْمِيَةٌ (*samma tasmeeh*): to keep a name, to name something. "أَلْمُسَمَعَ" (*al-musamma*): name that is kept or given, said to be, nominated, designated, fixed and known {*T*}.

Mufardaat says:

| J | 5 | |
|---|---|---|
| | until the "musamma" is known, names are of no use | مَعْرِفَةُ الْأَسْمَاءِ لَاتَحْصُلُ اِلَّا مِمَعْرِفَةِ الْمُسَمِّي |

It means that *Adam* (human beings) has been given the ability to recognize things by their constituents and can characterise these by their properties and can identify them accordingly by giving them different names.

The Quran has used "أَرْضُ وَسَمَاءً" (*arz o sama-a*) at many places. There is no doubt that this earth of ours is also called "أَرْضُ" (*arz*) i.e. Earth, but everything in relation to (Sama) heavens seen as above is called "أَرْضُ" (*arz*) as well. Therefore "أَرْضُ وَسَمَاءً" (*arz o sama-a*) would mean the lows and highs of the universe as visible to us. When "أَرْضُ" (*arz*) is to be used against "أَرْضُ" (*sama-a*) then "أَرْضُ" (*sama-a*) would also include the entire universe, and "أَرْضُ" (*arz*) would refer to the society and civilization of humans. Therefore, "أَرْضُ" (*sama-a*) or "أَرْضُ" (*sama-a*) would not only mean sky and heavens, but also everything that is in the universe which includes galaxies so far discovered and those yet to be discovered and beyond. In other words, this word includes everything there is to be found.

Where ever the Quran has used the phrase of "أَرْضَ وَسَمَاءً" (*arz o sama-a*), it needs to seen in the context in which it appears e.g. whether it implies loftiness and lowliness, whether it is in regard to physical things or in respect of ranks, or social life within a society. More details have appeared under the heading (A-R-Zd).

The Quran says:

| م آدَمَ الْأَسْمَاءَ كُلَّهَا Adam has been taught the names of everything |
|--|
|--|

Here *Adam* refers to all humanity or mankind. Also see under the heading (A-D-M). As mentioned earlier, knowing the names alone will do no good, until and unless you know what a thing is. As such, the meaning of the knowledge of names being given to *Adam* or man means that he has been given the potential and ability to discover and determine the characteristics of various elements and things in the universe. This is the reason the Quran declares that all the forces of the universe (the *Malaikah*) are within the reach and control of the man i.e. he has the potentials, attributes, and abilities to bring these to his use. The Quran does not differentiate this life from the next life when mentions these aspects of putting to the disposal of the human potentials. When man becomes aware of the law under which these forces of nature operate, all forces under that law become within his reach and are acchiveable. The Quran refers to both

parts of human life i.e. this physical existence and the life beuond death. It is upto us to explore both possibilities through the use of our intellect and reasoning. Therefore, a nation will become master of the universal forces according to the laws it becomes aware of. Further step is how to utilize those forces.

It has been said:

| 2:38 | Any nation which will utilize the guidance in the Quran they will have no fear and no grief. | فَمَنْ تَبِعَ هُدَاىَ فَلَاحَوْفٌ عَلِيْهِمْ وَلَاهُمْ يَخْزَنُوْنَ |
|------|--|---|
| 2:39 | If a nation which masters the forces of the universe but utilizes these not for the benefit of the mankind then they will suffer the consequences of going agains the Quranic guidance. | أولٰئِكَ أَصْحٰبُ النَّارِ هُمْ فِيْهَا حَالِدُوْنَ |

What should be nation called then it neither masters the forces of the universe nor utilizes these forces as per the laws of God? A western doctor has written something very interesting as per his perception.

"Adam was made responsible for characterising things. This was a very husge responsibility, because the things whose characteristics and properties are not known remain undetermined and undefined. And if inaccurate characteriscis are given to things, the results can be very harmful". {Dr. M.L. Tyler in *"Homeo, drug pictures"* (preface)}.

This too signifies that acquiring knowledge about physical laws is a sign of being human. The Quran says that those whom you think are your gods (other than the real God) are:

| 12:40 | Simply some names which you and your | أَسْمَاءٌ سَمَّيْتُمُوْهَا أَنْتُمْ وَآبَاؤُ كُمْ |
|-------|--|---|
| 12.40 | forefathers have fabricated | |
| 12:40 | Allah has not provided any support for this (not | مَا أَنْزَلَ اللَّهُ بِمَا مِنْ سُلْطَانِ |
| 12.40 | evidence and fact based) | <i>"</i> С <i>у у</i> С |

The big religious structures which have been erected from the past or those being erected now have no real significance other than the names given to them. These don't solve any human problems and issues except being used to project some mortals in high position to impress fellow mortals to influence them. The Quranic guidance explains the purpose of each human and thus takes away all the paraphernalia associated with the power, religious stature or wealth and helps us to look through to the reality. The right place of things is that which has been designated by Allah's law. His laws operate smoothly in the outer universe, and in the human world, the divine revelation is the right source and guide to these laws. Everything else may have a big name but gets exposed when analysed in the light of the guidance provided in the Quran.

S-N-B-L س ن ب ل

"السُنْبُلَ» (*as- sumbul*): An ear of grain, bunch of ears Singular is "السُنْبُلَ» (*as-sumbulah*) as used in 2:261. Plurals are "سُنْبَلَاتٌ" (*sanabil*) and "سُنْبَلَاتٌ» (*sunbalat*)

وما يَعْنَسْنَبْلَ الزَّرْعُ (qad sanbalaz zar-a): corn grew ears {T}. This word is used to mean grain, not fruit.

"ألسَنَدُ" (as-sanad): a thing which is used for support.

"يَسْنُدُ» (sanada ilaihi), "يَسْنُدُ» (vasnud): he leaned (e.g. against a support) {T}.

"تَسَنَّدُ الشَّيْءَ" (sanadash shaiyi): he supported the thing and made it strong.

"ألسَنَدُ" (as-sanad): high mountain facing you .

"ألسَنْدَانَ" (*as-sandaan*): an ironsmith's anvil over which heated iron is rested (to soften it) and then beaten (into a particular shape) $\{M\}$.

"ألستَذ (as-sanad): a sort of sheet that was made in Yemen.

"سَنَدُ الرَّجُلُ" (sanadar rajul): man put a cloth sheet over him {T}.

The Quran says that the hypocrites are like "خَشْبُ مُسَنَّدَ (*khushboon musannadah*) in 63:4, that is, they are like sticks which are leaning against the wall. It can also mean that they are like sticks which are wrapped up in human clothing. If we take the first meaning which will mean, a hypocrite is never self-confident and is always seeking support of others for his hypocrisy.

If we take the later meaning then it will mean a hypocrite is one thing inside and something else outside. Their exterior is always very appealing to people making use of various clothing, but deprived of all human qualities.

س ن د س S-N-D-S

"سُنْدُسٌ" (*sundus*): silk of high quality (*Taj & Raghib*).

| The Qura | n says: | |
|----------|-----------------------|--------------------------------|
| 18:31 | Clothes of green silk | يْيَاباً حُضْرًا مِنْ سُنْدُسٍ |

| س ن م S-N-M | س ن م |
|-------------|-------|
|-------------|-------|

"ألسَنَامُ" (as-sanaam): camel's hump.

"السَّبْمِ مَنَ النَّبْتَ" (as-simu minan nabt): a tall plant which has flowered or grown ears.

"أَسْنَيْمَ الْإِنَاءَ تَسْنَيْماً" (sannamal ina-a tasneema): he filled the utensil or pot – filling to the extent that whatever is put into it (e.g. grain) rose above the edges.

"تَسَنَّمَ الْحَاءِطَ" (tasannamal ha-it): he climbed the wall.

"أَسْنَمَتِ النَّارُ" (asnamatin naar): the flames of the fire rose high.

"يَسَنَامُ كُلِّ شَيْءٍ" (sanaamu kulli shaiyin): the best or highest part of something {T, M}.

Ibn Faris says it basically means loftiness and height.

The Quran has said about "تَسْنِيْمُ" (tasneem) which has been explained further by saying:

| 83:28 a spring out of which the righteous ones drink | عَيْناً يَشْرَبُ بِمَا الْمُقِرَّبُوْنَ |
|--|---|
|--|---|

This has the connotation of loftiness. That is, life's evolutionary stages, humanity's heights in righteousness, full development of human abilities and enhancement of potentials.

"ألسَّنْ (*as-sinnu*): teeth $\{T, M\}$ as in (5:45). Since the age of animals is determined by the number of teeth they have, it also means age.

"أَسَنَّ الرَّجْلُ" (as-sannar rajul): the man reached old age.

"أللسُنَّة" (*as-sunnah*): face, the open and distinct part of the face. It also means path, manner, custom, law. Its plural is "سُنَنَّ (*sunan*).

"سِنَنُ الطَّرِيْقِ" (*sananat tareeq*), "سَنَنُ الطَّرِيْقِ" (*sinanat tareeq*), "سَنَنُ الطَّرِيْقِ" (*sinanat tareeq*). These words are not plural forms of "سُنَّةٌ" (*sunnah*) which is a separate word. This means open and distinct part of a path. This led to its meaning of manner, sect, routine, and law:

The Quran says:

| 17:77 | you will find no change in our way (system, law): | وَلَا تَجَدُ لِسُنَّتِنَا تَحْوِيْلاً |
|-------|---|---|
| 35:43 | now people appear to be waiting for whatever happened to the others to happen to them as well | فَيَلْ يَنْظُرُوْنَ إِلَّا سُنَّتَ الْأَوَّلِيْنَ |
| 3:136 | a lot of different systems and paths, and routines have passed before your time | قَدْ حَلَتْ مِنْ قَبِلِكُمْ سُنَنّ |

Ibn Faris says it means for something to continue, and for things to appear comfortably one after another.

سَنَّ الشَّىْءَ" (sannash shaiyi) means to make something easy or to facilitate it {M}.

"سَنَّ التَّرَابَ عَلَى وَجُمِ الأَرْضَ" (*sannat turaaba ala wajhil arda*): spread the soil smoothly on the ground till it turned into a dam $\{M\}$.

Regarding the creation of man, the Quran says:

| 15:26 | From putrefied mud | مِنْ حَمَاءً مَسْنُوْنٍ |
|-------|--------------------|-------------------------|
|-------|--------------------|-------------------------|

Lane (with different references) has written that "سَنَنْتُ الْحَجَرَ عَلَى الْحَجَرَ عَلَى الْحَجَرِ (sananatul hajara alal hajar) means that I put a stone on stone and rubbed it (grounded it). Occasionally putting water and rubbing stone on stone produces a kind of putrified matter which is called "سَنَيْنُ" (saneen). When it is allowed to remain for some time, it becomes hard {L}.

Some say that "مَسْنُوْنَ" (*masnoon*) means wet and moist. *Abul heesham* says that "سَنَّ الْمَاءُ" (*sannal maa-u*) means that water transformed {*T*}.

The Quran says that man was initially created from the soil. The soil which was mixed with water, i.e. life began with(inorganic & Organic) matter intermingling with water. When these two met and eons passed, there was a lot of metamorphosis in the matter and life began. This has been termed as "خَمَاءٍ مَسْنُوُنِ" (*hama inn masnoon*). Note that it explains how life began physically, but this does not mean that life is the product of this matter.

The Quran's has declared:

| 35:43 | There are no changes in the method of Allah | فَلَنْ بَجِدَ لِسُنَّتِ اللَّهِ تَبْدِيْلاً |
|-------|---|---|
|-------|---|---|

This is an expression of a great fact, on which all scientific research rests, which is the basis of human living in the universe. Quran declared 1500 years ago that God's laws never change. Declaring such a fact is not the product of a human intellect. Humans have become aware of the concept of laws in the recent past. All scientific research is producing ever new results and we are becoming aware of the laws which never change. This understanding of these laws is giving us a new confidence in our functioning knowing fully well that these laws will never let us down and this has opened ever new spheres of scientific discoveries When man once understands the law made by God, he knows that these laws never change. Just like Allah's immutable laws are operating in the physical world and the universe, so are His laws working in the human world. He has fixed some rules for the rise and fall of nations, and these rules never

change. Any nation which follows these values will prosper and a nation which does not follow these values , will get destroyed.

This law based concept of God has brought a revolutionary change in the world. In the early human period man conceived God as a despot who did not follow any laws and values. For example He could go angry just like a human dictator or bestow rewards without any reason. Such a concept of God was became an object of fear lest He may become angry on a minor matter so man tried according to his own self-created belief and understanding to keep such a God happy with different offerings – the acts of worship.

The Quran made this revolutionary declaration that although God was all powerful and the highest authority, He had formulated laws for the physical universe, as well as for the human functioning sphere. And despite holding unlimited power, He has ordained that there will be no change in the laws He has formulated (no matter what happens).

So the decisions of human life too will be made, not whimsically, but according to His laws. That is, every human deed will produce results according to the laws framed by God and these are noted and explained in the Quran. For example the Quran declared: 'Allah created the heavens and the earth for just ends, so that every self finds the recompense of what it does in life; and none is treated unjustly' (45:22)

توَ لَنْ تَجِدَ لِسُنَتَ اللهُ تَبْدِيْلاً " (walan tajida lisunnatil lahi tabdeela): and His laws will never change.

God only acts according to His law this is a law which never changes – we have verified it through our research in the scientific field. This change in human thinking has helped to change the face of the earth and the Quran has declared that: 'Soon will we show them Our signs in the furthest regions and in their own Self until it becomes manifest to them that this (The Quran) is the Truth....' (41:53). Those who understand the Quran and its thinking need to make others aware of the reality explained in the Book. This will help to bring change in the human thinking so that we can reduce the mutual conflicts and use this life to develop our self within the domain of the permanent values.

| S-N-He | ٥ | ن | س |
|--------|---|---|---|
|--------|---|---|---|

| food and drink were spoiled or deteriorated | سَيِه الطَّعَامُ وَالشَّرَابُ سَنْهاً وَتَسَنَّهَ |
|---|---|
|---|---|

(*as-sanahu*): to petrify, something to change due to passage of time. This word is used when bread becomes stale and drinks become stale and deteriorate.

"أطعام سنير" (*tyaamu sanehun*): spoilt food.

تُخبُرُ مُتَسَنِّہٌ" (khubzun mutasannehun): stale or spoiled bread.

The Quran says:

| 2:259 It was not spoiled | لَمْ يَتَسَنَّهُ |
|--------------------------|------------------|
|--------------------------|------------------|

Even after passage of so much time, it did not metamorphose or change $\{T, M\}$.

Ibn Faris says that the meaning of "سَنَدُه" (sanah) is to depend on time.

"سَنَهَت النَّخْلُ» (sanahatin nakhlah): many years passed on the date palm.

Most scholars are of the opinion that "سَنَةً" (*sanah*) meaning of years has been derived from this root, but we have put "سَنَةً" (*sanah*) and its derivatives under heading (S-N-W).

"ألسنَّذَهُ" (*as-sanah*) means years (its plurals are "سَنَوَاتٌ (*sanawat*), "سَنُوْنَ" (*sinoon*) and "سِنِيْنَ" (*sineen*). There is some difference of opinion about its root. One school of thought says that its root is (S-N-H) because the Arabs say "سَانَبُتُ فُلَاناً" (*sanahtu fulana*) which means that I cut a deal with him on yearly rate.

Ibn Faris says the real meaning of "سَنَدُ" (sanah) is dependent on a period of time.

"مَنَذَبَتِ النَّخْلَةُ" (sanahatan nakhlah): many years passed on the date palm. A second opinion says that its root is "يَسْنَوُ (sano) from which "يَسْنُوُ" (yasnu) has been derived, which means to go round and round a well.

"ألستانية" (*as-saaniyah*) means an animal which is made to go round and round a well in order to bring water out .

"ألسَنَّة" (*as-sanah*) means one orbit of the sun. This is also called "ذار" (*daar*), and since this orbit takes a full year, therefore "ألستَنَة" (*as-sinah*) means one year.

(*as-sanah*) is a solar year while "الْعَامُ" (*al-a'am*) is a lunar year.

"أَلْعَامُ" (*as-sanah*) also means a year when there is drought and intensity, and "الْعَامُ" (*al-a'am*) is a year when there is prosperity and good harvest .

| 20.14 | And he lived fifty less than one thousand years | فَلَبِثَ فِيْهِمْ أَلْفَ سَنَةٍ إِلَّا خَمْسِيْنَ عَاماً |
|-------|---|--|
| 29.14 | among his people | |

Here "عاماً" (*a'ama*) is the period without hardships and "سَنَةٌ (*sanah*) is the period when there were hardships.

Lane says "سَنَة" (sanah) also means crop of which there are four harvest in a year.

"خَصْسِيْنَ عَاماً" (*alfa sanatin*) means two hundred fifty years, and "أَلْفَ سَنَةَ" (*a'am*) is one full year. So if "أَلْفَ سَنَةَ" (*khamseen aama*) are taken out from it, it leaves us with two hundred years, which could be a man's age. But these are all conjectures. When more historical facts come forth it will become clear what the Quran meant to say that *Nooh* lived fifty less than one thousand years among his people (29:14). Some say this is his period of messenger-hood, which commenced from the the era of an earlier messenger of Allah.

(sannah) or "تَسْنِيَة" (tasniah): opened it, facilitated it, made it easy {T, M, R}.

س ن ی S-N-Y

"ألسَّلْيَنْ (as-sana) means light.

(as-sana) means loftiness and high stature. "أَلسَنَّنَاءُ" (as-sana) means loftiness and high stature.

The Quran says:

| 24.45 The dazzle of the righting hearly binded | 24:43 | The dazzle of the lightning nearly blinded | يَكَادُ سَنَا بَرْقِهِ يَذْهَبُ بِالْأَبْصَارِ |
|--|-------|--|--|
|--|-------|--|--|

Here "سَنَا" (sana) means dazzling light.

Ibn Faris says it basically means stature and loftiness.

"نَسْهَرٌ " (sahara): to be awake (at night). "سَهَرًا" (sahara): to be awake (at night).

"سَاهُرُ" (*saahir*): one who wakes up at night, remaining awake at night $\{T, M, R\}$. (*as-saahirah*): the upper part of the earth, the face of earth, or that part of the earth on which human beings live, or which is 'alive' because of them.

The Quran says:

| The Quiu | ii Suys. | |
|----------|--|----------------------------|
| 79:14 | There will be eternal life after the renaissance (life after death), | فَإِذَا هُم بِالسَّاهِرَةِ |

It also means continuously in a state of awakening, or speed in development because "أَرْضَ السَاهِرَة" (*ardun saahirah*) is a land which grows plants very quickly {*T*}.

Since the state of life after death is incomprehensible to us, therefore the Quran relates those in terms of metaphors and examples only. Men having insight can have a faint glimpse at a inner reflection level of what it is meant by those examples and metaphors. Understanding more than this is not possible in this life –at least that is the level of understanding at the beginning of the 21^{st} century. As further research is carried out on the Quranic message, more may be discovered by the later generations.

In Syrian language "اَلسَّاهُوْرَ" (*as-saahoor*) means the same as "اَلْسَاهُوْرَ" (*al-qamar*) or the moon {F}, {*Kitab-ul-Ashfaq*}. In pure Arabic it means lunar eclipse {*Lane*}.

س ە ل S-He-L

''نَالَسَّبْلُ'' (*as-sahil*): a soft thing. (*as-sahal minal arz*): soft ground. Plural is "سُبُوْلُ" (*suhul*) *{T*}.

The Quran says:

| 7:74 | you build palaces on levelled and soft ground | تَتَّخِذُوْنَ مِنْ سُهُوْلِمًا قُصُوْراً |
|------|---|--|
|------|---|--|

س ہ م S-He-M

"سَبَعْاس" (*sahumas*): part. Its fundamental meaning is of an arrow which was used for balloting to apportion shares or to divide. It also means a corridor in a house.

"اَلْسَبُّامَ" (*as-suhaam*): to become weak and change colour. It also means a camel disease in which they feel hot and thirsty.

السبوم» (*as-suhoom*): to be harsh due to some stress or worry.

"سَابَمَ القَوْمَ" (saahamal qaum): he balloted with the nation {T, M, R}.

It also means to compete in archery, as well as to try overpowering each other.

The Quran says in reference to the story of Yunus:

| 27.141 | he balloted along with the others | فَسَاهَمَ |
|--------|-----------------------------------|-----------|
| 57.141 | (traditional translation) | 1 |

This verse is taken as part of a story of Yunus where he was in a boat and there was a ballot to ask one to leave the boat to lighten its load. However, this interpretation does not fit here and as explained later, more plausible meanings are taken for this term.

Allah has said that *Yunus* contested our laws (went against them or did not follow them) and it was his mistake.

| 37:141 (as a consequence) he | فَكَانَ مِنَ الْمُدْحَضِيْنَ |
|------------------------------|------------------------------|
|------------------------------|------------------------------|

Yunus got frustrated with the people of his nation and hastened in making a decision prior to receiving clear signs from Allah. This hastening and leaving his people resulted in his getting in trouble in the water; however, he managed to come back to his people as explained in the Quran.

س ہ و S-He-W

"سَبَهَافِي الْأَمْرِ" (*saha fil amr*): to forget something. Linguist scholars say that "سَبَهَافِي الْأَمْرِ" (*sahw*), "غَفَلَة" (*ghaflah*) and "نَسَبَوْنَ" (*nisyaan*) are all of the same meaning, but some say that "نَسْبَوْنَ" (*sahw*) is slight neglect of something present in the human memory, and "نَسْيَانَ" (*nisyaan*) is for something to go completely out of memory.

Ibn al-Asseer says that "سَبَافِى الشَّىْءَ" (*saha fish shaiyi*) means to give something up due to unawareness, and "سَبَاعَنْ" (*saha unhu*) means to give something up knowingly {T, R, M}. "سَبَاعَنْ" (*as-sahw*): for something to be motionless and soft. "السَبُوُ" (*as-sahwah*): a bow which is easily stretched {T, R, M}.

Ibn Faris says most of the meanings of this word are connected with neglect and peace.

"جَاءَ سَبُواً رَبُواً" (ja'an rahwan rahwa): he came very peacefully.

| says: | |
|---|---|
| They are engaged in their doings and are unaware of the reality | هُمْ فِيْ غَمْرَةٍ سَاهُوْنَ |
| They are neglectful of their duties | ٱلَّذِيْنَ هُمْ عَنْ صَلَاتِمِمْ س َاهُوْنَ |
| They are unaware of the reality of <i>salaah</i> | وَلاَيَأْتُونَ الصَّلاَةَ |
| and only believe in its physical form | الَّذِينَ هُمْ يُرَاؤُونَ |
| I | They are neglectful of their duties They are unaware of the reality of <i>salaah</i> |

Because these can be very easily carried out and can gain respect in society .through visible worship acts

س و أ S-W-A

(sa-ahu), "يَسُوْعُهُ" (yasu-uhu): to say something to someone which is unpleasant.

"سَاءَ الشَّيءُ (sa-ush shaiyi): something bad happened.

"أَسْنَاءَ" (*asa-a*), "يُسِىْءُ" (*yu-see*): to do something bad, to create imbalance and inequality, to create chaos and deterioration. It is the opposite of "اَحْسَنَ" (*ahsan*).

"(as-sabeelah): life's unpleasantness, problems in life {T}.

This is the opposite of "سَنَّى مَعْنَّ (hasanah) which means to give something complete balance and hence "سَنَّى مَعْنَ مَعْنَ (sayye-atah) means imbalance. As such, "سَنَوْ مُنْ (sau-u) means harm, chaos, and annihilation {T}, {Latif-ul-Lugha}. "سَنَيْنَةُ" (hasanah) also means striking balance in actions and deeds "سَنَيْنَةُ" (sayye-atah) being opposite would mean exaggeration, disturbing the balance, going to extremes {T}. "شَتَاوِينَ" (masaawi): unpleasant things, faults {T} {Latif-ul-Lugha}.

Also see heading (H-S-N).

"أَلسَوْنَةَ" (*as-sau-ah*): bad nature, bad thing or work, any talk or deed which if revealed will cause shame. It also means the male and female genitalia {*T*}. Plural is "سَوْاَتٌ" (*saw'aat*) as in (7:20, 7:26).

The Quran says "سَيَنَةً" (*sayyi-atah*) against "سَيَنَةً" (*hasanah*) at several places, as in (7:131), 3:119 etc. It also uses "القَتِصَادً" (*saa-a*) against "القَتِصَادً" (*iqtesaad*) which means striking balance (5:66).

To mean to be sad or have tribulations "سِنِى (*siya behim*) has been used in (11:77). The effects of the righteous living is beauty and goodness in a society. In a society based on the permanent values, both human personality and society are balanced, and each member gets all the pleasantries of life. Acting against this way creates imbalance and as a consequence unpleasantness is created. This is why the Quran has said that people who live these opposing lifestyles can never be the same (40:58). The question that arises here is that if the balance of a society has gone awry, then what do we do to set it right?

The Quran says:

| 23:96 | if you do righteous deeds, the imbalance within a society will (gradually) go away | اِدْفَعْ بِالَّتِيْ هِيَ أَحْسَنُ السَّيِّءَ |
|--------|--|--|
| 11:114 | Indeed the good deeds remove the evil deeds | اِنَّ الحُسَنٰتِ يُذْهِبْنَ السَّيِّمَاتِ |

Surah *Al-Momineen* says that one of the characteristics of a true believer is:

| 13:22 25:54They remove evil by virtue | يَدْرَءُ وْنَ بِالْحُسَنَ السَّيِّءَ |
|--|--------------------------------------|
|--|--------------------------------------|

This does not mean that the Quran teaches us to present the other cheek if one is slapped or if someone takes off your coat (i.e. robs it forcibly), then you take off your shirt for him too. Such teachings only encourage the criminals. The Quran directs us to enforce justice which requires that steps to be taken to prevent crimes in a society and to punish criminals taking into account all circumstances. It also asks us to look at the causes of the crimes and to have a programme in place to rehabilitate those who are willing to reform themselves.

For example the Quran declares:

| 42:40 | The punishment should always be | حَدَاهُ اسْتَنَقَةُ مِتَالَمَا |
|-------|---------------------------------|--------------------------------|
| 10:27 | commensurate to the crime, | جزاو أسيته متلها |

No crime should have more punishment than what it deserves – as noted earlier, all circumstances should be taken into account. Also where reform can be expected, forgiveness is advocated. This verse makes it clear that evil should not be returned with evil. Each member of the society should be made aware of the Law of requital i.e. what we sow so shall we reap.

| 41:27 | verily we will punish them severely for the deeds they have committed | وَلَنَجْزِ يَنَّهُمْ اَسْوَا الَّذِيْ كَانُوْا يَعْمَلُوْنَ |
|-------|---|---|

The foregoing explains how the Quran teaches to create balance in our personality and in a society at large.

سُوَاغٌ Suw'a

It was the name of an idol during the reign of *Nooh* (71:23). People of Arabia were well aware of this name. The tribe of *Banu Hazeel* used to worship an idol of this name.

س و د S-W-D

"أَلْأَسْوَدُ" (*al-aswad*) is the opposite of "أَيْبَضُ" (*abyaz*), which means black. Plural is "مُوْدُ" (*suud*) as in (35:27).

(*iswad*), "يَسْوَدَ" (*yaswud*): it became black:

"أَلْسَوَادُ" (*as-sawaad*): darkness, blackness, great wealth, the villages around a city, a large number, common folk, a big part of the nation.

(syed) {T}. تُسْبَدُ" (as-saa'id): a leader of a smaller stature than "ألستَاءِدُ" (syed) (T}.

(*as-syed*): leader, or one who has a big party , lord, or husband {*T*}.

تألسيّيادة (as-siyaadah): leadership.

"أَلْأَسُوَدُ مِنَ الْقَوْمِ" (al aswad minal qaum): the most powerful and prominent man in a nation, a patron of a nation $\{T\}$.

أَلأَبَامُ الْمُسَوَّدَةُ (al ayyamal muswada): days of ill-being and pain {M}.

Raghib says "الْفُجُوْهِ" (*ibyidadul wujuh*) means happiness and pleasure and "الْفُجُوْهِ" (*ibswidadul wujuh*) means sorrow and pain *{R}*. Also see heading (B-Y-Zd).

"أَسْيَدًا" (*sayyeda*) meaning leader or head – this has been used by the Quran in (3:38). It means a man of respect, and meaning as a husband, has been used in (12:25); here it has been referred to a man in Egypt who was not only a husband, but was a leading figure as well. The Quran has not used it to mean an ordinary husband.

The Quran says:

| 16:58 | black, dark, or sorrowful | وَجْهُ مُسْوَدًا |
|-------|--------------------------------|-------------------|
| 3:105 | faces to blacken (be demeaned) | تَسْوَدُ وُجُوْدٌ |

It means when a face turns'black', out of tribulation and trouble as an example. Against this the word used is (*tabyaz*) which means to be white meaning to be honoured.

"سَوْرَةٍ" (saurah): to accost or attack someone. "سَوْرَةٍ" (saar), "يَسُوْرُ" (saar): "سَارَ

(surt ul-haa-ita wa tasawwaratuh): I climbed the wall. "سُرْتُ الْحَاءِطَ و تَسَوَّرْتُه"

"السُوْرْ" (as-soor): a city in which one takes sanctuary. It also means loftiness, respect and honour.

"سَوْرَةُ السُلْطَانِ (sauratus sultan): a king's grandeur, respect etc.

"ألستوار" (*as-siwaar*): a bracelet which was at that time a sign of honour and stature. "أستاور" (*asaawir*) is its plural form.

"نَالْإَسْوَارُ" (*al-uswaar*) or "الْإِسْوَارُ" (*al-aswaar*): cavalry commander. It also means a very good archer and horseman {*T*}.

Ibn Faris has said that "[']لإسوار'' (*al-iswaar*) is not an Arabic word.

"كَالسُوْرَةُ" (*as-surah*) means rank and stature, respect, loftiness. It also means a building which rises majestically towards the sky {*M*}.

Many reasons are quoted about the Quranic chapters called "أَسُوْرَةً" (*surah*). Some think that these are called so because they contain higher level thoughts. Others think that the earlier chapters work as a stepping stone for the following chapters.. Still others say that since the chapters were revealed by stages and they all constitute the "building" of the Quran, therefore they are called "أَسُوْرَةٌ" (*surah*). Some say that they are called so because they are safe within the Quran, like a man seeking sanctuary is safe in a city which has provided protection *{T*}. A sign is also called a "أَسُوْرَةٌ" (*surah*) *{M*}.

"سُوْ رُ" (soor) also means strong, well-built camels of high breed {T}.

In the Quran itself, it has meant Quranic chapters (2:23) and as a sign of leadership. It has also come to mean hand bracelet in (35:33), (18:31) and (76:21).

Surah *Saad* says:

| 38:21 | when they climbed over the wall into the porch. | إذْ تَسَورُوا الْمحْرَابَ |
|-------|---|---------------------------|
| 50.21 | when they enhibed over the wan into the poren. | ر- مشرون ، دو س ب |

The bracelets mentioned in heavenly society are referring towards power, grandeur and loftiness which believers will enjoy there (18:41). The Quran says that this is an allegory of the real thing. We cannot comprehend their reality with our present level of consciousness. See heading (J-N-N).

Ibn Faris says that "أَلسَوْطُ" (*as-saut*) basically means to mix things with other things. Mixing to confuse things as these loose true identity. Ibne Faris has noted these meanings.

"أَلسَوْطُ" (*as-saut*) also means to whip because it mixes the skin with blood, or because it penetrates the skin or perhaps because the whip itself is woven by twisting different strands of leather. The plural is "أَسوَاطٌ" (*aswaat*).

Although it means to whip, the Arabs meant that any painful punishment was "سَوْطَ عَذَابِ" (*as-sauta azaab*), or punishing whip.

Muheet and *Raghib* think that "سَوْطَ عَذَاب" (*sauta azaab*), as in (89:12) means different kinds of punishments, mixed together {T, R, M}.

Ibn Faris says "سَوْطَ عَذَابِ" (sauta azaa) means a part of punishment.

س و (ی) ع S-W(Y)-Ain

(*yasoo*) "يَسُوْغُ" (*saa-a*), نسَاعَ" (*yasoo*)

Muheet says that this root's real meaning is destruction, decline, and downfall $\{T\}$.

سَنَاعَ الشَّيْءُ (*sa-ash shaiyi*) means that a thing was wasted.

"بُوَ ضَاءِعٌ سَاءِعٌ (huwa zaa-i-un saa-ih): he is to be wasted and annihilated.

"فَاقَةٌ مِسْيَاعٌ (*faqatun misyaun*): a she camel which leaves her young one unprotected in the jungle where wild animals may kill it.

"أساعَر" (asa-a): left it unprotected and let it go waste.

تَمِسْيَاعٌ لِلْمَالِ" (*rajulun muse 'un*) and "مَسْيَاعٌ لِلْمَالِ (*mesa 'u lilmaal*): a man who wastes his wealth.

"أَلْسَيْعُ" (as-sayyi'u): water that flows on the ground.

َسَاع الْمَاءُ وَالشَّرَابُ' (saa-al maa-u wa ash-sharaab): water and wine fell to the ground and started flowing. "سَاع الْمَاءُ وَالشَّرَابُ" (saa-al maa-u wa ash-sharaab): water and wine fell to the ground and started flowing. "تَسَيَّعُ الْبَقْلُ" (tasayyi-al baql): the vegetables began to dry {T}.

"أَسْوَعَ" (aswa): he transferred from one time frame to another, or went back one moment or stage $\{T\}$.

َ (sau un minal lail): a peaceful part of the night. "سَوْعٌ مِنَ اللَّيْلِ"

"ألسَّاعَة" (as-saa-ah): portion of a time which passes continuously and the time which is lost.

Ibn Faris says it means to pass on a continuous basis.

It also means tough time , rivalry, and distance "أَلسَاعَة" (*as-saa'h*): those who are killed *{T*}.

The Quran has used the word "ألستَّاعَةُ" (*as-sa'h*)" extensively. The Quran repeatedly warns those who are on the wrong path that such a choice leads only to destruction and loss. It warns that if you do not change your ways then you will be destroyed as consequence of your actions. This is known as "إِذْ اللَّٰهُ (*inzaar*) i.e. giving warning of the consequences of one's actions. These people do not heed this, and stick to their ways. Their wrong deeds keep piling up negative results until the time arrives when these results that are being compiled quietly but surely, become evident and the people are destroyed. This is called "ألستَّاعَدُ" (*as-saa'h*), or the time of manifestation of the results. This change does not come at once, but is brewed for a long time. Despite this, it does make its appearance in a way that those who are unaware of its reality think that it has come upon them suddenly. Since this revolution mostly takes place through the hands of those who rise in the support of the truth - , this "*las-saa'h*) is in a way the last battle between good and evil, in which the forces of evil are defeated and destroyed. In short, the meaning of "الستَّاعَة" (*as-saa'h*) would be the manifestation of the result of deeds.

Surah *Taha* says that Allah informed *Moosa* in detail about how far the pharaoh's rebelliousness had gone, and then told him what he had to do. It is then said:

| 20:15 | Know that the time for the last battle between good and evil has come. | إِنَّ السَّاعَةَ أَتِيَةٌ |
|-------|--|---------------------------|
|-------|--|---------------------------|

It means that it will come for sure. The pharaoh cannot be left to do as he pleases. The revolution is bound to come. Likewise the last Messenger (*pbuh*) was also told several times in the Ouran:

| 15:85 the time for the last revolution is arriving | | intervise the fast friessenger (peth) was also total several times in the Quita | |
|--|-------|---|-----------------------------|
| | 15:85 | the time for the last revolution is arriving | إِنَّ السَّاعَةَ لَا تِيَةٌ |

Here it means that the revolution will definitely come and the opponents will be destroyed. The battle between truth and falsehood has been going on, on a small scale, and continues to do so. But it appears from the study of the Quran that as time moves ahead and the truths become revealed, there will be a big clash between the universal concept of meeting human basic needs and those who pursue selfish interests - , after which the earth will be illuminated by the universal concept of sustenance for all human beings as noted in (39:69). This is the great "ألستَّاعَثُ" (*as-saa 'h*) pointing to a momentous change in the world and predicted by the Quran (89:22).

As per the Quran the human life does not end with death, nor do the results of deeds end with death. Thus in the life hereafter, results too have been called "ألستَّاعَةُ" (*as-saa'h*). The context in which the term is used can be deduced from the study of the Quran i.e. whether referred to the present life to the life in the hereafter.

The cumulative effects of human actions take time to materialise, therefore the effects of the wrong path adopted by various nations take time to show their results. The Quran invites us to study the history from this aspect and see the consequences of following the wrong values.

In Surah *Al-Airaaf the Quran declares*:

| | These people ask you as to when will that time | يَسْئَلُوْنَكَ عَنِ السَّاعَةِ آيَّانَ مُرْسٰهَا- قُلْ إِنَّمَا عِلْمُهَا عِنْدَ رِبِّي- لَا |
|-------|--|--|
| 7:187 | of reckoning, with which you try to frighten us, will come? Tell them, only Allah knows. | يُجَلِّيْهَا لِوَقْتِهَا الَّلا هُوَ |
| | Nobody but Allah will reveal it at its time | |

Also see 79:42-44.

At another place it is said:

| 33:63 | people ask you about the time of reckoning, tell them only God knows about it, and what do you | يَسْتَلُكَ النَّاسُ عَنِ ا لسَّاعَةَ- قُلْ إِنَّمَا عِلْمُهَا عِنْدَ اللَّهِ- وَمَايُدْرِيْكَ |
|-------|---|--|
| | know, that moment may be near | لَعَلَّ السَّاعَةَ تَكُوْنُ قَرِيْباً |

At other places too it is said that only God knows when that moment will come (see 41:47, 43:85 and 31:34)

The Quran refers to the Bani Israel as an example to illustrate the rise and fall of nations from the history. The Bani Israel had messengers of Allah for about 1500 years and enjoyed the prosperity until they followed the revealed permanent values. However, when they went against these values, they suffered the consequences.

The last was *Isa* who told them clearly that if they do not reform their ways, then the power and prosperity will be taken away from them as per Allah's laws. But the reply they gave *Isa* is a historical fact and after that the time for revolution did come and the nation's grandeur and prosperity was taken away from them.

It is said about *Isa* in the Quran:

| 43.61 | His advent was to make the people aware of the | وَ إِنَّهُ لَعِلْمٌ لِلسَّاعَةِ |
|-------|--|---------------------------------|
| 43.01 | great moment of truth. | |

Also see 3:46-55, 43:63-66.

If the pronoun "أَلََّ" (*innahu*) is taken to refer to the Quran, then the verse would mean that this Quran tells about the great revolution which is imminent.

س و غ S-W-Gh

"سَاغَ الشَّرَابُ" (*saugha*): for a drink to go down the throat (*saugha*): for a drink to go down the throat easily.

"سَنَاعُ الطَّعَامُ" (saaghat tu-aam): the food went down the throat easily.

"أَلسِّوَاغُ" (as-siwagh): that which helps in getting something down the throat.

"شَرَابٌ سَاءِغٌ" (*sharabun saa-igh*): pleasant drink which can easily be swallowed.

"طَعَّامٌ سِيِّغٌ (*tu-aamun sayyigh*): delightful food.

(saaghun nahar): the day passed easily or peacefully {T, R, M}.

The Quran says about the hell dweller:

| 14:17 | he will swallow it indeed but with difficulty | يَتَجِرَّعُهُ وَلَا يَكَادُ يُسِيْغُهُ |
|------------|---|--|
| For detail | s see heading (J-R-Ain). | |

Surah *An-Nahal* says about milk:

| 16:66 | it is very pleasant for whosoever drinks it (it is easily swallowed) | سَائِعاً لِلسَّرِيْنَ |
|-------|---|-----------------------|

"سَوْفَ" (seen) for indication of some event taking place in the near future, soon.

Some say that "سَنَّ (*seen*) is used for the near future, while "سَنَوْفَ" (*sauf*) for distant future, but this is not a rule. Sometimes "لَّ (laam) comes ahead of "سَوُفَ" (*sauf*) to put stress on what is being said :

| 93:5 | And your Rabb will endow you with so much that you will become satisfied | وَلَسَوْفَ يُعْطِيْكَ رَبُّكَ فَتَرْضٰي |
|------|--|---|
| 93.3 | (it will be according to your wish). | وتشوف يعطيك ربك فترضي |

س و ق S-W-Q

''نَالَسَّاقَ'' (*as-saaq*): the calf (upper part) of a leg. The plural is ''سُوْقُ'' (*suuq*) as in (38:33.) (*ألسَ*اقُ'' (*as-saaq*) also means the trunk of a tree. Its plural is ''سُوْقُ'' (*suuq*) as well, as in (48:29). But when

Arabs relate something with stress or intensity, they link it with "سَاقٌ (*saaq*) $\{T, R, M\}$. See heading (K-Sh-F) where it has been described in detail.

The Quran says:

| 68:42 | The day that the shin will be laid bare | يَوْمَ يُكْشَفُ عَنْ س <mark>َاقٍ</mark> |
|---------|---|--|
| 75:29 | And one leg will be joined with another | وَالْتَفَّتِ السَّاقُ بِالسَّاقِ |
| 27:44 | And she uncovered her legs | كَشْفَتْ عَنْ سَاقَيْهَا |
| T 11./1 | | |

In all the above, the connotation is of intensity.

"سَاق (saaqa): to drive the animals from behind {T, R, M} as in 7:57.

"فَادَ" (qaada) means to pull animals from the front.

"نَسَاءِقَّ" (*saa-iq*): one who drives (animals) {T, R, M} (50:21). "مَسَاقٌ" (*masaaq*): place to drive animals "اَلَسُوْقَ" (*as-sooq*): marketplace, or a place where people bring their animals for sale. Plural is "اَلسُوْقَ (aswaq)

Nawab Siddiq Hasan Khan has written that (S-W-Q) connote intensity and gathering. Ibn Faris says it basically means to drive.

"السَّاقُاس (as-saaq) also means calf of leg because it supports the walker.

"تَسُويْلْ" (*tasweel*): to make something to be so attractive (usually something bad) that one is attracted to it $\{T\}, \{M\}, \{Al-ilm-ul-akhlaq\}$. It also means to turn some something bad to good $\{T, R\}$.

Surah Yusuf says:

| 12:18 | This is something your desires have made look good to you | بَلْ سَوَّلَتْ لَكُمْ أَنْفُسُكُمْ أَمْرًا |
|-------|---|--|
|-------|---|--|

Some say that it is from "سُوْلٌ" (suul) which means a desire which decks out something bad as good.

Surah Muhammad says:

| 21.25 | Their desires made it look good to them (and in this way misled them) | الشَّيَطُنُ سَوَّلَ لَمُمْ |
|-------|--|----------------------------|
| | (and in this way misted them) | |

In surah Taha the Saamri says:

| 20:96 | in this way, my heart (mind) made it look good to me | وَكَذَالِكَ سَوَّلَتْ لِيْ نَفْسِيْ |
|-------|--|-------------------------------------|

س و م S-W-M

"سَوْمٌ" (*saum*) means to go out in search of something. The meaning is compound i.e. to go and search. Sometimes only the first meaning is taken, like "سَامَ الْإِلِنُ" (*sama al-ibl*) which means that camels went for grazing, or camels were let free to graze. At other times only the second meaning prevails, like "سَوْمُونْنَكُمْ (*vasumoonakum su-ul azaab*) in (2:49) which means that they (bad) used to be looking for punishment to come to you (good). To treat others cruely, to create difficulties deliberately.

"سَامَتِ الطَّيْرُ عَلَى الشَّيْءِ" (saamatit tair alash shaiyi): The bird kept hovering over it {T, M}.

(sama fulanal amr): hurt him with something, made something must for him {T, M}. "سَامَ فَلَاناً الْأَمْرَ"

"أَسَامَ الْإِبِلَ" (asamal ibl): left the camels to graze.

(as-seema-a): sign, mark. "السِّيْمَاءُ" (as-seema-a): "السِّيْمَةُ" (as-seema-a): sign, mark.

(saumul farsa tusma): branded the horse. أَسَوَّمَ الْفَرَسَ تَسْوِيْماً"

"سَوَّمَ فُلَاناً" (sawwama fulanan): let him go free.

Surah Aal-e-Imran calls the malaika which are used to punish as "مُسَوِّمِيْنَ" (musawwameen) in (3:124).

| 51:33 | Those stones under Allah's law were earmarked to do the job | لِنُرْسِلَ عَلَيْهِمْ حِجَارَةً مِنْ طِيْنَ مُسَوَّمَةً |
|-------|--|---|
| 3:14 | And branded horses (horses which have been left to graze) | وَالْحَيْلِ الْمُسَوَّمَةِ |
| 16:10 | that in which you graze your cattle (the grazing fields) | وَمِنْهُ شَجَرٌ فِيهِ تُسِيمُونَ |
| 48:29 | Signs (marks) on their faces | سِيمَاهُمْ فِي وُجُوهِهِم |

The Quran says:

"(*istiwaa*) means for something to be perfectly balanced in itself, or for something to have its forces in the right places in the right proportion, and for it to have reached the peak of its development $\{T, M\}$.

Ibn Faris says it means solidarity and the balance between two things.

(*istawar rajul*): he reached his prime. "اِسْتُوَىٰ الرَّجُلْ

The Quran has described "اِسْتَوَىٰ" (*istawa*) by saying "بَلَغَ أَشُدَّهُ" (*balagha ashud dah*) in (28:14). Likewise in "اِسْتَوَىٰ عَلَى سُوْقِمِ" (*istawa ala suuqehi*) in (48:49) the meaning is clear i.e. for plants to stand upright on their stems.

(*as-sawiyyu*) means which is safe from any exaggeration and in perfect proportion {*T*, *M*}.

تألصِّرَاطُ السَوِّيُّ» (as-siraatus sawiyyu) means balanced path (20:135).

تَرَجُلٌ سَوَىٌ" (rajulun sawiyyu): a man whose morals and manners are immaculate.

That is, he has good figure and has balanced personal; ity $\{T\}$.

Surah Maryam says:

| 19:17 | Then he assumed for her likeness a well-balanced man | فَتَمَثَّلُ لَهَا بَشَرًا سَوِيًّا |
|-------|--|------------------------------------|
|-------|--|------------------------------------|

(*siraatim mustaqeemin*) has come against "مُكِبًا عَلَى وَجْهِم" (*mukibban ala wajhihi*) in 67:22.

"سَوْدَهُ تَسْوِيَهُ" (*sawwahu taswiyatah*) and "أَسْوَاهُ تَسْوِيَهُ" (*aswah*) mean balanced him, made him balanced, smoothed him {*T*}.

Raghib says it also means to make according to what sagacity demands e.g. meeting the demands of human wisdom, the requirements to run human affairs as per the permanent values.

| 2:29 | made them with the right balance | فَسَوَّىٰ هُنَّ سَبْعَ سَمَٰوٰتٍ |
|------|--|---|
| 82:7 | Allah is he who created and made you of the right proportion and balance as was needed | الَّذِيْ حَلَقَكَ فَسَوَّاكَ فَعَدَلَكَ |

"إِسْنَوَىٰ الِلَى الشَّيْءِ" (*istaa alash shaiyi*): to arrive at some conclusion through individual thinking , or to intend to do something, or to be attentive to it $\{T, M\}$.

(*istawa ala*) has the connotation of overpowering and control{R}. السَنَوَىٰ عَلَى"

The Quran says:

| 43:13 | That you may sit firmly on their backs | لِتَسْتَوُ اعَلٰى ظُهُوْرِهِ |
|-------|--|------------------------------|
| 23:28 | to sit tight (on an animal meant for riding, or on a boat) | اِسْتَوَيْتَ عَلَى الْفُلَكِ |

For Allah becoming (*istawa*) on His throne, see the heading (Ain-R-Sh).

"سَوَاع" (sawa-un) means for two things to be equal to each other.

"سَوَاءٌ زَيْدٌ وَعَمْرٌو" (sawa-un zaidu wa um-run): Zaid and Umru are of the same rank, are equals.

"أَسْتَوَيَا" (*istawaya*) and "تَسَاوَيَا" (*tasawiya*): for two things to be like each other, or similar.

"سَاوَيْتُ بَيْنَهُمَا مُسَاوَاة" (saawaitu bainahuma musaawah): I made one equal to the other.

"سَوَاعً" (sawa-un) also means justice.

"سَوَّ يَنْنَبُمُنَا" (sawwaitu bainahuma) means I did justice between those two. "سَوَّ يُنْبُمُنَا" (sawwatahu behi), or "سَوَّ يُنْبُمُنَا" (sawwaitu bainahuma) means I did justice between those two. "فَقُلْ انَدْتُتُكُمْ عَلَى سَوَاءٍ" (fanbiz aihim ala sawa-inn): I have told you about all things on equal account (21:109).

The Quran says:

| 41:10 | The earth should be available for use to all on equal basis | سَوَاءً لِلسَّائِلِيْنَ |
|-------|--|-------------------------|
| 20:58 | Both of us will have to follow these conditions (You and I will be in the same position) | مَكَانًا سُوًى |

Raghib says "مَكَانٌ سُوىً" (makanun suwa) means a point which is equidistant from both sides.

Ibn saidah writes that(*suwa*) means the place which has pointers so that people can find their way $\{T\}$. "سُوَىٰ" (*as-sawa-u*) means the middle or centre of a thing.

"سَوَاءَ السَّبِيْل" (sawa as-sabeel) means the middle of the road.

"سَوَاءَ الْجَجِيْمِ" (sawa al-jaheem): the centre of jahanum (hellish society) in (37:54).

"فَسَوْلَاً" (*fasawwaha*): God levelled their cities to the ground (91:14) i.e. all their dwellings were destroyed $\{T\}$.

Surah An-Nisa says:

| 4:42 | If only they had been annihilated before hand | لَوْتُسَوّى بِحِمُ الْأَرْضُ |
|------|---|------------------------------|
|------|---|------------------------------|

Surah *Al-Kahaf* says "سَاوَىٰ" (*sawa*) to mean make it level (18:96)

"سَوِى (siwyun) and (أَلَسَوَاءُ) (as-siwaa) also mean 'other'.

شمَرَرْتُ بِرَجُلُّ سِوَاًکَ وَسْوَانَکَ "*marartu bi-rajulin siwaaka*): was spent time with someone other than yourself {*T*}.

Surah *An-Najam* (53:6) uses the term "أَسْتُوَى" (*fastawaya*) about the last messenger (*pbuh*) to refer to to describe his completely balanced personality which had all the characteristics of knowledge and vision which defined the upper most scales in the human self-development. The attributes of this personality are referred within the Quran as a model for us to follow through the study of the book. The selection for the revelation was based on a certain criterion by God and this is evident from the Quran. The messengers were then provided guidance as they lived their life through the revelation of the message. The final message has now been revealed to the mankind through the last messenger as the book has been completed.

س ی ب S-Y-B

"سَنَابَ" (saab), "يَسِيْبُ" (yaseeb): he walked fast {T}. "سَابَ المَاءُ" (saabal maa-u): the water flowed everywhere.

Ibn Faris says it means to move continuously.

"سَيْيْبُ الْمَاءِ" (*saibul maa-i*): water started flowing. "سَيَيْتُ" (*sayyabtu*): I freed that thing to go wherever it wants. "سَلَيْتَاءِبَةُ" (*as-sa'ibah*) is derived from this root as well.

During the period before the advent of Islam, the Arabs had a practice of letting an animal (camel, or cow etc.) go free in the name of some god. These animals could feed and drink from where ever they wanted and nobody would prevent them from doing this. The Quran says that Allah has not endorsed such superstitious practices and all these are self-made customs by your fore-fathers. The Quran directed to stop these (and others) superstitious practices (5:103).

"سَاحَ الْمَاءُ" (*saahal maa-u*): for water to flow on the ground. (*as-saih*): flowing water on the surface of the ground {*T*}.

Ibn Faris says it basically means to keep moving continuously.

"أَلْسَيَاحَةً" (*as-siyaha*): to move along the land, tourism (9:2). Some think that "الْسَيَاحَة" (*al-maseeh*) has been derived from this root. Still others say that it is not an Arabic word. See also heading (M-S-H). "أَلْسَاءِحُ" (*as-saa'ih*): one who travels for pleasure, tourist {*T*}.

The Quran has said that one of the characteristics of a Momin (believer) is that he is "ألستَلَخُوْنَ" (assayihoon) as noted in (9:112). For Momin women, it has used "سَنَخِطَنُ" (sa-ihaat) in (66:5). Although some say that it means those who fast, but *Raghib* has written that it means those who as per God's guidance go about in the land to gain knowledge, discover and learn new things and share it with others. This meaning seems more appropriate. This points to the fact that the Quran has included this character as a hallmark of the believing men and women and asked them not to remain confined in one part of the earth. This life is meant to be explored and discovered through learning and sharing for the good of mankind at large. Putting any restrictions on the free movement of men and women is directly against this value and Allah has disapproved it.

| 22:46 | Have they not travelled through the earth? Do they not have understanding with which they can grasp, or ears with which to hear? It is not their eyes that are blind, but the hearts in their breasts are. | أَفَلَمْ يَسِيْرُوا فِيْ الْأَرْضِ فَتَكُونَ لَمُمْ قُلُوبٌ يَعْقِلُونَ بِمَا أَوْ آذَانٌ يَسْمَعُونَ بِمَا فَإِنَّهَا لَا تَعْمَى الْأَبْصَارُ وَلَكِن تَعْمَى الْقُلُوبُ الَّتِيْ فِيْ الصُّدُورِ |
|-------|--|---|
|-------|--|---|

"ألستَاحَة" (*as-saahatuh*): open space, ground, open space between houses, the open space in front of a house.

"سَاحَةُ الدَّارِ" (saahaqud daar): terrace space (37:177)

س ى ر S-Y-R

"اَلسَيْنَ⁽ (as-sair): to walk, to go, either in daytime or at night.

"سَرَى (sara) means only to walk at night (17:1, 15:65). See heading (S-R-Y).

"سَارَ الرَّجُلُ (saarur rajul): the man walked.

"سَبَيْرَ " (sayyerah): he made him walk, took him from one place to another.

"سِيْرَة" (seerah): way, speed, the way of walking, built, condition.

| 20:21 we will return it to its former condition | سَنُعِيْدُ هَاسِيْرَتَهَا الْأَوْلَى |
|---|--------------------------------------|
|---|--------------------------------------|

"ألستَيَّارَة" (as-sayyaarah): the group which goes together, caravan (12:19).

The Quran repeatedly quotes historic facts as an evidence from the past:

| 6:11 | Move through the earth and see the fate of | سِيْرُوْا فِيْ الْأَرْضِ ثُمَّ انْظُرُوْا كَيْفَ كَانَ عَاقِبَةُ الْمُكَذِّبِيْنَ |
|------|--|---|
| 0.11 | those who thought our laws were untrue | مَسِيروه کې ۲۰ رکمل ۲۰ الطروه کيف ۲۰۰ مارينه المه مايين |

If those nations exist, then study their present condition and the level of development, but if these civilisations have ceased to exist, then through archaeology study their history and signs and learn lessons in the light of the permanent values revealed in the Quran.

"سَالَ ٱلْمَاءُ" (saalal maa-u): the water flowed.

"أَسَالَ" (a'saalah): someone spilled it, or let it flow.

"مَاءٌ سَيْلٌ (maa-un seyl): the water which flowed.

"السَيْنْ (as-sayl): abundantly flowing water, flood.

"ألسَيْنَا: (as-seelah): the way or manner in which the water flows.

The Quran says:

| 13:17 | valleys are flooded flood takes away the foam with it. | فَسَالَتْ أَوْدِيَةٌ - فَاحْتَمَل السَّيْلُ زَبَدًا |
|-------|---|---|
| 34:12 | we made a copper spring flow for him | وَاسَلْنَالَهُ عَيْنَ الْقِطْرِ |
| 34:16 | Big and fast flood | سَيْلَ الْعَرِمِ |

سين Seen

"لَلِسَنِّنُ" (*as-seen*) is a letter, but "يَسَ" (*yaseen*) (36:1) means O' man, or O' leader. The dictionary "طے" (tey) says that "يَسَ" (*yaseen*) means O' man.

Actually it is the abbreviation of the word "إنْسَانُ" (*insaan*), and historically the Arabs at the time used to making abbreviations in their language.

"كَفَّى بِالسَّيْفِ شَابِدًا" (*kafa bis saifi sha*) is an abbreviation for "كَفَّى بِالسَّيْفِ شَابِدًا" (*kafa bis saif shahida*) which means that this is a verse by some poet.

''نَقُلْنَا لَهَا قِفِى لَنَا قَالَتْ قَافَ'' (*qulna laha qifi lana qaalat qaf*). Here instead of saying ''قُلْنَا لَهَا قِفِى لَنَا قَالَتْ قَافَ'' (*waqaftu*) it is only said ''قَافُ'' (*qaf*).

" سَلِسَيْنَ" (*as-seen*) means pillar or support. If some link of the ceiling becomes weak then some "سِيْنَنَ" (*seen*) is put up to support it.

"سِيْنَاءُ" (seena) is a kind of stone.

"نَوْطُوْرِ سِيْنِيْنَ» (*min toori seena*) as in (95:2), and "مِنْ طُوْرِ سَيْنَاءَ» (*min toori seena*) as in (23:20) is the mountain in Syria on which *Moosa* had gone to receive the revelation. See heading (Seen)

"أَلِسَيْنِيْنَةُ (*as-seeninah*) is a kind of tree.

"نَلْيُدُ السُّؤُمِّي" (*al-yadush ashuma*): left hand, as opposite of "الْيُمُنَّى" (*al-yumna*) which means right hand. (*ash-shoom*) is the opposite of "يُمِنِّ" (*yumna*) i.e. ill boding.

Taj-ul-Uroos says "شُوْم" (shoom) means such deeds which are disliked and feared.

"قَدْشَأَمَهُمْ" (qad sha aamahum): he boded ill for them.
"رَجُلٌ مَسْءُوْمٌ" (rajulun mash-uoom): ill boded man {T}, {F}.

For the Quranic meaning of "نحوست" (nahusat), see heading (N-H-S).

The Quran (56:9) has used "أَصْحْبُ الْمَشْءَمَةِ" (*ashaab al-mash'amah*), or people on the right hand, against أَصْحْبُ الْمَيْمَنَةِ" (*ashaab al-maymanah*), or the ones on the left hand (the ill-fated ones)

Syria is called "شَأَمّ (*sham*) because it is to the left of the central (Mecca) {*T*}.

شأن Sh-A-N

(ash-shaan): especially important matter, issue or condition {T}. Plural is "اَلْشُنُوْنُ" (ash-shaan): «اَلْشُنُوْنُ (ash-shaan): «اَلْشُنُوْنُ (ash-shaan): «الله المعادية) (المعادية) (الم

Raghib says it is said for matters or condition of great importance $\{T\}$.

"شَأَنَّ" (shaana): "شَأَنَّ" (shanahu): he intended it.

(*shaan*): important matters, because they are a thing of deliberate intent. It also means that he did something which he could do well.

(shaanur raas): the confluence of the small bones of the skull.

(*ash-shaan*): a blood vessel which takes blood to the eye. It also means the path which brings tears to the eyes.

"تَشُوُنُ الْخَمْرِ" (shu-oonul khumr): that part of liquor which permeates the body {T}.

Ibn Faris says it basically mean to search, demand and intent.

Surah *Ar-Rahman* says:

| 55:29 | whatever there is in the highs and lows of the universe is | يَسْئَلُهُ مَنْ فِي السَّطوٰتِ وَالْأَرْضِ- |
|-------|--|---|
| 33.29 | dependent on the nurturer for its development | كُلَّ يَوْمٍ هُوَ فِيْ شَانٍ |

This is the translation of the first part of the verse. In the second part "بُو" (*huwa*) is taken to mean Allah which is translated as Allah is in a different form of grandeur every moment. We think it is wrong, because Allah is a permanent entity which is constantly in a similar state of grandeur, though His powers may be displayed in different ways. As such, if in the second part of the verse above "بُو" (*huwa*) is taken to mean to mean "يَمْنُ فِي السَّdَوْتِ وَالأَرْضِ" (*huwa*) is taken to mean that everything in the universe is dependent on him for its development and the needs of things keep changing with time. In different situations their needs for development are different and Allah sustains them according to their changing needs (14:34). In this way, the development of things in the universe continues according to the law of evolution.

"شَنْابَ» (*tashabah*) means for two things to be so similar that it becomes difficult to distinguish one from the other.

ن (shabbahu iyyahu): he made that thing like the other thing, made them similar, look alike. تشبَّبُهُ التَّسَيَّهُ (ash-shibhu), "التَشْيَدُ" (ash-shibhu), "التَشْيَدُ" (ash-shibhu), "التَشْيَدُ" (ash-shibhu), التَشْيَدُ التَّقُو

"ثُنَّبَّہُ عَلَيْهِ الْأَمْرُ" (shubbihah alaihil amr): the matter became doubtful or unclear (ambiguous) for him {T}. (tashbih): to describe a thing by referring to a similar thing.

"مُسْابَهَة" (mushabahah): to resemble one another $\{T\}, \{M\}$.

The Quran says:

| 2:25 | Similar | مُتَشَابِهاً |
|-------|--|-------------------------------------|
| 2:70 | We can't understand what sort of cow should it be because all cows are similar to us and this throws us into doubt (or confusion) | إِنَّ الْبَقَرَ تَشَابَهَ عَلَيْنَا |
| 2:119 | their hearts are alike (are mutually agreed) | تَشَابَهَتْ قُلُوْبُهُمْ |
| 6:100 | mutually alike and dissimilar | مُشْتَبِهاً وَغَيْرَ مُتَشَابِهٍ |
| 6:144 | mutually alike and dissimilar | مُتَشَابِهاً وَغَيْرَ مُتَشَابِهٍ |

The noble Quran has two types of verses which are "مَحْكَمت" (muhkamaat) and "مُحْكَمت"

(*mutashaabihaat*), as explained in 3:6. For detailed discussion on this, see heading (H-K-M) and (Th-N-Y).

Surah *An-Nisa* says in the tale about *Isa* that the Jews neither crucified Jesus nor murder him.

| 4.157 | the truth became doubtful for them | و المعرب المحمد ا | ĺ |
|-------|------------------------------------|---|---|
| 4.137 | (what had actually happened) | ولكين شبه هم | ĺ |

For details see my book "Shola-e-Mastoor" in the part about Jesus.

ش ت ت Sh-T-T

(*shattah*), "يَثْنَةُ" (*shattah*), "تَشَتَّاتَ" (*shattah*), "شَتَّاتَ" (*shattah*): he separated or differentiated them, removed them.

"شَتَّ" (shat): he became different and unlike.

الْمُرَّ سُتَّ" (ashtaat): different matter {t, m}. The plural is "أَمْرُ سَتَّ" (ashtaat).

َجَاءُ وْا ٱَسْتَاتَاً" (ja'oo ashtata): they came individually, and separately.

Surah An-Noor says "جَمِيْعاً أَوْاَشْتَاتًا" (jami 'a au ashtata) in 24:61 to mean together or separately.

| Surah | Al-Lail | savs: |
|-------|---------|-------|
| Surun | III Lau | buyb. |

| 92:4 your struggle is in different directions | اِنَّ سَعْيَكُمْ لَشَتَّى |
|---|---------------------------|
|---|---------------------------|

This verse means that there is a purpose to every man's life and each has its own purpose.

There can be various aims in a man's life too, for the attainment of which he strives. The Quran says that although a man can have several purposes in life, but overall they can be classified into two categories. One is "أَعْطَى" (*aata*) as in 62:5, and the other is "بَخِلَ" (*bakhil*) as in 9:82. "أَعْطَى" (*aata*) means that a man gives from his earnings for the development of others, and "بَخِلَ" (*bakhil*) means that he keeps them only for himself. The previous case is the height of humanity and the other cause for demeaning of humanity.

Surah *Taha* says "نَبَاتٍ شَنَّى" (*nabaatin shatta*) in 20:53 to means various types of herbs and plants. "شَتَّى" (*shatta*) is the plural of "شَتَيْتِ" (*shateet*) which means that which has been separated, differentiated, individualised.

| Sh-T-W | ش ت و |
|--------|-------|
| | |

"أَلَشْتُنَاءُ" (*ash-shita*): winter. The Arabs divided the year into two parts. One was "أَلَشْتَاءُ" (*shita* 'a) and the other "حيف" (*saif*). Furthermore, "شتاء" (*shita* 'a) was divided in two parts of. The last three months of this period were "وَيَغْنُ (*rabih*), and last period was "مَيْفُنُ" (*saif*) which had the last three months of "وَيْغُنُ" (*qaiz*). Since in winter the Arabs hardly went out of their homes to go and make a living, in these months there was dearth of fodder and grain. Therefore "الشَّتَاءُ" (*ash-shita* 'a) also meant drought, and " مالجب "(*saahibush shatu*) as a person whom got frustrated of winter and drought, and sought for help {*T*, *M*}.

The Quran says about the caravans of the *Quresh* tribe:

| 106:2 | their travels in winter and summer | رِحْلَةَ الشَّبَاءِ وَالصَّنْفِ |
|-------|------------------------------------|---------------------------------|
| 100.2 | (all year around) | رحله الشتاء والصيف |

ش ج ر Sh-J-R

"شَجَرٌ" (*shajar*) means anything that disperses after gathering together {*T*}. (*shajara bainahum*) means to quarrel among themselves because of differences.

| The Qura | n says: | |
|----------|---------------------|---------------------------|
| 2:65 | mutual disagreement | فِيْمَا شَجَرَ بَيْنَهُمْ |

شَاجَرَ فَلَانٌ فَلَاناً» (shajarun fulanun fulana): so and so differed with so and so.

"أَلشَّجَرُ" (*ash-shajar*): tree. This is the plural while singular is "أَنشَجَرَة" (*shajarah*), probably because it has one trunk but many different branches. This is the basic meaning of "شَجَرَ" (*shajar*).

Taj-ul-Uroos says that "تَسْلَجْنَ" (*tashajar*) means for the armies to engage in hand to hand combat. Since the branches of a tree are also seemingly engaged with each other, this is why a tree is called "شَجَرُ" (*shajar*), but the former meaning is more plausible i.e. for a tree having one trunk but many branches.

Ibn Faris says it means for something to be lofty or high and its elements to be engaged with others.

In the Quran, in the tale about *Adam*, it is said:

| فَلا تَقْرَبَا هٰذِهِ السَّجَرَةُ do not go near that tree |
|--|
|--|

As related in the tale about *Adam*, the tale is actually a detailed account of human story. Man prior to his civilized life used to exist on a few needs and the food supply was abundant, hence there were no differences between them. Later when humans began civilized life, they got led to clash of interest between individuals and tribes, and this led to differences among them:

| 10:19 mankind was one group earlier but later they began to differ among themselves | وَمَاكَانَ النَّاسُ اِلَّا أُمَّةً وَاحِدَةً فَاخْتَلَفُوْا |
|---|---|
|---|---|

Humanity has to reunite once again, but this unity is not possible without the guidance of revelation (2:213). This is the connotation of 2:35. That is, they were all told that their reality (beginning) was the same, therefore, they should not develop mutual differences. Later on, self-interests which teaches every individual to protect his own interests, and is a devilish intellect, led them to selfish interests and thus they became each other's enemy (2:36). As such, at this point "شَجَرُ" (*shajar*) would mean those mutual differences among human beings which arouse because of pursuing selfish interest.

And which can be resolved only by living according to the system of the revelation (2:38), which teaches us to equally share the available sustenance.

"أللنت (ash-shuh): to comprehend he right meaning of this word we have to visualize very harsh summer time when there is very little water and lot of thirsty people. In this situation people would certainly try to get ahead of each other in order to get a drink. This situation is called "تُشَاحَحًا الْمَاءَ" (tashaha ha ma a), or نَشَاحًاهُ (tashah ha hu) {T}.

The Quranic system is that everyone should prefer the need of others over those of themselves. So "شُتْحٌ نَفْس" (shuhhin nafsi) would be opposite to this system.

| Surah Al-Hashar | 's | s verse makes this clear when it says the following for a Mom | nin: |
|-----------------|----|---|------|
| | | | |

| 59:9 | A <i>Momin's</i> trait is that he may be in dire straits himself, but he prefers the needs of others to before his own | يُؤْثِرُوْنَ عَلَى أَنْفُسِهِمْ وَلَوْكَانَ بِمِمْ حَصَاصَةٌ |
|------|--|---|
| 59:9 | remember, those he who protect themselves from <i>shuh hi nafs</i> (selfish interests), are the ones whose crops grow well | وَمَنْ يُوْقَ شُحَّ نَفْسِهِ فَأُولَئِكَ هُمُ الْمُفْلِحُوْنَ |

In other words, a Momin is he who prefers watering the fields for someone else.

"تَشَاحَ الْقَوْمُ" (tashah halqum): people tried to get ahead of each other, lest the thing remains out of their

"تَشْاحًا عَلَى الْأَمْبِر" (tashah ha aslal amr): they both guarrelled in the matter, and none was ready to let the matter go $\{T\}$.

Ibn Faris says it basically means to withhold something.

With this meaning "تَشَاحَ الْقَوْمُ (tashah hul quum) would not only mean that nations tried to get ahead of one another, but also that in order to get ahead, they tried to stop others from doing so. This makes the meaning of "شُخْتُ" (shuh) clear. It is the psychological attitude to get ahead and grab something for you, and to stop others from getting to it.

According to this connotation, "أَلْسُتُّخَ" (*ash-shuh*) would mean the worst type of selfishness which has both greed and miserliness in it. Some say that miserliness is confined only to wealth but "شُخُ" (*shuh*) is used for miserliness or confining all sorts of things for self-including wealth $\{T\}$. Not only for reserving for self but also for stopping them from reaching anyone else.

Raghib says it is "شُتَّ" (*shuh*) when this habit is found habitually in a person.

"نَابِكُ شَحَاءِخُ" (*iblun shaha-ih*): a camel which gives very little milk.

"زُنْدُ شَحَاحٌ (zandun shuhah): fire stones which do not spark fire.

"مَاءٌ شَحَاحٌ" (*ma-un sha-ha*): very little water {*M*}.

Surah Al-Azaab says "أَشِحَة" (ashihah) in 13:19. Singular is "شَحِيْح" (shahih) which means to be miser and greedy.

ش ح م Sh-H-M

''لَشَحْمُ'' (*ash-shahm*): fat. Plural is ''شَحُوْمٌ'' (*shuhoom*). (الشَحْمَةُ'' (*ash-shahmah*): piece of fat.

The Quran says:

| 6:147 fat (of cows and goats) was made forbidden for them | حَرَّمْنَا عَلَيْهِمْ شُحُوْمَهُمَا |
|---|-------------------------------------|
|---|-------------------------------------|

[&]quot;أَلْشَحْمُ" (ash-shahm): a camel's hump {T, M, R}.

"شَخْصَ" (*shakhs*): everything seen from afar. With reference to height it is said "شَخْصَ" (*shaksal jurh*): the wound became high i.e. worsened, or swelled. "شَخَص شُخُوْصَا" (*shakhas shakhusa*): he rose.

شَخَصَ السَّبْمُ: (shakhasas sahm): the arrow went above the target {T, M, R}.

Ibn Faris says there is a sense of height in its basic meaning.

"شَخَصَ بَصَرَهُ" (*shakhasa basarah*): he kept his eyes open without blinking, or when someone's eyes remain wide open due to terror {*T*, *M*, *R*}.

The Quran says:

| 14:42 | the eyes will be opened wide at the time of that great revolution | تَشْخَصُ فِيْهِ الْأَبْصَارُ |
|-------|---|---|
| 21:97 | the deniers of this system will have their eyes wide opened | فَاِذَا هِيَ شَاخِصَةٌ أَبْصَارُ الَّذِيْنَ كَفَرُوْا |

ش ح ن Sh-H-N

"تَسَحَنَ السَّفِيْنَةَ" (*shahamnas safeenata*) or "يَشْحَنُ إِنَّا السَّفِيْنَةَ" (*yash-hanuha*): loaded the boat with whatever goods were to be loaded {T, R}.

| The Quran says: | | |
|-----------------|------------|-------------------------|
| 26:119 | Laden boat | الْفُلْكِ الْمَشْحُوْنِ |

(ash-shihnah): the goods that are loaded on a boat.

"(*ash-shihna*): the fodder for animals which is collected and is enough for the animals for a day and a night.

(shahna): to reply to someone harshly, to scold, and also to distance. "شَحْناً" (shahan) "شَحْناً" (shahan) "شَحْناً"

(ash-shihnah): the administrator for some area appointed by the king.

"أمْشَاحِنْ" (al-mushaahin): one who is secretly opposed {T, R}.

Ibn Faris says it basically means both, to fill and to distance, but there seems to be no link between them.

شدد Sh-D-D

"أَلْشَدُ" (ash-shud): to tie someone up strongly.

It means maturity and guidance as in 40:67, 6:153 and 17:44.

| S | Surah <u>An</u> - | <i>Nisa</i> says: | | |
|---|-------------------|-------------------|--|--|
| | | | | |

| 4:6 or | versee the wealth of orphans till they reach "age of <i>nikah</i> " | وَابْتَلُواْ الْيَتَامَى حَتَّى إِذَا بَلَغُواْ النِّكَاحَ |
|--------|---|--|
|--------|---|--|

At other places, such as in 17:34 and 6:135 it has been said to watch over their assets till they reach maturity. This clearly shows that the age for wedding is when one grows up, not old age. This is what has

⁽*al-shiddah*): hardness.

[&]quot;شَدَّ" (shud): he strengthened and solidified it.

شَىْءٌ شَدِيْدٌ مُسْتَدٌ (shai-un shadeedun mushtad): very strong thing.

[&]quot;أَلْشَدَةُ" (ash-shiddah): bravery and solidarity of heart.

⁽inna lihbi alheer ash-shadeed): brave, strong, miser (100:7) "لِنَّهُ لِحُبِّ الْخَيْرِ لَشَدِيْدٌ"

[&]quot;أَلْإِشُدُ" (al-ashuddu): maturity.

وَاسْدُدْ عَلَى قُلُوْبِهِمْ (wushdud ala qulubhim): seal their hearts (10:88) {T, M}.

been said about the orphans whose wall was about to fall down and which *Moosa's* companion had repaired without any charge.

In 22:5 it has been used for the youth of ordinary folk. In 28:14, the same has been said about *Moosa*.

In surah *Yusuf* the word "شَدِدَادٌ" (*shidaadun*) has been used to mean harsh years (12:48). It is the plural of "شَدِيدُ" (*shaded*). Its plural is also "أَشْدَاءُ" (*ashidda'a*).

Surah *Al-Fatah* describes a Momin as:

| 48:29 | They are very hard against the opponents | أَشِدًاءُ عَلَى الْكُفَّارِ |
|-------|--|-----------------------------|
|-------|--|-----------------------------|

"أَسْدُ" (ashaddu): very hard and strong (2:74).

(*ishtaddu*): to attack fiercely or to walk fast (14:18).

"شَرِبَ" (shariba), "يَشْرَبُ" (yashrab): to drink, to be satiated.

(ash-sharaab): anything which is swallowed and not chewed (2:259). (الشَرَابُ)

"أَلْمَشْرَبْ" (*al-mashrab*): water, to drink water, place to drink water, time or place of drinking, the manner in which the water is drunk $\{T, M\}$.

"طُعَامٌ ذُوْمَتْسُرَيِمٌ (*tu-aam un zu mashrabah*): food which after eating one gets very thirsty {*Aqrab-ul-muwarid*}.

The Quran says "مَشْرَبَبُمْ" (*mashrabahum*) in 2:60 to mean a place to drink or water itself. "شَرْبُ" (*shirb*) as in 26:155 means the portion to drink water or turn to drink, or the time to drink. "شُرُبٌ" (*shuurb*) as in 56:55 means to drink.

َ شَارِ بُ '' (*shaarib*) as in 47:15 means one who drinks water. The plural is ''شَارِ بُوْبَ' (*shaariboon*) or '' يَبْنَ (*shaaribeen*).

Surah *Al-Baqrah* says "شَرِبَ" (*yat-umhu*) after "شَرِبَ" (*sharib*) in 2:249. Here "شَرِبَ" (*shariba*) means to drink to the fill and "شَرِبَ" (*ta-im*) means to taste the water:

The tale of *Bani Israel* relates:

| 2:93 the calf lay in their hearts | وَأُشْرِبُوْا فِيْ قُلُوْبِمِ ٱلْعِجْلَ |
|-----------------------------------|---|
|-----------------------------------|---|

But it means figuratively that the calf's sanctity had permeated their hearts, or that its love found its way to their hearts.

شرح Sh-R-H

"شَرْحٌ" (*sharh*): to open, or make clear {*T*, *M*}.

Raghib says it means to spread the flesh. It also means to widen and expand, as well as comprehension.

"شَرَحَ الْبَابَ" (*sharahal baab*): opened the door. (*sharahal kal*): comprehended a matter *{M}*.

The Quran says that anybody whom the Quran wants to guide:

| 6:126 | Widens his chest for Islam | يَشْرَحْ صَدْرَهُ لِلْاسْلَام |
|-------|-------------------------------|-------------------------------|
| 0.120 | (makes it more accommodating) | |

This word includes the connotations of comprehension, the ability to accept the right thing, and the courage to adopt the right path. It also means conversely. About those on the wrong path is said:

| 6:126 | It constricts his chest, narrows it | يَجْعَلْ صَدْرَهُ ضَيِّقاً حَرَجاً |
|-------|-------------------------------------|------------------------------------|
|-------|-------------------------------------|------------------------------------|

The truth is that "شَرَحَ صَدْراً" (*sharah sadr*) is a very big specialty for whoever gets it, or to comprehend something without being biased on merits, to appreciate the truth wherever it is found, and to accept it. In other words, accept the truth despite all opposition and to propagate it in as much detail and clarity. To be courteous to everyone, be expansive towards enemies, and not be narrow minded anywhere. All these are included in "أَسْرَحَ صَدْراً" (*sharah sadr*). That is why the messengers have always prayed to God to give them this "شَرَحَ صَدْراً" (*sharah sadr*) as in 20:25, and the Messenger (*pbuh*) has been told as much that it is because of "أَسْرَحَ صَدْراً" (*sharah sadr*) that his difficult mission became so easy and the burden which was breaking his back was made light (94:1-2). Otherwise the opponents were acting in a way as to make one unable to breathe (15:97).

Therefore, as per the Quran, for matters to become easy "شَرَحَ صَدْراً" (*sharah sadr*) is necessary (94:1, 20:25-29). It must be every Muslim's trait (6:126). Anyone who is narrow minded or lacks in courage, has not his chest widened to accept real Islam. In 39:22, this has been likened to "شَرَحَ بِم صَدْراً" (*sharah sadra*) which means to accept something gracefully, or to open one's heart for it (16:106).

شرد Sh-R-D

''تَسْرَدَ الْبَعِيْرُ' (*sharadal ba-ir*): the camel ran way after stampeding. (*at-tashreed*): to scold, to oust, to disperse, to make someone balk and run away.

Raghib says that "شَرَّدْتُ بِهِ" (*sharadat behi*) means that I acted in such a way that nobody will ever follow it. They will stay away from such acts and balk at doing so.

The Quran says:

| 8:57 | give them such a taste (teach them such a lesson) that those who are following with the same designs run away at seeing their condition (become frustrated). | فَشَرِّدْ بِحِمْ مَّنْ خَلْفَهُمْ |
|------|--|-----------------------------------|
|------|--|-----------------------------------|

Ibn Faris says its basic meanings are to balk and to be distanced.

ش ر ذ م Sh-R-Dh-M

"شِرْدِمَةٌ" (*shir zimah*): a small group, a group that is breakaway. (ژیټاب شَرَادِمُ" (*si-aabun sharazim*): rags {T, R}.

| The Quran says: | | |
|-----------------|------------------------|-------------------------|
| 26:54 | an insignificant group | شِرْدِمَةٌ قَلَيْلُوْنَ |

Ibn Faris says that the "خَ" (*dhal*) is additional in this word, which is actually derived from "شَرَ مُتُ الشَّىْءَ " (*sharamtush shaiyi*), which means to tear something to bits. A small group is called "شَرْ ذِمَةٌ (*shirzimah*) because it breaks away from a bigger party.

شرر Sh-R-R

(*sharr*) is the opposite of "خَيْرُ" (*sharr*) i.e. Goodness (99:8).

Lissan-ul-Arab says that "شَرَّ" (*sharr*) means evil or badness i.e. "شَرَّ" (*suu*). The author of *Misbaah* says that it means oppression and chaos.

"نَالشَّرَارُ" (*ash-sharaar*), "اَلشَّرَارُ" (*ash sharer*): the sparks that fly from a fire. Singular is "شَرَارُةُ" (*sharaarah*) and "شَرَرَةُ" (*shararah*) as in 77:32.

"شَرَّالْمَاءُ مِنَ الْقَرْيَجْ" (*sharrul ma-un minal qaryah*): water continued to drip from the water bag (of leather). "شَرَّالْمَاءُ مِنَ الْقَرْيَجْ" (*ash-sharru*) means intensity, happiness, anger, rage, greed and morally decrepit. It also means everything that is not according to one's personality, or that which obstructs the attainment of his needs {*M*}.

Ibn Faris says its basic meanings are to scatter, to fly away hither and thither and to disburse.

Raghib says that "خَيْرُ" (*khair*) and "خَيْرُ" (*sharr*) are ambivalent words. While a thing may be *khair* or good for someone, it could be *sharr* or bad for someone else {*R*}.

Since the word is the opposite of *khair*, the heading (Kh-Y-R) should also be consulted.

Ibn Faris says this word means for the spending of human capability and strength to be so spent, wasted, scattered away or disperse so as not to produce any positive result.

Conversely *khair* would mean for human forces to produce good or constructive results. When water flows within the boundaries of a river's banks, its result is only good, but when it overflows the banks as flood, it produces negative results. When breeze blows slowly, it is cause for pleasure, but when it turns into a storm, it can only wreak havoc. When forces gets scattered or frittered away and become unbridled, they cause *sharr*. This very thing applies to human personality. If ones strengths are diffused, ones capabilities cannot develop. If they are concentrated, then they solidify.

Surah *Al-Falaq* says:

| 113:2 | be safe from whatever that has been created | مِنْ شَرٍّ مَاخَلَقَ |
|-------|---|----------------------|
|-------|---|----------------------|

This makes it clear that *sharr* is not something which has been created as such i.e, bad, as it was believed in the old days. Nothing in the universe is good or bad by itself. Everything has an evil aspect and a good aspect. One should try to avoid its evil element and adopt the good element. If water stays under the boat then it is good, but if it comes into the boat then it is not good. To utilize everything under the guidance of God's revelation is *khair*, and to use it for human destruction is *sharr*. As far as our social evils are concerned, they are the product of our wrong social system. If a society is established under the guidance of the Quran then all the social ills will disappear. This is the same situation with individualistic pain. As human knowledge progresses, the pains are lessened.

Then there are the emotional problems which trouble us. If man is brought up in the right way, he can overcome those problems as well. When a man's point of view is changed his whole perspective is changed. That is why *"Iblees"* has been told:

| 0 | | |
|-------|--|---|
| 15:22 | truly, you will have no power over my missionaries | اِنَّ عِبَادِيْ لَيْسَ لَکَ عَلَيْهِمْ سُلْطْنٌ |

Khair and *sharr* have appeared quite many times in Quran which reveal the truths mentioned above. Not that the Quran has not argued about good and evil in a philosophical manner, because its subject matter is not philosophy. Its purpose is to provide guidance so that *sharr* may not remain i.e. strengths do not disperse and do not produce destructive results, but consolidate in an organized way and produce constructive results. As mentioned earlier, it is the way we use things which makes them good or bad. As far as the permanent values which have been given to man through the revelation are concerned, they are inherently *khair* or good, such as justice, benevolence etc. They are opposite to bad or *sharr*: Likewise the things which have been classified by the Quran as forbidden, produce *sharr* or evil.

(ash-shart): mark or sign that is fixed by the people. Plural is 'أَشْرَطُ'' (ash-shart). "أَشْرَطُ''

"أَلَسْرُطَة" (*ash-shurtah*): the first part of anything, or the front rank of the army which is ever ready to lay down lives. It also means the governor's brigade and body guards, because they wear signs which distinguish them {*T*, *R*, *M*}. The singular is "شُرْطِيِّ" (*shurti*).

The Quran says about the "أَلسَّاعَة" (*sa-a*) or the imminent revolution, after that the decisive time, when the opponents were so defeated that they could not recover, will come.

شرع Sh-R-Ain

"أَلْشَرِيْعَةُ" (*ash-shareeya*): the spot where people and animals come to drink, but the water must be coming from a continuous spring which never ceases and is open on the surface. Ergo no effort is needed to get to the water. If it is accumulated rain water, then it is not "شَرِيْعَةٌ" (*shari'ah*) but "كَرَعٌ" (*kara'a*). "أَسْأَلِ عُ^{*}" (*ash-shaareh*): thorough fare:

"أَلْشَرْغُ" (ash-shara 'a): straight path which is distinct and open.

Ibn-ul-Airaabi says that "شَرَعَ" (*shara*) means "نَظْرَرَ" (*zahar*), i.e. was made evident, and disclosed. "شُرِعَتِ الرِّمَاخُ" (*shuri-atir rimaah*): spears were straightened.

"أَشْرَعَ السَّيْنَىَ: he granted it loftiness."

- "أَلْشِّرَاغُ" (*ash-shira 'a*): a boat's sail.
- "أَلْشَرِيْعَةَ" (ash-shari 'ah): thresh hold.

"أَلشَرْ عَمْ" (ash-shir'ah): straight and distinct path {T, M}. "أَلشَرْ عَمْ" (ash-shari'ah): straight and distinct path عالم الشرَّيْعَة الشرَّعْة الشرّ

Ibn Faris says it means to open something lengthwise i.e. to open it in such a way that the whole thing can be viewed.

Surah *Ash-Shura* says:

| 34:13 Allah has highlighted this way of life (<i>Deen</i>) for you | شَرَعَ لَكُمْ مِنَ الدِّيْنِ |
|--|------------------------------|
|--|------------------------------|

Surah Al-Jaasiah says:

| 45:18 | then we put you on an open and distinct path in the matter of <i>Deen</i> | ثْمُّ جَعَلْنُكَ عَلَى شَرِيْعَةٍ مِن الْأَمْرِ |
|-------|---|---|
|-------|---|---|

These verses talk about *Deen* or the path fixed by God.

Surah *Al-Ma'idah* says that we have revealed this book to you with truth, which is going to prove true the truths that were revealed in prior celestial books. It is the safe keeper of those truths, so in matters that they differ decide according to Allah's laws. When the truth has come to you then do not just follow whims and fancies. After that it is said:

| 5:48 and for each one of you we had designated a path and mann | لِكُلِّ جَعَلْنَا مِنْكُمْ شِرْعَةً وَّ مِنْهَاجاً er |
|--|---|
|--|---|

Here *Deen* does not mean those unchanging rules which have been the same from *Nooh* to our messenger *Muhammed* (*pbuh*) (42:13). Here *Deen* means those sub laws or rules which were given to earlier messengers temporarily according to their time, and which have been kept changing with the times.

The Quran says that the Jews and the Christians object saying that why does some of Quran's orders are opposed to their *Shariat*, they should realize that there are some principles of *Deen* and some sub-rules. The principles do not change but the sub rules do so according to the needs of the times. Therefore, if some of these are different from that of previous nations then it cannot be concluded that the Quran is not come from God.

This meaning is confirmed by that verse of surah *Al-Hajj* which says:

| 22:67 | We had imposed for every nation (the practical ways of implementing the deen) which they followed | لِكُلِّ أُمَّةٍ جَعَلْنَا مَنْسَكاً هُمْ نَاسِكُوْهُ فَلاَيْنَازِعُنَّكَ فِي الْأَمْرِ |
|-------|---|--|
| | the deen) which they followed | |

There can be difference in these, but not the *Deen* itself. Therefore let them not raise an issue with you as far as the real *Deen* is concerned.

22:67 could also mean that we do not coerce anybody to follow this *Deen*, or way of life. Everyone has the right to follow the way he wants. Our job is to introduce them to this way, but it is on the humans themselves to whether follow this way or some other. This meaning is confirmed by the next verse which says:

| 4 | 5:48 | If Allah wanted, He could have made you all | وَلَوْشَاءَ اللَّهُ جَعَلَكُمْ أُمَّةً وَّاحِدَةً |
|---|------|---|---|
| ~ | 0.40 | follow the same way of life. | وتوساء ألله جعلكم ألله وأتجناه |

But this would have usurped your free will, and this would be against God's wishes.

We treat *Deen* and *shariat* separately or to mean different things. *Shariat* is taken to mean those sub laws which are to be followed by the followers of Islam. The Islamic system is based on principles outlined of none other than Allah. These principles and some orders given in the Quran will never be changed, but staying within their parameters, and make sub laws in their accordance, is a requirement every nation can meet. The Quranic principles will remain unchanged but these sub laws will keep changing with time. If these sub laws can be called *shariat*, then *shariat* will keep changing as per the times, but the Quranic principles will remain constant.

The characteristics of the *shariah*, i.e. the sub rules prepared by mutual consultation by the nation within the parameters of the broader and unchanging Quranic principles, should be clear, distinct and notable. It must also be a path that is the same for everybody, such as water from which everyone can drink. Which is reachable by everyone, which is continuous and should not be like accumulated rain water which depletes after a time. As such, *shariat* must not be stagnant but should be changing continuously, along with the changing requirements of time. If it is stagnant, then like standing water, it too will develop a bad smell, and will no longer be life giving.

Surah Al-Airaaf has used ''حِيْتَانُهُمْ- شُرَّعًا'' (heetanuhum shurra'a) in 7:162

"أَسْرَعًا" (*sharra* 'a) is the plural of "شَارِعٌ" (*shaari* ') and means a fish that raise its head high and come to the surface of the water $\{M\}$.

Ibn Faris says that it means a fish which keep its heads low. He writes that "تَشْرَبُ" (*tashrab*) means to drink water, but this could be a printing error and the right word is could be "تَسْرَبُ" (*tasrab*). But the point at which this has been used in the Quran, shows that the earlier meaning is more appropriate.

Bani Israel used Saturday as a holiday and did not work on that day. Therefore their fishermen did not catch fish on that day. When fish or other animals from continuous experience find no danger at a certain time, they openly come within human presence without fear. But the greedy among *Bani Israel* used to take advantage of this trait of the fish and used to catch it, even on the day of *Sabbath*. See details under heading (S-B-T).

"اَلشَّرْقَ (as-sharq): an opening.

شَرَقَ الشَّاةَ (sharaqash shah): split the ear of the goat.

(*at-tashreeq*): to cut the flesh or tear it apart.

"نَيَّامُ التَّشَرِيُوَ" (ayyaamush shareeq): three days of *Eid-ul-Azha* (when animals are slaughtered as a sacrifice to Allah) {*T*}.

Ibn Faris says that this word basically means to enlighten and to open.

"شَرَقَتِ الشَّمْسُ" (sharaqatis shams): the sun rose.

"أَشْرَقَتِ الشَّمْسَ" (ashraqatis shams): the sun illuminated.

"أَيَّامُ التَّشْرِيْقِ" (ayaamuttashreeq): days when meat is sundried.

"الشَرْقْ" (ash-sharq) also means the sun, when it has risen or has been illuminated.

الشَّرْقُ" (*tala'tish asharq*) means the sun came out, "غَرَبَتِ الشَّرْقُ (*gharabitish sharq*) is never used.

"الْشَرْقْ" (ash-sharq): for the sun to come up, the place from where the sun rises, that is, the east.

"الشارق" (ash-shaariq): the sun, at the time when it is rising {T, M}.

(sharaqan nakhlu) and "أَسْرَقَ النَّخُلُ (ashraq): date palms became tall or white flowers bloomed on them.

"شَرِقَ الدَّمُ فِي عَيْنِه" (shariqad damu fi ainihi): his eye became red {T, M}.

"الْمَشْرِقَانَ" (al-mashriqaan): two points at which the sun rises in summer and the winter {T, M}.

The Quran has used "مَسْرِقَ" (*maghrib*) as against "مَعْرِبٌ" (*mashriq*) in 2:115. Surah *Saad* has used "مَسْرِقَ" (*bil ashiyyi*) against "الْإِشْرَاقِ" (*al-ishraaq*) in 38:18.

Surah *Ar-Rahman* says:

| 55:17 | Sustainer of the extreme points of summer and | رَبُّ الْمَشْرِقَيْنِ وَرَبُّ الْمَغْرِبَيْنِ |
|-------|---|---|
| 55.17 | winter from which the sun rises and sets | رب المسرحين ورب المعربين |

The whole world is meant by it. Likewise "مَشْرِقٌ" (*mashariq*) and "مَعْرِبٌ" (*magharib*) has also been used for the east and west in 70:40 and only "مَسَّارِقٌ" (*mashaariq*) has also been used in 37:5.

Surah *Al-Airaaf* says that *Bani Israel* was made the owners of the lush lands in the "مَشْرِقٌ" (*mashariq*) as well as in "مَغْرِبٌ" (*magharib*) in 7:137. This means all parts of the blessed land which were situated in the east and west, or the entire area, because the Quran has further said:

| وَلِلَهِ الْمَشْرِقُ وَالْمَغْرِبُ |
|------------------------------------|
|------------------------------------|

Surah *An-Noor* says:

| 24:35 | He is above the relationships of the <i>mashriq</i> or | 7°.02 N - 7°.03 N |
|-------|--|-------------------|
| 24.33 | <i>maghrib</i> (the whole universe). | د شرچيد و د غربيد |

His light illuminates the entire universe. Just as God is the God of all humanity, so are His laws light (enlightenment) for all humans, and his system of sustenance is for all humans.

| 39:69 | This is the light which at long last will | وَٱلْمُبْقَتِ الْأَرْضُ بِنُوْرٍ رَبِّهَا |
|-------|---|---|
| 39.09 | illuminate the whole world | واسرفت الأرص بيتور ربه |

"(*ishraaq*) has been used by the Quran for the day to proceed in 38:18, while 15:72 has used "مَشْرِقِيْنَ" (*mushriqeen*). This means that they faced punishment when there was sunlight, or at the time of sunrise.

(as-shirk) basically means to stick to, to hang on to, become inter mingled.

"أَسْارَكْتُ فَلَاناً" (shaaraktu fulanan): became companion or friend.

(ishtarkal amr): the matter got confused or intermingled. "إِسْتَرَكَ الْأَمْرُ"

"مُشَارَكَة" (musharakah): to be partners in something.

"نُكُنَّ شَرِيْحُ فُلَانِ " (*fulanun sharikun fulanun*): he is his partner or companion. It also means to marry a girl and be part of her family. The plural is "شُرَكَاءُ" (*shuraka'a*).

"أَشَرَكْ" (*ash-sharaku*): the net of a hunter, the small pathways that emerge from a bigger path "أَشَرَكْ" (*ummut tareeq*), and end after going some way. Singular is "شَرَكَةٌ" (*sharakah*).

"شرك" (*shirk*) is a particular term of the Quran. It means to consider non godly things as Allah's contemporary, or to consider that others also have the same powers as Allah. It can be understood as considering man-made laws to be equal to that of Allah's laws, or to accept the right of others where Allah's right should be acknowledged. The Quran teaches that everything in this universe has been subjugated to man and all men are equal. No one has the right to make anyone obey him. As such, there is no power higher than man on this earth, i.e. humans are all equal and everything else in the universe is subservient to them. Only one being, that is, Allah is above humans. Hence accepting anyone other than Allah to be superior to him is an insult to mankind.

This is what "شِرْکُ" (*shirk*) is. It makes no difference to Allah's divinity. Man himself falls from the high pedestal of humanness by indulging in "شِرْکُ" (*shirk*). This is why Quran says that "شِرْکُ" (*shirk*) is the greatest crime or sin.

"نَمْشَرِكِيْنَ" (*mushrikeen*) are those who fall from man's stature, and consider others then Allah to be superior to them. "توحيد" (*tauheed*) or oneness means the obedience of one Allah's laws (which He has given through the revelation and which are preserved in the Quran) and the conquering of the entire universe. Even a little digression in this is considered "شرك" (*shirk*).

"أَشْرَكَ" (*ashrak*): he was guilty of *shirk*, or of sharing Allah's place with others. "مُشْرِكُوْنَ" (*mushrik*): one who commits *shirk*. The plurals are "مُشْرِكُوْنَ" (*mushrikoon*) and "مُشْرِكُ (*mushrikeen*).

At the time Quran was being revealed, there was one group of people which was claiming to be obedient to God's revelation. These people were called the ones with the book. They are the Jews and Christians. The other group was not obedient to any celestial law. They were followers of self-made customs and traditions. According to their own concept, they were obedient to Allah but were as well obedient to other Gods. These people were called *mushrikeen*, or those who think Allah's divinity was also shared by other forces. Since both of these groups were deniers of the Quran, they were called *kafireen*, or the deniers. These terms do differentiate between them but the fact is that even those with the book were not really obeying Allah's laws, but were actually following man made laws. They followed the religion given to them by their religious scholars. The laws of Allah in their real shape were no longer with them at all, and whatever they had was also a formality. Their deeds or acts were dependent on the writ of the scholars. As such, in deed they too were *mushrikeen*, as the Quran calls them in 2:135:

Deen of oneness is the right path, and the different sects are those small pathways which mislead man to other directions and meet a dead end after going some way. That is why the Quran has called sectarianism as *shirk* in 30:31-32, because in sects the last authorities are human beings and not Allah. In *Deen*, any argument or the last word belongs to Allah's laws only.

As such *shirk* not only means to worship idols and statues, it is also means to give man-made laws the status of Allah's law (and this is big *shirk*). In this way they divide God's *Deen* into different sects. The Quran says that those who do this call themselves *Momin*, but in fact are *mushrik*.

| 12:106 | most of them believe in Allah but in such a | وَمَا يُؤْمِنُ أَكْثَرُهُمْ بِاللَّهِ إلَّا وَهُمْ مُشْرِكُوْنَ |
|--------|---|---|
| 12.100 | way as to be <i>mushriks</i> | ومأيومِن أكثرهم باللهِ إلا وهم مسرِيون |

Just as Quran discusses one-ness or unity of Allah all through the book, it also discusses *shirk* and its elements. The Quran's basic teaching is to obliterate *shirk* and establish oneness.

"لَا اللَّهُ اللَّهُ اللَّهُ (*la ilaha illal lah*) is aimed towards this meaning. That is, denial or refusal to obey any law except Allah's law and to accept Allah's law whole-heartedly and practically. Muslims and *mushriks* are opposites of one another (3:63), and the believers on non-godly forces and the acceptors of devilish authority are "مُشْرِكِيْنَ" (*mushrikeen*) (16:99-100).

A point should be clarified here. There will be several places in the Quran where waging war against the *mushrikeen* is advocated. This does not mean that *Muslims* go to war against the world's *mushrikeen* in any case. At these places the *mushrikeen* at the time of revelation of the Quran are meant, that had created conditions that led to battles. Thus war will be waged only against those who create that sort of conditions. In other words, there will be no war against *mushrikeen* only because they are *mushrikkeen*. War will be fought only with those who create war-like conditions. For this there are detailed orders in the Quran.

But the position of the *mushrikeen* and the relationship with them which the Quran has determined will remain the same always.

Whatever has come above means that:

- To think that anyone shares the forces and authority reserved for Allah alone, is *shirk*.
- To think that one is subservient or obedient to any force or human being except Allah, or is bowed before is *shirk*.
- To accept the supremacy of anyone or anything except the Quran is *shirk*, and to follow any law excepting this law is *shirk*.
- *Deen* formulates unity within the nation of believers of Allah. To be divided into sects is *shirk*.
- One God, one code of life given by Him, its followers is one nation, one system for this nation. This is what oneness is. Anything besides it is *shirk*.

شرى Sh-R-Y

"شَرَىٰ" (*shara*) means to buy as well as to sell. The word "بَيْخٌ" (*bai*) also has similar meanings. When barter system was the mode of trading, goods were exchanged in return for goods and not currency, because currency had not yet been invented. Thus buying and selling used to take place simultaneously since object were echanged instead of being paid for with money. As such, this word meant both, buying and selling {T, R, M}.

"شَرَى" (*shara*) actually means to give up possession of a thing and take another thing in one's possession instead.

"إِسْتِرَاءٌ" (*ishtira 'a*): giving up one way and adopting another {*T*}.

Raghib says "شَرَىٰ" (shara) is for selling and "إِشْتَرَى" (ishtaras) is mostly used for buying.

The Quran says "يَشْرِى نَفْسَه" (*yashri nafsehi*) in 2:208 to mean sell oneself. It says in 12:20 "يَشْرِى نَفْسَه" (*washrauhu besamanin bakhs*). Here as well it means to sell away, but "اِنَّ اللَّهُ السُّتَرَى" (*innallahash tara*) in 9:11 means to buy.

Quran says in 2:16 الضَّلْلَةَ بِالْبُدَىٰ السَّتَلَةَ وَالْمُعَالَةَ عَامَ وَالْمَعَالَةَ وَالْمُعَالَةَ وَالْمُ

"شَرَيْانْ" (*sharyaan*), "شَرَايِيْنْ" (*shiryaan*) is a kind of tree whose wood is used to make bows. It also means that vein of the human body which keeps throbbing. The plural is "شَرَايِيْنُ" (*sharayeen*). "شَرَايِيْنُ" (*shara*) also means to spread {*T*, *M*, *R*}.

Ibn Faris writes that the connotations to be agitated and to rise are also found in this word. "شَرِىَ البَعِيْرُ فِي سَيْرِهِ" (*sharial ba-ir fi saa irehi*) is used for a fast walking camel {F}.

| The Qura | n says: | |
|----------|--|--|
| 9:111 | Verily, Allah has bought (traded) their lives and wealth | اِنَّ اللَّهَ ا شْتَرِىٰ مِنَ الْمُؤْمِنِيْنَ أَنْفُسَهُمْ وَأَمْوَا لَهُمْ بِاَنَّ |
| 9.111 | in return for the <i>jannat</i> (heaven) | لَحُمُ الْجُنَّةَ |

This is not just a concept but the very basis of an Islamic republic and state. In it, the system of the state which is formulated for establishing the laws of Allah makes a pact with the individuals. This pact trades the lives and wealth of the citizens in exchange for a heavenly society on earth. It is obvious that if a nation's life on this earth becomes heavenly, it also gets heaven after death. Details can be found in my book Nizaam-e-Raboobiyat.

> شطأ Sh-Te-A

"رالشَطْن" (ash-shat'u): date or the crops needles (vermiculites), new saplings.

الشَّحْرَ» (ash-shat uminal shajar): branches that sprout near the root of the tree. (الشَّحْرُ» (ash-shat uminal shajar): branches that sprout near the root of the tree. (المَطْأَلُوَ الدِيْ وَ النَّبُرِ» (shat ul-waadi wan nahar): the edge of the valley or bank of a river, or beach {T, M, R}.

| The Quran says: | | |
|-----------------|--|------------------------------------|
| 48:29 | like the crop which sprouts needles or plant hairs | كَرْبِعِ أَحْرَجَ شَطْأَهُ |
| 28:30 | from the edge of this blessed valley | مِنْ شَاطِيءِ الْوَادِ الْأَيْمَنِ |

Sh-Te-R ش ط ر

"الشَّطْرُ" (ash-shatr): a part which is separated from the whole. Later it began to be used to mean one side of anything, no matter if it is not separated from it.

It also means ends, towards, environs, direction etc. It also means to be distanced.

(as-shateer) means foreigner, stranger, also far, distant, "أَلْشَطِيْرُ"

"مَنْزِلْ سَطِيْرٌ (manzilun shateer): a distant destination.

"أَلَشَاطِرُ" (ash-shaatir): a fast horse used for taking mail {T}.

"شَطَرَ" (shatara): direction

The Owner server

"شَطِّرَة" (shatrahu): he intened to go towards him.

"أَلْشَطْرُ" (ash-shatr): the half of something {M}.

The Ouran has used this word to mean direction and manner:

| 2:114 towards <i>masjid-ul-haraam</i> | شَطْرَ الْمَسْحَدِ الْحَرَامِ |
|---------------------------------------|-------------------------------|
|---------------------------------------|-------------------------------|

Ibn Faris says "شَطْرٌ" (shatr) is said when the connotation of distance is also included.

شطط Sh-Te-Te

(shat), "شَطَّ" (shatta): to be distanced, to surpass the limit, to be unjust. "أَسْطَ" (ashatt) is also used for the latter meaning {T, M, R}.

The Quran says:

| 38:22 | decide justly between us and do not be unjust | فَاحْكُمْ بَيْنَنَا بِالحُقِّ وَلَا تُشْطِطْ |
|-------|---|--|

That is, do not take us away from the truth, or be distanced from it.

| 18:14 | we will say something that is far away and distanced from the truth. | لَقَدْ قُلْنَا إِذًا شَطَطًا |
|-------|--|------------------------------|
|-------|--|------------------------------|

"شَطَطٌ" (wala tushtit) in 38:22 means do not lean to any (one) side.

شطن Sh-Te-N

"شَطَنّ (shatan) means strong, long rope.

"بَنْرُ شَطُوْنٌ (beirun shatun): a deep well.

: تُسَطِيْنٌ (shaatin): anything that is very far. (shaatin): شطِيْنٌ (shateen) or

Ar-Rumani says "شَطَنَ" (*shatt*), "شَطَنَ" (*shatan*) and "بَعْدَ" (*ba'ad*) means to be distanced, and are of the same meaning {*Al-fazul Mutaradifa*}.

Ibn Faris too says it means to be distanced.

"شَطَنَ" (shatan) means that he went too far.

"شَطَنَ صَاحِبَه" (*shatana sahibahu*): he opposed his companion, and intended to oppose him, to be rebellious {*T*}.

The word "تَسْطَانُ" (*shaitaan*) has been derived from it, which will mean:

- to be far away or distance from Allah's blessings, removed or deprived of life's happiness.
- one who gives up the right path and adopts the wrong way by being rebellious.
- an ugly snake.

(رَبُوْسُ الشَّيَاطِيْنِ: (ru-oosush-shverseeen): a head snake (cobra) (T}.

Ibn Faris too says these are its basic meanings.

Some think that *shaitaan* has been derived from "شَاطَ" (shaat) or "يَشِيْطُ" (vasheet).

"شَيْطْ" (shait) means to be incinerated, to be killed.

تَشَاطُ الشَّيْءُ (shata- shaiyi): the thing burned up.

(shaatas samanu waz zait): the oil heated up so much that it almost caught fire. "شَاطَ الْسَمَّنُ وَ الزَيْتَ"

شَيْطَانٌ (shaitaan) would hence mean fiery, rebellious, and producing negative results.

In the Hebrew language, *shaitaan* means one who obstructs.

| The Qura | The Quran says: | | | |
|----------|---|--|--|--|
| 19:44 | shaitaan is rebellious against Allah's orders | إِنَّ الشَّيْطِنَ كَانَ لِلرَّحْمَٰنِ عَصِيًّا | | |

Surah *Al-Qasas* says that when *moosa* hit the *qubti* a punch in anger which killed him, he said:

| لهذا مِنْ عَمَلِ الشَّيْطُنِ This is a <i>shitaani</i> deed |
|---|
|---|

Thus it is obvious that anything done when overwhelmed by emotions (in this case anger) is attributed to *shaitanat* (devilishness), as in 12:5. The leaders of the people rebellious to Allah's orders were also termed as "شَيَاطِيْنُ" (*shayateeen*):

| 2:14 when they go to their party leaders | وَإِذَا حَلَوْا إِلَى شَيْطِيْنِهِمْ |
|--|--------------------------------------|
|--|--------------------------------------|

The wild and rebellious tribes which *Suleman* had subjugated and made to work for him are also called *shayateen* (38:37, 21:82). To mean snake, this word has been used in the tale about *Ayyub* (38:41). In the *Gharib-ul-Quran* by *Mirza Abul Fazal*, it has been mentioned with reference to *Qamoos*, that "ثَنْيُطُانٌ" (*shaitaan*) also means the intensity of thirst.

In the tale about *Avvub* it is said.

| 20.11 | the snake to have touched | بالمربقة المربقة المربقة المراجعة المراجع |
|-------|---------------------------------|---|
| 38:41 | (or the overwhelming of thirst) | ارتني مستبي الشيطان |

Also 8:11 says "رجْزَ الشَّيْطَان (rijzas shaitaan) where the meaning could be the weakness and trouble born out of thirst.

The Ouran says:

| 37:65 | whatever sprouts from it is like a snake's head which is broad like a cobra's | طَلْعُهَا كَانَّهُ رُثُوْسُ الشَّيْطِيْنِ |
|-------|--|---|

Astrologers have also been called "شَيَاطِيْنُ" (shivateen) in 67:5, 37:7.

Any force, according to the Quran that rebels against Allah's laws, is "شَيْبَاطِيْنُ" (shaitaan), whether it is man's own rebellious emotions or the leaders of nations which are opposed to Allah's system. Rebelliousness and mutiny is their basic characteristic, and their job is to obstruct the establishment of the right systems.

(taghoot) are one and the same thing because "طاغوت" (taghoot) is شَيْطَانَ (taghoot) is anything that is non-godly (2:256, 4:76).

For more information about *shaitaan*, see heading (B-L-S) and (Ain-B-D).

شعب Sh-Ain-B

(*as-shobe*): to gather together and to differentiate, to split and create a gap (it has opposite "الشَعْبُ") meanings):

Raghib says ''أَلشَّعْبُ مِنَ الْوَادِيْ) (as-shobe) means to gather and scatter because ('أَلشَّعْبُ (ash-shobe minal *waadi*) is a place where one end meets the valley, but the other end departs from it. When viewed it seems that a thing is being parted, and when you see the other ends it seems as if the two ends are meeting together. So the word means both to gather together and to separate $\{R\}$.

Ibn Faris says that it connotes collectiveness together with parting:

"شُعُوْبٌ" (ash-shobe): big tribe, the line of descendants to which all the tribes belong. The plural is "ألشُّعْبُ" (shu-ub) as in 49:13. Tribe is smaller than "شَعْبٌ (sha'ab),

(shoa-bah) means branch, or a part that has broken away, the space between two horns of branches. Plural is "شُعَبٌ" (shu-ab) as in 77:30.

"الشَّعْبَةُ مِنَ الشَّجَرِ" (*ash-shobatus minal shajr*): spread out branches of tree: "الشَّعْبَةُ مِنَ الشَّعْبَ" (*ash-shobatus minal shajr*): the path between two mountains.

"شَعْبَانْ (shaabaan): the month before the month of fasting (ramadaan). In this month the Arab gypsies use to spread out in search of water and loot $\{T\}$. Hence it also means to scatter.

"شُعَيْبٌ" (Shoaib): is the name of a messenger who was sent towards the nation of Madyan. Some say that he was *Moosa's* father-in-law $\{M\}$. For more details see heading *Shoaib*.

The Quran teaches that all mankind is one nation, one universal brother hood (2:213), but in order to be recognized, they were divided into many different races and tribes. The difference is only for recognizing them just as we give different names to our sons in order to distinguish between them. It is not to signify any superiority or bias. Therefore, no nation or tribe or caste is superior to others. All humans are respectable (17:70). The standard or rank is deed and he who is better in deeds is the more respectable.

This verse has this meaning.

If this purpose could be served some other way then this difference would no longer be necessary. As far as ranking is concerned, it is determined by the humanism in individuals.

شعر Sh-Ain-R

"تَسْعَرُ" (*sha'run*) and "تَسْعَرُ" (*sha-arun*): the hair that grows on a human body. A camel's hair is called "وَبَرُ" (*wabarun*) and a sheep's hair is called "صُوْفَ" (*suuf*). All these three words have been used in 16:80, although *Zamkhishri* says that "تَسْعَرُ" (*sha-arun*) can be used for human as well as animal hair {*T*}.

"أَلَشْعُرْ" (*ash-sheru*) and "أَلَشْعُرْ" (*ash-sha'ru*) is to comprehend something, to know, to judge, to understand the finer points, to comprehend something by using the senses. The verbs that are derived from it are "زَيْسْعُرْ" (*sha'ar*), "شَعُرَ" (*sha'ar*), "شَعُرَ" (*sha'ar*), "شَعُرَ" (*sha-ur*), "شَعُرَ" (*sha-ur*), "شَعُرَ" (*sha-ur*). Prominent from the nouns derived from it are "أَلْشَعْرَى" (*ash-shera*). "الشَّعْرَى" (*ash-shera*).

"أَشْعَرَهْ" (*ash-ara*): told him, made him aware. Some say it means to judge or comprehend something by the senses $\{T\}$.

Mental philosophy and abstract concepts were not "شعور" (*shu-ur*) to the Arabs. It is an *ajami* (non arab) practice which was of a Greek concept.

"شَاعِرْ" (*shaa-ir*) or poet is called so because he comprehends meanings by using his intelligence which eludes the common man. Sometimes "شِعْرٌ" (*she'r*) means a lie and "شَاعِرٌ" (*shaa-ir*) means a liar. Since exaggeration is mostly present in poetry, it became a saying that the best poetry is the most exaggerated. Opponents used to call the Messenger (*pbuh*) as poet and the Quranic verses as poetry in these very meanings $\{T\}$.

"شَيْعَانٌ" (shi-aar): code words (as are used in the war).

"شِعَارُ الْحَجَّّ،" (*sha'ir-ul-hajja*): all those deeds performed in pilgrimage, which are done to express obedience to God. The place where these deeds are done is called "شَعِيْرَةٌ" (*mash'ar*). The plural is "شَعَاءِرُ" (*sha-ir*).

"شِعْرَى" (shi'ra) is the name of a star which is seen in very hot weather and is very bright.

The Quran mentions "رَبُّ الشُّعْرَىٰ" (rabbush shera) in 53:49.

In the period before the advent of Islam, some Arab tribes worshipped this star {*Lisan-ul-arab*}. But if "شَعْرى" (*sheyra*) is taken to have come from "شَعْرَى" (*sha'ar*) then it would mean intellect and comprehension.

The Quran has mentioned intellect, comprehension, awareness, deliberation etc. at several places. By deliberating on them with reference to context, we can glean their fine differences. But all have one thing in common, that is, those who do not utilize their intellect and consciousness, are thought to be worse than animals and the fuel for *jahannam* (hellish society).

The Quran has opposed poetry but that does not mean that prose is preferable to it and poetry not. The Quran does not bother with the style of relating. By poetry it means that emotionalism which is not concerned with facts.

In surah *Yasin*, the Quran says:

| | 36:69 | We have not taught poetry to this Messenger (<i>pbuh</i>) | وَمَاعَلَّمْنٰهُ الشِّعْرَ وَمَايَنْبَغِيْ لَهُ | |
|--|-------|---|---|--|
|--|-------|---|---|--|

Neither is poetry befitting the revolution that a messenger brings. Then it says:

| Whatever We have given the messenger (<i>pbuh</i>) is historical facts and life's basic principles and rules | اِنْ هُوَ اِلَّا ذِكْرٌ وَقُرْآنٌ مُبِيْنٌ |
|--|--|

And their purpose is:

| 36:70 | Those who have the ability to be alive, to warn them (through the Quran about the destructive results of the wrong ways of life) | لِيُنْذِرَ مَنْ كَانَ حَيّاً |
|-------|--|------------------------------|
| | Quian about the destructive results of the wrong ways of the) | |

This means that the Quran is concerned with historical facts and the solid facts of life. As against it, poetry plays with man's emotions. Therefore it has likened it to a camel which is driven hither and thither by false thirst. See heading (H-Y-M). The poets traverse the land of emotions and their entire life they say what they do not practice (26:225-226). This way of life is not befitting the stature of a messenger (and his followers). According to Biographical literary by *Coleridge*, the opposite of poetry is not anti-thesis (prose), but science. The Quran argues scientifically, and therefore poetry (which is removed from facts) can not be accepted by Allah.

Here it must be noted that like other nations (the Greeks etc.) the Arabs too believed that like astrologers and fortune tellers, poets also receive divine messages. Even today poets in the west are thought to be 'inspired' people. The Quran clearly distinguishes between human capabilities and the Revelation, so that it becomes clear that direct inspiration from God can only be had through the revelation and only messengers had this. Since messenger hood has come to an end, it can not be available to anyone anymore. It gives no credence to 'kashf' and 'ilhaam' (both mean inspiration) and does not think them to be direct knowledge from God. It says that this 'inspiration' is actually the product of human emotionalism or the product of psychological power which have no relevance to knowledge and fact. This is why the Quran says that a messenger is not a poet, just as he is not a fortune teller, sorcerer, or astrologer. Revelation towards a messenger is from God, and it does not have any mixture of his own wishes and thoughts (53:3-4). The Arabs did not have the term '*tasawwuf*' in their language but the specialty that *tasawwuf* was thought to be present in poets, astrologers, sorcerers etc. By rejecting these elements, the Quran has actually rejected "tasawwuf" too. If the Arabs were familiar with the term of 'tasawwuf'', they would also say that 'tasawwuf' is not befitting a messenger. Instead the Quran has said that a messenger is not an astrologer or sorcerer. He gets knowledge directly from God which creates revolutionary changes in man's world, but "tasawwuf" cannot do all this.

The Quran says about the hypocrites:

| 2:9 These people try to deceive God an of believers, but actually they are of themselves, but they do not realize | ا يو بون منا ال ويو ين منطق مريد المؤند أوريد الله المراجع المواجع |
|---|---|
|---|---|

This means that consciously they try to deceive others but sub-consciously they are deceiving themselves. Note how well this difference between conscious and subconscious conditions has been related.

Surah *Al-Ma'idah* says:

| 5:2 | Do not desecrate the symbols of God | لا محِلوْا شعَاءِرَ اللهِ |
|-----|-------------------------------------|---------------------------|

Islam is a way of living which takes shape in the form of a state. A state has some symbols. Respecting them means that that you respect its way of life, or state like the flag of a state. The flag is actually a piece of fabrics but it is also the symbol of a state and is therefore respected. Respecting the flag means that one respects that state. These symbols are called "شَعَائِرُ اللهِ" (sha-a 'ir), therefore 'small (state and is established to implement the Quranic laws.

The respect of those symbols would mean respecting the laws themselves. These symbols will not be worshipped, only respected, and that too while keeping in mind that in themselves these symbols hold no value. Their respect is the respect of God's laws, and that is that.

(as-sholah): the flames of the fire. The wood or fuel which helps to flares up a fire.

- (*as-sha'eelah*): a dwelling on fire.
- "اَلْمَشْعَلُ" (*al-mash'al*): lamp.

"شَعَلَ النَّارِ فِي الْخَطَبِ" (*sha-alan naara fil yaseeb*): he lighted a fire among the wood. "أَشْتَعَلَ النَّارِ" (*ishta-alatin naar*): the fire was alighted and flared up {T, R}.

Ibn Faris says it means for the edges of something to fray, or when a fire flares up.

(*ishta-alar raasu shaiba*): for white hairs to proliferate in the head and in this way the head to flare up with whiteness {*M*}, or for white hair to appear in the head.

In surah Maryam, these words have been used for Zikria in 19:4.

شعيب Shoaib

One of *Ibrahim's* sons (from his third wife, *Qatura*) was named *Madyan*.

He settled in an area adjacent to north *Hijaaz* and his descendants came to be known as the nation of *Madyan*. Their period is taken to be around 2000 B.C. This nation flourished here for about four hundred years. Later *Shoaib* was sent to them. When *Moosa* had escaped from Egypt (after the murder incident) he had come to *Madyan*. The Quran says that here he lived with and old man (and his daughters) and became a shepherd. This old man married off one of his daughters to him (28:22-28, 20:40). This old man has not been described further, but some believe that it could have been *Shoaib*.

The Torah has named him *Raaweel*, and also *Yasru* as well as *Hubaab*. Historians think that *Hubaab* is indeed the name of *Shoaib* {Torah 10:29}, while these other names are of his pseudonyms and that *Hubaab* is called *Shoaib* in the Quran. This way the time of *Shoaib* and *Moosa* is the same i.e. approximately 1700 to 2000 B.C.

The Torah says *Madyan's* brother was named *Yaqshaan*. His son *Duwaan* settled near his uncle. This was a very green area and swamped by thick forests. The Quran says that *Shoaib* was sent towards the nation of *Madyan* (29:36), and *Ashabul aika* (26:176-177). Researchers think that *Ashaabul aika* were the descendants of *Duwaan*. The Quran has talked about the nation f *Madyan* and *Ashaabul aika* as if they were people of the same tribe.

From what *Shoaib* advised them, one can glean what things they were indulging into:

| 7:58 | My nation, be obedient to Allah, be subservient no one else is your Allah except him | لِفَوْمِ اعْبُدُوْ اللَّهَ - مَالَكُمْ مِنْ اللَّهِ غَيْرَهُ |
|------|--|---|
| 7:58 | You should measure fully (not less). Do not give people less (than they bargain for). After the country has reformed, do not bring chaos in it | فَأَوْفُواْ الْكَيْلَ وَالْمِيْزَانَ وَلاَتَبْحَسُواْ النَّاسَ أَشْيَاء هُمْ وَلاَتُفْسِدُواْ فِيْ الأَرْضِ بَعْدَ إِصْلاَحِهَا ذَلِكُمْ حَيْرٌ لَّكُمْ إِن كُنتُم مُؤْمِنِيْنَ |

This shows that there were serious inequities in that society for removing, which *Shoaib* had been sent to them (as a messenger).

He brought his message to them and as usual, the capitalist section or the wealthy section of society opposed him strongly and warned that if he and his people did not accept their religion, they will be banished (7:88).

Surah *Hoodh* talks about one objection they made which points to a great fact about the way of Islam as well. They had said:

| | Shoaib, does your salah teach you to tell us to leave worshipping the gods that our forefathers | قَالُواْ يَا شُعَيْبُ أَصَلاَتُكَ تَأْمُوْكَ أَن نَّتْرُكَ مَا يَعْبُدُ آبَاؤْنَا أَوْ أَن |
|-------|---|--|
| 11:87 | worshipped, or that we can not spend our wealth as we wish? | نَّفْعُلَ فِيْ أَمْوَالِنَا مَا نَشَاء إِنَّكَ لَأَنتَ الْحَلِيْمُ الرَّشِيْدُ |

This shows how deep the connection between *salah* and economics in Islam is. *Salah* means to follow the laws of Allah, and the laws of Allah also encompass economics. As such, *salah* and economics go hand in hand.

That nation did not reform and kept on its erring ways until it was totally destroyed.

Surah *Al-Airaaf* says:

| | ~ | |
|------|----------------------------------|---------------------------|
| 7:91 | earth shaking doom overtook them | فَاحَذَتْهُمُ الرَّحْفَةُ |

Surah Hoodh mentions "أَلصَيْحَة" (as-saihah). It means a harsh voice or sound.

Surah Ash-Shora says "يَوْمِ الظَلَّةِ" (yaumi zullah) in 28:189, that is, the day of the shadow. It seems that an earthquake occurred with a deadly sound and volcanoes emitted clouds of smoke. In this way that nation was destroyed.

To understand what the relationship between physical or natural calamities and Allah's punishment is, see the heading *Nooh* in my book "*Jooy-e-noor*".

شعف Sh-Gh-F

(as-shaghaaf): the veil over the heart, or the membrane over the heart.

"شَعْفَه" (shaghafah): reached his heart's veil.

"شَعْفَہُ الْحُبُ" (*shaghafahul hoob*): love reached the veil of his heart, or love penetrated the membrane of his heart and entered in it {*T*}. Therefore, the height of love is also called "اَلْشَغَفُ" (*as-shaghaaf*) {*M*}.

Surah Yusuf says:

| 12:30 Yusuf's love penetrated her heart (into the depths of her heart) | قَدْ شَغَهَهَا حُبَّا |
|---|-----------------------|
|---|-----------------------|

شغل Sh-Gh-L

"الشَّغْلُ" (*as-shugl*), "الشَّغْلُ" (*as-shugl*), "الشَّغْلُ" (*as-shugl*), "الشَّغْلُ» (*as-shaghal*): engagement, hobby, an activity which engages one's entire attention.

(ishtaghala fihis samm): the poison penetrated into him.

شَعْلُ مَسْغُوْلٌ (misalun mashghool): capital invested in trade or business.

Ibn Faris says this word is opposite of "فَرَاغ" (faraaghun) which means to be empty, vacant or free.

The Quran says:

| 48:11 | We are so much occupied in our wealth that | شَغَلَتْنَا أَمْرَالُنَا |
|-------|--|--------------------------|
| 40.11 | we have no time to spare for other things. | متعليكا الموالك |

Surah *Yasin* says about the dwellers of *jannah*:

| 36:55 | They will be engaged in something happily all the time (which will be very pleasing to them) | فِيْ شُعُلٍ فَكِهُوْنَ |
|-------|---|------------------------|
|-------|---|------------------------|

"شُفْعْ" (*shaf'un*) basically means to join one thing with another, or to join two things together, or to make them become a pair $\{M\}$.

"شَفْعٌ" (*watrun*) means to be single and "شَفْعٌ" (*shafun*) means to be part of a pair, or the former is odd and the latter even $\{T\}$.

Raghib says it means to join one thing with another similar thing or to integrate them, and "شَفْعٌ (*shaf'ah*) means to join one while helping or commiserating with him.

"شَفَاعَة" (*shuf'ah*) means to strive and mix something with one's own things and thus make them additional $\{T\}$. In *Faqahi* terms, it means to pay the price of something which is asked for, and thus make it one's own, i.e. to buy at a price $\{M\}$.

"عَيْنٌ شَافِعَة (ainun shaafi 'ah): the eye which due to lack of focus sees double.

"نَافَةُ شَافِعٌ" (naaqatun shafi 'ah): a she-camel who has one child following her, and a second in the womb.

تَنَقَّةُ شَفُوْعٌ» (*naaqatun shafoo*): a she- camel which gives twice as much milk as usual {T}.

"أَلْشَفَاءِغ" (as-shaafi 'o): different types of grass which grows together $\{T\}$.

Ibn Faris says "ألشَّاةُ الشَّافِعُ" (ash-shatush shaafi 'o) is a goat with its kid with her.

The above meanings show that "شَفْعٌ (*shaf'un*) means for one thing to be added to another and thus make two. Later "شَفَاعَة" (*shaf'ah*) began to mean recommendation because in this a man stands with someone else for the recommendation or for helping him with his support $\{T\}$.

Ibn Faris says "شَفَعَ فَلَانٌ لِفُلَانٍ" (*shafa-a falanun lifulaan*) means a man who comes with someone and recommends whatever he wants (supports him in whatever he wants).

The Quran preaches collective life because the development of a man's capabilities takes place only in a collective life. Thus everyone of the group of *Momineen* is the "شَفِيْعَ" (*shafi*) of every other individual. That is, always there if he needs help and the centre of this system is the "شَفِيْعَ" (*shafi*) of everyone. He does not let anyone feel that he is alone. This companionship is his basic characteristic.

This ''سَنْفُاعَةُ' (*shaf'ah*) goes beyond the members of the group of *Momineen*, because it is their duty for sustenance towards the whole of mankind. They have been told to ''برّ' (*birr*) and ''تَقُوْىٰ'' (*taqwa*). That is, to co-operate with others big heartedly, according to the laws of Allah. They are told conversely to ''الْأُمْ'' (*ismun*) and ''عُدُوَ'' (*udwaan*), or not to co-operate in malpractices (5:2).

It has been said as:

| | He who helps others in good deeds also gets | مَنْ يَّشْفَعْ شَفَاعَةً حَسَنَةً يَّكُنْ لَهُ نَصِيْبٌ مِنْهَا وَمَنْ يَشْفَعْ شَفَاعَةً |
|------|--|---|
| 4:85 | his share of the benefits, and so does one get | من يشفع شفاعة حسنة يكن له تصبيب مِنها ومن يشفع شفاعة |
| 4.05 | equal share of punishment if he helps someone | سَيِّئَةً يَكُنْ لَهُ كِفْلٌ مِنْهَا |
| | in bad deeds | |

Note that in co-operation, one does help another but in *shafa-at* one is by the other's side.

We believe that on the Day of Judgment the criminal will be judged and designated to hell. Then those who are close to God i.e. the messengers, especially messenger *Muhammed* (*pbuh*)) will intervene on their behalf and God will pardon them and grant them *Jannat*. This is called *shafa-at*. It is evident that this belief demolishes the entire structure of *Deen* which is based on the consequential law, i.e. as you do so you reap.

| 00.7 8 | every deed produces a result | مَنْ يَعْمَلْ مِثْقَالَ ذَرَّةٍ حَيْرًا يَّرَهُ وَمَنْ يَعْمَلْ مِثْغَالَ ذَرَّةٍ شَرًّا يَرَهُ |
|--------|------------------------------|---|
| 99.7-0 | and is manifested | ىكى يىكمل فرىكان دۇر مىيىن ۋىلى يىكمل فرىكان دۇر شىزا يۈن |

It seems that the concept is a product of the era of hegemony. When the friends of the oppressive rulers recommended amnesty for the criminals and criminals were pardoned, and even rewarded. This concept

seems to be like the Christian belief and lends support to it that *Isa* (Jesus) will at last atone for the wrongs of people and thus they will be pardoned. But your Messenger (*pbuh*), it was said by them, can do nothing in this regard. Thus, in response to this, the concept of *shafa-at* came into existence, which says that after the criminals are so adjudged on the day of the judgment, our Messenger (*pbuh*) will go into bowing before God and will himself not go into *jannat* until God pardons all.

This did answer the Christians but demolished the entire structure of the *Deen* and the Muslim nation which believed this, went into ignominy. There is no such certification from the Quran, nor can there be any leeway for this. It has been said clearly:

| | <u> </u> | |
|------|---|---|
| | nobody can do anything for anybody, nor will anybody <i>sahafa-at</i> be accepted nor will any | وَاتَّقُواْ يَوْماً لاَتَجَرِيْ نَفْسٌ عَن نَّفْس شَيْئاً وَلاَيُقْبَلُ مِنْهَا شَفَاعَةٌ |
| 2:48 | anybody sanaja-ai be accepted not will any | |
| 2.40 | body let off after paying any compensation, | وَلاَ يُؤْحَدُ مِنْهَا عَدْلٌ وَلاَهُمْ يُنصَرُون |
| | and nobody will be able to help the criminal | 32 1 3 7 3 3 3 |

To support the concept of *shafa-at*, such verses are presented as:

| 2:225 | who can recommend or plead without his permission | مَنْ ذَاالَّذِيْ يَمْفَعُ عِنْدَهُ إِلَّا بِإِذْنَهِ |
|-------|---|--|
|-------|---|--|

It is concluded from this that with God's permission, recommendations can be made and the messenger *Muhammed* (*pbuh*) will recommend his followers with God's permission indeed.

But to draw these conclusions from this verse is wrong because it goes against the natural law, which runs throughout the Quran. So if the concept of recommendation or *shafa-at* is also in the same Quran then it will mean (God forbid) that the Quran has contradictions.

The verse before the one above says:

| | O believers, whatever Allah has given you, keep it open | |
|-------|---|---|
| | (available) for the sustenance of the needy, before such a time | |
| 2:224 | comes when neither can one pay for one's crimes and enter the | لَا بَيْعٌ فِيْهِ وَلَا خُلَّةٌ وَلَا شَفَاعَةٌ |
| | <i>jannat</i> , nor will the friendship of any elder be of any | _ |
| | advantage, and neither will anybody's shafa-at. | |

In the next verse, if the meaning is taken to mean that Allah will accept (any) recommendation, then there will be an open contradiction, which there is none of in the Quran.

That raises the question of what this verse really mean? According to the law of nature, every deed's results begin to be formulated right from when the deed starts. In order to make one understand the truth about reward and punishment, the Quran has drawn a picture before us as if people are presented in court for judgment. There is a judge, the accused, the prosecutor, witnesses, and policemen etc. The Quran has used these as allegories. At one place in the Quran it is said that the one who is being questioned will stand alone in the witness stand.

| 6:95 | you will be presented alone before usthere will be nobody with you (to help you or recommend you or plead for you) | وَلَقَدْ حِئْتُمُوْنَا فُرَادَى وَمَانَرَىٰ مَعَكُمْ شُفَعَاءَ كُمْ |
|------|--|---|
| | recommend you of plead for you) | |

And "the policeman" (the *malaikah*) will push you from behind and bring you before Us:

| 50:21 | everyone will have one to drive him forward: | ال، ٢٠ محمد المديني المحمد المحم المحمد المحمد |
|-------|--|--|
| 30.21 | there will also be witnesses | وَجَانَتْ كُلُّ نَفْسٍ مَعَهَا سَائِقٌ وَشَهِيْدٌ |

These witnesses will not stand with the criminal on their own. Whoever, those who will be called, will come forward and will be allowed to present evidence. These are the "شفيري" (*shafi-un*) which have been mentioned in the Quran.

| 2.255 | Who can stand with anyone (support anyone) | مَنْ ذَا الَّذِيْ يَشْفَعُ عِنْدَهُ اِلَّا بِإِذْنَهِ |
|-------|--|---|
| 2.233 | without Allah's permission | من دا اللَّذِي يُسْلُعُ عَنْدُهُ إِلا يَوْدُنَهِ |

These witnesses will also be messengers who are said to be:

| | The day when Allah will gather the | |
|-------|---|--|
| 5:109 | messengers together and ask them as to the | يَوْمَ يَجْمَعُ اللَّهُ الرُّسُلَ فَيَقُوْلُ مَاذَا أُحِبْتُمْ |
| | response they had received from the people? | |

And the *Mala-ikah* too will be called to appear:

| | The day when the <i>arruh</i> and the <i>malaikah</i> | يَوْمَ يَقُوْمُ الرُّوْحُ وَلْمَلْءِكَةُ صَفّاً لَّا يَتَكَلَّمُوْنَ اِلَّا مَنْ أَذِنَ لَهُ الرَّحْنُ |
|-------|---|--|
| 78:38 | will be standing in rows and only he will | يوم يفوم الروح وكملءِكة صفا لا يتخلمون إلا من أدِن له الرحمن |
| 10.50 | speak who has been granted permission to do | وَقَالَ صَوَابًا |
| | SO | |

Therefore in these verses the meaning of *shafa-at* seems to be to give evidence. To present the right evidence for somebody is a very great help too. The Quran has explained this itself:

| | Those other than Allah whom they call upon | |
|-------|---|---|
| 43:86 | have no power for <i>shafa-at</i> . Only who gives | وَلَا يَمْلِكُ الَّذِيْنَ يَدْعُوْنَ مِنْ دُوْنِهِ ٱلشَّفَاعَةَ إِلَّا مَنْ شَهِدَ بِالْحَقِّ |
| | true evidence has the power to give <i>shafa-at</i> . | |

That is, *shafa-at* means evidence. This is why the messenger (*pbuh*) has been called *shaheed*, or witness (16:89), but never *shafi*. About the concept of *shafa-at* which others have, the Quran has said:

| 74:47 | The <i>shafa-at</i> or recommendations or pleadings of their recommenders will do no good | فَمَا تَنْفَعُهُمْ شَفَاعَةُ الشَّافِعِيْنَ |
|-------|---|---|
|-------|---|---|

This because Allah's law says that:

| 6:165 | No man can lift another's burden | لَا تَزِرُ وَانِرَةٌ وِنْرَ أُحْرِىٰ |
|-------|----------------------------------|--------------------------------------|
|-------|----------------------------------|--------------------------------------|

Jannat is begotten only in exchange for good deeds:

| | to acquire the <i>jannat</i> (heaven) through | |
|------|---|--|
| 7:43 | recommendation is born in nations which have | تِلْكُمُ الْجُنَّةُ أَوْرِ تْتُمُوْهَا بِمَا كُنْتُمْ تَعْمَلُوْنَ |
| | lost the will or power to do good deeds | |

This sort of concept prevailed among the Jews when they were at the lowest ebb. They used to say that they will not stay in *jahannam* or hell. They shall perhaps stay there for a few days (after which they will be rescued by their holy people). At this the Quran says to ask them if there is some pact about this between Allah and them. Then it says to tell them that such beliefs are false. Allah's law dictates that anyone who commits bad acts will be destroyed, and he who has faith and does good deeds will be among the heirs to the *jannat*, or heaven (2:81-82).

It is obvious from these explanations that in this world *shafa-at* would mean to be with someone to help him. If the work assisted is good, then he too will be equally rewarded, if not then he will also be punished. In the life hereafter the concept of *shafa-at* is as if a witness chooses to give true evidence. It is an allegorical statement.

For the criminals to go scot free on somebody's recommendation or *sifarish* or for someone to get what one does not deserve as such, is against the basic teachings of the Quran. Therefore, this is not the right meaning of *shafa-at*. Wherever it appears in the Quran, reference must be made to the context to determine its true meaning.

Surah *Al-Fajar* says "رَاللَّشَفْعِ وَالْوَتْرِ" (*wush shaf-ee wal watr*) in 89:3. It either means the stars which move together or which exist together or which move separately or exist separately. That is, the stars which seem to be together and the stars which seem separate.

(ash-shafaq): the redness that remains in the sky from sunset till darkness falls.

"شَفَقٌ" (shafaq) also means edge {T}.

Raghib says that "شَفَقٌ" (*shafaq*) means daylight at time of sunset intermingling with the darkness of the night.

The Quran says:

| 04.17 | | |
|-------|--------------------------------------|------------------------|
| 84:17 | But no, I sweat by the dwelling glow | فلا أفسِمُ بِالشَّقْقِ |

Ibn Faris says its basic meaning is weakness in something.

''اَلَسْفَقَنَّ' (*ash-shafaq*) or ''اَلَسْفَقَنَّ' (*ash-shafaqahk*): to have apprehensions about the welfare of someone. ''اَشْفَقَ مِنْہُ'' (*ash-faqa minhu*): feared it, was bothered.

(ash-faqa alaih): looked after him out of love (or sympathy) and feared lest anything bad befalls him {T}. Such a well-wisher is called "مُسْفَقٌ (*mushfiq*) or "مَسْفَقُمُ" (*shafiq*). "السَقَقَةُ" (al-shafaqah) also means weakness, since fear is also weakness. "تَوْبُ سَفَقٌ (saubun shafaq): fragile cloth {M}.

Since this word signifies a weakness, it is not used for God.

Raghib says that when this word is followed by "مِنْ" (*min*), the element of fear is dominant, and when it is followed by "فِي" (*fi*), the element of love, sympathy and well-wishing is more prominent. *But Taj-ul-Uros* has used "فِي" (*ala*) instead of "فِي" (*fi*), and this seems more appropriate.

Surah *Al-Azaab* says:

| 33.77 | they feared it | 15, 5, 5, 6, 6 |
|-------|---|----------------|
| 33.72 | (they were afraid of misappropriating what was trusted to them) | اشفقن مِنْهَا |

Surah *Al-Ambia* says:

| 21:28 | They are afraid (of the destructive results of going against the laws) and fear the results | وَهُمْ مِنْ حَشْيَتِهِ مُشْفِقُوْنَ |
|-------|--|-------------------------------------|
|-------|--|-------------------------------------|

In other words, they think it would be in their own interests to abide by these laws.

ش ف Sh-F-H

"مَنْفَبَّهُ" (*shafahu*), "عَنْهُ شَفْهِاً" (*unhu shafha*): he put him to work that made him oblivious of other things. "شَفَبَّهُ" (*shafahu*): struck his lips.

"شَافَرُمْ" (shafahu): talked to him in person.

"شَفَتَّانِ" (*shafatun*) means a single lip. The pair of lips is called "شَفَتَّانِ" (*shaftaani*) as well as (*shaftaani*) as well as (*shaftaani*). The plural is "شَفَرَاتٌ" (*shaftaani*). The plural is "شَفَرَاتٌ" (*shafawaat*) {*T*}.

Some scholars think that "شَفَنَيْنَ» (*shafah*) is actually from "شَفَنَيْنَ» (*shafwun*). That is why we have listed it under (Sh-F-W), which may as well be referred to there.

"أَلْشَفَا" (ash-shafa): edge, the limit of everything.

Ibn Faris says that this word may have been culled from "شَفَا" (*shafa*), which is from the root (Sh-F-W), and it is also possible that "فَ" (*fa*) has been exchanged with "ب" (*ba*), that is, "شبا" (*shiba*) has changed into "شبا" (*shifa*).

When the sun is setting, they say "مَابَقِىَ مِنْهُ إِلَّا شَغَى (*ma baqiya minhu illa shafa*). That is, very small part of it remains {*M*}. This has the connotation of being near death.

"شَفَتِ الشَّمْسُ" (shafatish shams): the sun is about to set {T}.

The Quran says:

| 9:1 | 189 | at the edge of the beach | عَلَىٰ شَفَاجُوُفٍ |
|-----|-----|--------------------------|--------------------|
| 3:1 | 102 | at the edge of the hole | شَفًا حُفْرَم |

''تَشْفَوَ اتَّ'' (*as-shafah*) means lip. The plural is ''تَشْفَوَ اتَّ'' (*shafawat*) and ''تَشْفَهُ'' (*shifah*). From this it became ''مُسْافَهُمُ'' (*mushafah*) i.e. to talk person to person {*T*}.

| The Qura | n says: | |
|----------|----------|------------|
| 90:9 | two lips | ۺؘڡؘؘؾۜۑ۠ڹ |

شفى Sh-F-Y

"شَفَفَاهُ" (*shafah*), "يَشْفَيْرِ» (*bi-shafihi*), "شَفَاءً" (*shifa-a*): gave him health (freedom from sickness). "الشَفَاءُ" (*ash-shifa-o*) means to recover from an illness. Later it began to be used for medication and treatment too {*M*}.

The noble Quran has used this word as against sickness:

| 26:80 when i fall sick, it is he who gives me health | وَاِذَا مَرِضْتُ فَهُوَ يَشْغِيْنِ |
|--|------------------------------------|
|--|------------------------------------|

It also to mean medicine, as in:

| 16:69 it has recovering power for people (cure) يَوْ شَفَاءٌ لِلنَّاسِ |
|--|
|--|

Ibn Faris says that this root basically means to come to the edge and peep over it. He thinks that the cure overpowers the disease and that is why "شفاء" (*shiffaa*) is called so.

ش ق ق Sh-Q-Q

"شَقَرُ" (shaqqah), "يَشْقُرُ" (yash-uqquhu), "شَقَرَّ" (shaqqah): to tear something up, to make a hole in it.

"الِنْشَقِيَّ" (*inshaqq*): was torn.

"الشَقْ" (*ash-shaqq*): the morning {T}.

"اِنْسَقَتْتِ الْعَصَا" (inshaqqatil asa): the elements shattered, or mutual differences cropped up.

"شَقَّ عَصَا الْمُسْلِمِيْنَ" (shaqqa asal muslimeen): it created fissiparous tendencies among the group of momineen.

(ash shiqaaq): opposition, enmity, mutual differences {T}. أَلْمُشَاقَحٌ (al-mushaqqah), "أَلْمُشَاقَحٌ

شيقٌ" (shiqq): hard labor, problem, to become tired after exerting to the full, tiredness.

(shaqqa ilaihil amr): the matter weighed heavy on him. "شَقَ عَلَيْهِ الْأَمْرُ"

"شَقَّ عَلَيْهِ" (shaqqa alaih): put him in trouble {T}.

"شُقْ عَلَيْمُ" (*ash-shuqqah*): the opposition of distance, distant journey $\{T\}$ as in (9:42), or the destination which is reached with difficulty.

The Quran says "شَنَقُ" (*shiqq*) to mean splitting of stones and for springs to spring forth, as break of dawn (2:74). Surah *Saad* has used "شِقَاقِ" (*shiqaaaq*) to mean opposition, and it has been used in 59:4 for opposition and differences.

Surah *Al-Abas* says:

| 80:26 Then we split the earth in a physical way | ثُمَّ شَقَقْنَا الْأَرْضَ شَقّاً |
|---|----------------------------------|
|---|----------------------------------|

Surah *Al-Oasas* says:

| 28:27 | I do not want to be harsh with you or to give you a difficult responsibility | وَمَالُرِيْدُ أَنْ أَشْقً عَلَيْكَ |
|-------|---|------------------------------------|

Surah An-Nahal uses "شيفِّ" (shiqq) to mean hard work (16:7).

"شَاقَ" (*shaqq*) means to oppose intensity and constriction, deprivation and hopelessness. It means to adopt a different way, create a difference, to part with each other (4:35).

Surah *Al-Qamar* says:

| | \sim | |
|------|--|---|
| 54:1 | the time of revolution neared and <i>al-qamar</i> is | اِقْتَرَبَتِ السَاعَةُ وَانْشَقَّ الْقَمَرُ |
| 34.1 | about to split | إقتربت الساعة والسق القمر |

For its meaning, see heading (Q-M-R).

ش ق و(ى) Sh-Q-W(Y)

"أَلْشَقَاءُ" (ash-shaqa'a): intensity and constriction, deprivation.

"نَسْقَارَةً" (shaqiya), "نَسْقَارَةً" (yash-qa), "تُسْقَارَةً" (shaqawah), "تُسْقَارَةً" (shiqwah): to be ill fated, have bad luck. "سعادة" (shiqwah) is the opposite of "سعادة" (saa'a-dat) or faithfulness, and since "تُسْقَارَةٌ" (siqawat) has tiredness and trouble in it, that is why it also means tiredness and trouble or bother.

Ibn Faris says its basic meanings are intensity and to bear hard labor. It is also the opposite of facility, softness, faithfulness and good luck.

(*al-mushaqah*): to bear trouble, to bear harshness.

"بَالسَّاقِى مِنَ الْجِبَالِ" (*asĥ-shaaqi minal jibal*): a mountain which juts out and overhangs, and which is very difficult to climb.

The Quran has said "شَقِيِّ وَسَعِيْدٌ" (*shiqiyyun wa saeed*) in 11:105. Here "شَقِيِّ وَسَعِيْدٌ" (*shiqiyyun*) is the opposite of "سَعادة" (*saa'a-dat*).

Zikriyah says in surah *Maryam*:

| 19:4 | And I have not been deprived and hopeless in your | وَلَمُ أَكُنْ بِدُ عَاءِكَ رَبِّ شَقِيّاً |
|------|---|---|
| 19.4 | supplication, my Sustainer. | وم الن بِد حارِف رَب سَعِيا |

Surah *Taha* says:

| 20:2 | We have not revealed the Quran to you for depriving you | مَا أَنْزَلْنَا عَلَيْكَ الْقُرْآنَ لِتَشْقِي |
|------|---|---|
| 20.2 | of life's blessings and to throw you in trouble | لها الرك عليك القراق فيتشغلي |

This "تَعْنَفُى (*tash-qa*) has been explained a little further on where *Adam* has been told that life's necessities are plenty in this heaven (20:118), but if you listen to *Iblees*, he will cause your exit from *jannat* (20:117). The result will be that you will be deprived of all the blessings and be involved in great difficulties.

Surah *Al-Lail* says he who is "أَسْتَعَى" (*ash-qa*), goes to *jahannam* of great ill fate (92:15). In other words, he will be deprived of happiness, but against this has come "أَسْتَعَى" (*atqa*) in 92:17. Therefore "أَسْتَعَى" (*ash-qa*) may also mean rebellious.

| Surah Maryam says: | | |
|--------------------|--------------------|--------------------|
| 19:32 | Insolent unblessed | جَبَّاراً شَقِيَاً |

Surah *Al-Mominoon* says about those in *jahannum* who will say:

| غَلَبَتْ عَلَيْنَا شِعْوَتُنَا bad luck befell us |
|---|
|---|

Remember that this ill fate is the result of man's own bad deeds. Good luck or bad luck is not man's destiny.

ش ک ر Sh-K-R

"اَلَشْكُرُ" (ash-shukr): to fill up and to express {M}.

Ibn Faris says it has different meanings, one of which is to be filled and abundant.

شکرت النَّقَةُ (shakaratin naaqah): the camel's teats became full of milk.

"ألمِسْكَان (al-mishkaar): an animal which may have little fodder but still its teats are full of milk.

"ضَرَّةٌ شَكْرَىٰ (zarratun shakra): teat full of milk.

"أَلْشَكِرَةُ" (as-shikrah): a female camel whose teats are full of milk {T}.

"شَكِرَتِ الشَّجَرَةُ" (shaakiraatish shajarah): branches sprouted on the tree trunk.

"أَشْتَكَرَتِ السَّمَاءُ" (ishtakaratis sama-u): it rained very hard.

(ishtakaral harru wal bard): the winter and summer were fulsome. "إِسْتَكَرَ الْحَرُّوَ الْبَرْدُ"

شَكَرَ فَلَانٌ» (shakara fulan): that man was greatly benevolent and gave a lot to people.

Taj-ul-Uroos says that "شُكْرُ" (*shukr*) means obedience and the performance of must to do duties, as also the expression of thankfulness, God's full response to this "شُكْرٌ" (*shukr*), or to give much in return for little.

For example if a person helps someone else a little, even at his own cost, then this little sacrifice on his part will be considered greater than giving something to someone that is more than one's necessities. This is what it means by giving ample return for little benevolence.

If we keep the basic meaning of "شَكْرُ" (*shukr*) in mind, then we can easily comprehend the meaning of "سَعَى مشكور" (*sa-ee mushkoor*) or that effort which fetches good results. That is, more than the effort warranted, so complete like the teats of a goat which are full of milk.

"نَيْكَرُ" (*shaakir*) is one who makes one's effort fetch full results, and also the one whose efforts fetch such complete results. The word "خُسْرُ" (*shukr*) has been used for the efforts going waste, against "خُسْرُ" (*khusr*) in 39:65-66. A man's efforts which produce good results is also called "شَكُوْرُ" (*shakoor*) in 14:5. "شَكُوْرُ" (*shakoor*) has more exaggeration than "شَكُوْرُ" (*shaakir*).

Since "نَعْزُنَ" (*shukr*) means to highlight or make evident. That is why تُغُزُن (*kufr*) or denial has been used against it in 14:7. It is meant for covering up or bury.

Surah *Al-Baqrah* says:

| | Always keep God given blessings uncovered | and the second second |
|-------|---|--------------------------------------|
| 2:154 | or available so that the human race can benefit | وَاشْكُرُوْ الِيْ وَلَا تَكْفُرُوْنِ |
| | from it (do not hide them or cover them) | |

Among the first of God given gifts are the capabilities which a human being possesses. The development of capabilities and them to be evident is also "شُكُرُ" (*shukr*), and this thing is produced by doing good deeds. Therefore, good deeds become the cause of "شُكُرُ" (*shukr*) of God's benevolence.

Surah *Al-Ahqaaf* relates this very fact when it is said that you should ask for:

| 46:15 | O my nurturer, give me the capability of thanking you (for committing <i>shukr</i>) for your | رَبِّ أَوْزِعْنِيْ أَنْ أَ شْكُرَ نِعْمَتَكَ وَأَنْ أَعْمَلَ صَالِحاً |
|-------|--|--|
| | benevolence. (I may do such deeds as to develop them) | , ₍₂ , ₂ , ₁ |

At another place, it is said:

| 31:12 | He who covers up or hides Allah's benevolence (hides or does not disclose), does Allah no harm, but he who uncovers them develops his own capabilities (he harms himself). Allah in his personality needs no | مَنْ يَّشْكُرْ فَإِنَّمَا يَ <mark>شْكُر</mark> ُ لِنَفْسِهِ وَمَنْ كَفَرَ فَإِنَّ اللَّهَ غَنِيٌّ حَمِيْدٌ |
|-------|---|--|
| | thanks (He is not dependent on you) | |

To uncover God's gifts or to disclose them means to utilize them as God has ordered. That is, they should be kept available for humanity at large. This fact has been highlighted with the help of an example. A dwelling was plentiful, but they started covering God's benefits (16:112), and the result was that they started facing punishment of hunger and fear. Allah's messenger was sent to them but they rejected him too. Then the *momineen* have been warned not to do likewise.

| 16:112 | Keep Allah's gifts uncovered | فَكَفَرَتْ بِأَنْعُمِ اللَّهِ |
|--------|--|-------------------------------|
| 16:114 | If you follow his laws only, then obviously you will keep open whatever Allah has given you | وَاشْكُرُوْا بِعْمَتَ اللَّهِ |

Denial of those gifts means to hide them (according to yours self made laws):

| 16:114For what they used to do on their own | اِنْ كُنْتُمْ إِيَّاهُ تَعْبُدُوْنَ |
|---|-------------------------------------|
|---|-------------------------------------|

This has been made further clear in surah *Al-Airaaf* that "شَاكِرِيْنَ" (*shaakireen*) are those who do not follow the way of the *Iblees* and do not fall into his trap (7:17).

Surah *Al-Baqrah* says about *Bani Israel*:

| 2:56 | We gave your life after death so that you could be "thankful" | ثْمَّ بَعَثْنَكُمْ مِنْ بَعْدِ مَوْتِكُمْ لَعَلَّكُمْ تَشْكُرُوْنَ |
|------|---|--|
|------|---|--|

This makes it clear that nations regain life or are resurrected after death so that they can develop their capabilities. Those nations which do not do so are not 'alive', nor can they exist.

For efforts to be thankful or "مشكور" (*mash-koor*) means for them to produce full results, that is, they produce the fullest results and become fully fruitful.

To be thankful means to uncover the blessings or gifts that God has given:

- A) That he makes his latent capabilities fully evident or develops them.
- B) Keep the means of development spread in the universe open for the benefit of mankind and not hide them for himself.

This is only possible when Allah's laws are fully followed. This will be 'thankfulness' of man. (*shukr*) from Allah's side means that He makes man's efforts produce full results, and it is a particularity of Allah's law that if followed, they produce the fullest possible results.

Surah Adh-dhahar says:

| 76:3 | We have shown the right path through revelation. Now it is | اِنَّا هَدَيْنُهُ السَّبِيْلَ اِمَّا شَ اكِراً وَإِمَّا كَفُوْراً |
|------|--|--|
| 70.5 | upot him (man) to adopt it, or some other way | ار می ایند استبین است میں کور ورامی مصور |

Here "شُكْرُ" (*shukr*) means to treat the path as a great gift and adopt it.

| Surah An | -Nisa says: | |
|----------|---|------------------------------|
| 4:147 | If you value this guidance then believe (have faith or <i>eeman</i>) | اِنْ شَكَرْتُمْ وَاَمَنْتُمْ |

34:13 has used "شَكُوْرٌ" (*shakur*) or "شَكَوْرٌ" (*shaakir*) which means to benefit from the gift you have been given.

Surah Saba says:

| 34:13 | O descendants of <i>Dawud</i> . Act (according to our laws) by benefiting from the gifts given | اِعْمَلُوْا ٱلْ داؤد شُكْراً |
|-------|--|------------------------------|

That is, utilize the multiple benefits and avail of the benefits in the universe and thus be thankful for them.

Ibn Faris says it also basically means to be content with little means.

"نَوْرَسٌ شَنْكُوْرًا" (*farasin shakoor*) means a horse which is fat, so even a little fodder is enough for it. When one's capabilities are developed, then even few external supports are sufficient to produce profuse results.

ش ک س Sh-K-S

"شَكَاسَةُ الْأَخْلَاقَ" (shakaasatul akhlaaq): to be impolite or discourteous.

شَاكَسَرَ» (shakasahu): he treated him shabbily, harshly.

"اَللَّنْانُ وَالنَّبَارُ يَتَسْكَسَانَ" (*al-lailu wan nahaaru yatash-a kasan*): day and night are opposed to each other. (*tash-akasu*): they opposed each other, or they acted narrowly in their dealings.

The Quran says:

| 39:29 | Partners in business who keep quarrelling as they are bad tempered | شُرِّكَاءُ مُتَشَاكِسُوْنَ |
|-------|--|----------------------------|
| 39.29 | and narrow minded in their dealings | سرداء منسا يسون |

ش ک ک Sh-K-K

"أَلَشَّكُ (as-shak): it is the opposite of belief.

Raghib says that when two quite different things begin to look similar to a person, then this condition is called "شك^{*}" (*shak*).

Muheet says with reference to *Keys* that just as knowledge begins with belief, "شَكَّ (*shak*) begins with doubt. See heading (R-Y-B). This is why it is said "شَكِّ مُرِيْبٌ" (*shakkun mureebun*) but not "رَيْبٌ مُشَكِّكٌ" (*raibun mushakkik*)

Ibn Faris says it basically means for one thing to diffuse in another.

As such, "شَكَكْتُهُ بِالرُمْح" (*shakatuhu bir rumh*) means that I pierced the spear into his body. (*shakk*) is like that one thing which seems to have entered another, and nothing is certain (doubt).

Raghib says that "شَكَكْتُ الشَّيْءَ" (*shakaktu shaiyi*) means that a thing which has a hole through it. A thing like that cannot be depended upon to be reliable. There is a thought that it is from a proverb which says for the arm to stick to the side. This word would therefore mean for two opposing things to enter into one another so that the distinction is no longer clear $\{R\}$.

شَكُوْا بَيُوْنَبُمْ (shakku buyutahum) means that they built all their homes to be similar {T, R}.

These examples make the meaning of "(shak) clear. That is, for two opposite things to look similar and not be clearly distinguishable from one another. Hence it also means to be hard for a person to reach the right conclusion about something.

About the matter of crucifixion of Christ, it has been said that:

| 4:157 | Indeed, those who differ in it, are surely in doubt about it | اِنَّ الَّذِيْنَ اخْتَلَفُوْا فِيْهِ لَفِيْ شَكِّ مِنْهُ |
|-------|--|--|
|-------|--|--|

This makes the meaning of "(shak) clear, i.e. there was so much resemblance between *Isa* (Jesus) and the man they had arrested, that it was difficult to differentiate one from the other. Therefore, they are still in doubt as to what had actually happened. Details can be found in my book "*Shola-e-mastoor*" in the subject of *Isa*.

ش ک ل Sh-K-L

''ٱلشَّكْلُ'' (*ash-shakal*), ''ٱلشَّكْلُ'' (*ash-shukal*): similar, alike. (*fi fulanun shaklin min abih*): that man resembles his father very much {*T*}.

Surah Saad says:

| 38:58 Various punishments of the same kind | وَاَحَرُ مِنْ شَكْلِهِ أَزْوَاجٌ |
|--|----------------------------------|
|--|----------------------------------|

The plural is "أَسْكَالٌ" (ash-kaal) which means different matters and needs.

"شَكَلَ أَلْأَمْرْ" (shakalal amr): the matter became complex and dubious {T}.

"الشَّكَالُ" (*ash-shikaal*): the rope with which an animal's fore and hind legs are secured so that it can only take measured steps as the rope's leeway allows.

(shikaal) : شَكَالُ (shakalad dabbah): he bound the legs of the animal with "شَكَالُ (shikaal) (shikaal)

Ibn Faris says that most meanings of this word are derived from similarity and likeness. He says " شَكَلْتُ " (*shakalad dabbah*) is so said because one leg of the animal is secured to a similar leg.

"اَلَشَّحَالُ فِي الرَّحْلِ" (*ash-shikaalun fir rahl*): the rope with which the camel's seat ends are tied {*T*}. (*shaakilun*) has come from it, the feminine of which is "شَاكِلَّ" (*shaakilah*) as in 17:84, that is which binds.

| Surah | Bani | Israel | says: |
|-------|------|---------|-------|
| Surun | Duni | isi aci | buyb. |

| 17:84 | Say that each works on its manner | قُلْ كُلٌ يَعْمَلُ عَلَى شَاكِلَتِهِ |
|-------|-----------------------------------|--------------------------------------|

To comprehend the meaning of this verse, we first have to understand that everything has potential. A mango seed has the capability to grow into a mango tree and bear sweet fruit. But although the cactus seed also turns into a tree, it bears only needles. The inner destiny of a mango seed is the fruit of the mango, while that of the cactus tree are the thorns.

Like the animal which cannot go beyond or above its "شَاكِلَة" (*shaakilah*), so can nothing go beyond its inherent limits. Nothing can go beyond the limit nature has proscribed for it. As far as man is concerned, he too has limited "شَاكِلَة" (*shaakila*), but death is not his limit. He can go beyond it (55:33). Heredity, initial environment, upbringing, education, emotional leanings etc. are the shackles which arrest his feet, but the right kind of society can produce vastness in his scope.

The Quran formulates a system which gives every man the chance to develop his latent capabilities and talents. The prohibitions in such a society are there only in order to create this expansiveness (2:286). In a Quranic society, everyone will be held accountable according to his "شکاک" (*shaakilah*), although his limits will also be tried to be extended. The climax of an animal's progeny is that it becomes like its father, but the human child can go much farther than his fore fathers. Modern day science is testimony to the fact that today man is much ahead of his forefathers. The next generation will be much advanced than the present generation. Just like the capabilities of men differ in any era, so do the possibilities of different generations of man differ, and their possibilities increase as their knowledge and awareness increases. Note that these possibilities are present in everybody's personality, which are equal.

Lataif-ul-lugha says that "أَلَشُواكِلُ" (*ash-shawakil*), which is the plural of "أَسْكَلُمُ" (*shaakilah*) means the roads which lead from the main highway $\{T\}$. This is referring to the different ways of life men adopt according to their capabilities.

Humans have the power to do as they like, but their powers are limited. For instance, a man can raise one foot and keep standing but he cannot raise both feet and still keep standing. In so far as they have the power to exercise their right, they are totally independent and there is no interference in it what so ever. See details in the heading (Q-D-R).

ش ک و (ی) Sh-K-W(Y)

"شَكْوَةً" (*shakwah*) means a leather bag with an opening at one end, used for holding water or milk. "شَكْوَةً (*shakwun*) means to open the opening so that whatever it holds comes out or becomes evident. This leads to "شِكَابَة" (*shikayah*) i.e. to come out with whatever one may have in his heart {*T*}.

Raghib says it means to make one's unpleasing thoughts known.

| Surah Yusuf says: | | |
|-------------------|--|---|
| 12:86 | I relate or express my troubles to my Allah. | اِنَّمَا ٱشْكُوْبَشِّي وَمُحْزَنِيْ اِلَى اللَّهِ |
| - | | |

At another place it is said:

| 58:1 | She was relating her condition to Allah | وَتَشْتَكِيْ إِلَى اللَّهِ |
|------|---|----------------------------|
|------|---|----------------------------|

"أَمِسْكُوهُ" (*al-mishkaat*): a hole in the wall which is not through that wall. Some have said it means a place where lamps are kept (24:35).

نالشَّكُوَىٰ (*ash-shakwa*): complaint {*T*}.

ش م ت Sh-M-T

"شَمِتَ الْعَدُ وُسْمَاتَۃً" (*shamital aduwwu shumatah*): for someone's enemy to be happy at one's plight: "أَسْمَتَهُ بِعَدُوَّ،" (*shamital aduwwu shumatah*): made him happy by hurting or troubling his enemy: {*T*}.

When in anger Moosa dragged his brother by his heard. His brother Haroon had said:

| 7:150 do not give the opponents a chance to be happy at my expense or to laugh at me | فَلاَتُشْمِتْ بِيَ الْأَعْدَاءَ |
|---|---------------------------------|
|---|---------------------------------|

"أَلْتَسْمِيْتُ" (*at-tash-mit*) means to pray for somebody who sneeze. Like saying "bless you", or to remove this "تَمْرِيْضٌ" (*shumatat*) by one's prayer, like "تَمْرِيْضٌ" (*tamreez*) means to remove sickness from someone:

ش م خ Sh-M-Kh

"شَمَخَ الْجَبَلْ" (shamakhal jabal): for a mountain to be very high and long.

"أَلْجِبَالُ السَّوَامِخُ (al-jibalu-shawamikh): very high and long mountains.

"شَمَخَ الرَّجُلُ بِالْفَرِ»، (*shamakhar rajulu bi-anfehi*): The man raised his nose (high in the air): showed pride: {*T*, *M*, *R*}.

Ibn Faris says the root means to be big and high.

The Quran says:

| 22:77 | big mountains that are firmly in their place | دَوَاسِيَ شَٰمِحْتٍ |
|-------|--|---------------------|
|-------|--|---------------------|

"اَلْشَمْزُ" (ash-shamz): for the human palate to be displeased or revolted with unpleasant things.

"تَشَمَّزَ وَجْبَه" (tash-ammaz wajhu): his face distorted, changed colour.

(ash-maazz): to fear and be uneasy, for hair to stand on its end in fear, to stand, to be stifled, to feel constricted.

الِشُمَأَزُ السَّيْءَ" (*ishmaazash-shaiyi*): he dislikes that thing. "الْمُسْمَعَزِ" (*almushma-izz*): to dislike: one who dislikes: one who is frightened. {*T, M, R*}.

Surah Az-Zumr says:

| 39:45 | When only Allah is mentioned before those who do not believe, their hearts become constricted | اِذَا ذُكِرَ اللَّهُ وَحْدَهُ اشْمَأَزَّتْ قُلُوْبُ الَّذِيْنَ لَا يُؤْ مِنُوْنَ بِٱلْاخِرَةِ |
|-------|---|---|
| 39:35 | when others (except Allah) are mentioned, they get very happy | وَاِذَا ذُكِرَ الَّذِيْنَ مِنْ دُوْنِهِ اِذَاهُمْ يَسْتَبْشِرُوْنَ |

Happy with personality cults and pure obedience to Allah is only displeasing to him, because men can easily be won over by emotions but law makes concessions for no one. The system or law that the Quran has chosen for mankind seeks only to obey Allah and no one else. Personality cults have no place in this system, but personality cults have so distorted Allah's *Deen* that a human being is the last word nowadays on anything. The law of Allah as the final authority has no place in this system! This has extended to that stage that if anyone is invited to only follow Allah, he becomes displeased! This is the great truth which the Quran points to in the above verse.

Sh-M-S ش م س

"أَلْشَمْسُ (ash-shams): the sun: 2:285 the sunlight.

Ibn Faris says it basically means to be of different colours, to be fickle, and transient.

(*ash-shamusu mid dawaab*): the four legged animal which is uneasy. "اَلشَّمُوْسُ مِنْ الدَّوابَ" (ash-shams) is used for the sun because it keeps on moving along with its heat which is not "الشَّمْسُ constant.

| 76:13 They will neither feel the sun, or freezing cold | لَايَرُوْنَ فِيْهَا شَمَّساً وَلَا زَمْهَرِيْرًا |
|--|--|
|--|--|

"مَطْلِعَ الشَّمْس" (matli-ash-shams): is the place from where the sun seems to be rising, or the east (18:90). "مغربَ الشَّمْس" (maghrib ash-shams): the spot at which the sun seems to be setting, or the west (18:86). Gharib-ul-Ouran says that the sun was the national symbol of the Persians just as the moon was the national symbol of the Arabs before Islam {*Mirza Abul Fazal*}. For these meanings of the sun and the moon, see heading (Q-M-R).

Ibn Kalbi says that " الْلَشْمَسْ) is the name of an ancient idol {F}. Probably that is why the Arabs of old, named their boys *Shams*. Some think that it was the name of a famous water spring {F}. (*ash-shimaal*): the left side. It is the opposite of "يَبِينَّ" (*vameen*), or right side (18:17).

- "يْيُمْنُ" (*yumnu*): a symbol of happy tidings.
- "أَلْشَمَالْ (ash-shimaal): the sign of ill fate.

زَجَرْتُ لَمْ ظَيْرَ الشَّمَالِ» (zajaratun lahu twairush shimaal): I scolded the bird of his ill-fate {T}.

The Quran says "أَصْحَابُ الشَّمَالِ" (*ash-abush shimaal*) in 56:41, meaning the fellowship of the ill-fated ones. It has appeared to mean those who live in *jahannam* (hellish environment). These are the people who will be given the list of their deeds in their left hand (69:25).

"(ash-shamaal): the north wind which is usually very cold. This wind is cold and dry and if it blows for more than a week, the undertakers get ready for brisk business because the Egyptians could not tolerate the wind for long $\{T\}$.

"ألشَّمَالْ" (*ash-shimaal*) also means the cover that is put on the teats of the goat (to protect them from other's eyes).

(ash-shamlah): is the blanket in which a man wraps himself {T}.

Raghib has said that "شِمَالٌ" (*shimal*) is used for that cloth in which something gets wrapped from left. (*ishtimaalu bis saub*): is to be wrapped up in cloth in a way that its end is to the left {*R*}. (*ishtimaalu alash- shaiyi*) means to overshadow something and include it in itself {*M*}.

According to Ibn Faris, this above mentioned is included in its basic meaning.

"بَالرَّحِمُ تَسْتَمِلُ عَلَى الْوَلَدِ" (*ar-rahimu tash-tamilu alal wald*): the womb encompasses the child or has taken the child within it.

| 6:145 that which is in the wombs of the mothers | اَمَّا اشْتَمَلَتْ عَلَيْهِ ٱرْحَامُ الْأَنْنَيَيْنِ |
|---|--|
|---|--|

Habit and temperament is also called "الشَّمَالُ" (*ash-shimaal*). Plural is "شماعلُ" (*shamaa-il*). We have already said that "ثَيَبِيْنَ" (*yameen*) means symbol of happiness and "شمالُ" (*shimal*) the symbol of ill fate. The Quran has termed those in hellish environment as "أَصْحَابُ الشَّمَالِ" (*as-haabih shimaal*) and those in heaven as "أَصْحَابُ الشَّمَالِ" (*as-haabih shimaal*) and those in heaven as "أَصْحَابُ السَّمَالِي (*as-haabul yameen*). This does not mean that the Quran also believed or accepted these symbols as the Arabs in those days did. Since the Quran has been revealed in the Arabic language, it uses the metaphors of that language to express its meaning clearly. This point should always be kept in mind that the Quran did not believe in things like the Arabs did, but only used the terms of their language so that it would be easier for them to understand.

ش ن أ Sh-N-A

"شنائة" (shana-ah): to be dead against somebody {T, R, M}.

Muheet says it involves enmity with rudeness.

The Quran says:

| 5:2 | Some nation's strong enmity | شَنَانُ قَوْمٍ |
|-------|--|------------------------------------|
| 108:3 | your enemies (those who had enmity with you) | اِنَّ شَمَانِيَكَ هُوَ الْأَبْتَرُ |

Ibn Faris says the root of the word contains the connotations of having enmity and of avoiding.

"الْشَّبَتْ)" (*ash-shahab*): white colour with a blackish tinge, just like the flame of the fire which in intense heat seems white with a blackish centre, or a mountain covered with snow.

"سَنَةٌ شَبْنَاءُ" (*sanatun shah-baa*): a drought year with no greenery to be seen and the land seems white and barren.

"(*shihaab*): the flame of fire which rises, or the flame which is seen till afar in the sky. It is called a broken star $\{T, R\}$.

In the old ages (dark ages) it was thought that man's luck or destiny was connected with the stars, and therefore astrologers traced the movement of the stars to find out about man's destiny. This is practiced even now and astrologers are given much importance. The Quran says that when the world was less knowledgeable, such things (astrology) could be accepted, but when the light of knowledge has come, then such guess work is not tolerable. If somebody makes such claims these days (as astrology does) then they should be dispelled by the whip of knowledge, which discloses the myth of such predictions (72:9, 37:9, 15:18).

ش ە د Sh-He-D

"شَهَدَ" (shaheda), "يُشْهَدُ" (yush-hud) means to be present, to present one.

(shahadah): to present truthfully whatever is known to one through actual viewing or through insight {T, R}. One who does this is called "شَبِيدٌ" (shahid) or "تَسْبِيدٌ (shahid).

"مُسْلَبَدَة" (*mushahidah*) means to observe, according to scholars, but if the meaning is stretched then it would mean for anything to come within the grasp of the senses.

The word "تَشْبَادَةً" (*shahadah*) in 59:22. "شَبَادَةً" (*shahadah*) in 59:22.

(ghaib) means that which is oblivious to the eyes, invisible. See heading (Gh-Y-B). تغَيْبُ"

As such, "غَيْبُ (*shahadah*) would mean things which can be seen and felt and "شَبَادَةً" (*shaib*) would mean those things or forces which are latent. So "مَشْبُودٌ" (*shadah*) or "مَشْبُودٌ" (*mash-hoodh*) are those things and forces which appear as palpable realities. "عَابِ ٱلْفَرَ" (*shadah*) is that force of the horse which it preserves while running and "شَابِدُ الْفَرَسِ" (*shahidul fars*) is the strength which he uses up in running. "شَبَرَدَ" (*shahida*) also means to be at home and "غَابَ" (*shaab*) means to go away on a journey. {*Lane*}.

| 2:185 | Those of you who are traveling (in the midst of travel) should fast in this month | فَمَنْ شَهِدَ مِنْكُمُ الشَّهْرَ فَلْيَصُمْهُ |
|-------|---|---|
| | | |

Travellers have a different set of orders.

المُرْ أَةٌ مُشْبِدٌ (*imra atun mush-hid*): a woman whose husband is not at home {T, R}.

"مَسْبَدٌ" (*mush-hud*): the place one presents oneself, or the place where all hidden results appear palpably (19:37).

َيُوْمُ مَشْبُوْدٌ (*yaumun mash-hoodh*): means such time (11:103).

Surah Bani Israel says:

| 17:87 | Indeed the forthcoming of the Quran teachings have appeared in palpable form | إِنَّ قُزْآنَ الْفَجْرِ كَانَ مَشْهُوْداً |
|-------|--|---|
|-------|--|---|

Here "نَشْرُوْدُ" (*mash-hoodh*) means that the results appear in palpable form. About the meaning of (*fajr*), see heading of that name.

تُشْبَدَاءَ كُمْ" (*shuhada akum*): your helpers (2:23).

God has been called "شَمِيْدُ" (*shaheed*) because everything is before him to witness (22:17) and a messenger is a "شَايِدُ" (*shahid*) as well (28:2), because the facts that he sees as a messenger, he unveils exactly before others. This is a main function of messenger-hood.

(ash-shahd), "اَلْشَبُدُ" (ash-shahd): honey which is not yet taken out of the hive.

شر (shahida) means to give evidence, be a witness and to swear:

"شَبَدَ عَلَيْهُمْ" (*shahida alaihim*): 41:21 will give evidence against them: "شَبَدَ عَلَيْهُمْ" (*shahida ala kaaza*): also means to give full report or news about someone {M, Arab-ul-Muwarid {T, R}.

Gharib-ul-Quran (with reference to Ibn Abbas) says that "شَبَدَ" (shahida) also means to decide as in 12:21, or one who decides, as in 6:19. It also means watchman (2:143).

Whatever the form this word takes the meanings include the sense of being present, to present, to keep within sight, in all of them.

The Quran has not used the term "شَبِيْدٌ" (shaheed) for those who give their lives in the way of god. Such a man has not been described by the Quran as "شَبِيدٌ" (shaheed). Even a man alive, as well as a dead man can be "شَبِيْدٌ" (shaheed). Anybody who by practical example, gives evidence of "ما أمَنَ بِهِ" (ma amana behi), what he believes, is a "شَبَيْدٌ" (shaheed), whether it is through life, or wealth, or with any other thing, and stays steadfast with it for his entire life. To give one's life in the way of God is the biggest evidence of one's belief.

According to the Quran (2:143), the entire nation of Muslims is "شُبَدَاءَ عَلَى النَّاس" (shuhada 'a alan naas), i.e. the nation that kept watch over all the nations of the world, and their centre (Rusool), acts as safe keeper of their deeds (2:143). Recall the duty of the nation of Muslims of yours, and the high stature it enjoyed for this responsibility and then compare that to the nation of Muslims of today. Today we are dependent on others for the barest needs. The reason of this is obvious. That nation of before considered the Quran as its code of life and acted upon it, but we seem to have been lost in superstitions and myths.

ش ہ ر Sh-He-R

Taj-ul-Uros says that "التشُرْرَة" (ash-shohrah) means for a bad thing to be famous or well known.

Johri says it means for something to become known completely. In the urdu language, "شبرت" (shohrat) is used for good things to become famous, and "تَشْبِيْر (tash-heet) for bad things to be famous. "كَالْشَبِيْرُ (ash-shaheer): famous, respected {T}.

(ash-shahru) means the moon because it heralds the advent of a month. A month is also called "شَبْرٌ '' (shahr).

Ibn Faris says that it basically means to be evident and clear. This is probably why the moon is also called "أَلْشَبْرُ (ash-shahar).

(*shaharahu mushaharah*): employed him at a monthly salary *{T*}.

The Quran says "شَبْرُ رَمَضَانَ" (shahru ramazan) in 2:185, where this word has appeared for the month of Ramadan.

The plural is "أَسْبُرُ" (ash-har) and "شْبُوْرٌ (shuhur), as in 9:36.

(shahaqar rajul), "تَسَبِيْفاً" (shaheeqa): the sound of the voice of his crying (shaheeqa): the sound of the voice of his crying came out of his chest haltingly.

تَشْبِيْقُ الحِمَارِ وَتَشْبَاقُهُ، (shaheequl aari wa tash-ahaquh): the sound of a donkey braying.

"الشَّبُوْق" (ash-shuhuq): to rise.

الشَّبْقَةُ (ash-shahqah): a scream {T, R}.

| The Quran says: | | |
|-----------------|-------------------------|-------------------------------------|
| 11:106 | to shout and make a din | <u>ز</u> فِيْرٌ وَشَ <u>مِيْ</u> قٌ |

Zajaaj says this word means the voices of people in plight, and "شَبِيْقَ" (*shaheeq*) means a loud sound of crying in pain. This word is from "جَبَلٌ شَابِقٌ" (*jabalun shahiq*) which means a very high mountain, climbing which is very difficult {T, R}.

Ibn Faris says it basically means to be high.

نُعَلَانٌ ذُوْشَابِقٍ" (fulana zu shahiq) means that he is very hot tempered.

The Quran has also used the word "شَيَرِيْنَ" (*shaheeq*) to mean *jahannam* (hellish environment) in 67:7. In such a hellish society, there is chaos, cries and shouts everywhere, whether it is hell in this world or the hereafter.

ش ه و Sh-He-W

(shahu), "أَشْتُبَاهُ" (ashtahah): to wish for something, to lean towards it, desire it.

Raghib says that "شَبُوَةٌ (shah-watun) means temptation towards the things one wants or likes.

Sometimes a thing which is wanted is called "شَبْوَةٌ (*shahwah*) as well and sometimes this emotion is called "شَبُوَةٌ (*shahwah*) (*shahwah*) {*T*}.

``شَيْىَّةُ شَہِیَّ، (*shaiyi shaiyyun*): tasty thing. (*tayamun shahi-yun*): the food that one likes *{M}*.

In the verse (3:13) "شَبَوْتٌ" (*sahahawatun*) is the plural of "شَبَوْتٌ" (*shahwah*) which according to *Raghib* means goods that are liked (3:13).

Muheet says that "الشَّبُوَات" (shahawaat) is an exaggeration meaning.

"مُسْتَبَيّات" (*mushtahiyat*) means favourite things or leanings (27:56). Along with other words, it has appeared for sexual leanings.

The Quran has described life of *jannat* as:

| 41:31 | Every good thing will be available there (whatever your heart desires). | وَلَكُمْ فِيْهَا مَاتَشْتَعِيْ أَنْفُسُكُمْ |
|-------|---|---|
|-------|---|---|

Surah Maryam says:

| 19:59 | After that such people came who shunned | فَحَلَفَ مِنْ بَعْدِ هِمْ خَلْفٌ أَضَاعُوْا الصَّلُوةَ وَاتَّبَعُوْا الشَّهَوَاتِ |
|-------|---|---|
| 19.39 | salawaat and pursued sexual interests. | فحلف مين بعد هيم محلف الصاغوا الصلوة وأتبعوا الشهواك |

This means that instead of following Allah's laws, they started pursuing their temptations and wishes. If human desires are met under the laws of the revelation then the pleasantries of a heavenly life are begotten. Instead, if the laws of revelation are broken, and such desires are met, then the result is destruction Also see heading (H-W-Y).

"أَلْشَوْبُ (ash-shaub): to mix together.

(shaabash shaiyi shauba): he mixed that thing, he adulterated that thing. "شَاب الشَّينَ سَوْبَاً"

From this "شوبة" (ash-shauba) came to mean deception.

"أَلَسْوَّاعِبْ" (*ash-shawa-ibu*): is the plural of "شَائِبَةٌ" (*shaa-ibah*) which means the adulterations, the faults, and dangers.

"شُوْبْ (*shaub*) also means honey because it also is mixed with wax, and it is also mixed with herbs for medication $\{T, M, R\}$.

The Quran says about those in *jahannam*:

| 37:67 | On top of it, they will be given hot mix | اِنَّ لَهُمْ عَلَيْهَا لَشَوْباً مِنْ حَمِيْمٍ ture (to drink) |
|-------|--|--|

This means that they will have unpleasant environment, troublesome existence, life full of difficulties, deceitful existence.

ش و ر Sh-W-R

"شَارَ الْعَسَلَ" (shaaral asal): took the honey out of the hive and collected it.

"أَلْمَسْارُ" (al-mash'aar): the hive out of which the honey is taken.

"اَلْشَوْرُ" (as-shaur): the honey which is taken out of the hive.

"أَلْمِشْوَالْ" (al-mishwaar): the stick which is used to take the honey out (of the hive).

"المشوارة" (al-mishwaarah): the honeycomb.

Ibn Faris says it basically means to make evident or present, and to take something away.

"تَسْلَوَرَةً (*mushawarah*), "مُشْلَوَرَةً (*mushawarah*), "تَسْلَوَرَةً (*tash-awar*): to consult mutually, to get the gist of others' opinions and arrive at a conclusion {*R*}. Hence it means deposition of the thoughts, opinions etc. so that the opinions may lead to some conclusion.

If it is taken to mean honey itself, then it would mean to collect all the honey from the hive.

The string of a bidder's bow is also called "الْمِشْوَارُ" (al-mishwaar) {T}.

As such the principal for "مشوره" (*mashwarah*), or consultation would be the thrashing of opinions and then reaching a conclusion through them.

(19:29). "أَشَارَ اللَيْرِ" (ash-aaral ilaih): pointed to him {T}. (19:29).

"كَلَشُوْرَةُ" (ash-harah): beauty, style, dress, clothing, plumpness, look, adornment. "الَشُوْرَةُ" (ash-harah): beauty, style, dress, clothing, plumpness, look, adornment. "المُتُوْرَةُ" (shaara), "شَارَ" (yash-oor): trained the horse or made it run in order to display it to a customer. [T].

The Quran has given laws for the humanity, which are never changing. A Quranic system is one in which people formulate sub laws by consultation according to needs of their times under the broader framework of these laws.

That is why it is said about the *Momineen*:

| 42:38 | their matters will be decided by mutual consultation | وَ أَمْرُهُمْ شُوْرَى بَيْنَهُمْ |
|-------|--|----------------------------------|
| | consultation | |

Since the first ever Quranic system was established by the Messenger (*pbuh*) himself, he was told:

| 3:158 | Consult these Momineen in such matters | شَاوِرْهُمْ فِي الْأَمْرِ |
|-------|--|---------------------------|
|-------|--|---------------------------|

Since the consultation is for all *Momineen*, their system can never be rigid or static. They can, with mutual consultation, not only amend old laws but also make new sub laws in keeping with the needs of their times. Thus while the never changing laws of Quran will always be constant, the sub laws will keep

changing from time to time. This is what Quran means by consultation. The Messenger (*pbuh*) himself did this, and the Quran is testimony to it. Therefore all *Momineen* of all times are supposed to do this (4:115). In the western style of governance, nothing is changeable. The nation is free to decide what it wants. They do not have to follow any parameters.

It is called the secular form of governance. In the other hand, the fundamentalists think that nothing is changeable and the decisions that have been made some time back should always hold. Contrary to both, the Quranic system says that the basic unchangeable laws are that of the Revelation, and staying within their parameters sub laws can be changed with consultation as per the need of the times. This is a very good mix of permanence and change, and human life will be able to progress smoothly in this manner.

ش و ظ Sh-W-Ze

(ash-shiwaaz): flame which has no smoke {T, M, R}. These words also "الشَوَاظُ" (ash-shiwaaz): "الشُوَاظُ" mean the heat of the fire and smoke, the heat of the sun, to shout and cry, and the intensity of thirst.

The Ouran says:

| (| | |
|-------|---|---|
| 55:35 | a fiery flame will be sent towards your two | دُسَا ^ر عَلَىْكُمَا شُوَاظٌ مِنْ نَّار |
| | groups | يرسن عيد منوع برس فارٍ |

Sh-W-K ش و ک

"كَالْشُوْكَة' (ash-shaukah): the cutting of a tree, or a weapon as in 8:7.

"أَرْضُ شَاكَةُ (ardun shaakah): land of thorns.

رست (artuan shuakar): الشوكة من القتال»: (ash-shaukatu minal qitaal): the intensity of battle.

"شَوْكَةُ السِّلَاح (shaukatus silaah): the sharpness of a weapon. {T, M, R}.

Ibn Faris says it means for something to be rough as well as to be sharp and pointed.

ش و ی Sh-W-Y

''نَشُوَىٰ الَّلَحْمَ'' (*shawil lahwa*), ''نَيْسُوِيْہِ شِيَاً'' (*ashwihi shaiya*): to fry meat. ''الشِّوَاءُ'' (*ash-shiwa'u*): fried meat or barbequed meat.

"شَوَى الْمَاءَ يَشُويْب" (shawil ma-a vash-wih): he heated the water, or boiled it.

(ash-wal gamh): the wheat grains became so hard that they could be brought out by rubbing "أَشُوَى الْقَمَّحَ" between the bare hands and to fry them $\{T, M\}$.

| Surah <u>Al-</u> | Kahaf says: | |
|------------------|--|---------------------|
| 18:29 | which will burn their faces or singe their faces | يَشْوِيْ الْوُجُوْة |

"أَلَشَوَىٰ" (ash-shawa): means the skin of the hands and legs and the skull. Singular is "شُوَاة" (shawah). Some think that all the parts of the body which if hit, do not cause death are "شوَى" (shawa). Thus a noncrucial or valueless thing is also called "شُوَى" (shawah).

Surah *Al-Ma'arij* says about the fire of *jahannam*:

| 70:16 | It pulls out the hands and legs perforce | نزَّاعةً لِلشَّوى |
|-------|--|-------------------|
|-------|--|-------------------|

This means that it makes people completely helpless, or that it pulls the skin of the head. It means both ignominy and plight, or that which robs of strength and cripples.

Ibn Faris says it means an ordinary thing or valueless thing.

"شَاءَ" (shaiya), "شَيْئَا" (vasha'u), "شَيْئَا" (shaiya), "شَاءُ" (mashiyah): to intend.

Most scholars have not differentiated between will and intent, but there is a difference.

"مشيت" (mashiyat) or will, means to invent or create and intend means to want {T, M}.

Raghib says that "(الشَيْنَى (*ash-shaiyi*) can be used for anything which is present, whether it is present physically or otherwise. "شَيْنِي (*shaiyi*) can also be used for anything which can be known about or about which some news can be given {*R*}.

Scholars have argued a lot as to what are things that "شَيْئَى" (*shaiyi*) can be used for. Some even say that things which are hidden or latent can also be said to be "شَيْئِيَ" (*shaiyi*). But we will not go into the academic discussion here because the Quran is not about academic disagreements.

| 2:20 | Indeed, Allah is ordinator on every thing | اِنَّ اللَّهُ عَلَى حُلِّ شِيْءٍ قَابِيْرٌ |
|------|---|--|
|------|---|--|

Here "شِيْءٍ" (*shaiyi*) means thing, or matter, or issue or affair.

| Surah Al-Baqrah says: | Surah | Al-B | agrah | says: |
|-----------------------|-------|------|-------|-------|
|-----------------------|-------|------|-------|-------|

| 2:48 | (the day) when nobody can be of help to anybody | لَا بَخْزِيْ نَفْسٌ عَنْ نَفْسٍ شَيْاً |
|------|---|--|

It must be understood as to what is meant by Allah's will. We think that for Allah to have power over all things is that He acts without any law or rule like a despot, that He may grant estates if He is happy, and annihilate a whole village if He is angry at something (God forbid) $\{T\}$, $\{M\}$, $\{R\}$.

For details about God being all powerful, see heading (Q-D-R). For now, let it suffice to say that for God being all powerful the above meaning is quite wrong. For God's will does not mean that it is exercised without any law or rule (or justification).

It is scientific observation that everything is bound by the system of cause and effect, but if we go backwards from this, a point will surely come when we will have to acknowledge that there is some effect which has no discernible cause. This is the point where everything in the universe and the universe itself began according to purely God's will. If somebody inquires as to why and how this universe was created by God, he can only be answered that all this was made as per God's will. At this point, as we believe, His will is not restricted or bound by any law or rule (the law and rule is as He willed).

| 36:82 | At this point God says be, and the thing comes into being | إِنَّمَا أَمْرُهُ إِذَا أَرَادَ شَيْئًا أَنْ يَقُوْلَ لَهُ كُنْ فَيَكُوْنَ |
|-------|---|--|
| | into being | |

"Say" does not mean that God utters the words from his mouth, i.e. He simply intends and that thing starts being created. When we observe, we find that everything in the universe follows a certain law or rule. At this point God has subjected everything to certain laws:

| 33:39 | here everything starts following the law that god has made for these things in the first phase of creation | وَكَانَ أَمْرُ اللَّهِ قَدَرًا مَقْدُوْرًا |
|-------|---|--|
| 65:3 | Allah has fixed a law or rule or standard for everything | قَدْ جَعَلَ اللَّهُ لِكُلِّ شَيْئٍ قَدْرًا |

All these laws of nature have been made by Allah, but He has decided not to interfere in them:

| 33:61 | you will never find change in Allah's rules | لَنْ بَحِدَ لِسُنَّةِ اللَّهِ تَبْدِيْلاً |
|-------|---|---|
|-------|---|---|

Here Allah's "مشيت" (*mashiyat*) or will would mean the laws that are being followed in the entire universe, and nothing in the universe has the power to go against these laws. The first phase (of creation) in which all laws were created by Allah as per His will alone, is out of our comprehension and we can't and do not know anything about it. Whatever we can learn about Allah is through studying these laws which are at work in the universe. In other words, this phase of Allah's will can be understood by us through knowledge and experience.

God has given man the power to obey or disobey the laws that have been created for this life:

| 18:29 | Whosoever wishes can adopt the path of acceptance and | فَمَنْ شَاءَ فَلْيُؤْمِنْ وَ مَنْ شَاءَ فَلْيَكْفُرْ |
|-------|---|--|
| 18.29 | whoever wants can choose denial | فَمَنْ شَاءً فَلْيُؤَمِنْ وَ مَنْ شَاءً فَلَيْحَفُرْ |

That is, contrary to other creations in the universe, man can exercise the right to obey or disobey the laws that have been made for him, but at the same time he has been told that while he can indeed choose whichever way he wants, he has no power over the results. The result of every deed will be as has been created by Allah, i.e. good result for good deeds and bad result for bad deeds. For instance, man can choose between eating poison and sugar but he cannot create the result eating sugar while eating poison. The laws as to which deed will produce what sort of results have been given to man through the revelation, which today are safe in the Quran. So when man wants to understand something about Allah, he will have to understand the laws of nature along with the laws created for him. When man deliberates on both these laws, then he can get to the truth that both these laws are actually branches of the same tree.

Wherever in the Quran has been said "مشيت" (*mashiyat*) i.e. "as Allah wills", it will have to be seen with reference to the context as to which phase of His will is being talked about. To take the same meaning everywhere would create confusion due to which one may wrongly believe that it is the Quran which is contradictory! It does not have any contradiction. Our own lack of understanding creates the confusion and contradiction.

The Quran also says in 2:142 "نَيَبْدِىْ مَنْ يَشْنَاءُ" (*yahdi mun yash-a*). It clearly means that Allah gives guidance to whosoever so wishes. "مَنْ يَسْتَاءُ" (*mun yash-a*) means whichever person wants, but if it is taken to mean whoever Allah wishes, as it is generally understood, then it would mean that guidance from Allah is received by whoever He wants.

Surah *Al-Ma'idah* says:

| 5:16 | Allah grants guidance through this Quran to anybody who wants to follows its laws | يَهْدِيْ بِهِ اللَّهُ مَنِ اتَّبَعَ رِضْوَانَهُ |
|------|---|---|
|------|---|---|

The thing is very clear that the guidance will come from Allah, no doubt, but the initiative will have to be man's i.e, he must want it. If man follows Allah's laws, he will get guidance to the right path, but if he rejects them or goes against them then he will definitely meet destruction.

| 61:5 | When they adopted the crooked ways (wrong ways), their hearts were also turned. | فَلَمًا زَاغُوْا آزَاغَ اللَّهُ قُلُوْبَهُمْ |
|------|---|--|
|------|---|--|

This fact has been displayed or clarified in another way. The *Bani Israel* demanded a commander. Allah appointed *Taloot* as their commander. *Bani Israel* objected to his appointment as they thought there was no outstanding-ness as to wealth. The messenger told them that *Taloot* was selected because of sagacity and bodily strength, i.e. they were told in other words that Allah's selection is not random, but well thought out and as per a certain law.

Whatever is received by anyone is because he deserves it:

| 2:247 | Power and statehood is received from Allah according to his | زَادَهُ بَسْطَةً فِي الْعِلْمِ وَالجْسِمْ |
|-------|---|--|
| 2.247 | law (his will or certain scheme), not blindly. | وَاللَّهُ يُؤْتِيْ مُلْكَةُ مَنْ يَتْشَاءُ |

This also clarifies the meaning of surah *Aal-e-Imran's* verse which says:

| 3:25 Receiving power and statehood and losing them depends on Allah's scheme, or will | تُؤْتِى الْمُلْكَ مَنْ تَشَاءُ وَتَنْزِعُ الْمُلْكَ مِمَّنْ تَشَاءُ- |
|---|--|
|---|--|

That is, all this happens according to a law which is based on the principle that he, who deserves power and authority to rule, gets it (21:105). He who loses this capability loses them.

The above explanations show that there are three phases of Allah's will or scheme. The first phase in which laws for all things are created and everything is created according to His plan, or as He sees fit. We cannot comprehend anything about this phase. The second phase is that of the external universe where everything is bound to follow the laws made for it. These do not change ever. Man can find out (he has been given the capability) about these laws by deliberation. The third phase is that of the human world. In one part of his life, (the physical part) the same laws apply as to other things in the universe, but on the human level, the laws that he needs, are given through divine revelation. These laws too are not changeable but man, contrary to other things in the universe, has been given the right (power) either to follow them or go against them, but the results of his deeds, whatever they may be, will definitely be according to his deeds i.e. good results for good deeds and bad results for bad deeds (as per god's plan).

This is what is known as the turn of events, law of nature, which too is not changeable.

This is what is meant by god's "مشيت" (*mashiyat*), or will. Do note that the space, in which man has been given freedom to choose, is never interfered in by Allah. And he has been told:

| 41:40 | In this phase, do as you wish. We will not interfere. | اِعْمَلُوْا مَا شِئْتُمْ |
|-------|---|--------------------------|
|-------|---|--------------------------|

Although the results of whatever you do will be according to the laws of nature. There is one verse which causes confusion because of its right meaning not being explained.

Surah *Ad-Dahar* says:

| 7 | 6:29 | This noble Quran is a reminder, and anyone | اِنَّ هٰذِهِ تَذَكِرَةٌ فَمَنْ شَاءَ اتَّخَذَ الِّي رَ بَّهِ سَبِيْلاً |
|---|------|--|--|
| / | 0.29 | who wants may obey Allah | اِنْ عَمَانِ لَكَثِرُهُ فَعَنْ سَاءُ أَحَدُ اللَّي رَبُّ بَعْ سَبِيار |

Up to this point the meaning is very clear, i.e. the revelation has been given by Allah, now whosoever wants can adopt some other way. Ahead it is said:

| wants, ca | I adopt the way suggested by it, and whoever wan | its can adopt some other way. Anead it is said. |
|-----------|--|---|
| 76:30 | and you cannot want that which god does not want (general translation) | وَمَا تَشَاءُ وْنَ إِلَّا أَنْ يَشَاءَ اللَّهُ |

This meaning is not only contradictory to what has been said before but it also demolishes the entire structure of human freedom. This would mean that whatever you wish is not your own decision but Allah makes you do what He wants, and that man is helpless in this regard.

Aside from surah *Ad-Dahar*, more or less the same verse has also appeared in surah *Al-Mudassar* (74:54-56) and surah *At-Takweer* (81:28-29). "مَا نَشْنَاءُ وْنَ" (*ma tash-aoon*) means 'you do not want', but according to the Arabic grammar, it also means "no, do not do it".

Mukhtasiral maani says in page 232 that the speaker wants that it may so happen, or the speaker wants to avoid a direct order (and wants the other to do what he wishes), or says this in order to instigate the other (to do it), because the one spoken to does not want to belie the speaker.

Zamkhishri has explained this point in his book Kishaaf.

Surah *Al-baqrah* (2:83) says that you cannot want that which God does not want (general translation) Here "لَاتَعْبُدُوْنَ" (*la ta'badoon*) does not mean a negative. The translation of the verse is:

"When we made *Bani Israel* agree that they will not follow anyone except Allah, and be in good behaviour with parents, and orphans and needy". After that it is said "be nice (kind) to people".

Here these words are taken in a negative term, like "تَقُوْلُ لَمْ كَذَا (*tazhabu ila fulanan*) or "تَقُوْلُ لَمْ كَذَا (*taqulu lahu kaza*). Here "تَقُوْلُ الله (*tazhab*) and "تَقُوْلُ (*tazaru*) are pronouns but they mean 'do it'. It is further written that this style is more effective than giving a direct order to do or not to do.

There are other examples too of this style in the Quran, for instance, the same surah says:

| 2:227 do not spend, except in the way of Allah | وَمَا تُنْفِقُوْنَ الاَابْيَعَاءَ وَجْهِ اللَّهِ |
|--|--|
|--|--|

In the light of these explanations, the meaning of "أَنْ يَشْاءَ اللَّهُ" (*wama tash-aaoona illa un yash-a allah*) becomes clear i.e. "you should homogenize your intent with Ours". In other words "You should live according to Our principles, and We want you to live according to Our principles".

Surah *Az-Zumr* says:

| 39:7 | If you go against his laws (what harm can you bring to him i.e., nothing. He is not dependent on you at all) | اِنْ تَكْفُرُوْا فَإِنَّ اللَّهَ غَنِيٌّ عَنْكُمْ |
|------|--|---|
| 39:7 | But He does not like denial from His followers. He wants you to be thankful. | وَلَايَرْضٰى لِعَبَادِهِ الْكُفْرَ- وَإِنْ تَشْكُرُوْا يَرْضَحْهُلَكُمْ |

As such, a man must willingly accept and homogenise with Allah's will or "ششيت" (mashiyat).

ش ی ب Sh-Y-B

"أَلْشَيْبُ" (ash-sheeb): old age, white hair or the whiteness of the hair {T, M}.

Surah *Maryam* says:

| 19:4 | The head due to whiteness of the hair (seems aflame) | وَاشْتَعَلَ الرَّأْسُ شَيْباً |
|------|--|-------------------------------|
|------|--|-------------------------------|

Or it means white hair has appeared in abundance in the head.

Surah Ar-Room uses "شَيْبَة" (shaibah) for old age (30:54).

Surah *Al-Muzammil* says:

| تَجْعَلُ الْوِلْدَانَ شِيْباً The day whose difficulty will turn the young ones old | 73:17 The day whose difficulty will turn the young ones old | يَجْعَلُ الْوِلْدَانَ شِيْباً |
|---|---|-------------------------------|
|---|---|-------------------------------|

Ibn Faris says it basically means for one thing to be mixed with another.

"شَيْتُ" (shaib) is called so because in it the whiteness of the hair mixes with the blackness of the hair.

ش ی خ Sh-Y-Kh

(ash-sheikh): an old man, an old camel, a teacher, a scholar, a leader, head of a tribe, expert.

"أَلْشَيْخَة" (ash-shaikha): old woman etc.

َ شَيْخُوْخَةٌ '' (shaiku khah): old age {T, M}.

The Quran has used the word "تَسْيَخَ" (*sheikh*) in 11:72 and 12:78 to mean old man, but has not used "اَلْشَيْخَةُ" (*ash-shaikha*) anywhere. "اَلْشَيْخَةُ" (*ash-shaikhu*) and "اَلْشَيْخَةُ" (*ash-shaikha*) is nowhere to be found in the Arabic dictionaries to means married man or married woman. "شَادَ البنَاءَ" (*shaiyaduhu*): to plaster a building and raise it higher.

(*ash-sheed*): the material (limestone etc.) with is used to plaster the building.

"أَلْمَسْيَدُ" (*al-masheed*): the building which is made of limestone etc. and raised high, solid, and strong $\{T, M\}$.

The Quran says:

| 22:45 | to raise the voice | قَصْرٍ مَشِيْلٍ |
|-------|-----------------------|-----------------|
| 4:78 | high and mighty forts | ٱلْإِشَادَةُ |

Ibn Faris says the root means to raise something higher.

ش ی ع Sh-Y-Ain

"شَاعَ الْخَبَرُ فِي النَّاسِ" (sha-al khabaru fin naas): the news spread among the people {T, M}.

| 22:19 | the people who want dirty things to spread. | إِنَّ لَّذِيْنَ يُجِبُوْنَ أَنْ تَشِيْحُ الْفَاحِشَةُ |
|-------|---|---|
|-------|---|---|

"لَذَا شِيْعُ بَذَا" (haaza shaiyu haza): it is like, similar to {T, M}.

Surah *Saba* says:

| 34:54 | like it was done with people like them | كَمَا فُعِلَ بِأَشْيَا عِهِمْ مِنْ قَبْلُ |
|-------|--|--|
|-------|--|--|

Surah *Al-Qamar* says:

| 54:51 | we have annihilated people like you | وَلَقَدْ أَهْلَكْنَا أَشْيَاعَكُمْ |
|-------|-------------------------------------|------------------------------------|
|-------|-------------------------------------|------------------------------------|

"لَسْبَيْا عَ" (*ash-shiya'u*): the flute or voice of the shepherd with which he calls together the spread out animals of the flock. Those who give a call, invites $\{T, M\}$. It also means to follow behind the caller.

"شَيَّعَهُ عَلَى رَأْبِهُ" (shayyi-ahu ala raabihi): he followed his opinion, supported him.

(haaza shiyu haaza): this is the child who was born after that child. This is said for two "بَذَا سَبِعْ بِذَا

children who were born one after the other and no child was born in between them.

"أَلْمُشَابِعُ" (al-mushaa-iyu): one who is always found with someone or attached to someone.

"شَيْعُ نِسِنَاءٍ" (shaiyun nisaa-un) means one who is always found among women.

"أَلشَّاعَةُ" (ash-sha'atuh) means wife, because she is always with her husband {T, M}.

Ibn Faris says it basically means to help one another.

These meanings explain what "شَيْنَعْنَ" (*shiyah*) means. That is, the people who become one party by following the same person, and thus be one another's strength and support. If it is obedience of Allah's law (which they all are following) in which there is co-operation in good deeds, then it is a party of the *Momineen*, to be with whom is a matter of pride and honour.

As such, after talking about the *Momineen* of the nation of *Nooh*, it is said:

| 37:83 | Verily, <i>Ibrahim</i> was one of them (their successor) | اِنَّ مِنْ شِيْعَتِهِ لَا اِبْرَاهِيْمَ |
|-------|--|---|
|-------|--|---|

But if such grouping is made in obedience of some human idol, then the Quran calls it *shirk*. Therefore, it has told the Muslim nation very clearly:

| nus toru t | has told the widshift hatton very clearly. | | | | |
|------------|--|---|--|--|--|
| 3:103 | All of you attach yourself to this book and do not be divided into sects | وَاعْتَصِمُوْ بِحَبْلِ اللَّهِ جَمِيْعاً وَلَا تَقَرَّقُوْا | | | |
| 30:32 | Do not be like those people who have divided themselves into sects and formed groups. (do not turn into <i>mushrik</i> once you have accepted Islam). | وَلَا تَكُوْنُوْا مِنَ الْمُشْرِكِيْنَ - مِنَ الَّذِيْنَ فَرَّقُوْا دِيْنَهُمْ وَكَانُوْ شِ يَعاً - كُلُ حِزْبٍ بِمَا لَدَيْهِمْ فَرِحُوْنَ | | | |

The result is that every sect claims and believes to be on the right path while all other sects (in its opinion) are not. Since Quran prohibits sectarianism itself, there is no question as to which sect is right and which wrong. Sectarianism, according to the Quran is *shirk*. That is why the Messenger (*pbuh*) has been told:

| | 0 | 3 | <u> </u> |
|-------|----|---|---|
| 6:159 | 50 | Those who forms groups in <i>Deen</i> , you have no | إِنَّ الَّذِيْنَ فَرَّقُوْا دِيْنَهُمْ وَكَانُوْا شِيَعًا لَسْتَ مِنْهُمْ فِيْ شَيْءٍ |
| | 39 | connection with them | أِنْ أَنْدِينَ قُرْقُوْا دِيْنَهُمْ وَتَأْتُوا مَنِيعًا تَسْتُ مِنْهُمْ فِي شَيْءٍ |

Since there are so many groups today among the Muslims, how can they all be united? The method to eliminate the differences among these sects is suggested by Quran itself. It says to consider the book of Allah as the centre and to establish a system according to it. This is the only way. By doing so, the sects will dissipate by themselves. If personalities are removed from within, and only one system (according to the Quran is followed) then the sects will be forced to perish. To follow the Quran is very important. To follow Allah according to what one individually believes creates sectarianism. If only Allah's system is followed then it maintains unity. This may be kept in mind that sectarianism is not only division in religion but also in politics, not only among the *Momineen*, but in every nation. Sectarianism and grouping in politics too has been prohibited by Allah, and termed as punishment (6:65). The Quran has said that the Pharaoh (*Firouni*) authority or the oppressive forces always divides and rules (28:4). For more details, see heading (F-R-Q).

The Quran has termed "شِيَعٌ" (shiya-un) to mean nations or tribes (15:10).